THE BOOK WAS DRENCHED

TIGHT BINDING BOOK

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182186

UNIVERSAL
LIBRARY

smania University Library
P.GH
Accession No. 5001
LT
तवारी समाजकर
नेशन और पोशपाक
book should be returned on or before the date last
ow.

कामायनी

प्रेरणा और परिपाक

डा० रमाशंकर तिवारी

प्रस्तावना

'कामायनी' आधुनिक हिन्दी साहित्य का गौरवग्रंथ मानी गयी है। इसकी प्रतिपाद्य-वस्तु, इसकी बिम्ब-योजना, इसकी विचारोत्तेजकता, सभी कुछ श्लाघनीय रहा है यद्यपि इसके मूल्यांकन का प्रश्न आधुनिक काव्य-सरणि में सर्वाधिक विवाद का आस्पद भी रहा है। विद्वानो ने नाना दृष्टियों से इसके महत्त्व का अंकन किया है और लब्धकीर्ति पंडितों की स्थापनाएँ किंवा मान्यताएँ इतनी शक्ति एवं आग्रह के साथ उपपादित हुई हैं कि 'कामायनी' के सामान्य पाठक के लिए इन मान्यताओं की अवहेलना करना संभव नही हो पाता। और, सबसे बड़ी बात यह है कि प्रसादजी ने स्वत: अपने 'आमुख' में इस काव्य को समझने-समझाने के लिए विविध सूत्र सन्निविष्ट कर दिये है तथा विद्वानों ने इन सूत्रों के आधार पर अपनी स्थापनाओं का परिपोष किया है और सामान्य स्वतंत्रचेता पाठक की कठिनाइयाँ बढ़ा दी हैं। उदाहरणार्थ, 'कामायनी' की वस्तु-योजना ऐतिहासिक है; वह मनोवैज्ञानिक मानव-विकास की कहानी है; उसकी सृष्टि रूपक-रूप में प्रतीकात्मक ढग से हुई है; वह छायावादी शक्तियों तथा सीमाओं का दिग्दर्शक काव्य है—ये कतिपय मोटी मान्यताएँ 'कामायनी' के अध्ययन की समस्याएँ बन गयी हैं। मुक्तिबोध ने 'कामायनी' को 'फैण्टेसी' बताकर, उसकी वस्तु-योजना में टूटती अथवा टूट गयी सामंतीय व्यवस्था की प्रतिध्वनियों को गुंजारित किया है और उन समस्याओं की संख्या में एक और नया नम्बर जोड़ दिया है, यद्यपि उनके मत की ओर अधिक ध्यान आकर्षित नहीं हुआ है।

वास्तव में, 'कामायनी' की तत्त्वाभिनिवेशी आलोचना का स्वरूप क्या हो, कैसा हो, यह गहन विवाद का विषय है, शायद बराबर रहेगा। जहाँ एक ओर उसे "महाकाव्य", "महान् काव्य" इत्यादि अभिधाओं से विभूषित किया गया है, वही दूसरी ओर उसे "दोष-रहित दूषण-सहित" बताया गया है। और "एक असफल कृति" घोषित किया गया है। छायावाद की नयी काव्य-धारा के प्रति जब पुरानी आलोचना के स्वर क्षीण होने लगे और सहानुभूतिपूर्ण मनोदृष्टि से

उसके नवीन भाव-बोध तथा नवीन अभिव्यंजना-पद्धति का प्रशंसन होने लगा, तब 'कामायनी' को छायावाद की सर्वश्रेष्ठ काव्य-कृति माना जाने लगा । फिर तो, उसे विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में महत्त्व का स्थान दिया गया और तब, उसके अंतरंग-बहिरंग का परीक्षण भी जमकर प्रारम्भ हो गया । तुलसी के 'मानस' के बाद, जैसे मध्यकालीन काव्य में बिहारी की 'सतसई' का वैसे-ही आधुनिक काव्य में 'कामायनी' का अध्ययन-अनुशीलन उत्साह एवं मनोयोग के साथ सम्पन्न हुआ है । 'मानस' के बाद 'कामायनी' ही ऐसा ग्रंथ है जिसके ्णयन में रचयिता के पांडित्य एवं वैदुष्य का भरपूर उपयोग हुआ है । लेकिन, जहाँ 'मानस' पंडितों एवं भागवतों के साथ सर्वसाधारण का भी प्रिय काव्य बना है, वहाँ 'कामायनी' केवल पंडितों एवं विद्वानों का ही काव्य बन सकी है। यों-तो प्रत्येक महत्त्व की रचना के उत्स में कोई-न-कोई उद्देश्य वा प्रयोजन सन्निहित रहता है, तौभी 'कामायनी' के प्रणयन में प्रसाद की सोद्देश्यता इतनी मुखर हो गयी है कि तटस्थ पाठक को वह अखरने लगती है । वह अतिशय उद्देश्य-बोझिल रचना बन गयी है जिससे उसके कलात्मक सौष्ठव को आघात पहुँचा है । प्रेरणाओं की बहुलता पर कवि की कारयित्री प्रतिभा का अनुशासन भी शिथिल हो गया है । एक ओर उसकी विशद योजना हमें आकर्षित करती है और दूसरी ओर जब हम तटस्थ्य-पूर्वक उसके अतरंग का परीक्षण-विश्लेषण करते हैं, तब हम उसके बिखराव की प्रतीति से अभिभूत भी हो जाते है । तथापि, उसके अन्तर्लोक में सौन्दर्य एवं माधुर्य के अत्यन्त प्रगल्भ चित्र अथवा संदर्भ भी गुफित हुए हैं जो सहृदय भावक को रस विभोर कर देते हैं । मैंने प्रस्तुत गवेषणा में जहाँ 'कामायनी' के बिखराव की आलोचना की है, वहीं उसकी माधुर्य-भूमि का उन्मीलन करने का भी प्रयास किया है। शैव-दर्शन की इतनी गहरी छापें इस रचना में अंकित हैं कि उस धरातल पर भी उसका विवेचन आवश्यक समझा गया है ।

'कामायनी' के मूल्यांकन में मैने यथासम्भव व्यापक एवं वस्तुपरक मनोदृष्टि अपनायी है । यद्यपि 'श्रद्धालु' आलोचना-दृष्टि का मैंने अपलाप किया है, तथापि, मैंने उस मात्सर्य-मुग्ध आलोचन-दृष्टि से बचने का भी प्रयत्न किया है जो उस ऊँट की मनोवृत्ति की सहधर्मिणी है जिसे केलि-वन में प्रवेश करने पर भी केवल कण्टक-जाल ही दिखाई पड़ता है—

"कर्णामृतं सूक्तिरसं विमुच्य दोषे प्रयत्न सुमहान् खलस्य ।
अवेक्षते केलिवनं प्रविष्टः क्रमेलकः कण्टकजालमेव ।।"

—'कानों को सुख देने वाली सूक्तियों के रस को छोड़कर दुष्ट लोग प्रयास करके उसी प्रकार दोष ही खोजा करते हैं जिस प्रकार सुन्दर आनन्ददायक

केलिवन में जाकर भी ऊँट केवल कण्टक-समूह को ही खोजता है ।'

वस्तु-विन्यास के आर्ष आधार तथा दर्शन-भूमियों के विवेचन में मैंने पहले से ज्ञात-लिखित सामग्री का उपयोग किया है, किन्तु शेष प्रकरण मेरे स्वतन्त्र अनुशीलन की प्रसूति हैं—यों उपलब्ध पाठ्य-सा[illegible] अवहेलना तो कोई प्रबुद्ध व्यक्ति नहीं ही कर सकता है ।

श्रद्धा, प्रसाद के कथनानुसार, "लोक-अग्नि" में तप-गल कर "स्वर्ण-प्रतिमा" बनी थी या अपने अलौकिक प्रभाव से, यह विवाद का विषय है । लेकिन, इतना निश्चित है कि आलोचना की बहुमुखी आँच में तपकर ही, 'कामायनी' का प्रकृत सौष्ठव निखार में आयेगा ।

वर्तमान पुस्तक 'कामायनी' के अन्तरंग का गवेषणात्मक अनुशीलन है । इसमें विवेच्य काव्य-कृति के इर्द-गिर्द की अपेक्षा उसके भीतर झाँकने और देखने का प्रयत्न किया गया है और यही दृष्टि इस अध्ययन की विशेषता है जो उसे 'कामायनी-विषयक' अन्य अध्ययनों से पृथक् करती है ।

विवेच्य कृति के महत्व की अनुरूपता में ही वर्तमान अध्ययन को सर्वाङ्ग-पूर्ण बनाने के लिए विभिन्न भूमियों तथा परिच्छेदों में विभाजित किया गया है ।

प्रस्तुत गवेषणा से यदि 'कामायनी' की परख-पहचान में कोई भी नवीन रेखाएँ उभर सकी, तो अपना प्रयास सफल समझूँगा ।

—रमाशंकर तिवारी

प्राचार्य-निवास, अंगूरी बाग, फैजाबाद (उ० प्र०)
गणतंत्र दिवस, १९७३

अनुक्रमणिका

क. गठन-भूमि

१. वस्तु-विन्यास का आर्ष आधार १९
२. वस्तु-संघटन की समीक्षा ३३
३. कथानक का शास्त्रीय स्वरूप ६६

ख. प्रबन्ध-भूमि

४. अतिलौकिक अन्तर्योजना ८१
५. महाकाव्यत्व का परीक्षण ९५
६. अंगी रस : अद्‌भुत ११७
७. चरित्र-चित्रण (मनु, श्रद्धा, इड़ा) १२९

ग. प्रतीक-भूमि

८. रूपकात्मकता १५५
९. मानव-चेतना का विकास १३७

घ. माधुर्य-भूमि

१०. सौन्दर्य-वर्णन की परम्परा १९७
११. कामायनी की सौन्दर्य-भावना २२६
(क) सौन्दर्य-निरूपण २२६
(ख) प्रकृति का सौन्दर्य २३७
(ग) नर्तित नटेश का सौन्दर्य २५८
(घ) मनुष्य का सौन्दर्य (श्रद्धा तथा इड़ा) २६०
(ङ) सामान्य टिप्पणी २८०
१२. काम एवं प्रणय की वर्णन-परम्परा २८४
१३. कामायनी में काम एवं प्रणय शृंगार २९६
(क) कवित्वमयी कामगीता २९६

(ख) कामायनी में काम के रूप २९८
(ग) मौलिक काम ३००
(घ) उच्छृंखल (लौकिक) काम ३१२
(ङ) प्रणयाख्य (लौकिक) काम : शृंगार ३१५
(च) दाम्पत्य प्रेम का विकास ३२४
(छ) दाम्पत्य प्रेम की परिपक्वता ३३३
(ज) श्रद्धा का विरह ३३९
(झ) श्रद्धा का योगिनी-रूप ३४८
(ञ) सामान्य टिप्पणी ३५१
(ट) मांगलिक काम ३५२

ङ. दर्शन-भूमि

१४. सिद्धान्त-निदर्शन ३५९
(क) विश्व की रचना : परम तत्त्व : महाचिति ३५९
(ख) अभेदवाद : आभासवाद ३६१
(ग) सामरस्यवाद ६५
(घ) आनन्दवाद ३६९
(ङ) पुरुष-प्रकृति ३७६
(च) प्रकीर्ण विचार-तत्त्व ३७८
१५. प्रत्यभिज्ञा के आलोक में मनु-श्रद्धा ३८०
(क) मनु: मायामुग्ध जीव ३८०
(ख) श्रद्धा : पारमेश्वरी शक्ति ३८७
(ग) मनु का तत्वज्ञान : आत्मबोध ३९४
(घ) मनु की जीवन्मुक्ति ३९९

(च) कवित्व-भूमि

१६. बिम्ब-योजना ४०७
१. बिम्ब : स्वरूप तथा कोटियाँ ४०७
२. कामायनी के बिम्ब ४१५
(क) इन्द्रियग्राह्य बिम्ब : वस्तु बिम्ब ४१५
(ख) मनोग्राह्य बिम्ब : भाव बिम्ब ४२२
(ग) बुद्धिग्राह्य बिम्ब : धारणात्मक बिम्ब ४२७
(घ) स्मृति बिम्ब ४२८
(ङ) आद्य (आदिम) बिम्ब ४३०

(च) दार्शनिक बिम्ब ४३३
(छ) प्रकीर्ण बिम्ब ४३६
१७. शिल्प-विधान ४३८
(अ) त्रिविध शिल्प (वास्तु, शैली, अभिव्यक्ति) ४३८
(आ) त्रिविध शिल्प का परीक्षण ४३९
(क) वास्तु-शिल्प ४३९
(ख) १. शैली-शिल्प : वर्णनात्मक शैली का तिरस्कार ४३९
१. २. मुक्त व सहज साहचर्य पद्धति का अनुगमन ४४१
२. ३. प्रगीत तत्त्व का प्राचुर्य ४४४
३. (ग) १. अभिव्यक्ति-शिल्प भाषा ४४८
२. गुण तथा रीति एवं वृत्ति ४४९
३. अलंकार-योजना ४५५
४. ४. छन्दोयोजना ४६१
५. १८. लक्षणा-लक्ष्यार्थ की योजना ४७२
६. (क) लक्षणा-लक्ष्यार्थ-निरूपण ४७२
७. (ख) कामायनी में लक्षणा-लक्ष्यार्थ ४७८

(छ) उपसंहार

८. १९. प्रसाद की अन्य रचनाएँ और कामायनी ४८६
९ (क) प्रसाद के निबंध ४८६
(ख) प्रसाद की कविताएँ ४९४
(ग) प्रसाद की काव्येतर रचनाएँ ५००
१०. २०. कामायनी का मूल्यांकन ५०४
११. (क) प्रसाद की काव्यविषयक मान्यता और कामायनी ५०४
((ख) प्रसाद-साहित्य की मौलिक प्रेरणा और कामायनी ५०७
((ग) आमुख की प्रेरणाएँ और कामायनी ५११
((घ) बृहत्तर बिम्ब और कामायनी ५१३
((ङ) मूल्य की खोज और कामायनी ५१३
((च) जीवन-बोध और कामायनी ५१७
१२. (छ) कामायनी के आकर्षण का रहस्य ५२२
१३. **परिशिष्ट**
(चिन्ता 'मधुमय अभिशाप' क्यों ? ५२४
संदर्भ साहित्य सूचनिका ५२७

*

संदर्भ ग्रन्थ सूचनिका

क. संस्कृत

१. ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद
२. शतपथ ब्राह्मण, ऐतरेय ब्राह्मण
३. वृहदारण्यकोपनिषत्, छान्दोग्यो०, तैत्तिरीयोप०, मुण्डकोप०, प्रश्नोप०, श्वेताश्वरोप०, ईशावास्यो० इत्यादि
४. बृहद्देवता
५. कतिपय आगम ग्रंथ
६. रामायण
७. महाभारत, श्रीमद्भागवद्गीता
८. श्रीमद्भागवत
९. मत्स्यपुराण, विष्णुपुराण, मार्कण्डेयपुराण, ब्रह्मपुराण, अग्निपुराण, भविष्यपुराण
१०. कालिदास ग्रन्थावली
११ बुद्धचरित, सौन्दरनन्द
१२. नैषधचरित, किरातार्जुनीय, शिशुपालवध
१३. मृच्छकटिक
१४. कादम्बरी
१५. जानकीहरण
१६. संस्कृतकाव्यधारा (राहुल सांकृत्यायन)
१७. नाट्यशास्त्र
१८. काव्यालंकार (भामह, रुद्रट)
१९. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति
२०. काव्यालंकारसारसंग्रह
२१. अभिनवभारती
२२. ध्वन्यालोक (लोचन टीका)
२३. काव्यादर्श
२४. काव्यमीमांसा

२५. दशरूपक
२६. काव्यप्रकाश
२७. साहित्यदर्पण
२८ रसगंगाधर
२९. सर्वदर्शनसंग्रह

ख. हिन्दी

३०. भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा (नगेन्द्र)
३१. कोशोत्सवस्मारक ग्रंथ
१. ३२. रससिद्धान्त (नगेन्द्र)
२. ३३. भारतीय साहित्यशास्त्र, दो खण्ड (बलदेव उपाध्याय)
३. ३४. हिन्दी अभिनवभारती
३५. ध्वनिसिद्धान्त तथा तुलनीय साहित्यचिन्तन (डॉ० बच्चूलाल अवस्थी)
३६. ध्वनि-सम्प्रदाय का विकास (डॉ० शिवनाथ पाडेय)
४. ३७. प्रसाद की रचनाएँ (कविता, नाटक, उपन्यास)
५. ३८. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध (छठवीं आवृत्ति) (प्रसाद)
६. ३९. हिन्दी साहित्य का इतिहास (संवत् २०२५) (आचार्य शुक्ल)
७. ४०. हिन्दी साहित्य (डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी)
४१. हिन्दी साहित्य का भूमिका (डॉ० द्विवेदी)
४२. कामायनी में काव्य, संस्कृति और दर्शन (डॉ० द्वारिकाप्रसाद सक्सेना)
८. ४३. कामायनी-सौन्दर्य (डॉ० फतह सिंह)
९. ४४. कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ (नगेन्द्र)
४५. कामायनी की पारिभाषिक शब्दावली (डॉ० वेदज्ञ आर्य)
४६ जयशंकर प्रसाद (सं० २०१५ वि०) (नन्ददुलारे वाजपेयी)
१०. ४७. काश्मीर शैवदर्शन और कामायनी (डा० भँवर लाल जोशी)
११. ४८. कामायनी : एक पुनर्विचार (मुक्तिबोध)
(४९. कामायनी की मनस्सौन्दर्यसामाजिक भूमिका (डॉ० रमेशकुन्तल मेघ)
(५०. कामायनी का पुनर्मूल्याकन (रामस्वरूप चतुर्वेदी)
(५१. कामायनी : मूल्यांकन और मूल्यांकन (डॉ० इन्द्रनाथ मदान)
(५२. कामायनी-भाष्य (डॉ० द्वारिकाप्रसाद सक्सेना)
(५३. कामायनी की व्याख्यात्मक आलोचना (विश्वनाथ लाल शैदा)
१२. ५४. कामायनी की टीका (विश्वम्भर मानव)
१३. ५५. जयशंकर प्रसाद : वस्तु और कला (डॉ० रामेश्वर खण्डेलवाल)
(५६. प्रसाद का काव्य (डॉ० प्रेमशंकर)

५७. कामायनी-चिन्तन (डॉ० विमलकुमार जैन)
५८. कामायनी की भाषा (रमेशचन्द्र गुप्त)
५९. प्रसाद-दर्शन (डॉ० द्वारिकाप्रसाद सक्सेना)
६०. प्रसाद का सौन्दर्य-दर्शन (डॉ० वीणा माथुर)
६१. प्रसाद का नाट्यसाहित्य (डॉ० हरीन्द्र)
६२. कामायनी-विमर्श (भगीरथ दीक्षित)
६३. प्रसाद और कामायनी (गंगाप्रसाद पांडेय)
६४. भारतीय दर्शन (डॉ० उमेश मिश्र)
६५. विदेशों के महाकाव्य (गोपी कृष्ण)
६६. आधुनिक हिन्दी कविता में बिम्ब-विधान का विकास (डॉ० केदारनाथ सिंह)
६७. साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबन्ध (महादेवी)
६८. चिन्तामणि (आ० शुक्ल)
६९. हिन्दी महाकाव्य : सिद्धान्त और मूल्यांकन (डॉ० देवीप्रसाद)
७०. शुद्ध कविता की खोज (दिनकर)
७१. युग-कवि प्रसाद (डॉ० गणेश खरे)
७२. उदात्त : सिद्धान्त और शिल्पन (जगदीश पांडेय)
७३. पल्लव (पंत)
७४. प्रसाद की दार्शनिक चेतना (डॉ० चक्रवर्ती)
७५. काव्य-बिम्ब (नगेन्द्र)
७६. अर्धनारीश्वर (दिनकर)
७७. अपभ्रंश साहित्य (डॉ० हरिवंश कोछड़)
७८. छायावाद : एक पुनर्मूल्यांकन (डॉ० रवीन्द्र भ्रमर)
७९. काव्य में सौंदर्य और उदात्त तत्त्व (प्रो० शिवबालक राय)
८०. महाकवि कालिदास (डॉ० रमाशंकर तिवारी)
८१. सूर का शृंगार-वर्णन, (वही)
८२. काव्य-चिन्ता (वही)
८३. दिनकर की उर्वशी (वही)
८४. छायावाद-युग (डॉ० शंभूनाथ सिंह)
८५. प्रसाद की काव्य-प्रतिभा (डॉ० दुर्गाशंकर मिश्र)
८६. नयी समीक्षा, नये संदर्भ (नगेन्द्र)
८७. संस्कृत शब्दार्थ–कौस्तुभ (चतुर्वेदी द्वारिकाप्रसाद, शर्मा)

ग. अंग्रेजी

८८. English Sanskrit Dictionary (M. William)
८९. Oxford Companion to English Litereture (Third Edition)
९०. From Virgil to Milton (C. M. Bowra)
९१. The Epic (L. Abercrombe)
९२. Edmund Spenser (W. L. Renwick)
९३. The English Epic and its Background
९४. The Rigvedic Theory of Poetry (P. S. Shastri)
९५. A Dictionary of Psychology (James Drever)
९६. The Poetic Process (George Whalley)
९७. Concise Oxford Dictionary (fourth edition)
९८. Encyclopaedia Brittanica (Vol. 1 and 12)
९९. The poetic image (C. D. Lewis 1955)
१००. The Epic Spain in English Novel (Tillyard)
१०१. Oxford Lectures on English Poetry (A. C. Bradley)
१०२. Poems of Keats, Wordsworth, Shelly etc.
१०३. A History of English Literature
(A. Compton-Rickett 1946)

कामायनी : प्रेरणा और पारपाक

डॉ० रमाशंकर तिवारी
एम०ए०, पी-एच० डी०,
(देवपुरस्कार-विजेता)
प्राचार्य,
कामताप्रसाद सुन्दरलाल साकेत
स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
फैजाबाद (उत्तर प्रदेश)

ग्रन्थम
रामबाग, कानपुर-४

THE KAMAYANI : INSPIRATIONS AND FULFILMENT

By Dr. Rama Shankar Tiwary,
M. A., Ph. D ,
Deva Prize Winner



कामायनी : प्रेरणा और परिपाक ● डॉ० रमाशंकर तिवारी
जनवरी ● १९७३
प्रथम ● संस्करण
मूल्य ● ३५.००
ग्रन्थम ● रामबाग, कानपुर-१२
आराधना प्रेस ● ब्रह्मनगर, कानपुर–१२



डॉ रमाशंकर तिवारी

जन्म संवत् :– १ जुलाई, १९१५ ई० । जन्म-स्थान :– ग्राम–डूहा-बिहरा, बलिया (उत्तर प्रदेश) । शैक्षिक योग्यता:-एम०ए० (हिन्दी), एम०ए० (अंग्रेजी), पी-एच० डी० (हिन्दी) ।

जुलाई, १९४८, से जुलाई, १९५८, तक सतीशचन्द्र डिग्री कालेज, बलिया (उत्तर प्रदेश) में अंग्रेजी-विभाग के वरिष्ठ प्राध्यापक–रूप में स्नातक कक्षाओं को अंग्रेजी साहित्य पढ़ाते रहे । तदनन्तर, अगस्त, १९५८, से जुलाई, १९६४, तक बिहार के डिग्री कालेजों में प्राचार्य–पद पर आसीन रहे । अगस्त, सन् १९६४, से जून, सन् १९७१, तक जवाहरलाल नेहरू डिग्री कालेज, बाराबंकी (उत्तर प्रदेश), में प्राचार्य रहे और जुलाई, सन् १९७१ ई०, से आप सम्प्रति कामताप्रसाद सुन्दरलाल साकेत स्नातकोत्तर महाविद्यालय, फैजाबाद (उत्तर प्रदेश), में पुनः प्राचार्य-पद के गुरु-गम्भीर दायित्व का पालन कर रहे हैं । इस लम्बी अवधि में आप स्नातकीय तथा स्नातकोत्तरीय कक्षाओं को अंग्रेजी साहित्य के साथ साथ हिन्दी साहित्य भी, विशेषतया, काव्य एवं काव्यशास्त्र, पढ़ाते रहे हैं ।

आपके निम्नांकित आलोचना–ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं :—

१. 'महाकवि कालिदास' २. 'महाकवि शूद्रक' ३. 'प्रयोगवादी काव्यधारा' ४. 'काव्य-चिन्ता' ५. 'सूर का शृंगार-वर्णन' ६. 'दिनकर की उर्वशी' ७. 'बिहारी का काव्य-लालित्य' ८. 'चिन्तन और चर्वणा' (यंत्रस्थ) ।

इन ग्रंथों में से पहले ग्रंथ 'महाकवि कालिदास' पर आपको मध्यप्रदेश सरकार से सन् १९६२ में सुप्रसिद्ध देव-पुरस्कार प्राप्त हुआ। 'महाकवि शूद्रक', 'प्रयोगवादी काव्य-धारा' और 'काव्य-चिन्ता' नामक पुस्तकें उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत हो चुकी हैं। 'सूर का शृंगार-वर्णन' पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध का ग्रंथावतरण है।

इन पुस्तकों में से अनेक विभिन्न विश्वविद्यालयों के स्नातकीय तथा स्नातकोत्तरीय पाठ्यक्रमों में अनुशंसित पुस्तकों के रूप में स्वीकृत की गई हैं। 'सूर का शृंगार-वर्णन' नामक शोध-ग्रंथ में अन्य अनेक नई स्थापनाएँ पुष्ट तथा सबल आधारों पर उपलब्ध होती है। 'प्रयोगवादी काव्यधारा' नई काव्यधारा की विस्तृत विश्लेषणात्मक परीक्षा करने वाला पहला ग्रंथ है। 'काव्य-चिन्ता' में आपके आलोचनात्मक शास्त्रीय निबन्धों का संकलन है जिसकी स्थापनाएँ अत्यन्त प्रौढ़ तथा सबल बन पड़ी है। आपकी नवीनतम कृति 'बिहारी का काव्य-लालित्य' कतिपय ऐसे सन्दर्भो पर प्रकाश डालती है जिनकी चर्चा पहले किसी विद्वान् ने व्यवस्थित ढग से नही की थी।

ज्ञान-मण्डल, काशी, (वाराणसी), से प्रकाशित होने वाले 'हिन्दी साहित्य कोश', के प्रथम भाग में रस तथा स्थायीभाव से सम्बन्धित आपकी टिप्पणियाँ सकलित हुई है। दर्जनों गवेषणात्मक एव विवेचनात्मक निबन्ध अंग्रेजी तथा हिन्दी की मान्य पत्रिकाओं में छप चुके है। आपकी प्रौढ़ समीक्षात्मक शैली में पौरस्त्य एवं पाश्चात्य दोनो समीक्षादृष्टियों का स्वस्थ एवं सुविचारित समन्वय प्रतिफलित हुआ है।

अखिल भारतीय हिन्दी सेवी संस्थान, इलाहाबाद, के द्वारा उत्तर प्रदेश के कतिपय अन्य साहित्यकारों के साथ आपको "साहित्य-महारथी" की उपाधि से विभूषित किया गया है। कानपुर विश्वविद्यालय ने हिन्दी साहित्य में पी-एच० डी० उपाधि से सम्बन्धित शोध-कार्य के निर्देशन-हेतु आपको विशिष्ट विद्वान् के रूप में स्वीकृत किया है।

समर्पण

सहृदय, साहित्य-मर्मी
श्री पृथ्वीनाथ चतुर्वेदी,
आइ० ए० एस०,
शिक्षा-सचिव, उत्तर प्रदेश,
को जिनका असीम स्नेह
लेखक को
निरन्तर मिलता रहा है

●●●

"अस्मानवेहि कलमानलमाहतानां
येषां प्रचण्डमुसलैरवदाततैव ।
स्नेहं विमुच्य सहसा खलतां प्रयान्ति
ये स्वल्पपीऽनवशात्र वयं तिलास्ते ।।"

—'मुझे वह धान जानो जो प्रचण्ड मूसल से अच्छी तरह मारे जाने पर और भी साफ होता जाता है। हम वे तिल नही है जो थोड़े प्रहार में स्नेह (तेल) को छोड़ खल (खली) बन जाते हैं।'

क. गठन-भूमि

१. वस्तु-विन्यास का आर्ष आधार
२. वस्तु-संघटन की समीक्षा
३ कथानक का शास्त्रीय स्वरूप

१ | वस्तु-विन्यास का आर्ष आधार

खण्ड अ

प्रसाद जी ने 'कामायनी' के वस्तु-संघटन में आर्ष वाङ्मय को मुख्य आधार बनाया है। जलप्लावन, मनु, श्रद्धा, इड़ा, आकुलि-किलात, त्रिदिक् विश्व इत्यादि प्रधान विन्दुओं के संयोजन मे उन्होंने अपने व्यापक अध्ययन-मनन से प्रभूत सहायता पाई है। प्रस्तुत प्रकरण में 'कामायनी' के कथा-स्रोतों का संक्षिप्त विवेचन किया गया है।

क. जलप्लावन

सृष्टि के आदि में जलविप्लव की घटना किसी-न-किसी रूप में संसार के सभी प्राचीन ग्रंथो में वर्णित उपलब्ध होती है। वेदो में, अथर्ववेद के एक क्षीण संकेत को छोड़कर,[1] जलप्लावन का उल्लेख नही मिलता। वैदिक वाङ्मय में शतपथ ब्राह्मण पहला ग्रंथ है जिसमें जलप्लावन की घटना का विस्तीर्ण वर्णन हुआ है। उसके अनुसार, प्रातःकाल जल लेते हुए मनु के हाथ में एक छोटी-सी मछली आ गई। उसने मनु को भावी प्रलय की बात बताई और प्रलय से बचने का यह उपाय सुझाया कि वह एक नौका निर्मित कर उसमे चढ़ जाएँ और वह तब तक बड़ी होकर, उस नाव को बचा लेगी जिससे मनु प्रलय से बचकर जीवित रह जाएँगे। मनु ने मछली के प्राणों की रक्षा की और वह कालांतर में बढ़कर विशाल मत्स्य बन गई। मछली द्वारा निर्दिष्ट समय पर जलविप्लव घटित हुआ जिसमें समस्त प्रजा विनष्ट हो गई, किन्तु मनु अपनी नाव को मत्स्य की सींग में बाँधकर उत्तरगिरि के शिखर पर पहुँच गये तथा प्रलय मे विनष्ट होने से बच गये। वह शिखर 'मनोरवसर्पण' की संज्ञा से अभिहित हुआ है।[2] शतपथ ब्राह्मण के बाद महाभारत के वनपर्व में प्रलय की कथा का विस्तृत वर्णन उपलब्ध है। इसमें मनु को विवस्वान् का पुत्र एवं यशस्वी महर्षि बताया गया

---

१. अथर्ववेद, १९।३९।७-८।

२. शतपथ ब्राह्मण, १।८।१-६।

है और मत्स्य ने अपने को प्रजापति ब्रह्मा बताया है तथा मनु से यह कहा है कि उसी की कृपा से वह भावी सृष्टि-रचना करेगे। जलप्लावन मे यहाँ मनु के साथ-साथ सप्तर्षितथा समस्त पदार्थों के बीज भी बच गये हैं। जलविप्लव की भयंकरता का अत्यन्त प्रभावकारी वर्णन महाभारतकार की विशेषता है।[1]

तदनन्तर, मत्स्य पुराण, श्रीमद्भागवत पुराण, अग्निपुराण तथा भविष्य-पुराण में जलविप्लव की कथा वर्णित हुई है। मत्स्य पुराण में मनु को दक्षिण देश का राजा तथा मत्स्य को विष्णु का अवतार बताया गया है। मनु के साथ यहाँ ऋक्, यजु तथा सामवेदों, चन्द्रमा, सूर्य, नर्मदा, मार्कण्डेय मुनि तथा शंकर के बच जाने का उल्लेख हुआ है और मत्स्य ने मनु को बताया है कि प्रलय के उपरान्त विकसित होने वाली नवीन सृष्टि के वही प्रजापति तथा समस्त देव-ताओं के पूज्य होंगे।[2] भागवत की कथा प्रायः मत्स्यपुराण से मिलती है, और इन दोनों पुराणों में कथा धार्मिक प्रभावों से रंजित एवं अतिरंजित बन गई है।[3] अग्निपुराण की कथा भागवत की कथा का ही संक्षिप्त सस्करण है।[4] भविष्यपुराण की कथा विलक्षण दिखाई पड़ती है, इस कारण कि बाइबिल में जलप्लावन (Deluge) की कथा का जो उल्लेख मिलता है, उससे इस पुराण की कथा का घनिष्ट साम्य लक्षित होता है। पुराण में मनु की जगह राजा न्यूह का निर्देश है और उन्हें आदम की संतान बताया गया है। न्यूह को स्वप्न में भगवान् विष्णु ने आदेश दिया है कि आज से सातवें दिन प्रलय होगा और वह अपने समस्त परिवार के साथ नाव में चढ़कर अपनी रक्षा करे। तदनुसार, न्यूह एक विशाल नौका बनाता है और अपने परिवार तथा समस्त जीवों के साथ उसमें चढ़कर, हिमालय की 'शिषिणा' नाम्नी चोटी पर उतरता है।[5] बाइबिल में कथा यों आई है कि मानव-सृष्टि के बढ़ जाने पर जब पाप बढ़ने लगा, तब ईश्वर ने उसे नष्ट करने का सकल्प किया, किन्तु नोह (Noah) नामक व्यक्ति पुण्यवान् तथा भगवद्भक्त था, अतः ईश्वर ने उसे सपरिवार बचा लिया। उन्होंने नोह से कहा कि वह एक ३०० हाथ लम्बी तथा ५० हाथ चौड़ी नाव बनाये और उसमें अपना सम्पूर्ण परिवार एवं प्रत्येक जाति के पशु-पक्षी का एक जोड़ा (नर-मादा) लेकर चढ़ जाये तथा भावी जलप्लावन से

---

१. **वनपर्व** १८७:२-५५,

२. **मत्स्यपुराण**, १।१०-३४,

३. **श्रीमद्भागवत**, ८।२४।४१-५४,

४. **अग्निपुराण**, २।१-१७,

५. **भविष्यपुराण, प्रतिसर्गपर्व**, ३।४।१-५४,

(जिसे ईश्वर स्वयं पृथ्वी पर भेजेंगे) अपनी तथा परिजनों की रक्षा करे। चालीस दिन और चालीस रात वर्षा होती रही और भीषण जलप्लावन का दृश्य उत्पन्न हो गया। नोह की अवस्था छः सौ वर्ष की हो गई थी। जलविप्लव में समस्त जीव विनष्ट हो गये, किन्तु नोह ईश्वर के आदेशानुसार नाव में परिवार तथा अन्य प्राणियों के साथ चढ़ गया था। ईश्वर को अपने भक्त नोह का स्मरण हो आया जिससे बाढ़ घट गई और नोह की नाव अरारात पर्वत पर बहकर टिक गई। ईश्वर ने तब नोह को दर्शन दिया तथा उसे एवं उसके परिवार को आशीर्वाद दिया। इस प्रलय के बाद फिर से सृष्टि का नवविकास सम्पन्न हुआ।[1] यहाँ उल्लेख्य यह है कि नोह आदम तथा ईव के वंशजों में से था और भविष्यपुराण में भी न्यूह को आदम की संतति बताया गया है। कतिपय जैन-ग्रंथों को छोड़कर, जलप्लावन वाली कथा भारतीय साहित्य में अन्यत्र नहीं मिलती—यद्यपि प्रायः सभी पुराणों में अलग-अलग वैवस्वत मनु एवं प्रलय का उल्लेख आया है।

संसार के अन्यान्य प्राचीन ग्रथों मे भी जलप्लावन का वर्णन मिलता है। यूनान, बेबीलोनिया, चैल्डिया, सुमेरिया, लिथुआनिया इत्यादि के प्राचीन ग्रंथों तथा कुरानशरीफ में भी प्रलय का आख्यान आया है जो मनु की कथा से घनिष्ट साम्य रखता है)। इन समस्त कथाओं में एक सर्वनिष्ठ तथ्य यह उल्लिखित हुआ है कि जलप्लावन मानव-जाति के पापाचार एव दुष्कर्मों से परिणमित हुआ है और बाद को, किन्ही पुण्यात्मा एव आस्थावान् व्यक्तियों के द्वारा नवीन सृष्टि विकसित हुई है। नाव तथा किसी-न-किसी पर्वत-शिखर पर उसके स्थित हो जाने का उल्लेख प्रायः सर्वत्र उपलब्ध होता है। 'कामायनी' में प्रसादजी ने देश-विदेश के साहित्य मुख्यतया शतपथ ब्राह्मण, में प्राप्त कथाओं के आधार पर 'चिन्ता' सर्ग में जलप्लावन का वर्णन किया है। पौराणिक भाषा मे यह 'नैमित्तिक' प्रलय का विधान है—क्योंकि इसमें संपूर्ण सृष्टि का विनाश नही हो पाया है।[2] यह भी उल्लेखनीय है कि 'कामायनी' का जलप्लावन देवजाति के अतिशय भोग-विलास, आस्थाहीन उच्छृंखलता इत्यादि के परिणाम-रूप में ही चित्रित किया गया है।

---

1. Bible ; Old Testament, 'Genesis', Chap. 6-9.

२. **'नैमित्तिक' प्रलय एक कल्प के अन्त में तथा 'प्राकृतिक' प्रलय दो परार्ध में घटित होती है और 'आत्यन्तिक' प्रलय में संपूर्ण सृष्टि विनष्ट हो जाती है। (ब्रह्मपुराण २३१।१; विष्णुपुराण, ६।३।१-२)**

ख. मनु-श्रद्धा-इड़ा

पुराणों में चौदह मन्वंतरों का कथन किया गया है और प्रत्येक मन्वंतर का आदि प्रवर्त्तक एक-एक मनु को माना गया है।[१] इनमें वैवस्वत मनु आधुनिक सातवें मन्वंतर के प्रवर्त्तक माने गये हैं। ऋग्वेद के दशम मंडल में वैवस्वत मनु के जन्म की कथा आई है। उसके अनुसार, त्वष्टा नामक देवता की कन्या सरण्यू का विवाह, विवस्वान (सूर्य) के साथ हुआ। उससे विवस्वान् को दो संतानें हुईं, यम तथा यमी। उसके बाद सरण्यू एक घोड़ी का रूप धारण कर उत्तरकुरु में चली गई और किसी अन्य देव-कन्या को विवस्वान् के समीप छोड़ गई जिसे वह सरण्यू ही समझते रहे। इसी देव-कन्या से राजर्षि वैवस्वत मनु का जन्म हुआ।[२] शौनक-रचित 'बृहद्देवता' में भी मनु के जन्म के सम्बन्ध में यही कथा उपलब्ध है।[३] पुराणों में भी यह कथा प्रायः इसी रूप में मिलती है। इन कथाओं से यह विज्ञप्त होता है कि वैवस्वत मनु सूर्य-वंश में उत्पन्न हुए थे तथा आधुनिक मानव-सृष्टि के प्रवर्त्तक-रूप में ऐतिहासिक पुरुष माने जा सकते हैं। प्रसाद जी ने इन्हीं उल्लेखों के आधार पर मनु को वैवस्वत मनु बताया है तथा उन्हीं से नवीन मानव-सृष्टि का अभ्युदय दिखाया है।

ऋग्वेद के आठवें मंडल में वैवस्वत मनु-द्वारा रचित पाँच सूक्त उपलब्ध हैं जिनमें उन्होंने विश्वेदेवा से प्रार्थना करते हुए यज्ञ-पशु, पृथ्वी, वनस्पति, उषा, रात्रि, संतान इत्यादि की याचना की है तथा ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए अग्निहोत्र इत्यादि कर्मों में तल्लीन रहने की कामना व्यक्त की है।[४] शतपथ ब्राह्मण में जलप्लावन के उपरांत मनु भावी सृष्टि की कामना से दधि, घृत इत्यादि के द्वारा पाकयज्ञ करते बताये गये हैं।[५] ऐतिरेय तथा तैत्तिरीय ब्राह्मणों में उल्लेख आया है कि प्रजापति ने सृष्टि के विकास की इच्छा से अनुप्रेरित होकर तप किया और तप के बाद सृष्टि का विकास किया। बृहदारण्यक उपनिषद में उल्लेख आता है कि प्रजापति सृष्टि-रचना से पूर्व अकेला था और

---

१. **चौदह मनुओ के नाम ये गिनाये गये हैं—स्वायंभुव, स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष, वैवस्वत, सावर्णि, मौत्य, रौच्य तथा चार मेरुसावर्ण्य।**

२. **ऋग्वेद**, १०।१७।१-२।

३. **बृहद्देवता**, ६।१-६।

४. **ऋग्वेद**, ८।२७।२-२२ ; ८।२९।९-१०।

५. **शपतथ०**, १।८।१।७।

उसके मन में यह कामना जगी कि सृष्टि उत्पन्न करने के लिए उसकी एक भार्या हो तथा वह उससे सन्तान-रूप में उत्पन्न होवे ।[1]

इन उल्लेखों के आधार पर प्रसादजी ने 'कामायनी' में मनु को अग्निहोत्र तपश्चर्या, पाकयज्ञ इत्यादि में तल्लीन दिखाया है और प्रकृति के मनोहारी परिवेश में उन्हें 'अनादि वासना' से अभिभूत चित्रित किया है ।

ऋग्वेद में श्रद्धा का उल्लेख देवता एवं ऋषि, दोनों रूपों में मिलता है । श्रद्धासूक्त में श्रद्धा देवता और ऋषि दोनों ही हैं । पुनः उसकी अनुक्रमणिका में श्रद्धा को कामगोत्रोत्पन्न बताया गया है—"कामगोत्रजा श्रद्धा नार्षिका । तथा चानुक्रम्यते । श्रद्धया श्रद्धा कामायनी श्राद्धामानुष्टभात्विति । (१०।१५६) ।" तैत्तिरीय ब्राह्मण में श्रद्धा ऋत की पुत्री एवं काम की माता बताई गई है ।[2] पुराणों में श्रद्धा दक्ष प्रजापति की कन्या[3] तथा काम की माता बताई गई है ।[4] अन्यत्र उसे सूर्य की दुहिता माना गया है ।[5] इस प्रकार, स्पष्ट है कि श्रद्धा-विषयक उल्लेखों में ऐकमत्य नहीं है । लेकिन, प्रसादजी ने ऋग्वेद के उपर्युक्त उल्लेख को ही स्वीकार कर, श्रद्धा को काम की कन्या बताया है और उसका दूसरा नाम "कामायनी" स्वीकार किया है ।

श्रद्धा के मनु-पत्नी होने का मनुमोदन भी आर्ष वाङ्मय में उपलब्ध है । शतपथब्राह्मण में अनेक बार मनु को 'श्रद्धादेव' कहा गया है । तैत्तिरीयब्राह्मण में भी मनु इसी अभिधा से आख्यात किये गये है । देवीभागवत, ब्रह्मवैवर्त्त, हरिवंश इत्यादि पुराणों में वैवस्वत मनु को 'श्रद्धादेव' अथवा 'श्राद्धदेव' कह कर संबोधन किया है ।[6] इन उल्लेखों से प्रतीत होता है कि श्रद्धा मनु की पत्नी है । श्रीमद्भागवत में स्पष्ट रूप से श्रद्धा वैवस्वत मनु की पत्नी बताई गई है तथा उससे उनके दस पुत्र होने का भी उल्लेख हुआ है जिनके नाम गिनाये गये हैं—इक्ष्वाकु, नृग, शर्याति, दृष्ट, धृष्ट, करूषक, नरिष्यन्त, पृषध्र, नभग

---

१. बृहदा०, १।४।१७,
२. तैत्तिरीय०, ३।१२।१–२; २।८।८।८,
३. मार्कण्डेय०, ५।१९।२०,
४. मार्कण्डेय०, ५०।२८; वायु०, १०।३४; विष्णु०, १।७।२८,
५. यजु०, १९।४; शतपथ०, १२।७।३।११,
६. शतपथ०;
७. शतपथ० १।४।१।१६; तैत्तिरीयब्राह्मण, ३।२।५।९; विष्णुपुराण, ३।१।३०; देवीभागवत, १०।१०।१; ब्रह्मवैवर्त्त, प्रकृतिखण्ड, ४५।६३; हरिवंशपुराण, ९।८ इत्यादि ।

तथा कवि[1] और इनसे ही सूर्यवंश की स्थापना मानी गई है । इन आधारों पर 'कामायनी' में श्रद्धा मनु की पत्नी बनाई गई है और उससे एक पुत्र मानव की उत्पत्ति बताई गई है ।

इड़ा का उल्लेख अनेक बार ऋग्वेद में उपलब्ध है । वहाँ उसे प्रजापति मनु की पथप्रदर्शिका, मनुष्यों पर शासन करने वाली, मनुष्यों में कर्म-चेतना उत्पन्न करने वाली इत्यादि कहा गया है ।[2] इन मन्त्रों में—जैसा प्रसाद जी ने स्वतः आमुख में लिखा है—मध्यमा, वैखरी तथा पश्यन्ती की प्रतिनिधि भारती सरस्वती के साथ इड़ा का नाम आया है । लौकिक संस्कृत में 'इड़ा' शब्द पृथिवी, अर्थात्, बुद्धि, वापी आदि का पर्यायवाची बताया गया है—"गो भू वार्चास्त्विड़ा इला ।" (अमरकोश) इस इड़ा या वाक् के साथ मनु या मन के एक अन्य विवाद का भी शतपथ में उल्लेख मिलता है जिसमें दोनों अपने-अपने महत्त्व के लिए झगड़ते हैं ।[3] वेदों मे इड़ा के जन्म की कथा नही मिलती । शतपथब्राह्मण में पहले-पहल मनु द्वारा सम्पादित मैत्रावरुण यज्ञ से इड़ा की उत्पत्ति बताई गई है और उसे मनु की पुत्री कह कर उसी से मनु के आगामी सृष्टि-विकास करने का कथन किया गया है ।[4] वहीं आगे चलकर इड़ा को मनु-कन्या होने के कारण 'मानवी' भी कहा गया है ।[5] तैत्तिरीयब्राह्मण मे भी उसे मानवी तथा यज्ञों का अनुशासन करने वाली बताया गया है ।[6] ब्रह्म, विष्णु, मत्स्य, वायु इत्यादि पुराणों में भी मनु-द्वारा सम्पादित मैत्रावरुण यज्ञ से इड़ा के जन्म लेने का उल्लेख हुआ है । ऐतरेयब्राह्मण में एक कथा मिलती है कि एक बार प्रजापति ने अपनी पुत्री के साथ अनैतिक आचरण किया जिसे देखकर देवता रुष्ट हो गये तथा एक रौद्रमूर्ति (पशुपति) का निर्माण किया और उसी से प्रजापति के ऊपर आक्रमण करा कर, उनके शरीर को बाण से बिंधवा दिया ।[7] शिवमहिम्नस्तोत्र में भी काममोहित प्रजापति पर शिव के बाण चलाने का उल्लेख मिलता है ।[8]

---

१. **श्रीमद्भागवत**, ९।१।११-१२,९।१।१४,
२. **ऋग्वेद**, १।३१।११,१०।११०।८,
३. **आमुख (कामायनी)** ।
४. **शतपथ**, १।८।१।६-११,
५. **वही**, १।८।१।२६,
६. **तैत्तिरीय०**, १।१।४।४,
७. **ऐतरेय**, ३।३।३३,
८. **शिवमहिम्न०**, २२

घ. सारस्वत प्रदेश

ऋग्वेद में सरस्वती नदी को समस्त नदियो में श्रेष्ठ, पवित्र एवं सरस ऊर्मि वाली कहा गया है।[1] इसे वहाँ 'वृत्रघ्नी' भी कहा गया है क्योंकि इन्द्र-द्वारा इसी के किनारे वृत्रासुर का वध किया गया है।[2] कोशोत्सव स्मारक ग्रंथ में प्रसादजी ने पुष्ट प्रमाणों से सिद्ध किया है कि देवताओं से सम्बन्धित यह नदी, पंजाब की इसी सरस्वती-नामक नदी से भिन्न, पश्चिमी अफगानिस्तान के समीप गान्धार प्रान्त में बहती थी जहाँ प्राचीन सप्तसिन्धु प्रदेश था जो देवजाति की निवास-भूमि के गौरव से विभूषित था।[3] पुराणों में 'इलावृत्त' अथवा 'इड़ावृत्त' नामक प्रदेश का उल्लेख उपलब्ध होता है। मार्कण्डेय पुराण, वायुपुराण, मत्स्यपुराण इत्यादि में जम्बूद्वीप के तीन दक्षिणी खण्डों में मध्य-वर्ती क्षेत्र को 'इड़ावृत्तवर्ष' बताया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि गांधार प्रान्त के समीप ही सारस्वत प्रदेश था और यह सारस्वतप्रदेश ही 'इड़ावृत्तवर्ष' था जिसकी रानी अथवा शासिका इड़ा रही होगी।[4]

अतएव, प्रसादजी ने इन उल्लेखों के आधार पर इड़ा को सारस्वतप्रदेश की रानी बताया है तथा उस प्रदेश को उन्नत शैल-शिखरों से आवेष्टित कहा है और देवासुर संग्राम एवं देवराज इन्द्र की विजय का उल्लेख किया है।

ङ. आकुलि-किलात

ऋग्वेद के दशम मंडल में कथा आई है कि राजा असमाति ने अपने पुराने चार पुरोहितो को मारकर आकुलि एव किलात को अपना पुरोहित बनाया जो दोनों मायावी असुर थे।[5] बृहद्देवता मे भी ये असुर पुरोहित बताये गये हैं।[6] शतपथ मे इन दोनों असुर पुरोहितों ने श्रद्धादेव मनु को मैत्रावरुण यज्ञ करने को प्रेरणा प्रदान की है।[7]

इन उल्लेखों के आधार पर 'कामायनी' में मुख्यतः शतपथ की कथा को ध्यान में रखकर, आकुलि-किलात के द्वारा मनु से मैत्रावरुण यज्ञ कराया गया

---

१. **ऋग्वेद**, ७।९५।१-२ ; ७।९६।५,
२. **वही**, ६।६१।७
३. **कोशोत्सव स्मारक**, पृ० १७२-७३,
४. **'कामा० में काव्य, संस्कृति और दर्शन,'** पृ० ७४-७५
५. **ऋग्वेद**, १०।५७ (अनुक्रमणिका)
६. **बृहद्देवता**, ७।८५-८८,
७. **शतपथ**, १।१।४।१४-१६,

है । पशु-बलि का जो विधान हुआ है, उस पर यजुर्वेद में वर्णित पशु-यज्ञ का प्रभाव लक्षित होता है ।[1] वैसे, शतपथ में भी पशु को यूप से बाँधने, उसका वध करने, हवि-रूप में उसे देवों को समर्पित करने तथा बचे भाग को यजमान-द्वारा खाने का उल्लेख उपलब्ध होता है ।[2]

च. सोमरस

ऋग्वेद में, सोम-सूक्त में सोम की भूयसी प्रशंसा की गई है तथा उसके पान से वैभव-लाभ का कथन किया गया है ।[3] यजुर्वेद मे भी सोम को बल, बुद्धि एवं वैभव को देने वाला तथा शत्रुओं का विनाश करने वाला कहा गया है ।[4] शतपथ में सौत्रामणी यज्ञ के वर्णन में सोम तथा सुरा, दोनों की प्रशंसा की गई है । तथा दोनो को मादक बताया गया है और दोनो के पान से देव-ताओं के मदोन्मत्त होने का कथन किया गया है ।[5] इन उल्लेखों के आधार पर 'कामायनी' में मनु ने यज्ञ के उपरान्त सोमरस-पान के साथ पुरोडाश का भी भक्षण किया है और श्रद्धा को मदविह्वल बनाने के निमित्त सोमरस का पान कराया है ।

छ. नटराज शिव का ताण्डव-नृत्य

वैदिक ग्रंथों में शिव के तांडव का वर्णन नही मिलता । धनंजय ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'दशरूपक' मे नृत्य के दो भेदों, लास्य एवं ताडव, का वर्णन किया है और लास्य को मधुर तथा ताडव को उद्धत बताया है ।[6] किन्तु, लिंगपुराण में शिव के तांडव नृत्य की एक कथा आई है जिसमें कहा गया है कि एक बार दारुक नामक राक्षस का संहार करने के लिए पार्वती ने काली का रूप धारण किया और जब उसका वध करने के अनन्तर वापस लौटी, तब शिव ने सायं-काल उन्हें प्रसन्न करने के लिए तांडवनृत्य किया ।[7] इस कथा से ताडव के मधुर, अनुरंजक स्वरूप की भी विज्ञप्ति होती है। शिवमहिम्नस्तोत्र मे ताडव के सृष्टि-पालक रूप का वर्णन मिलता है । वहाँ कहा गया है कि तांडवनृत्य करते समय

---

१. **यजुर्वेद (शुक्ल)**, ६।९-१३,
२. **शतपथ**, ३।७।३।२–४,
३. **ऋग्वेद**, ८।४८।८,
४. **यजु० (शुक्ल)**, ५।३५.
५. **शतपथ**, १२।७।३।१२,
६. **दशरूपक**, १।१०,
७. **लिंगपुराण**, २०६, २५-२८,

शिव के चरणों के आघात से पृथ्वी धँसने लगती है, बाहुओं के संघर्ष से नक्षत्र-पूर्ण आकाश पीड़ित होने लगता है और चंचल जटाओं से ताड़ित स्वर्गलोक काँपने लगता है ।[1] शिवतांडवस्तोत्र में शिव के तांडव का भव्य वर्णन हुआ है । इसके अनुसार, शिव अपने पवित्र कंठ में सर्पों की माला धारण किये तथा डमरू बजाते हुए नृत्य करते है । नाचते समय शिव की जटाओं में गंगा चंचल तरंगों के साथ घूमने लगती है, सर्पों की मणियों का प्रकाश चारों तरफ विच्छुरित हो जाता है, ललाट की अग्नि अधिक दीप्तिमयी बन जाती है और तांडव की गति में और तीव्रता आ जाती है ।[2] प्रसादजी ने इन उल्लेखों के आधार पर नटराज महेश के तांडव नृत्य का अत्यन्त भव्य एव तेजःपूर्ण चित्र अकित किया है ।

ज. त्रिपुर, त्रिकोण या त्रिविक् विश्व

शतपथ ब्राह्मण मे सर्वप्रथम त्रिपुर का स्पष्ट उल्लेख मिलता है । एक कथा मे वहाँ बताया गया है कि देवताओं से पराजित होकर असुरों ने प्रजापति को तपस्या से प्रसन्न कर तीन पुरों की रचना की : पृथ्वी मे लोहे का, अन्तरिक्ष में रजत का तथा द्युलोक मे सुवर्ण का पुर बनाया । इस पर देवताओ ने इन तीन पुरों को विनष्ट करने के लिए 'उपसद' नामक अग्नि की उपासना की और उस अग्नि ने तब उत्पन्न होकर इस त्रिपुर-लोक को भस्मीभूत कर दिया ।[3] बाद को, महाभारत, श्रीमद्भागवत, लिंग पुराण, शिवपुराण इत्यादि ग्रथो में भी त्रिपुर-विषयक कथाएँ मिलती है जिनमे देवो से बचने के लिए असुरों ने त्रिपुर का निर्माण किया है । एक प्रमुख अन्तर यह दिखाई पड़ता है कि इन कथाओं में त्रिपुर का विध्वस अग्नि द्वारा न होकर, शिव के द्वारा हुआ है ।[4] लेकिन शैवागमो मे प्राप्त त्रिपुर-वर्णन की अपनी विशेषता है । वहाँ त्रिपुर के तीन कोण माने गये है जिनके नाम क्रमशः इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया हैं । इन तीन कोणों में क्रमश. इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति तथा क्रियाशक्ति नामक तीन शक्तियाँ निवास करती है यही त्रिकोण, त्रिपुर अथवा त्रिलोक ससार है और उसकी अधिष्ठात्री त्रिपुरादेवी मानी गई है जो इन त्रिविध शक्तियो से सम्पन्न है और संसार की सृष्टि, पालन तथा संहार किया करती है । जब तक ये तीनों पुर या कोण अलग-अलग रहते है, तब तक यह सोपाधिक संसार रहता है और

---

१. **शिवमहिम्न०**, १६, ३३।५ ।

२. **शिवताण्डवस्तोत्र**, १, २, ४, १६ ।

३. **शतपथ**, ३।४।४।३-४ ।

४. **'कामा० में काव्य, संस्कृति और दर्शन'**, पृ० ७९ ।

जब ये समरस होकर परस्पर मिल जाते हैं, तब तन्त्रों मे वर्णित 'निरंजनावस्था उत्पन्न हो जाती है और समस्त उपाधियों से शून्य आनन्दावस्था का उदय हो जाता है। 'त्रिपुरारहस्य' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ में श्रद्धा को त्रिपुरादेवी के रूप में स्वीकार किया गया है और श्रद्धा को ही अपनी अनन्त शक्ति के द्वारा त्रिपुरों को परस्पर संयुक्त करने वाली बताया गया है।[1]

इन उपर्युल्लिखित आधारो पर प्रसादजी ने 'कामायनी' में त्रिपुर अथवा 'त्रिदिक् विश्व' का वर्णन किया है। इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया के आलोक पिंडों का वर्णन मुख्यतया शैवागमों के आधार पर किया गया है और 'त्रिपुरारहस्य' के आधार पर श्रद्धा की मुसकान से त्रिकोणों को परस्पर संयुक्त कराया गया है। श्वेताश्वर उपनिषद् में अनादि प्रकृति को "लोहितशुक्लकृष्णाम्" (लाल, श्वेत एवं श्यामल) कहा गया है। जो तीन रंग क्रमशः रजस्, सत्त्व एवं तमस् नामक तीन गुणों के प्रतीक माने गये हैं। इस आधार पर प्रसाद जी ने इच्छा-लोक को अरुण, ज्ञानलोक को श्वेत तथा कर्मलोक को श्यामल बताया है।

ग. कैलाश और मानसरोवर

मत्स्यपुराण, वायुपुराण इत्यादि पुराणों मे भगवान् शंकर को कैलाश गिरि पर निवास करते बताया गया है जो हिमालय के मध्य पृष्ठ भाग मे अवस्थित कहा गया है। वहाँ दिव्य एवं रमणीय मानसरोवर की स्थिति भी बताई गई है।[1] कैलाश के अनुपम शोभा सौन्दर्य का वर्णन भी उपलब्ध होता है। 'शिवसहस्रनामस्तोत्र' में शिव को सर्वश्रेष्ठ, सर्वशक्तिमान् इत्यादि कहते हुए उन्हें विश्व को आनन्द देने वाला बताया गया है तथा महाभारत में इस स्तोत्र की परम्परा का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि गौतम ऋषि ने इसकी महिमा वैवस्वत मनु को बताई थी।[2] गीता में उल्लेख आया है कि सूर्य ने अपने पुत्र वैवस्वत मनु को अविनाशी योग की क्रियाओं का ज्ञान कराया था।[1] अतएव, यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि मनु का संबंध शिव-भक्ति एवं योग परम्परा से आर्षवाङ्मय में स्थिर हो चुका है।

इन उल्लेखों के आधार पर 'कामायनी' में मनु-श्रद्धा के आनंदसाधन, कैलाश तथा मानसरोवर का ललित वर्णन किया गया है।

उपर्युक्त विवेचन से यह ज्ञात होता है कि प्रसाद जी ने आर्षवाङ्मय में

---

१. 'कामा० में काव्य संस्कृति और दर्शन', पृ० ७९-८०।

१. महाभारत, अनुशासनपर्व, अध्याय १६०–६१।

२. गीता, ४।१-२।

उपलब्ध उल्लेखों तथा प्रकीर्ण कथाओं से 'कामायनी' की कथावस्तु का चयन एवं आकलन किया है और इस प्रकार, उसे ऐतिहासिक आधार प्रदान करने का उद्योग किया है। अतएव, 'कामायनी' का ऐतिहासिक पृष्ठाधार वही विशृंखल सामग्री है जो नाना भाव से वैदिक, लौकिक एवं तांत्रिक ग्रंथों में बिखरी पड़ी है। जैसा प्रास्तावना वाले प्रकरण में कहा है, प्रसाद जो की कारयित्री प्रतिभा के ऊपर सोद्देश्यता का गम्भीर भार पड़ रहा था जिसे उन्होंने स्वयमेव वरण किया था। वर्तमान जीवन की जटिलताएँ उन्हे मनुष्य के सनातन जीवन के संदर्भ में, उससे मिली हुई एवं अविछेद्य रूप में, दिखाई पड़ी। इसलिए, उपर्युक्त आर्ष आधार को मुख्यतया स्वीकार कर, उन्होने अपनी कल्पना से प्रबन्ध-योजना को संघटित स्वरूप देने के निमित्त मनोनुकूल परिवर्तन-संशोधन किये। उदाहरणत., श्रद्धा का ललित कला का ज्ञान प्राप्त करने हेतु गंधर्वों के देश में घूमना, प्रकृति के पट-परिवर्तन के साथ मनु की मस्त-विजड़ित चित्तवृत्ति में नवीन आशा एव जिजीविषा का प्रस्फुरण, काम का स्वप्न में मनु को मनोहर एवं स्वस्थ कर्म-सम्पादन की प्रेरणा देना; मनु के हृदय में शनै: वासना का अभ्युदय; श्रद्धा का नारी-सुलभ क्रीड़ा से अभिभूत होना तथा अन्ततोगत्त्वा मनु के प्रति अपने शरीर का समर्पण कर देना; मनु का श्रद्धा को छोड़ अन्धी, विवेकहीन ईर्ष्या से अनुप्रेरित हो पलायित हो जाना, इडा के नियमन मे सारस्वत सभ्यता का निर्माण, मनु के वासनापूर्ण उच्छृंखल आचरण के विरोध मे देवशक्तियों के साथ प्रजाजन का विद्रोह; मनु का निर्वेद तथा दूसरी बार श्रद्धा को छोड़कर पलायन करना, श्रद्धा के सहयोग एवं नियमन में नटराज के ताडव का दर्शन करना तथा त्रिपुर के एकीकरण से अखड मानसिक विश्राम प्राप्त करना अथच अन्त में, इड़ा तथा मानव का सम्पूर्ण सारस्वत समाज के साथ कैलाश की यात्रा करना—ये समस्त सूत्र प्रसादजी द्वारा अपने विशिष्ट प्रयोजन की सिद्धि के हेतु उद्भावित किये गये और प्रकीर्ण सूचनाओं किंवा उल्लेखो के आधार पर एक वृत्त का संगुंफन किया गया। उद्देश्य की भावना स्वभावत: मुखर एव शक्तिशाली बन गई और परिणाम हुआ, 'कामायनी' की वस्तु-रचना में शैथिल्य एवं सुसंगति का अभाव। 'कामायनी' के ऐतिहासिक स्वरूप की विकत्थना करते समय यह तथ्य ध्यान में रखना आवश्यक है क्योंकि यह ऐतिहासिकता प्रामाणिक एवं सुविज्ञात इतिहास की वस्तु नही है।

खण्ड आ

वस्तु-विन्यास के आर्ष आधार का जो विवेचन ऊपर किया गया है, उसमें ऐतिहासिक सूत्र अवश्य उपलब्ध हैं। समस्त प्रमुख पात्रों—मनु, श्रद्धा तथा

इड़ा—का किसी-न-किसी रूप में उल्लेख वैदिक वाङ्मय में प्राप्त होता है। जिसकी चर्चा कवि ने स्वयं आमुख में की है। प्रसाद भारतीय संस्कृति के अनुरागी अधीत पंडित थे और उन्होंने अपनी रचनाओं में प्राचीन संस्कृति एवं सभ्यता का रूप उपस्थित करने का श्लाघ्य प्रयास किया है। लेकिन, 'कामायनी' में उन्होंने अपने ऊपर ऐसा गहन दायित्व ओढ लिया जो उन्हें प्राचीन आर्ष इतिहास का अन्वेषण, अनुवचन तथा "सारस्वतवर्त्म" का अवलम्ब लेकर *यथामति व्यवस्थित उपस्थापन* करने के लिए मजबूर बना गया। "पैरेडाइज लॉस्ट' अथवा 'डिवाइन कामेडी' जैसी महत्त्वमयी रचनाओं के कवि-पुंगवों का भी उत्तरदायित्व उतना जटिल नहीं था जितना कामायनीकार का क्योंकि उनके सामने एक सुसंगत कहानी अथवा संगत मान्यताओं का लोकसम्मत घटाटोप वर्तमान था। प्रसादजी को प्रकीर्ण उल्लेखों के आधार पर एक शृंखलित वृत्त का निर्माण करना पड़ा, उस वृत्त की व्याख्या करनी पड़ी और अपनी विवेचन-प्रतिभा के प्रकाश को कल्पना की मधुर रश्मियों मे निमज्जित कर, एक उद्देश्य-गर्भित काव्य का प्रणयन करना पड़ा। अतएव, बिलकुल स्वाभाविक रीति से कामायनी में इतिहास, मनोविज्ञान, रूपक, प्रतीक, दर्शन तथा पुराण के मेल-बेमेल तत्त्वों का विचित्र संगुफन घटित हो गया है। जल-प्रलय प्राचीन भारतीय इतिहास की एक मानी हुई युगान्तकारी घटना है। प्रसादजी मानते हैं कि प्रलय में पुरानी देव-सृष्टि नष्ट हो गयी और देव-वशज मनु ने नई मानव-सस्कृति का प्रणयन किया। मनु "भारतीय इतिहास के आदि-पुरुष" है जिन्होंने देवों से विलक्षण मन्वंतर की स्थापना की। मनु के साथ-साथ श्रद्धा तथा इड़ा दो नारियों का उल्लेख वैदिक साहित्य मे उपलब्ध होता है। इसलिए, मनु की सहचारिणियों के रूप में इनकी योजना की जा सकती थी। चूँकि श्रद्धा को "कामगोत्रजा" कहा गया है, अतः उसे परिष्कृत काम की स्नेह-विश्वासमयी प्रतिमूर्ति बनाकर, मनु की उत्सर्गशील अर्धांगिनी के रूप मे आसानी से रखा जा सकता था और चूँकि इडा बुद्धि के प्रतीकरूप में उल्लिखित है तथा स्वयं प्रसादजी के अनुसार, शतपथ ब्राह्मण में मनु एव इड़ा का एक विवाद आया है; अतः इड़ा को मनु की विसंवादी सहयोगिनी के रूप में चित्रित किया जा सकता था। मनु "प्रथम पथ-प्रदर्शक और अग्निहोत्र प्रज्वलित करने वाले" प्रजापति के रूप में भी उल्लिखित हैं।—अतएव, प्रारम्भिक भारतीय संस्कृति के अनुप्रेरक तत्त्वों एवं तथ्यों के संस्थापक-रूप में मनु की, इन दो नारियों के सहयोग से एक संगतिपूर्ण कहानी कही ही जा सकती थी। यदि प्रसाद इतने ही सूत्रों को लेकर नये मन्वंतर का स्वरूप गढ़ते, तो शायद उनका काव्य अधिक सुगंठित बना होता। किन्तु, देव-संस्कृति की "अपूर्ण

अहंता" की कदर्थना करना भी उनका अभीष्ट था । इस कारण, मनु में देव-प्रवृत्ति का पुनर्जागरण तथा उसके फलस्वरूप नयी मानव-संस्कृति के पूर्ण स्थापन में अवरोध एवं उस अवरोध का निराकरण—इन सबकी कल्पना-प्रसूत योजना उन्हें करनी पड़ी और मनु चूँकि काव्य में मानवता के पूर्ण आदर्श की प्रतिष्ठा नहीं कर सके, अतएव प्रसाद को मनु तथा श्रद्धा के पुत्ररूप में मानव-संस्कृति की व्यंजना के निमित्त 'कुमार' मानव की अवतारणा करनी पड़ी । यहीं से इतिहास की डोर उनके हाथ से छूट गयी और 'पंडोरा की पेटिका' के खुल जाने जैसी समस्याएँ खड़ी हो गयी । तभी रूपक आ पड़ा, प्रतीक आ पड़े, मानवता के विकास की कहानी आ गयी और दर्शन पुराण भी आ गये । स्पष्ट है कि 'कामायनी' को ऐतिहासिक काव्य मानने का आधार स्वभावतः दुर्बल हो गया । अतएव, उसे सही अर्थों में ऐतिहासिक काव्य मानने का आग्रह स्वयमेव ध्वस्त हो जाता है । सबसे बड़ी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वैदिक साहित्य में प्रजापति मनु ही वर्तमान मन्वन्तर के संस्थापक माने गये हैं जबकि आलोच्य काव्य में मन्वंतर अथवा मानवता का सही संस्थापक मनु नहीं, मनु-पुत्र मानव है जो प्रसाद की मान्यता के अनुरूप मनु, श्रद्धा तथा इड़ा की चारित्रिक विशेषताओं का समन्वित प्रतिनिधि है—जैसा देव-विलक्षण मनुष्य को होना चाहिए । पुनः, मानसरोवर-सेवी मनु एवं श्रद्धा ऐतिहासिक अनुषंगों से संवलित हैं, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता । इतिहास के अस्थि-पंजर में कवि-सुलभ कल्पना के कर्तृत्व की बात कही जा सकती है, लेकिन, वह कल्पना इतिहास—सम्मत निष्कर्ष की संपुष्टि के लिए नियोजित होती है । यहाँ इतिहास का कोई सुपरिभाषित निष्कर्ष नही था । प्रसाद को स्वयं इतिहास की रचना करनी पड़ी और तदर्थ कल्पना के सूत्रों का संयोजन करना पड़ा । अतएव, 'कामायनी' ऐतिहासिक काव्य नहीं बन सकी, उस अर्थ में जिसमें हम 'ऐतिहासिक काव्य' समझते हैं । 'झाँसी की रानी' की ऐतिहासिकता हम तत्काल स्वीकार करते हैं, लेकिन 'कामायनी' में ऐतिहासिकता स्वीकारने में हमें पर्याप्त मानसिक कठिनाई का अनुभव होता है । 'राजतरंगिणी' जैसे काव्य-बद्ध इतिहास से भी हम परिचित हैं; 'कामायनी' उस ढंग का काव्यमय इतिहास भी नही है ।

प्रसाद ने आमुख में "आदिम युग के मनुष्यों" के भिन्न-भिन्न दलों की अवस्थिति का उल्लेख किया है । इन दलों का भी कोई परिचय काव्य में नही मिलता । सारस्वत—निवासियों की बात [illegible] कही गयी है, किन्तु उनका संगठन पहले बुद्धि की छाया में हुआ है और अनन्तर वे आस्थाशील भक्त जैसे बन गये हैं । [illegible] के दलों का यही शील रहा है, ऐसा

विश्वास-पूर्वक नहीं कहा जा सकता । पुनः, यदि कवि को यही अभीष्ट था, तो उसका सम्यक् चित्रण-स्थापन होना चाहिए था । प्रसाद ने केवल मनु-श्रद्धा-इड़ा का ही त्रिकोण चुना है जिससे "सामूहिक चेतना की दृढ़ और गहरे रंगों की रेखाओं"[१] का कोई आभास नहीं मिलता ।

अतएव, 'कामायनी' के ऐतिहासिकत्व का पक्ष क्षीण तथा दुर्बल बन गया है ।

---

१. आमुख ।

के लिए परिस्थिति की योजना की जा सकती थी । यह योजना निश्चित ही मधुर बन सकती थी । प्रलयोपरान्त देव-योनि के दो प्राणी, सुन्दर एवं स्वस्थ आकस्मिक रूप से मिले थे । उनमें एक-दूसरे के प्रति आकर्षण के उदय तथा क्रमशः विकास के अवसरों की योजना हो सकती थी और वह योजना बड़ी विस्मयकारक, बड़ी सुकुमार, बड़ी उत्तेजक ('थ्रिलिंग') बड़ी मनोवैज्ञानिक बनी होती । लेकिन प्रसादजी अपनी बात शायद काव्य के आरम्भ में ही पूरी की पूरी कह देना चाहते थे । क्या आ० शुक्ल की संभावित 'मधुचर्या के अतिरेक' वाली आपत्ति से तो वह प्रणय-संचार का मधुर प्रकरण छोड़ नही चले ? कारण जो भी रहा हो, काव्य के सहृदय भावकों को यह कमी तथा श्रद्धा की उदार उतावली खटकती ही है ?

तीसरे, श्रद्धा के मुख से आरम्भ में ही "मानवता की कीर्ति" के विषय में संलाप कराना अयौक्तिक है । श्रद्धा नवयुवती देव-कन्या है । उसे क्या मालूम अभी ही है कि मनु से 'मानवता' की बेल कुसुमित होगी ? 'मानवता' की बात कैसे उसकी समझ में पहले ही आ गई ? वह नई आनन्द-वादी, मंगलमूलक काम वाली सस्कृति की स्थापना की बात तो सोच सकती थी । लेकिन, वह नई सस्कृति 'मानव-सस्कृति होगी यह क्योकर उसके मानस में आ गया ? असलियत यह है कि प्रसादजी स्वय समझते थे कि देव-संस्कृति के शव पर मनवतर की स्थापना हुई, होनी चाहिए, और उन्होने अपनी जानकारी युवती श्रद्धा, मे आरोपित कर दी । अगले सर्ग में काम-वाणी की जो योजना की गई है, वही काम के माध्यम से 'मानवता' की चर्चा उठानी चाहिए थी और उसे देव-संस्कृति के विरोधी संदर्भ मे स्पष्ट भाव से निरूपित करना चाहिए था । इस प्रकार, मनु नई भविष्यत् 'मानवता' की बात जान जाते और प्रबध-योजना मे कोई असंगति नही आती । जहाँ तक श्रद्धा का सबंध है, काम स्वप्न मे मनु को बता देता कि श्रद्धा नई मानव-संस्कृति के उद्देश्य तथा स्वरूप को समझती है । काम ने स्वप्न में मनु को बहुत सी उपदेशात्मक बाते बताई है, श्रद्धा के विषय में बताया है, "मानव की शीतल छाया" का भी एक बार कथन किया है । वैसे ही, प्रस्तुत सर्ग में मानवता-विषयक जो कथन श्रद्धा के मुख में रखा गया है, वह अगले सर्ग में काम को सौपा जा सकता था । किन्तु प्रसादजी श्रद्धा के चरित्र को अभिनव आलोक से भ्राजित करना चाहते थे, और इस पूर्व-चिन्ता में उनका ध्यान उक्त असंगति की ओर आकर्षित नही हो सका । वस्तुतः उनकी उद्देश्य-बोझिल मनोदृष्टि प्रबंध योजना के सगतिपूर्ण सौन्दर्य को उपेक्षा कर गई ।

चौथी टिप्पणी यह होगी कि अग्निहोत्र के अवशिष्ट अन्न का मनु-द्वारा

कहीं दूर रखा जाना कृत्रिम-सा प्रतीत होता है। इस कथन के द्वारा कवि ने श्रद्धा तथा मनु के मिलन के लिए एक युक्तिपूर्ण भूमिका तैयार करने की चेष्टा की है, क्योंकि इसी अन्न को देखकर श्रद्धा ने किसी अन्य प्राणी के भी जीवित रहने का अनुमान किया है। कवि का प्रयोजन केवल इतना ही है। लेकिन, इस परोक्ष प्रयोजन को छिपाकर, उसने अवशिष्ट अन्न रखने के विषय में जो प्रत्यक्ष कारण बताया है, "दुःख का गहन पाठ कर मनु अब दूसरे दुःखी व्यक्ति के प्रति सहानुभूति रखने लगे थे," वह कृत्रिम तथा आरोपित है। वस्तुतः, पूरे काव्य में कहीं भी अन्यत्र मनु के चरित्र में सहानुभूति एवं उदारता के तत्त्व का प्रदर्शन नहीं हुआ है केवल अवशिष्ट अन्न के कही दूर रखने मे ही उनके भीतर सहानुभूति का संचार दिखाना अ-युक्तिसंगत है; वह सहानुभूति किसी अन्य सन्दर्भ में भी तो प्रकट होनी चाहिए थी। रह गई श्रद्धा के मनु-मिलन की बात। तो, श्रद्धा के 'घूमने के अभ्यास' के स्वाभाविक परिणाम-स्वरूप वह मनु के समीप अनायास पहुँचती दिखाई जा सकती थी।

४. काम

'काम' सर्ग में मनु को स्वप्न मे काम-द्वारा उपदेश दिलाया गया है। श्रद्धा के उद्‌बोधन तथा आत्म-समर्पण के बाद, मनु को जैसे एक और मानसिक संघात लगा है। श्रद्धा ने जीवन-भोग की जो प्रेरणा दी है, उससे मनु का संवेदनशील मन एक बार अपने पुराने यौवन-प्रकरण की मादक, स्मृतियों से चंचल हो उठा है। किन्तु, इस सर्ग का कलात्मक सौष्ठव इस बात मे सन्निहित है कि इसमें कवि ने मनु की चेतना के जटिल, मिश्रित स्वरूप का चित्रण किया है। पुराने सुखो की स्मृतियाँ, विषय-भोग की लालसा, रहस्यवादी प्रेरणाएँ, इन सब का द्वन्द्वपूर्ण उद्वेलन उनके अवचेतन मानस मे घटित हो रहा है। साथ-ही, विषय-लोलुपता के अभ्यास का विरोधी भाव भी उनकी अन्तश्चेतना मे साँस लेता दिखाई पड़ता है। और, यह अत्यन्त उपयुक्त एव समीचीन है कि भावों की यह मिश्रित उमड़न श्रद्धा-मिलन के पश्चात् दिखाई गई है, यद्यपि इस आन्तरिक द्वन्द्व का सूत्रपात पहले से ही हो चुका था।

स्वप्न में काम ने एक देवता-रूप मे आकर, मनु को काम के उस स्वरूप का उपदेश दिया है जिससे जीवन मे मगल की सृष्टि होती है। उसने श्रद्धा के आधिदैविक महत्त्व का भी निरूपण किया है और यह बताया है कि वह सृष्टि-विधायिका मूलशक्ति का सन्देश सुनाने, अर्थात्, उसके उद्देश्य की पूर्ति मे सहायक होने के लिए ससार में अवतीर्ण हुई है। काम-कला का वास्तविक स्वरूप श्रद्धा के द्वारा ही प्रस्फुटित होगा, वही मनु को मगल-साधक तथा मगल-पर्यवसायी काम का मार्ग दिखाएगी और उस अमूल्य दैवी सुन्दरी को अपनाने

के लिए, मनु को अपने पुराने देव-संस्कार छोड़ने पड़ेंगे—यही उपदेश काम ने खंडित तथा विभाजित चेतना वाले मनु को दिया है। 'श्रद्धा' सर्ग में श्रद्धा का परिचय एक लावण्यमयी युवती तथा जिजीविषा को उद्दीपित करने वाली एक आत्मसमर्पण-शील, स्फूर्तिदायक नारी के रूप में मिल चुका है; 'काम' सर्ग में उसका विलक्षण स्वरूप दैवी सौरभ से समन्वित हो जाता है। कवि ने उसे 'मूल-शक्ति' की सहचरी तथा सहयोगिनी बनाया है और काव्य के रहस्यात्मक वातावरण को और भी अलौकिक बना दिया है। सर्ग के अन्त में, मनु के हाथ में सोमलता दिखाकर, उसने यह भी कलात्मक संकेत कर दिया है कि मनु शायद देव-संस्कृति की माया से विमुक्त नही हो सकें।

प्रस्तुत स्वप्न को आलोचकों ने मनु के अवचेतन मानस के उभार-रूप में देखा है। प्रसादजी ने स्वयं 'चंचल मन की माया' तथा "स्मृतियों की संचित छाया" का कथन कर, इस फ्रायडवादी व्याख्या के लिए प्रोत्साहन दिया है। इस विषय में यह जान लेना उपयोगी होगा कि यद्यपि 'काम' सर्ग के चित्रणों में मनोविश्लेषण से प्रचुर सहायता की गई है, तथापि काम एवं रति तथा श्रद्धा के जन्म इत्यादि की दार्शनिक आधार पर जो कहानी गढ़ी गई है, उसे मनु की भीतरी चेतना के उभार के अन्तर्गत नही रखा जा सकता। वहाँ काम एक 'दिव्य सत्ता' बन गया है और काव्य एक चेतन यद्यपि अदृश्य पात्र के रूप में कथा-प्रवाह को प्रभावित करने की सम्भावनाओं से संयुक्त बन गया है।

५. वासना

'वासना' सर्ग मे कथा थोड़ा आगे बढी है। मनु तथा श्रद्धा साथ-साथ रहने लगे है और कुछ काल बाद दोनो मे सामीप्य-सूत्र घना हो गया है तथा मनु ने श्रद्धा को अपनी चेतना का दान दिया है। मनु में वासना के उद्रेक का चित्रण मूल बिवक्ष्यार्थ है।

इस सर्ग में कथा-विषयक जानकारी इतनी मिली है कि मनु तथा श्रद्धा कुछ काल से साथ-साथ रहने लगे है और गृहस्थी जुटाने में दोनों एक–दूसरे का सहयोग करते रहे है जिसके फलस्वरूप धान्य, पशु इत्यादि आरम्भिक उपकरणो का संचय हो गया है। लेकिन, श्रद्धा अभी तक मनु के लिए "अतिथि" एवं "अपरिचित" सी बनी हुई है। मनु ने इसे बार-बार "अतिथि" कहकर पुल्लिग में सम्बोधित किया है। यह इस तथ्य का सूचक है कि यद्यपि श्रद्धा ने पहले ही आत्म-समर्पण कर दिया था, तथापि मनु अभी तक उससे आत्मीयता का सम्बन्ध नही स्थापित कर सके है। मनु अभी तक काम के सन्देश वा उपदेश पर मनन कर रहे थे। इस उल्लेख से मनु की चित्त-वृत्ति पर व्यजक आलोक पड़ता है विषय-भोग की उद्दीप्त लालसा के बावजूद, उनकी चेतना में

कहीं कुछ था जो तत्काल समर्पण करने वाली अप्रतिम रूपसी से उनके हिलने-मिलने में अवरोध उत्पन्न कर रहा था। वह 'कुछ' उनकी 'रहस्य-भावना' हो सकती है जिसमें सृष्टि के रहस्यात्मक स्वरूप के साथ-साथ, काम की नियंत्रित जीवन-भोग की चेतावनी एवं उपदेश का भी सहयोग हो सकता है। एक बात यहाँ उल्लेखनीय है, यह कि मनु को कवि ने निरा पशु बनाने से यहाँ अपने को रोक लिया है; अन्यथा, अनायास आत्म-समर्पण करने वाली यौवनोत्फुल्ल सुन्दरी के साथ मनु—जैसे विलासी संस्कारों वाले व्यक्ति का अल्पकालिक संयम भी अव्यवहार्य होना चाहिए। लेकिन वह आरोपित संयम पशु के प्रति प्रदर्शित श्रद्धा के प्यार से बिलकुल विचलित हो जाता है। उस समय मनु के मन में जो क्रोधमयी प्रतिक्रिया हुई है, वह उनके असाधारण मनस्तत्त्व को उद्भासित करती है। यह समझना कि वह प्रतिक्रिया मनु मे देव-संस्कारों के जागरण का परिणाम है, उचित नही होगा। देव विलासी एवं कामुक अवश्य थे, लेकिन वे इतने अविवेकपूर्ण थे कि पालित पशु के प्रति अपनी प्रेमिकाओं के स्नेह-प्रदर्शन पर भी "अरी नीच कृतघ्नते ! पिच्छल शिला संलग्न" जैसी बौखला-हट से भर जाते थे, ऐसा समझना हास्यास्पद होगा। इतना तो कहा जा सकता है कि मनु की चेतना मे पुराने देव-जीवन के जो संस्कार वर्तमान थे (और जिनमें विषय-लिप्सा तथा प्रभुत्व-भावना प्रमुख तत्त्व थे), वे पुनः जाग्रत हुए और मनु के इस नये जीवन को भी कुछ सीमा तक प्रभावित किया। लेकिन, मनु के आचरण में घटित होने वाले प्रत्येक मोड के लिए देव-संस्कृति उत्तर-दायी नही ठहराई जा सकती। वास्तविकता यह है कि मनु के चरित्र वा चेतना लोक को प्रसादजी ने 'असामान्य मनोविज्ञान' (Abnormal Psychology) के सिद्धान्तों पर गठित किया है; मनोविश्लेषण का आकर्षण उनमे प्रत्यक्ष झलकता ही है।

वासना के उद्रेक तथा उद्वेग के जो चित्र इस सर्ग में अंकित हुए है, वे कवि की असाधारण मनोवैज्ञानिक क्षमता एव सूझ के निदर्शक हैं। ऐसे चित्र साहित्य में दुर्लभ समझने चाहिए। 'बिम्ब-योजना' प्रकरण मे इन चित्रो पर प्रकाश डाला गया है। श्रद्धा का हाथ पकड़कर, मनु उसके मादक सौन्दर्य से अभिभूत हो जाते है और "जन्म-संगिनि एक थी जो काम-बाला, नाम" वाले जो दो-तीन छन्द बोल जाते है, उससे यह अर्थ ग्रहण करना कि देव-जीवन में भी यह काम-कन्या श्रद्धा मनु की प्रेयसी थी, उचित नही है। कवि का प्रयोजन वहाँ मनु की वासना-चंचल चेतना का उन्माद दिखाना—मात्र है। उन्माद की अवस्था में मनु के मुख से ये असबद्ध वाक्य निकले है। यह भी समझना संगत नही है कि कोई अन्य श्रद्धा-नाम्नी काम-बाला पूर्व जीवन में मनु की

को सफल बना सकेंगे—"कर्म-यज्ञ से जीवन के सपनों का ही स्वर्ग मिलेगा ।" वह श्रद्धा की प्राप्ति को ही अपना चरम उद्देश्य बनाये है ।

प्रस्तुत सर्ग में मनु और कामायनी पति-पत्नी के महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध-सूत्र मे विचित्र स्थितियो मे, नाटकीय ढग से जुड़ गये है । किन्तु प्रसाद जी की कला इस विषय मे सतर्क रही है कि इस प्रणय-परिपाक के बावजूद, दोनों प्रेमियो के मानसिक संघटनो तथा आदर्शों का अन्तर सतह पर आ जाय । यद्यपि विश्व-व्यापी पीड़ा एव क्रन्दन से सम्बद्ध कथन जो कामायनी द्वारा कराये गये हैं, तनिक लम्बे एव अनाहूत–से प्रतीत होते है, तथापि कुल मिलाकर, कामायनी का स्खलन वाला प्रसंग सुन्दर बन पड़ा है । अपने सम्पूर्ण आदर्श-गौरव के बाद भी कामायनी नारी है, यह इस सर्ग की सबसे बड़ी उपलब्धि है । प्रसाद जी ने उसके नारीत्व की अभिराम ढंग से रक्षा भी की है—

"आँखे प्रिय आँखों मे, डूबे
अरुण अधर थे रस में
हृदय काल्पनिक विजय में सुखी
चेतनता नस–नस में ।"

मनु के उपर्युक्त मिथ्या आश्वासन को श्रद्धा ने सत्य मानकर ही, सोम-पात्र का अंगीकरण तथा अन्तिम 'पराजय' स्वीकार की है, और स्वभावतः वह इसे अपनी 'विजय' मानती है कि उसने मनु से वह आश्वासन जीत लिया है । इस कलात्मक योजना से कामायनी का गौरव स्वय उसकी दृष्टि मे बना रह गया है ।

श्रद्धा मनु की झूठी आश्वस्ति से छली गई है । लेकिन श्रद्धा की रति–विह्वलता, उसकी मनु का विचार-परिवर्तन करने की चिन्ता, मनु का आश्वासन, उसका सोमरस-पान तथा अन्ततः सम्भोगार्थ आत्म-समर्पण—ये सभी विन्दु अपूर्व कलात्मक कौशल से चित्रित हुये है । प्रसाद कोमल ऐश्वर्य तथा सुकुमार विलास के चित्रक कलाकार है, यह तथ्य उनके सम्पूर्ण विचार-गाम्भीर्य को आतक्रान्त कर अभिराम आलोक मे उभर आया है ।

लेकिन, श्रद्धा को मदिरा का चषक पिलाना सम्भवतः इस उद्देश्य से कि वह कामोरेद्रिक्त हो जाय, सुरुचिपूर्ण नही प्रतीत होता—चाहे देव-संस्कृति मे सोमरस-पान का कितना ही महत्त्व क्यो न रहा हो ।

श्रद्धा के मुख से विश्व-व्यापी हिंसा एव विषाद से सम्बन्धित जो लम्बा उद्गार रखा गया है, उसमे प्रसाद जी को अपने युग की प्रतीतियो का ही अधिकांश मुखरण हुआ है और प्रस्तुत कथा-प्रसग से उसके सम्पूर्ण औचित्य की खोज नही की जा सकती । अतएव, इन छन्दों को कवि के युग-बोध से

काट कर बिलकुल भिन्नशः व्याख्यान करना संगत नहीं जान पड़ता ।

८. ईर्ष्या

'ईर्ष्या' सर्ग प्रबन्ध-विकास में शायद सबसे अधिक सुगठित, तथ्य-केन्द्रित एवं सन्तुलनपूर्ण सोपान रहा है। इसमें कवि की प्रयोजन-गर्भित बोझिलता की छाप का प्रायः अभाव है। गर्भधारण के फलस्वरूप नारी-सुलभ मनस्परिवर्तन और मनु की एकान्त अहम्मूलक स्वार्थपरायणता का सुन्दर चित्रण इस सर्ग में हुआ है। श्रद्धा के भीतर वात्सल्य का प्रादुर्भाव तथा मनु के भीतर पंचभूतजन्य सृष्टि पर पूर्ण स्वामित्व की लालसा का आविर्भाव, ये दोनो तथ्य ही प्रस्तुत सर्ग के प्रतिपाद्य है, और कवि द्वारा बिलकुल सन्तुलित परिमाण में इन दोनों का परिचित्रण हुआ है। मेरी समझ मे यही एकमात्र ऐसा प्रकरण है जो व्यर्थ के अथवा भरती के छन्दो से सर्वथा मुक्त है। कवि ने प्रबन्ध-सूत्र को आगे बढ़ाया है, और इतने कौशल से कि न तो पूरी कथा के अभिलषित गौरव की ही हानि हुई है और न प्रकरण को अन्तर्हित मानवीयता का रस ही सूखने पाया है।

मनु के चरित्र की असाधारणता—पशु के प्रति प्रदर्शित प्यार पर जैसे, वैसे ही भावी औरस सन्तान के प्रति प्रदर्शित श्रद्धा के प्यार पर ईर्ष्या का विस्फोट—प्रकाश मे आ गई है और इसके समाधान-रूप मे मनु के भीतर देव-संस्कारों के शक्तिमय पुनर्जागरण का तर्क अर्थहीन बन गया है। प्रसादजी मनु के मनोमय प्रवाह को असाधारण मनोविज्ञान की पद्धति पर विकसित करने की दिशा मे बहुत आगे बढ़ गये थे। प्रस्तुत सर्ग इसी दिशा मे एक अगला निश्चित सोपान है।

९. इड़ा

'इड़ा' सर्ग काव्य का अत्यन्त प्रभावशाली सर्ग है। श्रद्धा के परित्याग के बाद मनु के भीतर उठने वाले भावोद्वेलन तथा इड़ा की आकस्मिक उपस्थिति एवं उसके द्वारा दिये गये उद्बोधन का शक्तिशाली चित्रण इस सर्ग में उपलब्ध है। छन्द का मन्दप्रवाही सगीत मनु की शोकग्रस्त मनोदशा तथा इड़ा के प्रेरणादायक प्रोत्साहन, दोनो विरोधी विचार-सरणियों का समान रूप से वहन कर रहा है।

यह सर्ग दो दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण बन गया है। पहली बात यह है कि मनु के चिन्तन-प्रवाह का जो रूप यहाँ चित्रित हुआ है, उससे उनके मनोमय जीवन की चंचल अस्थिरता पर प्रकाश पड़ता है और दूसरी बात यह है कि बुद्धिवाद की उपदेष्टा इड़ा से उनका परिचय इसमें दिखाया गया है जहाँ से

प्रबन्ध की प्रगति में एक अभिनव मोड़ अवतीर्ण हो जाता है। इड़ा मनु को, प्रकृति-रहस्यों का पटल खोलकर, विज्ञान की सहायता से सृष्टि का नियमन तथा आस्वादन करने की प्रेरणा प्रदान करती है जिससे उनका यश अखिल लोक में व्याप्त हो जाय। देवों की संस्कृति में आत्मवाद की प्रतिष्ठा अवश्य थी, किन्तु वह आत्मवाद 'अपूर्ण अहन्ता' से अनुप्रेरित था, उसमें भी प्रकृति की शक्तियों को स्वायत्त कर वैभव-विलास की स्थापना हुई थी। इड़ा देवों को बुद्धि की प्रेरणा देने वाली देवी बताई गई है। मनु को इड़ा ने पुनः लगभग वही मार्ग सुझाया है जिसका पर्यवसान देव-संस्कृति के विनाश में हो चुका है। अतः, इस सर्ग से प्रबन्ध-विकास की भावी सरणि पर प्रकाश पड़ता है।

काम के कथनों में प्रसादजी के अपने अभिलषित आदर्श मुखरित हुए हैं। श्रद्धा "पूर्ण अ.-गति-ग-गी" थी जिसे "तूल" समझकर मनु ने तिरस्कृत कर दिया था; उसका हृदय प्रणय से पूर्ण था जिसमें सरल जीवन का मान भरा हुआ था, मनु ने उसके "सौन्दर्य-जलधि" से केवल अपना "गरल-पात्र" ही भर लिया था; परिणय काम का जो पूर्ण स्वरूप उद्घाटित करता है, उसे मनु ने उपेक्षित कर दिया था और पुरुषत्व-मोह मे नारी की सत्ता का अनादर कर, सृष्टि-मात्र पर पूर्ण एकाधिकार स्थापित करने की चेष्टा की थी। अतएव, मनु को सुख नही मिलने वाला है। काम के शाप में जो भविष्य-वाणी की गई है, उसमें वही आपदाएँ तथा समस्याएँ उत्पन्न होने की बातें कही गई है जिनमे वर्तमान जीवन संतप्त है। 'विशुद्ध विश्वासमयी' श्रद्धा के अंगीकरण से ही विश्व मे मगल-ज्योति की दीप्तिमयी शिखा प्रस्फुट होगी, प्रसादजी का यह विवक्षार्थ काम-वाणी मे अभिव्यक्त हो गया है। श्रद्धा के अंगीकरण की इस आवश्यकता की पृष्ठभूमि में इड़ा ने मनु को विज्ञानवाद का बिलकुल विपरीत उपदेश दिया है। सुतरा, प्रस्तुत सर्ग में विरोधी विचार-सरणियों का एकत्र उपन्यास प्रबन्ध मे व्याप्त द्वन्द्व को सुन्दर रीति से उद्भासित करता है।

एक विन्दु और उल्लेखनीय यह है कि कर्म का रूप यहाँ यज्ञ से बदल कर, साधारण लौकिक कर्म बन गया है जिसमें समाज तथा राष्ट्र की व्यवस्थाओं का अन्तर्भाव है। पुनः, एक अन्य तथ्य यह भी उल्लेख्य है कि काम की वाणी को मनु की अन्तश्चेतना, अचेतन अथवा अवचेतन, का उभार नहीं कहा जा सकता जैसा अधिकांश आलोचको ने समझा है। काम यहाँ, पहले जैसा ही, एक अदृश्य दैवी पात्र के रूप में अवतीर्ण हुआ है जो मनु को उनकी भ्रान्तियों के लिए [illegible] है और उनके भविष्य को दुःखमय बनाने के लिए शाप देता है। ऐसा लगता है जैसे कवि कलिकाल का नव-निरूपण कर रहा है।

१०. स्वप्न

'स्वप्न' सर्ग में श्रद्धा का मनु-विषयक स्वप्न वर्णित हुआ है।

इस सर्ग को आलोचकों ने श्रद्धा के अवचेतन मानस के उभार-रूप में व्याख्यात किया है। लेकिन, यह व्याख्या प्रमादपूर्ण है। अन्तश्चेतना की सृष्टि वाला स्वप्न प्रबन्ध की कथा से इतने घनिष्ट भाव से जुड़ा नही रहेगा। मनु की कल्याण चिन्ता में तथा इड़ा के साथ प्रणय-प्रसंग में श्रद्धा के पत्नि-सुलभ रति-भाव की छाया थोड़ी देर के लिए द्रष्टव्य हो सकती है, किन्तु पूरा स्वप्न कितनी सचाई एवं दारुणता से यथार्थतः प्रतिफलित हुआ है (आगे चलकर), उसे दृष्टि में रखते हुए, श्रद्धा के प्रस्तुत स्वप्न की फ्रायडवादी व्याख्या नही की जा सकती। यह साधारण हिन्दू नारी का स्वप्न है जो भविष्य को कभी-कभी अत्यन्त दारुणता-पूर्वक पूर्व-विज्ञप्त कर देता है।

एक बात ध्यातव्य है। काम ने अभिशाप दिया है कि मनु का 'प्रजातन्त्र' दुःखमय बन जाय और वह "अभिनव मानव-प्रजा-सृष्टि" विनष्ट हो जाय। इस स्पष्ट उल्लेख से तथा स्वप्न-वर्णित सभ्यता-स्वरूप से यह स्पष्ट हो जाता है कि मनु ने जो नई व्यवस्था रची है, वह देवों से विलक्षण 'मानव'-व्यवस्था ही है जिसका निर्माण इड़ा द्वारा सुझाये गये बुद्धिवाद एवं विज्ञानवाद के आधार पर हुआ है। अतएव, इस नवीन सारस्वत-सभ्यता को पुरानी प्रलय-पूर्व देव-सभ्यता का प्रतिरूप समझना युक्तिसंगत नहीं है। यह मनु द्वारा निर्मित 'मानव-प्रजा-सृष्टि' ही है जो श्रद्धा एवं विश्वास के कवि-अभिलाषित मौलिक आधार से कटकर, बुद्धिवादी तथा विशुद्ध व्यावसायिक दृष्टिकोणो से हुई है। काम ने शाप दिया था कि मनु की भावी रचना मे द्वन्द्वों तथा वर्णों की सृष्टि होवे और समस्त प्रपंच 'अशुद्ध' एवं संघर्षमय बन जाय। श्रद्धा ने भी इसी के अनुरूप स्वप्न देखा है। काम के अभिशाप तथा श्रद्धा के स्वप्न ने मिलकर प्रबन्ध की गति को स्पष्ट दिशा दी है। 'कर्म' सर्ग तक तो मनु का यज्ञ-कर्म देव-संस्कारों की उद्‌बुद्धि का परिणाम था, लेकिन इड़ा-साक्षात्कार के बाद वाला मनु का कर्म-प्रपच बुद्धि-प्रेरित प्रकरण है जो प्रकाम्य श्रद्धा-संकलित मानव-संस्कृति के धरातल से नीचे रह गया है। देव आस्था-रहित एवं विषय-लोलुप थे; मनु की नई सृष्टि में आस्था का अभाव है, लेकिन प्रजा विषय-लोलुप नही, केवल मनु विषय-लोलुप हैं।

११. संघर्ष

'संघर्ष' सर्ग में कथानक चरम संकट-विन्दु को प्राप्त हो गया है। मनु यहाँ प्रजापति-रूप में प्रदर्शित हुए हैं, लेकिन वैसा प्रजापति जो निर्बाध सत्ता

के लिए लालायित है और अपनी प्रेरणादायिनी सहयोगिनी के साथ बलात्कार करने से रुकता नही । इड़ा ने प्रकृति के साथ संघर्ष करना मनु को सिखाया है, किन्तु इसीलिए नहीं कि वह उच्छृंखल हो जाय । मनु इड़ा पर विश्वास भी तो नहीं कर पाये है । इड़ा का स्वरूप इस सर्ग में अधिक उज्ज्वल बन गया है । वह लौकिक अभ्युदय की, संयम एवं मर्यादा की रक्षा करने वाली, ऐसी संदेशवाहिका के रूप में उपस्थित हुई है जो बुद्धि-बल के उपयोग से प्रकृति की शक्तियों पर आधिपत्य स्थापित कर, मनुष्य की सुख समृद्धि का स्वप्न देखती है । 'अनन्त चेतन' के नृत्य-संगीत में लीन हो जाने तथा विश्व-मात्र से अद्वैत-भाव स्थापित करने का महत्त्वपूर्ण उपदेश इड़ा ने मनु को दिया है । इड़ा बुद्धि-प्रेरित व्यावहारिक जीवन के संयम-मूलक भोग की प्रतिनिधि के रूप में प्रकाश में आई है । मनु ने वही चिर-स्वतंत्रता तथा एकाधिकारपूर्ण सृष्टि-शासकत्त्व का चिराचरित दुर्दमनीय स्वर निनादित किया है ।

एक अन्य ध्यातव्य विन्दु यहाँ यह है कि मनु 'प्रजापति-' रूप में इस सर्ग में चित्रित हुए हैं; वह 'आदि मानव' नही हैं, मानवों में व्यवस्था स्थापित करने वाले प्रथम प्रजापति है मानवों के आदि व्यवस्थापक हैं । प्रसादजी ने युग--जीवन की भौतिक आपाधापी से विश्वास-भग्न होकर, प्रथम मन्वंतर के व्यवस्थापक मनु की व्यवस्थाओं में दोष-दर्शन किया और बुद्धि की विश्रुत देवी इड़ा के आर्ष साहित्य में प्रकीर्ण उल्लेखों से, एक ओर यह प्रतिपादित किया है कि मनु-प्रवर्तित व्यवस्थाएँ बुद्धिवाद से अनुप्राणित होने के कारण टूट गई और दूसरी ओर, मनु के प्रजापति-धर्म से स्खलित होने के फलस्वरूप उनका पतन-जिसमें प्रजावर्ग एव दैवा शक्तियों ने परस्पर सहयोग किया है-प्रदर्शित किया है । मनु ने बुद्धि-विवेक के अनुरोधो की भी अवहेलना की है और निर्बाध प्रभुत्त्व-कामना की वेदी पर सयम एवं शालीनता की बलि चढ़ा दी है । प्रसाद जी ने मनु को असाधारण चेतना वाला घोर व्यक्तिवादी व्यक्ति कल्पित किया है जिसके अहम्मन्यतापूर्ण, एकान्त स्वार्थ-परायण आचरण के लिए हमारी पुरानी समाज-व्यवस्था में कोई अवकाश या स्थान नही था । अतएव, मनु की प्राक्तन व्यवस्थाओं के चरचरा कर टूटने के लिए अधिक संगत औचित्य नही दिखाई पड़ता । शायद प्रसादजी को भी यह अध्यातरिक अनुभूति थी । वह एक त्रिकोण के मध्यविन्दु पर खड़े थे नये युग की नई समस्याओं के संघात से प्राचीन मर्यादाएँ टूट रही थीं, नया युग अतिशय बुद्धिवादी सिद्ध हुआ था जो विज्ञान के आविष्कारों के सहारे प्रकृति पर अधिक से अधिक स्वामित्त्व स्थापित करता जा रहा था, तथा आस्था एवं विश्वास की जड़ें जिसमें खोखली होती जा रही थीं; अथच समाजनिष्ठ विचार-धारा के उभार में आने पर भी,

व्यक्तिवाद अपना विकृत स्वरूप विवृत करता जा रहा था। प्रसादजी ऐसी विचित्र विषम परिस्थिति का समाधान प्रस्तुत करने के लिए लालायित थे। और वह समाधान उनके चिन्तनानुसार ऐसा होना चाहिए था जिसमें प्राचीन तथा नवीन आदर्शों का समन्वय हो। इस कारण, बुद्धि का पराभव, श्रद्धा एवं विश्वास का पुन.स्थापन और व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों का दमन-शमन-इन सभी के सामंजस्य की व्यवस्था उन्हें आवश्यक जान पड़ी। लेकिन तब, उनकी विवशता थी, प्राचीन आर्ष इतिवृत्त से ही समाधान खोज निकालने की पूर्वचिन्ता। जैसा हमने अन्यत्र कहा है यह काम अत्यन्त कठिन था और इसमें उन्हें पूर्ण सफलता नहीं मिल सकी। प्रस्तुत सर्ग में बुद्धिवाद की पराजय के साथ-साथ, मनु के प्रभुत्वकामी व्यक्तिवाद की भी पराजय प्रदर्शित की गई है। लेकिन, प्राचीन वर्ण-व्यवस्था में न तो व्यक्तिवाद के लिए अवकाश था, न आस्था-विहीनता के लिए ही कोई अवकाश था। अतएव, मनु की नवीन सारस्वत सभ्यता का पतन इन दोनों आधारों पर चित्रित नहीं किया जा सकता था। प्राचीन व्यवस्था में, जिसका ही प्रतिरूप सारस्वत सभ्यता थी, बुद्धिवाद का प्रतिफलन अवश्य हुआ था, किन्तु वह आस्था के सर्वातिशायी नियमन से स्वतंत्र नहीं था। इस प्रकार, प्रसादजी को एक तीव्र असंगति, एक 'पैरेडॉक्स' (paradox) का सामना करना पड़ा। फल यह हुआ कि मनु-निर्मित व्यवस्था में उन्हें बुद्धिवाद के अतिरेक तथा श्रद्धा के निषेध का उपनिवेश करना पड़ा और व्यक्ति मनु की स्वच्छंद भोग-वृत्ति को इन कल्पित कारणों से जोड़ना पड़ा, परिणाम-स्वरूप, एक विचित्र उलझावपूर्ण काव्य-सृष्टि सम्पन्न हुई जिसकी असंगतियाँ, उसके आपात-मनोहर होते हुए भी, सूक्ष्म विचार की आँच में सहसा चमक उठती है।

१२. निर्वेद

'निर्वेद' सर्ग में मनु का निर्वेद-जन्य पलायन स्वाभाविक रूप में चित्रित हुआ है। इस प्रकरण की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें मनु, श्रद्धा तथा इड़ा तीनों अपने विशुद्ध मानवीय रूप में दृष्टिगोचर हुए है। इड़ा में नारी-सुलभ भावों का संचार, मनु में श्रद्धा के प्रति अनुतापमयी कृतज्ञता का आविर्भाव तथा श्रद्धा में प्यार-पूर्ण, विद्वेषाविहीन मर्मद्रावक अनुभावों की छट-पटाहट—ये सभी तथ्य मनोहर रीति से चित्रित हुए हैं। मनु आत्म-ग्लानि के भावों से भर गये है। अनुताप, कृतज्ञता, सारस्वतवासियों के प्रति रोष, अपने विषय में अपराधी होने की प्रतीति तथा जीवन के दुःखमय पहेली होने की अनुभूति—ये समस्त विन्दु मिलकर मनु के अध्यन्तर में आँधी-सी उठा गये हैं और वह, जीवन के 'इन्द्रजाल' से जैसे पराजित होकर, भाग निकले हैं—

"+ + + जीवन सुख है ?
ना, यह विकट पहेली है,
भाग अरे मनु ! इन्द्रजाल से
कितनी व्यथा न झेली है ?"

मनु के इस पलायन के लिए पूर्ण मनोवैज्ञानिक औचित्य झलकता है। पंचतत्त्वों में एकाधिकार रमण करने की कामना से अनुप्राणित व्यक्ति को जब जीवन मे निराशा तथा मनोरथ भग्नता का गहरा आघात लगेगा, तब वह निर्वेदग्रस्त हो, संसार से विरक्त होने का ही संकल्प करेगा। मनु के चरित्र के इस परिपार्श्व को भी देव-सम्कृति के पुनर्जागरण के परिणाम-रूप में देखने-दिखाने की चेष्टा, कामायनी' मे कवि की विचार-सरणि का समंजस तारतम्य प्रदर्शित करने की पूर्वचिन्ता का प्रतिफलन होगी। लेकिन तब, कवि की एतद् विषयक मनोवैज्ञानिक तर्क-संगति एवं नैसर्गिक परिणति के औचित्यपूर्ण सौन्दर्य की ओर से हमारी आँखे मुँद जाएँगी जो उचित नही होगा।

१३. दर्शन

'दर्शन' सर्ग में श्रद्धा का मनु की खोज में निकलना, कुमार को इड़ा के साथ छोड़ देना तथा मनु को पा लेना एव नतित नरेश के दिव्य स्वरूप का मनु के साथ दर्शन-इन विन्दुओं का गुम्फन हुआ है। कथा द्रुतगति से आगे बढ़ी है और फलागम के निकट पहुँचती दीख पडी है।

किन्तु, एक-दो विन्दु ध्यान आकर्षित करते है। प्रथमतः श्रद्धा ने इड़ा को जो डाट बताई है, वह अनावश्यक अनाहूत-जैसी प्रतीत होती है। 'संघर्ष' सर्ग मे जो भीषण काड घटित हुआ है, उसके लिए मनु स्वयं उत्तरदायी है, इड़ा नही, यद्यपि मनु तथा श्रद्धा, इस प्रसग में इड़ा की भर्त्सना इस कारण करते हैं कि उसने बुद्धिवादी सघटन की मनु को प्रेरणा दी है। इडा को जीवन की अन्धानुरक्ति' बताना प्रसंगानुमोदित नही है, मनु की आलिंगन-चेष्टा का प्रतिकार करने वाली इड़ा जीवन की अन्धी अनुरक्ति की उपासिका नहीं कही जा सकती। वैसे-ही, उसे 'आकर्षणमयी मादकता,' 'उत्तेजित चंचला' शक्ति तथा 'मनु के मस्तक की चिर-अतृप्ति' बताना अनर्गल आरोप है। यदि इड़ा के रूप-सौन्दर्य ने कामुक मनु की मनोवृत्ति को चंचल बना दिया, तो इसमें उस संयमी नारी का क्या दोष ?" सिर चढ़ी रही, पाया न हृदय" तथा "ओ तर्कमयी ! तू गिने लहर" जैसी भर्त्सनाओं से श्रद्धा का तात्पर्य क्या यही है कि इड़ा को, बुद्धि की प्रेरणा देने के साथ-साथ, मनु के प्रणयाचार के प्रति आत्मसमर्पण कर देना चाहिए था ? श्रद्धा ने स्वयं कितनी आसानी से मनु के प्रति आत्म-विसर्जन कर दिया था ! निम्न पंक्तियों की डाँट एकदम

समझ में नहीं आती—

"सुख–दुख का मधुमय धूप-छाँह,
तूने छोड़ी यह सरल राह ।
चेतनता का भौतिक विभाग--
कर, जग को बाँट दिया विराग ।"

क्या व्यवस्थित एवं उन्नत-विकसित समाज अथवा राष्ट्र की रचना का प्रयास इस कारण अवहेलनीय अथवा निन्द्य माना जाय कि वैसा करने से जीवन की 'सरल राह' छूट जाती है ? यह सरल राह है भी क्या वस्तु ? केवल यही तो कि आस्था-विश्वास के साथ प्रकृति के एकान्त नियमन में रह कर जीवन-यापन किया जाय ? लेकिन तब, क्या यह गतिमय जीवनादर्श माना जाएगा ? 'चेतना का भौतिक विभाग' वाला आरोप महत्त्वपूर्ण है । माना कि समग्र विश्व एक अखण्ड चैतन्य से चेतन, चिरंतन है । जीवन की सुव्यवस्था करने पर यह समग्र चेतना वर्गों, समूहों, स्थितियों तथा अवस्थाओं के अनुरूप भिन्नशः विभक्त हो जाती है । लेकिन तब, क्या जीवन की सर्वांगीण समुन्नति को आँखों से ओझलकर, मनुष्य उस अखण्ड चेतना की प्रतीति में ओत–प्रोत हो, बिलकुल निश्चेष्ट प्राणी हो जाय जिससे विश्व की अखण्ड चेतनमयता का ह्रास नही होने पावे ? और, यदि यह कहा जाय कि 'चेतनता' के अनिवार्य– जैसे 'भौतिक विभाग' के बावजूद, ऐसी व्यवस्था सम्भव है जिससे विभिन्न वर्गों तथा स्थितियों में बँटे मनुष्य अपनी खण्ड-चेतनाओं को अतिक्रान्त कर, उस मौलिक 'चिति' वा चैतन्य की प्रतीति से अनुप्राणित रह सकते है, तो प्रश्न यह होगा कि इड़ा ने प्रस्तुत सन्दर्भ में इस चैतन्य को खण्डित करने का कहाँ प्रयास किया है ? 'संघर्ष' सर्ग में इड़ा ने स्वयमेव 'चिति-केन्द्रो मे चलने वाले संघर्ष', 'व्यक्ति-चेतना की परतन्त्रता' एवं 'अनन्त चेतन' के उन्मद नृत्य– संगीत में 'विवादी स्वर' छेड़ने की विवेकहीनता का कथन किया है । इस तथ्य को ध्यानस्थ रखते हुए, श्रद्धा की यह भर्त्सना कि इड़ा ने 'चेतनता का भौतिक विभाग' कर जग को बाँट दिया, छिन्न-भिन्न कर दिया युक्तिसंगत नही दीखती । वस्तुतः सचाई यह है कि प्रसाद जी को बुद्धि-तत्त्व की भर्त्सना करनी थी, अतः श्रद्धा के द्वारा, जैसा पहले मनु के द्वारा, इड़ा की अनाहूत भर्त्सना कराई गई । प्रबन्ध में इड़ा ने कोई ऐसा कार्य नही किया है, कोई ऐसा कदम नहीं उठाया है जिससे मौलिक चैतन्य के खण्डित करने के आरोप को औचित्य मिल सके । स्वयं इड़ा के मुख में निम्न पंक्तियाँ रख देना—

"मेरे सुविभाजन हुए विषम,
टूटते, नित्य बन रहे नियम;

नाना केन्द्रों में जलधर-सम,
घिर हट; बरसे ये उपलोपम ।
यह ज्वाला इतनी है समिद्ध,
आहुति बस चाह रही समृद्ध ।
तो क्या मैं भ्रम में भी नितान्त,
संहार-बध्य असहाय दान्त;
+ + +
भय की उपासना ! प्रणति भ्रान्त !
अनुशासन की छाया अशान्त !"

इड़ा को उसकी अपनी-ही दृष्टि मे गिराने का पूर्वाग्रहपूर्ण प्रयत्न कहा जाएगा। 'इड़ा' सर्ग मे कवि ने इड़ा का जो रूप-वर्णन किया है, उससे भी इड़ा के ऊपर बाद को लगाये गये आरोपों की पूर्ण संगति नही बैठती ।

वैसे-ही, श्रद्धा ने प्रस्तुत सर्ग मे जो अपने गौरव का व्याख्यान किया है, वह भी प्रसंग-पुष्ट नही कहा जा सकता । "मैं लोक-अग्नि में तप नितान्त, आहुति प्रसन्न देवी प्रशान्त"—यह कथन बिलकुल ऊपर से थोपा गया है । मुक्तिबोध-जैसे आलोचकों की यह टिप्पणी कि श्रद्धा कब, कहाँ लोक-अग्नि में तपी है, बिलकुल युक्तिसगत प्रतीत होती है । प्रसाद जी का यह कथन कि श्रद्धा लोक-अग्नि मे तप-गल कर स्वर्ण-प्रतिमा के रूप मे ढल गई थी, प्रसंग-निरपेक्ष एव उद्देश्य प्रेरित जान पड़ता है । तनिक और पूर्वापर विचार कर ले । श्रद्धा शकुन्तला अथवा यशोधरा की नाई अपने पुत्र को निस्सहाया-वस्था मे अवश्य पालित-पोषित करती रही है, किन्तु वह लोक-कल्याण की चिन्ता से भी दग्ध होती रही है, ऐसा समझने के लिए 'कामायनी' में कोई प्रकरण का सन्दर्भ उपनिबद्ध नही हुआ है । 'निर्वेद' सर्ग मे श्रद्धा ने जो प्रेम-वेदना से विह्वल गीत गाया है, उसमे एक निरीह, कोमलमना पत्नी का प्रेमिका की मधुर आकाक्षाओं की ही मर्मस्पर्शी विवृति हुई है जो अनाशकित एवं आक-स्मिक वियोग की ज्वाला मे झुलसकर, सम्पूर्ण विश्व के साथ तादात्म्य ग्रहण कर लेती है । अतएव, उस गीत से भी, जो एकान्त भाव से वैयक्तिक है, कामा-यनी के लोक-अग्नि मे जलने-तपने के कथन को अनुमोदन नही मिलता । मनु ने उसमे 'निर्विकार मातृ-मूर्ति' का दर्शन किया, यह बात तो पूर्ण संगत जान पड़ती है, वह स्वभावत: 'विश्व-मित्र' भी कही जा सकती है, लेकिन, लोक-हित की चिन्ता-अग्नि में वह गल गई थी, इस तथ्य का समर्थन नही मिलता । लोक-अग्नि मे बिना जले भी, श्रद्धा 'स्वर्ण-प्रतिमा' एवं 'विश्व-मित्र' बन सकती थी, और तब हमें कोई आपत्ति नही होती ।

कुमार को इड़ा के साथ छोड़ने का प्रसंग भी नाटकीय है, उससे आगे बढ़ कर, सोद्देश्य है। इड़ा ने कभी ऐसा सकेत नही किया कि वह किशोर कुमार के सामीप्य की अभिलाषिणी है। कवि ने इस सन्दर्भ के लिए एक दूसरा ही कारण उद्भावित कर लिया है। देखिये, श्रद्धा क्या कहती है--

"तू क्षमा न कर कुछ चाह रही,
जलती छाती की दाह रही;
तो ले ले जो निधि पास रही,
मुझको बस अपनी राह रही।"

इड़ा क्षमा नही कर रही है, यह झूठी बात है। इड़ा ने तो स्वयं कामायनी से क्षमा माँगी है—

"तिस पर मैंने छीना सुहाग,
हे देवि ! तुम्हारा राग;
\+ \+ \+
दो क्षमा, न दो अपना विराग,
सोयी चेतनता उठे जाग।"

श्रद्धा ने एक बार पहले भी इसी सर्ग मे इड़ा से मनु के आलिगन-व्यापार के लिए अवश्य क्षमा की प्रार्थना का सकेत किया है—"तुम क्षमा करोगी, यह विचार मै छोड़ूँ कैसे साधिकार ?" लेकिन, इड़ा के मन में यह प्रतीति प्रवेश नही कर सकी कि उसे श्रद्धा को क्षमा देनी है। उलटे, वह बोल उठी है—

"अब मैं रह सकती नहीं मौन,
अपराधी किन्तु यहाँ न कौन ?"

इससे स्पष्ट है कि इड़ा श्रद्धा से क्षमा-याचना कराना नही चाहती। अपितु वह इस अनुभूति से छटपटा रही है कि उसने श्रद्धा का सुहाग छीना है और इसलिए, वह स्वयं श्रद्धा से क्षमा की भीख माँग रही है। "मै आज अकिचन पाती हूँ, अपने को नही सुहाती हूँ" और "दो क्षमा, न दो अपना विराग"-- इस स्पष्ट विनयपूर्ण कथन के बाद भी, कामायनी कैसे यह समझ गई कि इड़ा उसे, मनु की अशोभन चेष्टा के लिए, क्षमा नही कर रही है और प्रतिदान में अथवा क्षतिपूर्ति के रूप में, कुछ और वस्तु की कामना कर रही है ? इसी प्रतिदान किवा क्षति-पूर्ति के रूप मे श्रद्धा ने किशोर 'मानव' को इड़ा के पास छोड़ दिया है। स्पष्ट है कि इस त्याग के लिए कवि ने कोई युक्तिसगत आधार नही सन्निविष्ट किया है। उसका प्रयोजन केवल इतना है कि मानव–इड़ा के सहयोग से उसकी प्रकाम्य मानवता की स्वरूप-रचना सिद्ध हो सके—

"यह तर्कमयी, तू श्रद्धामय,
तू मननशील, कर कर्म अभय;
इसका तू सब संताप–निचय,
हर ले, हो मानव-भाग्य उदय।"

प्रस्तुत सर्ग के अन्त में नरेश शंकर के ताँडव नृत्य का वर्णन सुन्दर एवं चित्रोपम है। पुराणों में वर्णित तांडव-नृत्य का ऐसा प्रभविष्णु बिम्ब-विधान साहित्य में शायद ही अन्यत्र उपलब्ध है। लेकिन, इस प्रसंग में एक बात की ओर ध्यान आकर्षित करना आवश्यक प्रतीत होता है। नटराज के इस आनन्द-पूर्ण नृत्य का मनु ने "मानस-दर्शन किया, यह कथन सही नही है। नृत्य का इतना सूक्ष्म, विवरणपूर्ण वर्णन मानस-दर्शन की 'थीसिस' का समर्थन नहीं करता। यह कल्पना इस तथ्य से भी झूठी सिद्ध हो जाती है कि अगले 'रहस्य' सर्ग में इसी भव्य नृत्य के समीपी दर्शन के हेतु, श्रद्धा मनु को हिमालय की चढ़ाइयाँ पार कराती हुई, मानसरोवर तक ले गई है। वस्तुतः त्रिपुर के दर्शन भी मनु ने अपने भौतिक नेत्रों से किये हैं। अतएव, 'कामायनी' के ऐसे रहस्यात्मक प्रसंगों को मानस-दर्शन कहकर समाधानित नही किया जा सकता। हमने जैसा अन्यत्र बताया है, प्रसादजी ने पूरी पौराणिक आस्था से स्वयं इन दिव्य दृश्यों का साक्षात्कार किया है और मनु को भी कराया है।

'दर्शन' सर्ग में तथा इससे आगे, कामायनी अतिमानवी आलोक में आवेष्टित हो गई है। "तुमुल कोलाहल कलह में मै हृदय की बात रे मन" वाला श्रद्धा का मानवी रस से ओतप्रोत स्वरूप नर्तित नरेश के तांडवनृत्य के साथ तिरोहित हो गया है और वह जादूगरनी अथवा दिव्यशक्ति–सम्पन्न देवदूत अथवा आध्यात्मिक सिद्धियों वाली साधना-गुरु बन गई है।

१४. रहस्य

'रहस्य' सर्ग में श्रद्धा के साथ मनु के शिव-लोक तक पहुँचने का वर्णन और साथ-ही त्रिपुर का अभिराम चित्रण उपलब्ध है।

इच्छा–लोक के वर्णन में प्रसाद जी ने 'भावमयी प्रतिमा के मन्दिर' की कल्पना की है जिसमें शब्द, स्पर्श, रस, रूप तथा गंध (पंचेन्द्रियों की तुष्टि) की पारदर्शिनी अभिराम पुतलियाँ रंगीन तितलियों के समान नृत्य कर रही हैं और अपनी 'भाव-भरी माया' में इठलाती हुई मादक संगीत की तरंगें उठा रही हैं। यह जीवन की 'मध्यभूमि' बताई गई है जो मधुर लालसा की लहरों से तरगायमान रस-धारा से आह्लावित हो रही है। उस आलोक-विन्दु को घेरे हुए माया बैठी मुसका रही है और भावचक्र का संचालन कर रही है। इस लोक में मन ('मनोमय विश्व') राग अर्थात् आसक्ति की उपासना में लीन

है । इसी लोक की भाव-भूमिका समस्त पाप-पुण्य की जननी है । यहाँ लौकिक विधि-नियमों का प्राणो के भाव-राज्य से संघर्ष उत्पन्न होता है जो जीवन की समस्या बन जाता है । श्रद्धा आगे बताती है कि इच्छा—लोक चिरेवसन्त का उद्‌गम है और यहाँ अमृत तथा हलाहल का एकत्र संगम वर्तमान रहता है ।

भाव-राज्य का यह चित्रण सुन्दर एवं सटीक माना जाएगा । इसका रंग लाल बताना भी उचित है क्योंकि राग या इच्छाएँ अरुणवर्ण होकर ही मनुष्य को आकर्षित करती हैं । जीवन की 'मध्य-भूमि' के रूप में ललित लालसाओं को अनुवचित करना भी उचित ही है क्योंकि मनुष्य इसी भाव-लोक से आरंभ कर, कर्म एवं ज्ञान की दिशा में अग्रसर होता है ।

कर्म-लोक को श्यामल वर्ण वाला बता कर, उसका भयोत्पादक चित्रण किया गया है । कर्म का चक्र नियति की प्रेरणा बन कर निरन्तर घूम रहा है और यहाँ सभी किसी-न-किसी नई एषणा की पूर्ति के हेतु व्यग्र है । यहाँ प्राण 'क्रियातन्त्र' का दास बन गया है । भाव-राज्य के मधुर सुख यहाँ दुःख में परिवर्तित हो जाते हैं । यहाँ निरन्तर, संघर्ष, विफलता एवं कोलाहल का राज्य फैला रहता है । समस्त समाज मतवाला बन कर अंधकार में दौड़ लगा रहा है । कर्मो की भीषण परिणति हो रही है । राशीकृत विपुल विभव मारीचिका-से दीख पड़ते हैं । अपने को भाग्यवान् मानने वाले लोग क्षणिक भोग के बाद काल के गाल में विलीन हो जाते हैं । प्राणन्तत्त्व की ही यहाँ साधना चलती रहती है और नील-लोहित ज्वाला नित्यप्रति जला-गला कर कुछ ढालती रहती है ।

श्रद्धा-द्वारा बताया गया कर्म-लोक का यह स्वरूप अतीव भीषण है । सुख-समृद्धि तथा यश-प्राप्ति के लालच से किये गये कर्म या तो निष्फल हो जाते हैं, या फिर क्षणिक भोग की वस्तु बन कर 'भाग्यवानों' को भी विनाश के मुख में पहुँचा देते हैं । कर्म-लोक की, मनुष्य के कर्म-जीवन की ऐसी परिणति दिखाना उचित नहीं लगता । पुनः कर्मों के सहारे मनुष्य प्राण-तत्त्व की ही साधना करते हैं, यह कहना भी संगत नही है । कर्मो का अनुष्ठान तथा सम्पादन संसार में प्राण-तत्त्व से उच्चतर एवं महत्तर प्रयोजनों की पूर्ति के निमित्त भी होता है । भाव-राज्य के सकल मानसिक सुख कर्म-लोक में दुःख में बदल जाते हैं, ऐसा कहना भी युक्ति-संगत नही । वर्तमान युग में प्राचीन मूल्यों के विघटन के कारण मनुष्य विक्षिप्त—जैसा कर्म-लीन बनता जा रहा है, लौकिक सुख-यश की प्राप्ति के हेतु बेतहाशा कर्म-मार्ग में दौड़ता जा रहा है । किन्तु, यह चित्र का एक पहलू है और वर्तमान युग की विशिष्ट देन वा प्रसूति है, और इस कारण, मात्र कर्म-प्रवृत्ति को एक शाश्वत बुराई के रूप

में चित्रित करना उचित नहीं है ।

ज्ञान-लोक—में सुख-दुःख से उदासीन निर्मम न्याय तथा बुद्धि-चक्र के चलते रहने का कथन किया गया है । इस लोक के प्राणी न्याय तथा तपस के ऐश्वर्य में पगे 'चमकीले' दिखाई पड़ते हैं और तर्क-युक्ति से आस्ति-नास्ति का भेद करते रहते हैं । ये अपने ज्ञान का परिमित पात्र लिये अजर-अमर बनकर जीवन का रस मांग रहे हैं । ये सौम्य बने हैं, किन्तु दोषों से सशंकित रहते हैं । ये इच्छाओं को झुठलाते हैं और जीवन-रस से सर्वथा अछूते हैं ।

ज्ञान-लोक का यह स्वरूप ज्ञान-मार्ग की उस साधना का प्रतिफलन है जो जीवन के आनन्दों को कोई महत्त्व नही देती । यहाँ प्रसादजी ने भारतीय ज्ञान-मार्ग का काव्यात्मक चित्रण किया है । धर्म-तुला का विभाजन, सौम्यावस्था में कर्म करने से कतराना (क्योंकि कर्म करने से ही दोष का भागी बनने की सम्भावना उत्पन्न होती है), निस्संग होते हुये भी मुक्ति से सम्बन्ध जोड़ लेना—ये सभी उल्लेख भारतीय ज्ञान-मार्ग की ओर संकेत करते है । लेकिन, साथ-ही 'बुद्धि के भेद कर बाँटने' के तथ्य का उल्लेख कर, कवि ने आधुनिक बुद्धिवाद की ओर भी इगित किया है । एक बात यहाँ यह विचारणीय है कि प्राचीन ज्ञान-मार्ग तथा आधुनिक बुद्धिवाद का जो पाणिग्रहण अथवा समीकरण यहाँ कराया गया है, वह कहाँ तक समीचीन है ? "विज्ञान भरे अनुशासन" तथा "इच्छाओ के झुठलाने" का उल्लेख यह प्रमाणित करता है कि प्रसाद जी 'ज्ञान-क्षेत्र' में प्राचीन 'ज्ञान' तथा नवीन 'बुद्धि' दोनों को समीकृत करते है । तब, ज्ञान-मार्ग जो संसार से विरक्तिपूर्ण मुक्ति की कामना करता है और बुद्धिवाद जो भौतिक सुख की एषणा से अनुप्रेरित हो अन्धभाव से कर्म में प्रवृत्त होता है, इन दोनों का ग्रथिबधन अनुचित एवं असंगत प्रतीत होता है । इड़ा के प्रसंग में प्रसादजी ने आधुनिक बुद्धिवाद (विज्ञान-वाद) की भर्त्सना कराई है और यहाँ ज्ञान-मार्ग की कदर्थना की गई है तथा उसे बुद्धिवाद से लपेट दिया गया है । ऐसा लगता है, मनु की रहस्यात्मक अनुभूतियों से उन्हें ज्ञान-मार्ग की बात सूझी और 'संघर्ष' सर्ग की घटनाओं से बुद्धिवाद की बात सूझी । और तब, उन्होंने इन दोनों प्रत्यक्षतः विरोधी तत्त्वों को एक में मिला कर ज्ञान-लोक का निर्माण कर लिया । लेकिन, यहाँ प्रश्न उठता है कि मनु का पतन तो बुद्धिवाद के कारण दिखाया गया न कि ज्ञान-मार्ग के कारण, तब ज्ञान-मार्ग की कदर्थना की क्यों आवश्यकता महसूस हुई ? एक प्रकार से देखा जाय तो आनन्दसर्ग में ज्ञान-मार्ग की ही विजय प्रदर्शित हुई है; फिर त्रिदिक विश्व के संघटन में ज्ञान-लोक का समावेश युक्ति-संगत नही प्रतिभासित होता ।

श्रद्धा ने उपर्युक्त तीनों आलोक-पिण्डों को वर्णित कर यह अन्तिम टिप्पणी की है—

"ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है,
इच्छा क्यों पूरी हो मन की ?
एक दूसरे से न मिल सके,
यह विडम्बना है जीवन की !"

यह कथन 'कामायनी' के जीवन-दर्शन की सबसे बड़ी उपलब्धि के रूप में स्वीकृत तथा अभिनन्दित किया गया है। सुतारां, इसका समीपी परीक्षण आवश्यक है। आपाततः लगता है, यदि हम जैसी इच्छाएँ करें, वैसा-ही हमारा ज्ञान अथवा जानकारी हो और वैसा-ही हमारा कर्म हो, तो जीवन सचमुच सुखी एवं सफल होगा। इच्छाओं के अनुरूप ज्ञान (बुद्धि) की उपलब्धि और उसके अनुरूप कर्म का सम्पादन—इन तीनों का उचित सामंजस्य जीवन के आनन्द के लिये निश्चिततया सहायक होगा, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। लेकिन, काव्य से इनकी संगति किस रूप में सम्पन्न हुई है, यह समीक्ष्य है।

'दर्शन' जीवन के सर्ग में अभ्युदय का एक ऐसा ही कर्म-समन्वित त्रिकोणात्मक विधान प्रस्तुत किया गया है। श्रद्धा ने अपने पुत्र मानव से कहा है—"यह (इड़ा) तर्कमयी है; तू श्रद्धामय है; तू मननशील है; अभय होकर कर्म कर; इसका सन्ताप हर ले; मानव-भाग्य उदय हो जाय।" इस विधान में तर्क, श्रद्धा तथा मनन तीनों से पुष्ट कर्म करने का आवाहन किया गया है। लेकिन, उपर्युक्त 'त्रिदिक विश्व' में कर्म का स्वतन्त्र, पृथक् आस्तित्त्व बताकर, उसे इच्छा तथा ज्ञान के समानान्तर रखा गया है। इन दोनों विधानों का, बीज-गणित (algebra) की पद्धति से, यों समीकरण किया जा सकता है :—

कर्म (तर्क + श्रद्धा + मनन) = ज्ञान + इच्छा + **कर्म**

पहले पक्ष में कर्म की प्रधानता मानी गई है और दूसरे में ज्ञान, इच्छा तथा कर्म के समन्वय को प्रधानता दी गई है। पुनः एकबार कर्म को ('इड़ा' तथा 'संघर्ष' सर्ग) बुद्धि-प्रेरित अथवा विज्ञान-प्रेरित बताया गया है जबकि त्रिपुर में कर्म को अलग रखा गया है जिस असंगति की ओर आ० शुक्ल ने पहले ही ध्यान आकर्षित किया था।[१] प्रथम त्रिकोणात्मक विधान में कर्म को जो स्थिति प्रदान की गई है, उसे देखते हुये सम्पूर्ण प्रसंग में असंगति का तत्त्व घनीभूत हो जाता है। तथापि, कर्म को नियति-प्रेरित, दुःखमूलक अन्ध 'क्रिया-तन्त्र' मानकर यदि उसे अलग रखना आवश्यक समझा गया, तो विचारणीय यह है

---

१. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (सं० २०१९), पृ० ६५८

कि प्रथम त्रिकोण में कर्म के साथ जिन तत्त्वों की समाहिति अपेक्षणीय कही गई है, उनका दूसरे त्रिकोण में समाहित अन्य दो तत्त्वों, ज्ञान तथा इच्छा, के साथ क्या सम्बन्ध है ?

श्रद्धा' के पर्याय के लिये 'इच्छा' लाई जा सकती है । लेकिन इच्छा-लोक का जो वर्णन हुआ है, उससे स्पष्ट है कि वह 'भाव-राज्य' है जिसका संघटन मधुर अभिलाषाओं के ताने-बाने से हुआ है और जिसमें शब्द, स्पर्श इत्यादि पंचेन्द्रियों की परितुष्टि की ही लालसा चला करती है । अतएव, 'श्रद्धा' को भाव' मानकर भी, इच्छा-लोक में उसे समाविष्ट नही किया जा सकता । पुनः, इच्छा–लोक के संघटन मे जिस 'भाव-राष्ट्र' का कथन किया गया है, उसमें मधुर लालसाओं की 'माया' का ही एकमात्र, एकच्छत्र शासन बताया गया है और उसमें 'भाव' का वह अर्थ नही लिया गया है जिस अर्थ में 'श्रद्धा' को 'भाव' कहा जा सकता है । लालसाएँ राग-मूलक होती हैं और 'श्रद्धा' भी रागमूलक है । इस दृष्टि से विचार करने पर भी जैसा आ० शुक्ल ने किया है, 'श्रद्धा' का, जो विशुद्ध विश्वास-वृत्ति या आस्था-वृत्ति है, 'इच्छा' अथवा 'लालसा' के साथ समीकरण नही किया जा सकता । प्रसादजी भी इस विन्दु को समझते थे इसी कारण, त्रिपुर के वर्णन मे श्रद्धा स्वतः वक्ता या व्याख्याता होने के कारण इच्छा-लोक (अथवा सम्पूर्ण त्रिकोण-विश्व) से पृथक् रखी गई है जिसके औचित्य के विषय में आ० शुक्ल को सन्देह हुआ था ।[१]

पहले त्रिकोण के 'तर्क' तथा 'मनन' दूसरे त्रिकोण के 'ज्ञान' के साथ समीकृत किये जा सकते है क्योंकि इन तीनों का सम्बन्ध 'बुद्धि' से है ।

तब, यह प्रश्न उठता है कि 'कामायनी' के अन्तिम सन्देश-रूप में जो जीवन की विडम्बना दूर करने की संहिता दी गई है, उसमें 'श्रद्धा' का क्या महत्त्व माना जाएगा ? हमने अभी दिखाया है कि इच्छा-लोक 'श्रद्धा' का स्थानापन्न नहीं हो सकता । 'श्रद्धा' आस्था-विश्वास-मूलक रागात्मिका वृत्ति है और इच्छा-लोक में राग होते हुये भी 'आस्था' या विश्वास' का अभाव है जब तक कि 'आस्था' या विश्वास का यत्नपूर्वक, 'इच्छा' की संगति में पड़ने वाला अर्थ नही निकाल लिया जाए । तब, इच्छा, ज्ञान तथा कर्म के समन्वय का जो चरम सन्देश कवि ने दिया है, उसमें 'श्रद्धा' का—जो 'आस्तिक बुद्धि' भी कही जा सकती है जैसा नगेन्द्र ने कहा है—महत्त्व तिरोहित हो जाता है । मनु को स्वयं श्रद्धा के सहयोग से ही अखंड शान्ति मिली है । श्रद्धा ने मानव को दिये गये उपदेश मे 'कर्म' को 'श्रद्धा' के साथ जोड़ देने की आवश्यकता पर

---

१. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (सं० २०१९), पृ० ६५८

बलाघात दिया है । 'अतएव' इस अंतिम निष्कर्षगत संदेश में 'श्रद्धा' को 'इच्छा' से बदल देना उचित नहीं रहा ।

एक अन्य दृष्टि से भी इस प्रश्न पर विचार कर सकते हैं । कामायनी मनु को जो उपदेश देती है, उसमें मनु के वैयक्तिक जीवन के तत्त्व-तथ्य भी प्रेरक हो सकते हैं । तब, मनु की चेतना में जीवन-भोग की अदम्य लालसा तथा बुद्धि-प्रेरित कर्म करने की अविश्रान्त प्रवृत्ति का संयोग स्पष्ट दिखाई पड़ता है, साथ-ही, रहस्यात्मक अनुभूति की छटपटाहटें भी दीख जाती हैं । ऐसी हालत में, मनु की आनदमूलक शान्ति के लिए उनकी वासना, ज्ञान तथा कर्म में ऐसा समन्वय स्थापित होना चाहिए जो 'श्रद्धा', अर्थात्, आस्था-मूलक पराशक्ति-विषयक विश्वास से निरंतर अनुप्राणित रहे । लेकिन, 'त्रिदिक विश्व' वाले अंतिम उपदेश में 'श्रद्धा' का कोई उपनिवेश नही हो पाया है । जबकि, जैसा अभी कहा है, मनु की अन्तिम प्रदर्शित सिद्धि में श्रद्धामूलक आस्था का स्पष्ट सहयोग है । सामान्यतः 'त्रिदिक् विश्व' के एकीकरण से यह अर्थ लगाया गया है कि यहाँ प्रसादजी ने हृदय, बुद्धि तथा कर्म के सामंजस्य का पक्ष-प्रतिपादन किया है और वह बहुत समीचीन है । किन्तु, कथा के विभिन्न सूत्रों तथा उनके संगुंफन को देखते हुए, इस सामंजस्य का स्वरूप बिखराव तथा उलझाव से भरा हुआ समझा जाएगा—"बिखरी अलकें ज्यों तर्क-जाल ।"

सर्गान्त में कामायनी की मुसकान से 'महाज्योति' की ज्वाला फूटने तथा उसके फलस्वरूप इन तीनों लोकों के परस्पर मिल जाने का जो कथन किया गया है, वह उसे (कामायनी को) और भी अतिलौकिक रंगो मे रंजित कर गया है—वस्तुतः प्रस्तुत सर्ग के आरंभ से ही, 'दर्शन' सर्ग के अवसान से ही, कामायनी का मानवी रस दिव्य अलौकिक रस मे डूबता गया है । उसी की कृपा से अथवा उसी के चमत्कार से मनु को त्रिपुर के दर्शन मिले हैं और इन त्रिविध लोकों का वर्णन तो मनु ने बिलकुल शान्त, एवं स्वीकृति के, भाव से ग्रहण किया है—जैसे कामायनी सचमुच इन्द्रजाल कर रही हो और उसमें माध्यम पात्र (Subject) के लिए उस इन्द्रजाली संसार को सर्वात्मना स्वीकार कर लेने के अतिरिक्त कोई विकल्प ही नही हो । और, जब अन्त में उसकी मुसकान से त्रिलोक का एकीकरण हो जाता है, तब तो कवि द्वारा उपस्थापित चमत्कार-विधान और भी गाढ़ा बन जाता है ।

सर्ग के अंतिम चार छन्दों में पाठक की लौकिक भूमि सर्वथैव तिरोहित हो गई है । श्रद्धा की स्थिति-जन्य ज्वाला महाशून्य में धधकने लगती है और शृंग तथा डमरू का निनाद सकल विश्व में बिखर उठता है। मनु की चेतना की तीन वृत्तियाँ स्वप्न, सुषुप्ति तथा जागृति उस 'चितिमय चिता' की धधकती

ज्वाला में भस्म हो जाती हैं क्योंकि उनके भीतर इच्छा, क्रिया एवं ज्ञान परस्पर विलीन हो गये हैं, और मनु उस दिव्य अनाहृत संगीत में श्रद्धा के साथ तन्मय हो जाते हैं—

"स्वप्न, स्वाप, जागरण भस्म हो—
इच्छा, क्रिया, ज्ञान मिल लय थे;
दिव्य अनाहत पर निनाद में
श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे!"

इस दिव्य संगीत में तन्मयी भवन की अवस्था साधना-लोक में 'तुरीयावस्था' मानी गई है जो साधक की पूर्ण समाधि की अवस्था है—जहाँ पहुँच कर अखंड, निस्तब्ध शान्ति का वह उपभोग करता है।

प्रसाद जी ने प्रस्तुत सर्ग के अवसान को स्पष्ट दार्शनिक संकेतो से सम्पन्न कर दिया है जिसकी विवेचना उपयुक्त प्रकरण में की गई है। यहाँ हमारी मूल विवक्षा यह है कि काव्य के आरंभ मे मानव सहानुभूति का जो रस-स्रोत फूट निकला था और बीच के प्रकरणों मे, रहस्यात्मक तथा असामान्य मनोविज्ञान से अनुप्रेरित बहुविध तत्त्वों के बावजूद, निश्चिततया गाढतर बनता गया था, वह 'रहस्य' सर्ग की समाप्ति तक निश्चयमेव सूख गया है। इन अंतिम चरणों मे नाटकीय चमत्कार का अवश्य अनुप्रवेश हुआ है और 'अद्भुत रस' की व्यंजना भी हुई है, लेकिन तब, अलौकिकता का सौरभ इतना घनीभूत हो गया है कि 'कामायनी' काव्य न रहकर, ललित पुराण बन गई है।

१५. आनंद

'आनंद' सर्ग प्रबंध-वस्तु के फलागम का चरम सोपान है। 'दर्शन' सर्ग में इड़ा तथा कुमार श्रद्धा से प्रेरणापूर्ण उपदेश ग्रहण कर सारस्वत नगरी को लौट गये थे और श्रद्धा ने उपदेश दिया था कि मानव तथा इड़ा 'श्रद्धा', 'बुद्धि' तथा 'मनन' से संयुक्त कर्म करे जिससे मानवता का भाग्य उदय हो जाय। प्रस्तुत सर्ग में इन दोनों के द्वारा स्थापित संस्कृति का स्वरूप संकेतित हुआ है। यहाँ इड़ा तथा मानव ने सारस्वतवासियों का जुलूस बनाकर मानसरोवर की यात्रा की है, और मनु एवं कामायनी के पास जाकर, समष्टि-रूप से समरसतापूर्ण आनन्द की उपलब्धि की है। इस प्रकरण से निम्न तथ्य प्रकाश में आये हैं—

१. इड़ा तथा मानव ने एक नवीन संस्कृति की स्थापना की है जिसमे लौकिक सुखों तथा ऐश्वर्यों का महत्त्व, उच्चतर सत्यो के साक्षात्कार से धूमिल बन गया है। भेद-भाव को भूलकर समस्त सारस्वत-समाज एक कुटुम्ब बन गया है जिसमें संघर्ष का तत्त्व सर्वथैव तिरोभूत हो गया है। इड़ा उस समाज की पथ-प्रदर्शिका बनी है और संन्यासिनी-जैसी गैरिक-वसना हो गई है। श्रद्धा के

चरणों में नम्रशिरस्क हो, उसने स्वीकार किया है कि वह पहले सबको भुलावा देती थी क्योंकि उसे समझ नहीं थी । इस नये सारस्वत-समाज की प्रेरिका एवं रूपनिर्मात्री इड़ा ही है ।

२. धवल वृषभ, सोमलता से आवृत, उस यात्रा को विशेष आशय प्रदान कर देता है । सोमलता भौतिक ऐश्वर्य की प्रतीक है और उसे ढोने वाले वृषभ का उस मानस-तीर्थ में उत्सर्ग किया जाएगा । अर्थात्, नया सारस्वत-समाज धर्म के सर्वातिशायी नियमन में लौकिक सुखों का अर्जन करेगा ।

३. मनु ने अद्वैतदर्शी रंगों में निमज्जित होकर 'अभेदवाद' का उपदेश दिया है । सचराचर विश्व एक ही अखंड चैतन्यात्मक सत्ता का प्रकाश है और उस सत्ता का अनुभव प्राप्त करने वाला व्यक्ति न अपने को उससे भिन्न महसूस करता है और न दूसरे को अपने से भिन्न समझता है—यही मनु के उपदेश का सार है ।

४. श्रद्धा विश्व की मंगल-कामना की मूर्ति, पूर्ण काम की प्रतिभा तथा पुलकित विश्व-चेतना बन गई है । उसी की मधुर मुसकान से विश्व-कमल खिल गया है और प्रकृति में अपूर्व उल्लास एवं माधुर्य भर गया है ।

५. काव्य की चरम सिद्धि तब प्रतिफलित हुई है जब सभी प्रेम-ज्योति में निमज्जित हो, पूर्ण अभेद या अद्वैत की अनुभूति से चेतन बन गये हैं, खंड-चेतनाओं का विलय एक अखंड चेतना में हो गया है जिससे अखंड आनंद का आलोक व्याप्त हो गया है ।

६. मानव (कुमार) की कोई भूमिका यहाँ दिखाई नही पड़ी है ।

इस प्रसग के अवलोकन से ये टिप्पणियाँ आहूत होती है—

१. यह पूरा प्रकरण सामास नियोजित प्रतीत होता है—इस उद्देश्य से कि कवि की अभीप्सित संस्कृति का आनंद-पर्यवसायी स्वरूप प्रत्यक्ष हो जाय । इस प्रकार, यह सर्ग काव्य के अंत में जोड़ा गया एक प्रयोजन-सापेक्ष पुछल्ला (Appendage) है ।

२. इड़ा की भर्त्सना तथा परिष्कार दोनों की योजना यहाँ की गई है । दोनों अनाहूत-से लगते हैं । इडा की भर्त्सना में प्रसादजी का मन्तव्य बुद्धिवाद की विगर्हणा जिसके लिए स्वयं काव्य में कोई सशक्त आधार पल्लवित नहीं हुआ है । वैसे-ही, इड़ा के परिष्करण में उसे गैरिकवसना बना देना भी विचित्र-सा प्रतीत होता है । कर्म-वृत्ति यदि समस्त कर्म कलाप के बाद संन्यास ग्रहण कर ले, तो वह कर्म-विरक्ति की ही भूमिका होगी । यदि इड़ा पहले से ही संन्यासिनी होती और कर्म-मार्ग की साधिका भी, तो बात दूसरी रहती ।

३. श्रद्धा और मनु दोनों संसार की सेवा कर रहे थे—ऐसा मानने का

क्या आधार है ?

४. श्रद्धा का स्वरूप यहाँ पूर्णतः अमानवीय बन गया है । उसके हँसने से अग-जग का मुखरित हो जाना तथा अंतिम द्वन्द्वों में चित्रित भौतिक एवं अध्यान्तरिक परिवर्तन—ये सभी तथ्य काव्य-रस को अलौकिक आस्वाद से संयुक्त कर देते हैं ।

५. इच्छा, क्रिया तथा ज्ञान के समन्वय से मानव-कल्याण सम्पन्न होगा—यह उपलब्धि हमें पहले मिल चुकी है । इस सर्ग में भौतिक ऐश्वर्य (सोमलता) तथा धर्म-भावना (धवल वृषभ) के समन्वय के ऊपर अद्वैतवाद या अभेदवाद की प्रतिष्ठा हुई है । अर्थात्, इस अखंड चेतना की अनुभूति से आनंद का आविर्भाव होगा—यह अन्य एवं अन्यतम उपलब्धि हमें यहाँ मिली है । पहली उपलब्धि व्यावहारिक महत्त्व रखती है और दूसरी दार्शनिक । अतएव, पहली को युग-बोध से भी जोड़ा जा सकता है, लेकिन दूसरी जीवन के शाश्वत समाधान से जुड़ी हुई है । इन दोनों के बीच की संक्रमण शृंखला काव्यान्त में स्पष्टतः रूपायित नहीं हो पाई है ।

३ | कथानक का शास्त्रीय स्वरूप

वस्तु-भेद

आचार्यों ने प्रतिपाद्य वस्तु के दो भेद किये है, 'आधिकारिक' तथा 'प्रासंगिक'। मुख्य कथा आधिकारिक और उसकी अंगभूत गौण अथवा सहायक कथा प्रासंगिक कहलाती है।[१] प्रासंगिक कथा के भी दो प्रकार होते हैं–'पताका' और 'प्रकरी'। मुख्य कथा के साथ दूर तक चलने वाली गौण कथा 'पताका' और थोड़ी दूर तक चलने वाली कथा 'प्रकरी' कही जाती है।[२] पुनः जब इतिवृत्त ऐतिहासिक (इतिहास सिद्ध) होता है, तब उसे 'प्रख्यात', जब कल्पनाप्रसूत होता है, तब उसे 'उत्पाद्य'; और जब दोनों प्रकार के तत्त्वों का मिश्रण रहता है, तब उसे 'मिश्र' कहा जाता है।[३]

'कामायनी' का कथानक 'मिश्र' की कोटि में आता है क्योंकि उसमे ऐतिहासिकता एवं काल्पनिकता का स्पष्ट मिश्रण है। 'प्रख्यात' वह इस कारण नहीं कहा जा सकता कि इतिवृत्त का प्रत्यक्ष अनुमोदन इतिहास से प्राप्त नहीं होता और कल्पना का कर्तृत्व उसमें पृथुल परिमाण में वर्तमान है। मनु एवं श्रद्धा की कथा जिसका पर्यवसान अखड आनन्द की उपलब्धि में होता है, आधिकारिक कही जाएगी क्योंकि मुख्यतः मनु फल (आनन्द) के अधिकारी हैं और वह फल श्रद्धा के सहयोग से उन्हें अन्ततः प्राप्त होता है।[४] इड़ा की कथा प्रधान इतिवृत्त के उपकारक-रूप में, बीच से प्रारम्भ होकर अंत तक चलती है, अतएव वह 'पताका प्रासंगिक' कही जाएगी। शेष प्रासंगिक कथाएँ–यथा, आकुलि-किलात का पौरोहित्य सास्वत-वासियों की कैलाश-यात्रा इत्यादि–'प्रकरी प्रासंगिक' कही जा सकती है।

---

१. "तत्राधिकारिकं मुख्यमङ्गःप्रासंङ्गिकं विदुः।" (दशरूपक, १।११)
२. "सानुबन्धं पताकाख्यं प्रकरी च प्रदेशभाक्।" (वही, १।१३)
३. "प्राख्यातोत्पाद्यमिश्रत्व भेदान्त्रेधापि तन्त्रिधा।" (वही, १।१५)
४. "अधिकारः फलस्वाम्यमधिकारी च तत्प्रभुः।" (वही, १।१२)

अर्थ-प्रकृतियाँ

आधिकारिक कथा-वस्तु के निर्वाह में, प्रयोजन की सिद्धि में जो कारण-भूत तत्त्व होते हैं, उन्हें शास्त्रीय अभिधा में 'अर्थ-प्रकृतियाँ' कहा जाता है। ये पाँच प्रकार की होती हैं, यथा—बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी तथा कार्य।[1] कार्य की सिद्धि में सहायक जो हेतु प्रारंभ में अत्यन्त स्वल्प, रीति से निर्दिष्ट किया गया होता है, वह 'बीज' कहलाता है। जहाँ पर अवान्तर अर्थ के कारण विच्छेद हो गया हो, वहाँ जो हेतु विच्छिन्न मुख्य कथा-सूत्र को आगे बढ़ाता है, वह 'बिन्दु' कहा जाता है। पताका एवं प्रकरी के विनियोग से प्रधान कथा का उपकार किया जाता है जिनका उल्लेख अभी ऊपर किया गया है। आधिकारिक कथा का उपसंहार 'कार्य' कहलाता है[2]

कामायनी मे इन अर्थ प्रकृतियों की खोज की जा सकती है। 'चिन्ता' सर्ग प्रधान कथा के बीज-रूप में आता है क्योंकि मनु की मानसिक चिन्ता एवं अतीत का मनन ही वह आधारभूत तत्त्व है जो कालान्तर मे विकसित होते, 'आनंद' सर्ग में पहुँच कर काव्य के प्रयोजन की सिद्धि में कारण बनता है। 'बिन्दु' की खोज तनिक कठिन प्रतीत होती है। जब बाहरी, मुख्य कथा-प्रवाह से असबद्ध एव विपरीत घटनाओं के कारण प्रधान कथा बाधित हो जाती है, तब जिस कथन अथवा व्यापार से वह कथा पुनः अपना आरंभिक सूत्र पकड़ कर आगे बढ़ जाती है, वह 'बिन्दु' कहलाता है। वस्तुतः बिन्दु की योजना संपूर्ण कथा प्रवाह में कलात्मक निपुणता के साथ की गई मिलती है या मिलनी चाहिये जिसके द्वारा रह-रह कर, कवि वा नाटककार मुख्य प्रजोजन की ओर सकेत एव उसका परिपोष करता चलता है—इस कारण कि उपकथाओं अथवा अन्तर्धाराओ के सन्निवेश अथवा बीच में प्रवेश से मुख्य कथा-प्रवाह मे अवरोध उत्पन्न होता दिखाई पड़ता है।[3] प्रश्न उठता है कि कामायनी में कहाँ 'बिन्दु' की स्थिति मानी जाय ? एक शोध-प्रबंध में 'काम'

---

१. "बीज बिन्दु पताकाख्य प्रकरी कार्यलक्षणाः ।
अर्थ प्रकृतयः पञ्चता एताः परिकीर्तिताः ।।" (वही, १।१८)

२. "स्वल्पोदृष्टस्तु तद्धेतुर्बीजं विस्तार्यनेकधा ।
अवान्तरार्थ विच्छेदे विन्दुरच्छेद कारणम् ।" (वही, १।१७)
"समापनं तु यात्सिद्धयै तत्कार्यमिति संमतम् ।"
(साहित्य दर्पण,६।७०)

3. Dr. S. N. shastri : 'the Laws and practice of sanskrit Drama' (1961), vol. I, Pages 85-86.

सर्ग के पूर्वार्ध में चलने वाले मनु के चिन्तन को, "जो कुछ हो मैं न संभालूंगा इस मधुर भार को जीवन के" इत्यादि पंक्तियों के आधार पर इस रूप में व्याख्यात किया गया है कि उससे मनु की जीवन-लालसा बाधित हो गयी है और इसलिए, स्वप्न में सुनाई पड़ने वाली काम की वाणी 'बिन्दु' कहलाएगी क्योंकि उससे मनु के हृदय में श्रद्धा को प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न हो जाती है।[1] लेकिन, यह समझना प्रमाद है कि काम-संदेश के सुनने के पूर्व, मनु "भोगमय जीवन के दुःखद परिणाम' से त्रस्त होकर जीवन-भोग की कामना से पराङ्मुख हो गये थे—"जीवन के इस मधुर भार को नही सभाँल सकूँगा' से यह अर्थ ग्रहण करना कि "न जीवन के इस मधुर भार को ही उठाऊँगा," ठीक नही है। जैसा मैने मनु को चेतना के प्रवाह वाले प्रकरण में दिखाया है, मनु के इस कथन का अभिप्राय ठीक उलटा है; और यह केन्द्रीय तथ्य ध्यातव्य है कि मनु की चेतना असाधारण मनोविज्ञान की कसौटी पर रख कर कवि द्वारा निर्मित वा रूपायित हुई है तथा आरभ से ही उसमें जीवन-भोग एवं जीवन-विरक्ति की वासनाएँ युगपत् संघर्षशील रही हैं। अतएव, कथानक के 'कार्य' (अखंड आनन्द की सिद्धि) को ध्यान में रखकर, प्रसादजी ने मनु की चेतना में ही ऐसा तत्त्व सन्निविष्ट कर दिया है जिससे उसकी निष्पत्ति विघ्नित होती प्रतीत होती है। वह तत्त्व है निर्बाध जीवनभोग-लालसा एव अखंड प्रभुत्त्व-कामना का जो प्रायः संपूर्ण प्रबध में व्याप्त है। और उनकी कुशल कला ने वैसे ही, प्रायः संपूर्ण प्रबन्ध में ऐसे तत्त्वों का विनियोग किया है जिनसे आधिकारिक कथा के अभीप्सित प्रवाह एवं परिणमन में सहयोग तथा सहायता मिलती रहे। जीवन-विरक्ति तथा रहस्यवादी प्रवृत्ति जिनकी छटपटाहट निरंतर मनु के मानसिक जीवन मे दिखाई पड़ती है, ऐसे ही तत्त्व है। वस्तुतः मनु का मनोमय जीवन आद्योपान्त, कार्य की सिद्धि के पहले तक, द्वन्द्वशील रहा है और इस प्रकार, कार्य के साधक तथा बाधक तत्त्वों का निरंतर यौगपदिक संयोजन कवि की सावधान चेष्टा रही है। अतएव, 'बिन्दु' का हेतु यहाँ समग्र इतिवृत्त के साथ जुड़ा तथा घुलामिला है।[2]

---

१. 'कामा० में काव्य संस्कृति और दर्शन' (१९६३), पृ० ९८

२. पूर्वोक्त शोध-प्रबंध के संशोधित संस्करण में 'बिन्दु' की परिभाषा यों दी गई है—"दूसरी 'बिन्दु' अर्थ प्रकृति निमित्त बन कर समाप्त होने वाली अवान्तर कथा को आगे बढ़ाया करती है।" (पृ० ९८)। यह परिभाषा गलत है पता नहीं यह प्रमाद क्योंकर प्रविष्ट हो गया? 'बिन्दु' अवान्तर कथा को आगे नही

'पताका' तथा 'प्रकरी' का निर्देश पहले ही किया जा चुका है। 'कार्य' की अर्थ प्रकृति निश्चित ही मनु की समरसतामूलक अद्वैत भावापन्न आनन्द की उपलब्धि है जो त्रिदिक विश्व के एकीकरण से आनन्द सर्ग की समाप्ति तक प्रसरणशील है।

कार्यावस्थाएँ

उद्दिष्ट फल की अभिलाषा करने वाले व्यक्तियों के द्वारा प्रारंभ किये जाने वाले कार्य की पाँच अवस्थाएँ बताई गई है, यथा--आरंभ-प्रयत्न, प्राप्त्याशा नियताप्ति और फलागम।[1] पाँच अर्थ प्रकृतियों के समानान्तर ये पाँच कार्यावस्थाएँ निर्दिष्ट की गई है, अन्तर केवल यह है कि अर्थप्रकृतियाँ जिस चीज को मानसिक धरातल पर प्रकट या सकेतित करती हैं, उसे ही कार्यावस्थाएँ स्थूल रीति से प्रदर्शित करती है।[2]

विशुद्ध शास्त्रीय दृष्टि से कामायनी में 'आरंभ' नाम्नी अवस्था का निर्देश थोड़ा कठिन जान पडता है। विश्वनाथ ने 'आरंभ' का यह लक्षण दिया है—"भवेदारम्भ औत्सुक्य यन्मुख्यफलसिद्धये।"[3] मुख्य फल की सिद्धि के निमित्त जो औत्सुक्य अथवा उत्कठा होती है, वह 'आरभ' है। भरत ने थोडी अधिक स्पष्टता के साथ लिखा है--"आरभ कार्य का वह सोपान है जो अभिलक्षित पदार्थ की प्राप्ति के लिए मुख्य नायक की मानसिक प्रवृत्ति एवं उत्साह को प्रकटित करता है। अत सम्पूर्ण व्यापार के मूल मे सकल्प पहले आता है, अत: दृढ़ संकल्प की अभिव्यक्ति ही आरभ है। जो नाट्यकार्य के प्रारभिक चरणों में व्याप्तिशील रहता है।[4] अर्थात्, नायक का किसी निश्चित लक्ष्य सिद्धि के हेतु प्रकटित संकल्प 'आरभ' कहा जाता है। कामायनी का 'कार्य' तो सर्व-

---

बढ़ाता, अपितु अवान्तर कथा से उत्पन्न विच्छेद को निराकृत कर, मुख्य कथा को आगे बढ़ाता है--"अवान्तरार्थविच्छेदे बिन्दुरच्छेद कारणम्।" अर्थात्, अवान्तर कथा से उत्पन्न विच्छेद में बिन्दु संयोग का कारण बनता है, यह संयोग मुख्य कथा का संयोग है।

१. **"अवस्था: पञ्चकार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभि: ।**
आरम्भयत्नप्राप्त्याशानियताप्ति फलागमा: ।।" (दशरूपक१।१९)

2. 'The Laws and practice of sanskrit Drama,' vol I. page 83.

३. **साहित्यदर्पण**, ६।७१

4. 'the Laws and practice of sanskrit Drama,' vol. I, page 81.

सम्मति से अद्वैतमूलक अखंडानन्द की उपलब्धि है । प्रश्न उठता है, इस लक्ष्य की अवधारणा एवं उसकी प्राप्ति का संकल्प यहाँ किसने किया है ? मनु ने तो ऐसा नही किया है, यह तनिक विचार से ही स्पष्ट हो जाता है । श्रद्धा को ही इसका संपूर्ण श्रेय मिलेगा क्योंकि उसी ने लक्ष्य अथवा प्रयोजन का निर्धारण भी किया है और उसकी प्राप्ति का संकल्प भी—मनु तो केवल श्रद्धा तथा इड़ा इन दोनों नारियों के हाँथ में खिलौने जैसे रहे हैं, यह भिन्न बात है कि प्रभुत्व एवं जीवनभोग की एषणा से परिचालित होने के कारण, उन्होंने इन दोनों के साथ अत्याचार किया है । 'आशा' सर्ग में जिजीविषा की चिनगारी मनु के अध्यन्तर में अवश्य चमक उठी है, लेकिन वह जीवन-लालसा काव्य-व्यापार का साध्य फल नही है । 'श्रद्धा' सर्ग में श्रद्धा ने ही पहले-पहल मनु के संमुख जड़ के चेतन आनंद, "मंगल मय वृद्धि" तथा "समन्वय" का लक्ष्य-निरूपण किया है । अतएव, 'श्रद्धा' सर्ग ही 'आरंभ' की अवस्था माना जा सकता है ।(कामायनी' नायक-प्रधान नही, नायिका-प्रधान काव्य है)। मनु के साथ-साथ श्रद्धा को भी आनंद की प्राप्ति हुई है, यद्यपि साधारणतः मनु की आनन्दलब्धि की ही बात कही जाती है और उसे ही 'कार्य' समझा जाता है ।

'चिन्ता' तथा 'आशा' सर्गों में मनु की द्वन्द्वशील चेतना का उन्मीलन हुआ है--अनुरक्ति एवं विरक्ति का द्वन्द्व इन पहले सर्गों से ही ऊभार में लाया गया है । यद्यपि इस द्वन्द्व का स्वाभाविक परिणमन मनु की चरम विरक्ति में चित्रित हुआ है, तथापि मनु ने कही भी इन प्रारंभिक सर्गो में अखण्ड आनंद की उपलब्धि के प्रति संकल्प अथवा सुस्पष्ट औत्सुक्य नही प्रदर्शित किया है—वह उत्कंठा यदि दीख पड़ी है तो जीवन भोग के लिए, नाकि अखंड आनंद की प्राप्ति के लिए । अतएव, यह कहना सही नहीं है कि इन प्रारंभिक तीन सर्गों में फल-प्राप्ति के लिए मननशील मनु मे औत्सुक्य का प्राधान्य दिखाया गया है ।[1] प्रश्न है कि यदि 'श्रद्धा' सर्ग कार्य का आरंभ है, तो पूर्ववती 'चिन्ता' एवं 'आशा' सर्ग क्या कहे जाएँगे ? उत्तर स्पष्ट ढंग से यह होगा : एक तो, 'कामायनी' नाट्यग्रंथ नही है जिसमें कार्यावस्थाओं का सचेष्टभाव से विनियोग किया गया हो; दूसरे, यदि 'आरंभ' ढूढ़ना ही हो तो ऐसा मानना समीचीन होगा कि 'श्रद्धा' सर्ग में प्राप्त 'आरंभ' के आवश्यक पुछल्ले रूप में ये सर्ग उपनिबद्ध हुए हैं ।

'काम' सर्ग से 'संघर्ष' सर्ग तक 'प्रयत्न' की अवस्था व्याप्त मानी जा सकती है क्योंकि इनमें काम, मनु तथा श्रद्धा, तीनों ने प्रत्यक्ष या परोक्ष भाव

---

१. 'कामा० में काव्य, संस्कृति और दर्शन,' पृ० १००

से, न्यूनाधिक रूप में, फल-प्राप्ति की दिशा में यत्न किया है। यद्यपि 'इड़ा' तथा 'संघर्ष' सर्ग मनु के एकान्त प्रसंग हैं और उनसे श्रद्धा का कोई संबंध नहीं है जिसने ही मूलतः 'आरम्भ' की अवस्था का सूत्रपात किया है, तथापि इनकी वस्तु-योजना से मनु की चित्तवृत्ति को फल-प्राप्ति की दिशा में मोड़ने का प्रयोजन सिद्ध होता है। अतएव, प्रयत्नावस्था को संघर्ष 'सर्ग' तक मानने का आधार पुष्ट दिखाई पड़ता है। 'प्राप्त्याशा' 'निर्वेद' सर्ग से 'दर्शन' सर्ग के उस स्थल के पूर्व तक मानी जाएगी जहाँ "सत्ता का स्पंदन" डोल चला है। इसके अनन्तर 'नियताप्ति' की अवस्था आरम्भ हो गई है। 'नियताप्ति' वह कार्यावस्था है जिसमें सभी विघ्न, संभावित अथवा वास्तविक, विनष्ट हो जाते हैं और फल-प्राप्ति का निश्चय-सा हो जाता है।[1] 'नियताप्ति' 'रहस्य' सर्ग के अन्त तक व्याप्त है : त्रिपुर के एकीकरण के परिणामस्वरूप मनु दिव्य अनाहत निनाद में श्रद्धा-समेत तन्मय हो गये है जो आनन्दानुभूति की ठीक पहली भूमिका है। 'आनन्द' सर्ग 'फलागम' अथवा 'फलयोग' का प्रदर्शक प्रकरण है जहाँ सभी जड़ या चेतन समरस बन गये है और एक अखंड चैतन्यपूर्ण आनन्द व्याप्त हो गया है—

"समरस थे जड़ या चेतन,
सुन्दर साकार बना था;
चेतनता एक विलसती,
आनन्द अखंड घना था।"

सधियाँ

एक मुख्य प्रयोजन से अन्वित कथाशों का अवान्तर अर्थों (कथाओं, प्रयोजनों इत्यादि) से सम्बन्धन 'सन्धि' कहलाता है।[2] एक मुख्य प्रयोजन की सिद्धि के लिए कथानक का प्रवाह चलता है; उसमे अवान्तर कथाएँ, घटनाएँ तथा प्रयोजन प्रवेश कर जाते है; नाटककार अथवा प्रबंध रचयिता इन अवान्तर अर्थों को कुशलतापूर्वक मुख्य प्रयोजन की सिद्धि के साथ जोड़ता चलता है जिससे नाट्य वस्तु के स्पष्ट संघटक विभाग बन जाते हैं; इन्हीं विभागों को

---

१. **"अपायाभावतः प्राप्तिर्नियताप्तिस्तु निश्चिता"।**
(सा० द०, ६।७३।)

२. **"अन्तरैकार्थसंबन्धः संन्धिरेकान्वये सति।**
एकेन प्रयोजनेनान्वितानां कथांशानामवान्तरैकप्रयोजनसंबन्धः संधिः।"
(साहित्यदर्पण, ६।७५)

शास्त्रीय अभिधावली में 'सन्धि' कहा गया है। पाँच कार्यावस्थाओं को अनुरूपता में संधियाँ भी पाँच प्रकार की बताई गई है।[1]

इन संधियों की रचना अथवा उत्पत्ति के विषय में संस्कृत आचार्यों के दो भिन्न-भिन्न मत हैं। एक वर्ग की स्थापना है कि अर्थ प्रकृतियों के साथ कार्यावस्थाओं के अनुरूप ढंग से मिलने पर संधियाँ उत्पन्न होती हैं; अर्थात्, बीज + आरम्भ = मुख सन्धि; बिन्दु + प्रयत्न = प्रतिमुख संधि; पताका + प्राप्त्याशा = गर्भ संधि; प्रकरी + नियताप्ति = विमर्श वा अवमर्श संधि; कार्य + फलागम = उपसंहृति वा निर्वहण संधि। दूसरे वर्ग का कथन है कि अर्थ प्रकृतियाँ और कार्यावस्थाएँ समानान्तर ढंग से साथ-साथ घटित नही भी हो सकती है; अतएव संधियों को इनके समन्वय के साथ जोड़ना उचित नही है। यह वर्ग 'बीज' के आविर्भाव और तिरोभाव, विकास और अवरोध को महत्त्व प्रदान करता है तथा यह मान कर संधियों का विवेचन करता है कि 'बीज' कथा-प्रवाह में कभी प्रकट होता है, कभी छिप जाता है, कभी विकसित होता है, कभी अवरुद्ध हो जाता है; कभी कुसुमित होता है, कभी सूख जाता है और अन्ततोगत्त्वा पूर्णरूप से प्रतिफलित हो जाता है। अतएव, 'बीज' के अंकुरण, अवच्छदन तथा प्रस्फुटन के आधार पर प्रस्तुत वर्ग के आचार्यों ने सन्धियों का विभाजन किया है। "दृष्ट-नष्ट" सिद्धान्त में विश्वास करने वाले इस दूसरे मत के अनुसार भी उपर्युक्त पाँच ही संधियाँ होती है।[2] हमारा व्यक्तिगत विचार है कि यह दूसरा मत ही मान्य होना चाहिए क्योंकि अर्थप्रकृतियों तथा कार्यावस्थाओं में सर्वथा अनुरूप समानान्तरण का होना संभव नही है—उदाहरणतः, 'बीज' एवं 'आरंभ' 'बिन्दु' एवं 'प्रयत्न' इत्यादि की समान व्याप्ति अनिवार्य नहीं मानी जा सकती। वास्तव मे, 'बीज' हो कथा-वस्तु का प्राण है और उसी के प्रस्फुटन एवं विकसन के ऊपर मुख्य प्रयोजन की सिद्धि अथवा फलागम निर्भर करता है। अतः, इसी के आधार पर कथानक के संघटक विभाजनों की विवेचना होनी चाहिए, यही रीति वैज्ञानिक एव स्वाभाविक प्रतीत होती है। इसी के अनुसार वर्तमान संदर्भ मे संधियों के लक्षण बताये गये हैं और 'कामायनी' में उनका निरूपण किया गया है।

---

१. "यथासंख्यमवस्थाभिराभियर्गोक्तु पञ्चभिः।
पञ्चधैवेतिवृत्तस्य भागाः स्युः पञ्चसंधयः॥"
(वही, ६।७४)

२. "The Laws and Practice of Sanskrit Drama', Vol. I, Pages 89–96.

'मुख संधि' वह संधि है जो बीज का उद्भव दिखाती है तथा अनेक अर्थों एवं रसों (भावों) को भी गुंफित कर देती है और मुख्य पात्रों को प्रधान प्रयोजन की सिद्धि की दिशा में कुछ-न-कुछ कार्य करने में प्रवृत्त कर देती है।[1] **'प्रतिमुख संधि'** में बीज विकासोन्मुख होता है तथा उद्भव के पश्चात् अंकुरण की स्थिति में चला आता है। लेकिन, वह केवल अंशतः दिखाई पड़ता है क्योंकि उसका अस्तित्त्व क्षीण ही रहता है।[2] **'गर्भ संधि'** वह संधि होती है जहाँ अंकुरित बीज और भी विकसित होता है, किन्तु उसमें बार-बार बाधाएँ पड़ती हैं और उसे जीवित रखने के लिए अन्यान्य प्रयत्न करने पड़ते हैं तथा नई खोज करनी पड़ती है।[3] **'विमर्श संधि'** में बीज, जो अतीत में कुछ विकास प्राप्त कर लिया होता है, शाप या अपहरण (नायिका वा प्रेमिका का अपहरण) जैसी किसी विपत्ति के कारण ह्रासग्रास्त होने तथा परिणाम स्वरूप विनष्ट हो जाने की तीव्रतर संभावनाओं से आक्रान्त हो जाता है। तथापि, अपरिहार्यतः यह संधि फलागम की संभावना के साथ ही समाप्त होती है।[4] **'निर्वहण संधि'** इतिवृत्त के प्रवाह की अंतिम अवस्था होती है जब बीज पूर्णतः विकसित होकर फल-सिद्धि के रूप में परिणति लाभ करता है। यह संधि वैसी कड़ी है जो यह प्रदर्शित करती है कि बीज का, उसके समस्त उत्थान-पतन के बावजूद, सम्यक् परिपोष हुआ है और इसकी जड़ें इस प्रकार सु-केन्द्रित रही है कि मुख्य पात्र के द्वारा चिर-अभिलषित प्रयोजन की स्वभावतः सिद्धि हो सके।[5]

अब, उपर्युक्त लक्षणों के आधार पर 'कामायनी' में संधियों की खोज की जा सकती है। प्रथम चार सर्ग, 'चिन्ता' से 'काम' तक, 'मुख संधि' कहे जाएँगे क्योंकि इनमें 'कामायनी' के 'कार्य' के बीज का उद्भव हो जाता है और दोनों प्रमुख पात्र, मनु एवं इड़ा, उस प्रयोजन की सिद्धि की दिशा में कुछ-न-कुछ काम करने लग गये हैं : श्रद्धा ने तो मंगलमय काम तथा समन्वयमूलक आनन्द का निरूपण ही किया है और मनु ने कुछ अपने विशिष्ट मानसिक संघटन

---

१. "The Laws and Practice of Sanskrit Drama', Vol. I, Pages 94.

२. वही, पृ० ९५।

३. वही, पृ० ९५।
('सन्धि' शब्द का अर्थ ही है सन्धान करना। यहाँ बीज गर्भ में जा पड़ता है, अर्थात् स्थितियों के आवरण में छिप-सा जाता है जिस कारण उसकी खोज करनी पड़ती है।)

४. वही पृ० ९५।

५. वही, पृ० ९५–९६।

(प्रवृत्ति+विरक्ति) से तथा कुछ स्वप्न में सुनी गई काम-वाणी से श्रद्धा के साहचर्य के लिए परोक्ष रूप से ही सही, प्रयत्न किया है अथवा उधर अभिमुख हुए हैं। अगले तीन सर्ग—'वासना', 'लज्जा' तथा 'कर्म'—'प्रतिमुख संधि' के अंतर्गत आते हैं क्योंकि इनमें मनु तथा श्रद्धा परस्पर समीप से समीपतर आये हैं और इस प्रकार, दोनों के साथ-साथ मुख्य कार्य (अखंडानंद) की सिद्धि की ओर बढ़ने का पथ प्रशस्त हुआ है। इसे बीज का विकासोन्मुख अंकुरण माना जा सकता है जो अभी क्षीण अस्तित्व ही रखता समझा जाएगा। 'ईर्ष्या' सर्ग अकेले 'गर्भ संधि' का प्रतिनिधित्व करता है। यह सर्ग वह संदर्भ है जिसमें श्रद्धा की सम्पूर्ण ममता एवं सचाई के बावजूद, मनु उसके गर्भाधान करने से प्रसूत शैथिल्य का अन्यथा अर्थ लगाते है और यह समझ कर कि भावी शिशु के सुखार्थ उपकरण जुटाने की प्रक्रिया में वह अपना प्रेम बाँट रही है, उसे छोड़ कर चले जाते है। यहाँ अंकुरित बीज निश्चय-ही विकसित हो चला है क्योंकि मनु श्रद्धा के अत्यंत समीप पति-भाव से चले आये है, लेकिन उनकी निर्बाध प्रभुत्व-पिपासा उस साहचर्य को, जो मंगल में परिणत होने की सम्भावनाओं से संयुक्त था, खण्डित कर देती है जिससे बीज लुप्तन्सा हुआ दिखाई पड़ने लगा है।

'विमर्श संधि' की अवतारणा 'इड़ा', 'स्वप्न', 'संघर्ष' तथा 'निर्वेद' सर्ग के उस स्थल तक हुई मानी जाएगी जहाँ श्रद्धा अपने पुत्र को साथ लेकर घायल मनु के समीप पहुँचती है। इस अन्तराल मे, विकसित बीज अप्रत्याशित विपत्ति (इड़ा का साहचर्य तथा मनु का मुमूर्षु होना) के संघात से ह्रासोन्मुख क्या, विनष्ट-जैसा दिखाई पड़ने लगा है क्योंकि श्रद्धा के पुनर्मिलन की संभावनाएँ सर्वथा समाप्त हो गई है और श्रद्धा के संयोग के अभाव में आनन्द की सिद्धि असंभव ही है। पुनः स्वप्न में मनु की दुर्दशा का आभास मिलने पर श्रद्धा जब उनकी खोज में निकल पड़ी है, तब फल-सिद्धि की सम्भावना भी गाढ़ी बन गई है। अतएव, 'निर्वेद' सर्ग का श्रद्धा के पहुँचने तक का स्थल 'विमर्श संधि' की व्याप्ति में समाहित हो जाता है। 'निर्वहण संधि' 'निर्वेद' सर्ग के शेषांश तथा अंतिम तीन सर्गों ('दर्शन', 'रहस्य' एवं 'आनन्द') के विस्तार में प्रतिफलित हुई है। चरम मंगल की खोज सचेष्ट भाव से 'दर्शन' तथा 'रहस्य' सर्गों में उपनिबद्ध हुई है और 'आनन्द' सर्ग में वह पूर्णतया फलित एवं सिद्ध बन गई है। यद्यपि, जैसा हमने अन्यत्र कहा है, सारस्वतवासियों की कैलाश-यात्रा का प्रसंग बाह्यारोपित प्रतीत होता है, तथापि 'बीज' की जड़ें भलीभाँति केन्द्रित रही हैं क्योंकि प्रत्येक संदर्भ में कवि की सावधान चेष्टा प्रवृत्ति एवं विरक्ति, जीवनभोग एवं वैराग्य के द्वन्द्व में विरक्ति एबं वैराग्य के तत्त्व ('बीज') का

परिपोष करने की रही है—भले-ही, उससे काव्य उद्देश्य-बोझिल बन गया हो । अतएव, पंच सधियों का सुन्दर संनिवेश 'कामायनी' मे सम्पन्न माना जाएगा ।

पताकास्थानक

'पताका' से भिन्न 'पताकास्थानक' होता है । अनागत किन्तु आने वाली वस्तु को तुल्यसंविधान के द्वारा अथवा नू·मिनेगणों के द्वारा जहाँ अन्योक्ति के सहारे सूचित किया जाता है, वहाँ 'पताकास्थानक' होता है ।[1] अर्थात्, पताका-स्थानक वह कलात्मक योजना है जिसमें किसी अप्रस्तुत उक्ति वा कथन के द्वारा भावी प्रस्तुत वस्तु की सूचना वा सकेत दिया जाता है । यह सूचना दो प्रकार से दी जाती है—पहला, समान घटना या इतिवृत्त के द्वारा, दूसरा, समान विशेषणो के द्वारा । पहले मे 'अन्योक्ति' अलकार तथा दूसरे में 'समासोक्ति' अलंकार घटित होता है । H81|P91T P.GH S001

प्रश्न है, क्या 'कामायनी' में पताकास्थानक की योजना मिलती है ? इस संबंध मे ध्यातव्य यह है कि पताकास्थानक का विशिष्ट महत्त्व नाट्य में होता है क्योकि वहाँ विस्तृत, स्पष्ट कथन का अवकाश सीमित रहता है। प्रबंधकाव्य में विवरण की प्रधानता होती है, वहाँ कथानक 'कथा-रूप' मे विन्यस्त होता है और अन्योक्ति अथवा समासोक्ति के द्वारा भावी अर्थ या घटना की पूर्व-सूचना आवश्यक नही होती । 'कामायनी' के वस्तु-विन्यास मे अर्थप्रकृतियाँ, कार्यावस्थाएँ इत्यादि तो इसलिए मिल-जाती है कि इनका सीधा, प्रत्यक्ष संबंध कथानक के निर्माण से होता है । पताकास्थानक, लेकिन, कथानक-रचना के स्पष्ट, स्थूल पक्ष से सम्बधित न होकर, उसके भीतरी कलात्मक चातुर्य से सम्बन्ध रखता है जिससे नाट्य-वस्तु की नाटकीयता बढ़ जाती है तथा वह सहृदयों के समीप विशेष रूप से आस्वाद्य बन जाता है । 'कामायनी' में, अत-एव, पताकास्थानक की योजना नही खोजी जा सकती । 'आशा' सर्ग के अंतिम अंश में "जब कामना सिधु तट आयी" से "मच जावेगी फिर अंधेर" तक की पंक्तियों में 'अन्योक्तिमूलक पताकास्थानक' की स्थापना की गई है ।[2] वह अनु-चित एवं असंगत है क्योंकि रजनी को संबोधित कर किया गया मनु का समग्र

---

१. "प्रस्तुतागन्तुभावस्य वस्तुनोऽन्योक्तिसूचकम् ।
पताकास्थानकं तुल्यसंविधानविशेषणम् ।।"
(दशरूपक, १।१८)

२ 'कामायनी में काव्य, संस्कृति और दर्शन' (१९६३), पृ० ९५–९६ ।

कथन नहीं लेकर, उसका एक अंश-मात्र लिया गया है और रजनी को इड़ा का प्रतीक मान कर जितनी दूर तक इड़ा के कार्यों अथवा आचरण का सादृश्य रजनी के आचरण में खोजा जा सकता है, उतनी ही दूर तक वह सादृश्य प्रदर्शित किया गया है। स्पष्ट-ही, लेखक ने केवल यह स्थापित करने के पूर्व-चिन्तित उद्देश्य से ही ऐसा किया है कि 'कामायनी' में पताकास्थानक की भी योजना हुई है। यह खोजा गया सादृश्य भी कष्ट-कल्पना की प्रसूति है। मुख्य बात यह है कि अन्योक्तिमूलक तुल्यसंविधान वाले पताकास्थानक में एक पूरे समान इतिवृत्त अथवा घटना को लेकर आगामी घटना वा वस्तु की सूचना दी जाती है। 'रत्नावली' नाटिका में महाराज उदयन ने संध्याकाल का वर्णन करते हुए कहा है—

"यातोऽस्मिपद्मनयने समयो ममैव, सुप्ता मयैव भवती प्रतिबोधनीया।
प्रत्यायनामयमितीव सेरारुहिण्याः सूर्योऽस्तमस्तकनिविष्टः करः करोति ।।"

—अस्ताचल के मस्तक पर अपनी किरणों को निविष्ट करने वाला सूर्य मानों यह कह कर कमलिनी को आश्वस्त कर रहा है, "हे पद्मलोचने ! मैने प्रस्थान कर दिया है, यह मेरे जाने का समय ही है। जब तुम सो जाओगी, तब मुझे ही आकर तुम्हें जगाना पड़ेगा।"

यहाँ सूर्य का प्रस्थान और पुनः कमलिनी से मिलन—यह एक घटना है जिसके द्वारा उदयन तथा सागरिका (प्रेमिका) के भावी समिलन की सूचना दी गई है। इस प्रकार, समान घटना के द्वारा भावी वस्तु को सूचित करने के कारण यहाँ अन्योक्तिमूलक पताकास्थानक हुआ है।[1] इस दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट है कि तुल्यसंविधान मे एक पूरा वृत्त वा अर्थ ग्रहणीय है और उस पूर्ण वृत्त वा अर्थ वा घटना के आधार पर भावी अर्थ वा वस्तु को सूचित किया गया दिखाना आवश्यक है। अतएव, 'आशा' सर्ग का यह रजनी-वृत्त पूरा-का-पूरा लिया जाना चाहिए था और यदि उस संपूर्ण वृत्त से इड़ा वाले वृत्त का सूचन हो जाता, तो वहाँ पताकास्थानक मानने में कोई आपत्ति नही होती। प्रस्तुत संदर्भ के निम्नोद्धृत जैसे छन्द इड़ा वाले वृत्त से, द्राविड़ प्राणायाम के सहारे भी, संबंधित नही जान पड़ते—

"पगली ! हाँ सम्हाल ले, कैसे
छूट पड़ा तेरा अंचल ?
देख, बिखरती है मणिराजी
अरी, उठा बेसुध चंचल।

\+ \+ \+

१. 'हिन्दी वशरूपक' (डॉ० त्रिगुणायत), पृ० १०।

ऐसे अतुल अनन्त विभव में
जाग पड़ा क्यों तीव्र विराग ?
या भूली-सी खोज रही कुछ
जीवन की छाती के दाग ?"

छायावादी कवि तारकखचित रजनी को जिस मतवाली रमणी के रूप में देखेगा, विशेषतः उस मनु की आँखों से जिसने अपने पीछे एक मधुमय अतीत छोड़ा है और उसकी स्मृतियों से संतप्त हो रहा है, उसी रूप में प्रसादजी ने प्रस्तुत रजनी-वृत्त का गुंफन किया है । सुतरां, इसे आगामी इड़ा-इत्तिवृत्त का सूचक बताना उचित नही है ।

वैसे-ही, 'श्रद्धा' सर्ग के "कौन हो तुम वसन्त के दूत" से लेकर "कर रही मानस-हलचल शांत" तक के संदर्भ में श्लेषयुक्त 'समासोक्तिमूलक पताकास्थानक' मानना[1] भी सही नही है । इन दो छन्दों मे मनु के चिन्तित मानस पर श्रद्धा के आकस्मिक दर्शन से पडे हुए प्रभाव का लाक्षणिक शब्दावली में भावपूर्ण चित्रमात्र अंकित किया गया है । अधिक-से-अधिक, यह कहा जा सकता है कि प्रसादजी ने छायावादी शैली में यहाँ श्रद्धा के चरित्र की ओर भी एक हलकी किरण प्रक्षिप्त कर दी है । अतः इन पंक्तियों में पताकास्थानक की स्थापना अनर्गल जैसी दिखाई पड़ती है । यदि इस प्रकार संदर्भ से विच्छिन्न कर मनोनुकूल छन्द लिये जायँ, तो शायद कई स्थलों पर पताकास्थानक की सृष्टि हो जाएगी । उदाहरणार्थ एक यह छन्द लीजिए--

"प्यासा हूँ मैं, अब भी प्यासा
संतुष्ट ओघ से मैं न हुआ ;
आया फिर भी वह चला गया
तृष्णा को तनिक न चैन हुआ ।" (काम)

यह काम की उक्ति है जो स्वप्न मे मनु को दिये गये लम्बे संदेश के बीच में आई है । इससे आप चाहे तो यह अर्थ निकाल लें : 'मनु विषय-वासना का जीवन बिता चुके हैं । उसका दुष्परिणाम भी भोग चुके हैं । फिर भी, उन्हें तुष्टि नही मिली है । इससे मनु के उस आगामी जीवन-संदर्भ का सूचन होता है जिसका उपभोग वह 'इड़ा' तथा 'संघर्ष' सर्गों में करेंगे क्योंकि उनकी कामुक प्रवृत्तियाँ अभी भी, जलप्लावन के अनुभव के पश्चात् भी, तृप्त नहीं हुई थीं जिससे उन्होंने इड़ा के साथ बलात्कार करने की चेष्टा की ।' इस प्रकार, इन पंक्तियों में भी किसी-न-किसी प्रकार का पताकास्थानक स्थापित किया जा

---

१. 'कामा० में काव्य, संस्कृति और दर्शन', पृ० ९६-९७ ।

सकता है।[1] लेकिन, तब यह चेष्टा हास्यास्पद होगी। वास्तव में, जैसा आरंभ में कहा है, पताकास्थानक नाट्यकार के सजग प्रयास की सृष्टि होता है और उसे 'कामायनी' के वस्तु-विधान में खोजने की चेष्टा समीचीन नहीं कही जाएगी।

प्रस्तुत प्रकरण समाप्त करने के पहले यह कह देना आवश्यक प्रतीत होता है कि उपर्युक्त शास्त्रीय संविधान मूलतः नाटकों के सम्बन्ध में ही आचार्यों द्वारा प्रतिपन्न किया गया है, किन्तु प्रबन्ध काव्य में भी स्वभावतः उसके बहुत बड़े अंश का प्रतिफलन हो जाता है। इसी दृष्टि से 'कामायनी' के वस्तु-विन्यास के शास्त्रीय स्वरूप का यहाँ विवेचन किया गया है। यद्यपि प्रसादजी ने सावधान ढंग से शास्त्रीय पक्ष को सँवारने का प्रयास नहीं किया, तथापि उनकी शिल्प-दृष्टि शास्त्रीय विधान से एकदम उदासीन थी, शायद ऐसा समझना भी उचित नही होगा।

---

१. 'साहित्यदर्पण' में चार प्रकार के पताकास्थानकों का उल्लेख हुआ है। (दे० सा० द०, ६।४४–४९)

ख. प्रबन्ध–भूमि

४. अतिलौकिक अन्तर्योजना

५. महाकाव्यत्व का परीक्षण

६. अंगी रस : अद्‌भुत

७. चरित्र–चित्रण (मनु, श्रद्धा, इड़ा)

४ | अतिलौकिक अंतर्योजना

'कामायनी' की वस्तु-योजना मे अतिमानवीय तथा अतिलौकिक तत्त्वों का इतना प्राचुर्य वर्तमान है कि उसका मानवीय मूल्य पर्याच्छन्न-सा बन गया है। यह कथन कुछ चौकाने वाला तथा नास्तिकों-जैसा ध्वनित होता है। किन्तु, विचार किया जाय तो इसकी सत्यता स्फटिकवत् प्रमाणित हो जाएगी। प्रसादजी ने जो प्राचीन आर्ष-ससार की छानबीन कर अपने प्रबन्ध का स्वरूप निर्मित किया, उसमे अलौकिक-अतिलौकिक तत्त्वों के संनिवेश का यथेष्ट अवकाश था। 'कामायनी' की प्रबन्ध-सृष्टि का एक छोर, आधार-भूमि है सर्वनाशी जल-विप्लव और दूसरा छोर, प्राप्तव्य शिखर है कैलास-स्थित आनन्द-लोक। इन्ही दोनों विस्मयकारी विन्दुओं के बीच मनु, श्रद्धा तथा इड़ा का मिलन-व्यापार प्रसरणशील रहा है। (पुनः ये तीनों वैसे ससार तथा वातावरण से काव्य-लोक में उतारे गये है जिसमें इतिहास कल्पना के रागारूप रगों से अनुरंजित हो गया है और कल्पना इतिहास के धूमिल, अज्ञात पृष्ठों का स्वरूप ग्रहण कर चुकी है।) अतएव, 'कामायनी' की वस्तु-योजना में ऐसे तत्त्वों का संगुफन बेहिचक हो गया है जो विशुद्ध लौकिक कसौटी पर आसानी से नही कसे जा सकते। कवि का अन्तिम आदर्श, अभेद-मूलक सामरस्य-धर्मा अखण्डानन्द की प्राप्ति, स्वतः इतना उदात्त एवं लोक-निरपेक्ष है कि वह अतिलौकिक क्या, अलौकिक, पारलौकिक जैसा दिखाई पड़ता है। अतएव, 'कामायनी' का वातावरण अतिलौकिकता के अणु-परमाणुओं से, विचित्र प्रकार, ओत-प्रोत है।

क.

अतिलौकिकता के वातावरण का प्रथम महत्त्वमय घटक तत्त्व है रहस्य-वादी रंगों का नियोजन। काव्य का आरम्भ ही एक विस्मयकारक, अतीव सम्भ्रमपूर्ण ध्वनि से हुआ है। हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर, शिला की शीतल छाँह में समासीन मनु आर्द्र नयनों से प्रलय-प्रवाह देख रहे हैं। नीचे जल-संदोह मँड़रा रहा है, ऊपर हिम-राशियों की पर्तें बिछी हुई हैं। एक तरल है,

एक सघन है । किन्तु, दोनों एक ही मूल तत्त्व के प्रकाश हैं, चाहे उसे जड़ कहा जाय, चाहे चेतन : "एक तत्त्व की ही प्रधानता, कहो उसे जड़ या चेतन ।" असाधारण परिस्थितियों में साश्रु-नयन मनु को एक केन्द्रीय तत्त्व का, जिसका अत्यन्त आदिम स्वरूप व्यक्त है, दर्शक बनाकर, प्रसादजी ने 'कामायनी' की तलस्पर्शी ध्वनि को लौकिक की अपेक्षा अतिलौकिक, भौतिक की अपेक्षा आध्यात्मिक अधिक बना दिया है ।

प्रलय का वर्णन अतिलौकिकता की सामान्य सीमा में परिगणित न हो क्योंकि वह कवि का तत्काल उपपन्न अर्थ है । लेकिन, उसमें गुफित बिम्ब साधारण भौतिक परिवेष्टन को अतिक्रान्त कर जाते हैं और उनमें रहस्यवादी गुंजन सुनाई पड़ने लगता है । पंच-भूतों के भैरव मिश्रण तथा शंपाओं के शकल-निपात का कथन तो उपपन्न अर्थ कहा जाएगा; लेकिन जब अमर शक्तियाँ उल्काओं की मशाले लेकर भूले प्रातस् की खोज करती है, तब रहस्यवादी अतिलौकिकता से पूरा बिम्ब ओत-प्रोत हो जाता है—

"उल्का लेकर अमर शक्तियाँ
खोज रही ज्यों खोया प्रात ।"

अतएव, आरम्भ में ही पाठक सावधान हो जाता कि काव्य की वस्तु-योजना विशुद्ध लौकिक, इसीलिये, विशुद्ध मानवीय धरातल को स्पर्श अथवा अंगीकार करती नही समझी जानी चाहिये ।

जल-प्रवाह के घट जाने के बाद जीवन का उन्मेष रहस्यवादी आवरण मे घटित हुआ है । ध्वस्त-चेता मनु के भीतर अचानक प्रश्न उत्पन्न होता है, "कौन ?" तब, मनु उस प्रश्न की माया में विचित्र ढंग से उलझ जाते है । "हे अनन्त रमणीय ! तुम कौन हो ? कैसे हो ? क्या हो ? हे विराट् ! हे विश्वदेव ! तुम कुछ हो, ऐसा भान होता है ।" मनु की यह जिज्ञासा तथा उसके समाधान की यह चेष्टा और भी अतिलौकिक बन जाती है जब वह परोक्ष सत्ता उनके कानों में यह गुंजार करने लगती, "मैं हूँ", और तब, मनु भी यह कहते छटपटा उठते हैं, "मैं रहूँ शाश्वत नभ के गानों में ।"

मनु के भीतर जीवन की यह प्रेरणा रहस्य से उत्पन्न होती है और गति-शील बनती है, प्रकृति की व्यापक जीवन-चेष्टा के अंग-रूप में । "नित्य नये प्रश्न उपस्थित होते हैं । उनके अर्ध-प्रस्फुटित उत्तर मिलते हैं । समस्त प्रकृति कर्म-लीन बनी हुई है । जीवन आज अपना अस्तित्त्व बनाये रखने में व्यस्त है । मनु भी तप-निरत हो कर्म करने लगे हैं और उस एकान्त नियति-शासन में विवश चलते जा रहे हैं ।" प्रकृति और नियति का यह गठबन्धन तथा मनु

का विवश भाव से कर्म-लीन होना वातावरण को अतिलौकिक रहस्य से जड़ित कर देता है।

रहस्यवादी यह अलौकिकता 'काम' सर्ग में अपना मोहक, विस्मयकारी वितान प्रसारित किये है। मनु जगती के नील आवरण से दुर्बोध नही बनने की प्रार्थना करते है; अणु-परमाणुओं के नृत्य-शिथिल विश्वासों की मोहमयी छाया से आकर्षित होते है, आकाश में आलोक मूर्च्छित-से सोते दिखाई पड़ते हैं; 'सौन्दर्य-मयी चंचल कृतियाँ रहस्य बन कर नाचती हुई उनकी आँखों को रोक लेती है; 'सुन्दरता के उस परदे मे' छिपे किसी अमूल्य 'धन' की प्रतीति से वे चंचल बन जाते है और वह कोमल सुषमा दुर्भेद्य बनी रह जाती है।

मनु के हृदय में 'अनादि वासना' के जागरण से लेकर उनका प्रायः समस्त कार्य-कलाप रहस्यधर्मी अलौकिकता की गंध से अखिल रहा है। यह काव्य के अतिलौकिक वातावरण को एक अन्तर्हित आधार-सा प्रदान किये हुये है।

ख.

अतिलौकिकता का संघटक दूसरा तत्त्व है स्वप्नों की योजना। मनु ने एक स्पष्ट स्वप्न मे काम का सन्देश सुना है। और एक अर्ध-स्वप्न (vision) में काम की अभिशप्त वाणी सुनी है। दूसरा स्वप्न कामायनी ने देखा है। मनोविश्लेषणीय आधार पर पण्डितों ने बताया है कि इन स्वप्नों मे अवदमित काम-वासनाओं की अभिव्यक्ति हुई है। किन्तु तथ्य यह है कि ये स्वप्न विचित्र ढंग से, प्रबन्ध की गठना से उलझे हुये है और नायक-नायिका दोनों की जीवन-धारा को मोड़ने मे सहयोगी सिद्ध हुये है। 'काम' सर्ग में मनु ने कल्पना-तरंगों पर चढ़ कर, जीवन-रस के आकण्ठ पान के व्यामोह का अनुभव किया है—

"पीता हूँ, हाँ, मैं पीता हूँ
यह स्पर्श-रूप-रस-गन्ध भरा।"

और, स्वप्न में काम ने पहले ही यह चेतावनी दी है—

"प्यासा हूँ मैं, अब भी प्यासा
सन्तुष्ट ओघ से मैं न हुआ।"

देव-सृष्टि के विलास-परिणमित विनाश की चिन्ता मनु को सन्तापित कर रही थी। काम ने स्वप्न में मनु को पूरा इतिहास ही बता दिया कि कैसे वह देवों का सहचर रहा, कैसे उसकी पत्नी रति सुर-बालाओं की रागमयी सखी रही और यदि मनु के प्राणों में,

"नव हो जगी अनादि वासना
मधुर प्राकृतिक भूख-समान।"

तो—कैसे काम तथा रति भी भूख-प्यास से जाग उठे थे—

"हम भूख-प्यास-से जाग उठे,
आकांक्षा-तृप्ति-समन्वय में।"

और कैसे वह सुख-मदिर सृष्टि विलुप्त हो गई—

"वे अमर रहे न विनोद रहा,
चेतना रही, अनंग रहा।"

आप यह कदाचित समझ लेवें कि काम के इस कथन में मनु के चिन्तन-तत्त्व ही प्रतिध्वनित हुये है, इस आशंका को जैसे निरस्त करते हुये, काम ने स्वप्न में मनु को संयम तथा कर्म का उपदेश दिया है : यह विश्व मनोहर कृतियों का नीड़ है, कर्म की रंगस्थली है। हम दोनो की वह सुन्दर भोली-भाली सन्तान श्रद्धा सृष्टि की मूल शक्ति प्रेम-कला का सन्देश सुनाने आई है। उसे पाने की इच्छा हो तो योग्य बनो।' मनु आँखे खोल कर पूछने भी लगे हैं : "हे देव ! उस ज्योतिमयी को प्राप्त करने का कौन-सा पथ है ?" मनु ने, किन्तु, काम का सन्देश पालित नही किया।

यही काम एक बार पुनः अर्ध-स्वप्न-जैसी अवस्था मे 'इड़ा' सर्ग के आरम्भ में मनु को चेतावनी देता दिखाई पड़ता है। मनु कामायनी का परित्याग कर, सारस्वत-प्रदेश पहुँच गये थे और उस नगर की विध्वस-लीला पर विषाद-मग्न हो, देव-दानवों के संघर्ष तथा जीवनादर्शों पर सोच-विचार कर रहे थे। इसी अवस्था में काम की भर्त्सना-गर्भित वाणी पुनः सुनाई पड़ती है। "मनु! तुम श्रद्धा को भूल गये। तुमने पुरुषत्त्व-मोह में नारी की सत्ता का अपमान किया। उसने तो प्रणय से पूर्ण अपना सरल हृदय तुम्हे दान कर दिया। किन्तु, तुमने सौंदर्य-जलधि से केवल अपना गरल-पात्र ही भरा अब तुम स्वतन्त्र बनना चाहते हो, अपना अलग तन्त्र स्थापित करना चाहते हो। तुम्हारा प्रजा-तंत्र शापित बन जाय।" काम की शापमयी यह चेतावनी काव्य की कथ्यवस्तु से कितनी घनिष्टता-पूर्वक उलझी हुई है, सामान्य पाठक भी जानता है। काम की वाणी में मनु के अब तक किये कृत्य की भर्त्सना और भविष्य में सम्पादित होने वाले कार्य-कलाप की अशुभ परिणतियों का स्पष्ट संकेत-निर्देश सन्निविष्ट है।

'स्वप्न' सर्ग में कामायनी का जो स्वप्न चित्रित हुआ है, उसी का विजृम्भण अगले 'संघर्ष' सर्ग में हुआ है। मनु ने सारस्वत-सभ्यता का कैसे नव-निर्माण किया, कैसे सुख-वैभव के साधन एकत्र हुये, कैसे प्रकृति के साधनों का

स्वायत्तीकरण हुआ, कैसे मनु ने अपने प्रजापतित्व का गलत अर्थ लगाकर, सारस्वत–रानी इड़ा का बलात् आलिगन किया तथा कैसे प्रजा में विद्रोह हुआ और मनु कैसे भयभीत हो शयन-कक्ष में चले गये—इन सब तथ्यों का कथन श्रद्धा के स्वप्न के माध्यम से कवि ने किया है, केवल 'संघर्ष' सर्ग में नई जानकारी यही हुई है कि मनु घायल हो मुमूर्ष पड़े है। कामायनी के इस स्वप्न में उसकी अवदमित वासना की प्रतिच्छाया देखना काव्य की मूल-ध्वनि का प्रत्याख्यान है।

इन सभी स्वप्नो की योजना इस सामान्य भारतीय विश्वास को आधार मानकर हुई है कि स्वप्न दिव्य सकेत है जिनमे अतीत की पुनरावृत्ति के साथ-साथ वर्तमान तथा भविष्य के तथ्यो का निर्देश भी रहता है। 'कामायनी' के वस्तु-विन्यास के साथ इन स्वप्नो का आवयविक (organic) सम्बन्ध है।

ग.

अतिलौकिकता का तीसरा प्रसग 'सघर्ष' सर्ग मे वहाँ नियोजित हुआ है जहाँ मनु विद्रोही सारस्वत–प्रजा के दमन-हेतु अपना भीषण अस्त्र सम्भालते है। कवि ने कहा है कि मनु के अन्यायपूर्ण आचरण के प्रतिशोध-रूप में देव-शक्तियाँ भी क्रुद्ध हो गईं और अपनी पूछ मे प्रलयकर ज्वाला लिये, रुद्र का भयंकर नाराच छूट पड़ा तथा अतरिक्ष मे महाशक्ति रोष से हुकार उठी जिसका सम्मिलित परिणाम रहा, मनु का घायल होकर भूमि पर मरणासन्न अवस्था मे पतित हो जाना—

"धूमकेतु-सा चला रुद्र-नाराच भयंकर,
लिये पूँछ में ज्वाला अपनी अति प्रलयंकर।
अन्तरिक्ष में महाशक्ति हुंकार कर उठी,
सब शस्त्रों की धारें भीषण वेग भर उठीं।
और गिरीं मनु पर, मुमूर्षु थे गिरे वहीं पर;
रक्त-नदी की बाढ़ फैलती थी उस भू पर।"

मनु ने संयम भंग किया है: अतएव, उन्हें दण्ड देने के लिये विक्षुब्ध प्रजा-जन के साथ, देव-शक्तियो ने भी सहयोग किया है। कवि की पौराणिक अस्था आधुनिक बुद्धिवादी दृष्टिकोण के मेल मे नही पड़ती, लेकिन उसे स्वयं इसमें कोई असंगतिपूर्ण तत्त्व नही दिखाई पड़ता। जब संसार की मर्यादा टूटने पर होती है, तब अलौकिक किंवा पार-लौकिक शक्तियाँ जो देव-रूप में सृष्टि-चक्र के आवर्तन पर शासन करती है, स्वयं कुपित हो जाती और अपराधी को दण्ड देती है–इस सामान्य विश्वास का प्रभावकारी उपयोग कवि ने किया है।

घ.

'कामायनी' के अतिलौकिक वातावरण की सृष्टि में एक अन्य महत्त्वमय सूत्र अनुस्यूत हुआ है, वह है उसकी वस्तु-योजना में रजनी, प्रायः चन्द्रिका-धौत विभावरी का योगदान। बात साधारण-सी है, किन्तु इसे संयोग-सूत्र नहीं समझना चाहिए।

मनु की अलस चेतना की आँखें अंतरिक्ष में हिल्लोलित चन्द्रिका-उदधि के रमणीय दृश्य में खुलती है और उनके भीतर मधुर भूख के समान अनादि वासना जग उठती है।[१] अंचलों के अचानक छूट पड़ने से मोहक मणिराजी बिखेरने वाली मौग्ध्य-मंडित रजनी को देख, मनु की छाती के दाग हरे हो उठते हैं और वे उससे अनुरोध करते हैं कि यदि उनकी खोयी सम्पत्ति उसे कहीं मिल जाय तो वह उसे भी व्यर्थ लुटा नहीं देगी।[२] श्रद्धा रजनी के पिछले पहरों में विचार-मग्न मनु के समीप आती है और उन्हें मंगल-मंडित काम का उपदेश देती है।[३] 'काम' सर्ग में, रजनी के पिछले पहरों में काम ने मनु को

---

१. कामायनी, एकादश संस्करण, पृ० ४५

२. वही : पृ० ५०--५१

३. मैं समझता हूँ श्रद्धा रात में ही मनु के समीप आई है। वह ललित-कलाओं के अभ्यास की लालसा से अनुप्राणित, 'हृदय सत्ता का सत्य' खोजने निकली थी। चाँदनी रात इस खोज के लिए सदा उपयुक्त होती है। 'काम' सर्ग के प्रथम छन्द में मनु मधुमय वसंत के "रजनी के पिछले पहरों में" आने का कथन करते हैं।' रजनी के पिछले पहरों' की व्याख्या में पंडितों ने 'किशोरावस्था की पूर्णता', 'पतझर की अंतिम रजनी के पिछले पहरों', 'रात की अंतिम वेला में काम वृत्ति के जगने' इत्यादि का गूढ़ अर्थ लगाया है किन्तु, ये सभी दूरारूढ़ कल्पनाएँ हैं। संबद्ध पंक्तियाँ यों हैं--

"मधुमय वसंत जीवन-वन के
पिछले पहरों में।"

यहाँ कवि का उपपन्न अर्थ वाच्यार्थ ही है, और वह है श्रद्धा का रात के पिछले पहरों में, हृदय-सत्ता का सत्य खोजते हुए, मनु के समीप चुपके से पहुँचना। साहचर्य के नियम से, मनु श्रद्धा के विषय में सोचते हुए, अतीत की सुखमय स्मृतियों में उलझ गये हैं।

श्रद्धा दिन में हृदय-सत्ता की खोज में निकल ही नहीं सकती थी। इड़ा वह नारी है जो दिन के सजग-प्रखर प्रकाश की अभिलाषिणी है। इसीलिए,

अपना संयम-मूलक संदेश दिया है और ज्योत्सना-धवल रजनी की माया में ही मनु का अपना रहस्यात्मक चिन्तन, जिसकी पृष्ठभूमि के रूप में श्रद्धा के दर्शन तथा प्राथमिक परिचय से अनुप्रेरित, अतीत के यौवन-सुलभ सुख-विलासों का उन्होंने मानसिक परायण किया है, चला है। 'वासना' सर्ग में कथा के सूत्र संध्या तथा 'राग-रंजित चन्द्रिका' की छाया में ही आगे बढ़े है। "दरिद्र-मिलन" वाली सांध्यवेला में श्रद्धा अपने पशु पर प्यार प्रदर्शित करती है जिसके प्रतिक्रिया-स्वरूप मनु ईर्ष्या से दीप्त हो उठे है और थोड़ी देर बाद कामायनी के कोमल कर-स्पर्श से शान्त होकर, वे लुभावनी चाँदनी रात मे श्रद्धा की निवारण-चेष्टा के बावजूद, उत्तेजित होकर, 'विश्व-रानी' 'सुन्दरी रानी' को अपनी चेतना का दान समर्पण करते है और कामायनी 'मधुर व्रीड़ामिश्र चिन्ता' के साथ पुलकित मनोदशा में उनका वह समर्पण, ऐतिहासिक महिमा से मंडित शब्दावली मे, स्वीकार करती है।[1] 'कर्म' सर्ग मे मनु के पशु-यज्ञ की विषाद-मयी प्रतिक्रिया के रूप मे कामायनी ने ज्योत्सना-धौत रजनी के परिप्रेक्ष्य में अपनी प्रणय-वेदना का कथन किया है और अन्ततः सोम-रस का उत्तेजक पान किया है। इसी स्थल से उसके जीवन की धारा मे महत्त्व का मोड़ प्रवर्तित हुआ है। 'ईर्ष्या' सर्ग मे कथा की जो प्रगति हुई है—रागमयी सध्या के अवतरण पर मनु का मृगया से लौटना, कामायनी का उनके असाधारण मृगया-व्यसन का मधुर-मार्मिक प्रतिवाद, मनु द्वारा चिर-मुक्त पुरुष' की स्वच्छन्द प्रकृति का निरूपण तथा श्रद्धा से उसके 'दुलार' की माँग करना तथा भावी शिशु के सुख के लिए श्रद्धा द्वारा सम्पादित साज सज्जा पर ईर्ष्याभिभूत हो, उसे छोड़कर चले जाना—वह सभी रजनी की माया मे ही घटित होती है।

'इड़ा' सर्ग से अन्तर्मुखी मनु को जीवन-धारा में एक नया मोड़ प्रवर्तित हुआ है। उन्होने सारस्वत-सभ्यता की नव-रचना कर, प्रजापतित्व की प्रतिष्ठा अर्जित की है। यहाँ उल्लेखनीय यह है कि प्राची मे अरुण-राग के प्रस्फुटित

वह प्रत्यूष-बेला में मनु के निकट आई यद्यपि प्रसादजी ने इड़ा के भी संपूर्ण कर्म प्रसार की परिणति, अंतिम सर्ग में चाँदनी रात की लुभावनी माया में ही दिखाई है।

१. "किन्तु बोली, 'क्या समर्पण आज का हे देव !
बनेगा चिर बंध नारी हृदय हेतु सदैव ?
आह मैं दुर्बल, कहो क्या ले सकूँगी दान !
वह जिसे उपभोग करने में विकल हो प्रान ?"

होने की वेला में इड़ा मनु के सामने प्रकट होती है और उन्हें बुद्धि-संगत रीति से कर्मलीन होने का उद्‌बोधन देती है ।[१] कर्म-मार्ग में प्रवृत्त होने के संकल्प के लिए अरुणोदय शायद अधिक उचित मुहूर्त है क्योंकि कर्म का विस्तार दिन के विस्तार का ही आकांक्षी होगा । किन्तु इस संकल्प की पृष्ठभूमि में यहाँ भी काम की रहस्यमयी शाप-युक्त वाणी मनु को रात में ही सुनाई पड़ी है । बाद के सर्गों में रात, और ज्योत्सनामयी रात, का ही सर्वोपरि महत्त्व दृष्टिगोचर होती है । श्रद्धा का पूरा स्वप्न रात की माया से प्रेरित है । 'संघर्ष' के बाद 'निर्वेद' सर्ग में कामायनी, उसे भयावह स्वप्न की प्रेरणा में, अपने 'रूठे प्रवासी' की खोज करती हुई 'निस्तब्ध निशा' मे इड़ा के निकट पहुँचती है और घायल मनु के दर्शन करती है । मनु रात में ही शान्ति के संधान में कामायनी तथा कुमार को छोड़, चले जाते हैं ।[२] 'दर्शन' सर्ग मे भी ज्योत्सनामयी विभावरी का प्रकाश आद्यन्त व्याप्त है । सरस्वती के निर्जन तटपर स्थित एक लतावृत्त गुहा में घायल मनु को चाँदनी रात मे श्रद्धा पुनः प्राप्त करती है और नटराज का वह आकर्षक विस्मयकारी माया-नृत्य भी मनु-द्वारा चन्द्रिका के मधुमय आलोक मे ही देखा जाता है । 'रहस्य' सर्ग मे मनु को "त्रिदिक् विश्व" के दर्शन भी संध्या-समय ही मिले है । "दिवा-रात्रि के संधि-काल में ये सब कोई नहीं व्यस्त थे ।" कि बहुना, 'आनद' सर्ग की वह आनदपूर्ण घटना भी सध्या तथा चाँदनी रात के आकर्षक आलोक मे ही घटित हुई है । सारस्वत-वासियों का जुलूस जब कैलास-स्थित मानसरोवर तीर्थ के समीप पहुंचता है, तब "दिन-कर गिरि के पीछे अब, हिमकर था चढा गगन मे ।" जब वे लोग मनु-श्रद्धा के पावन दर्शनों से पुलकित होते है, तब तो "ज्योत्स्ना का जलनिधि" अन्त-रिक्ष में लहरा उठा है,[१] और जिस "चेतनता" के विलास की ध्वनि से काव्य का संगीत समाप्त हुआ है, वह भी ज्योत्स्ना का ही पर्याय है—

"रश्मियाँ बनी अप्सरियाँ
अंतरिक्ष में नचती थीं।

---

१. "हँस पड़ी उषा प्राची नभ में, देखे नर अपना राज्य-काज ।"

२. "जगे सभी जब नव प्रभात में
देखें तो मनु वहाँ नहीं ।"

१. "इस ज्योत्सना के जल निधि में
बुद्‌बुद सा रूप बनाये,
नक्षत्र दिखाई देते
अपनी आभा चमकाये ।"

परिमल का कन-कन लेकर
निज रंगमंच रचती थीं ।

× × ×

चेतनता एक बिलसती
आनंद अखंड घना था"

अतएव, सम्पूर्ण काव्य की योजना में रात्रि, निस्तब्ध रात्रि अथवा चन्द्रिका-प्लावित रात्रि को अद्वितीय महत्त्व मिला है । जैसा हमने पहले कहा है, इसे संयोग का आदान नहीं समझना चाहिए । प्रसादजी ने जान-बूझ कर, अपने काव्य की 'स्पिरिट' का निर्माण करने के लिए संध्या, रजनी तथा ज्योत्सना का लगभग प्रत्येक संदर्भ मे कुशल विनियोग किया है । 'कामायनी' की स्पिरिट मूलत: चन्द्रिका-चर्चित विभावरी की स्पिरिट है जिसमे मनोहर इन्द्रजाली लालसाएँ, प्राणों को बहला देने वाली वासनाएँ, हृदय को तोडने वाले सपने, स्निग्ध-सुकुमार एवं ललित-गलित कल्पनाएँ स्वच्छन्द भाव से आती तथा विलीन हो जाती है ।'

ङ.

काव्य की परिणति वा पर्यवसान उसकी अलौकिक अन्तर्योजना का सबसे महत्त्वपूर्ण है । शान्ति की खोज मे कामायनी के साथ चलते हुए मनु निर्निमेष अनत शून्य मे झाँकने लगते है और तभी उन्हे 'मगल-चेतना' 'आलोक-पुरुष' के पावन दर्शन मिले जो केवल 'प्रकाश का कल्लोल' था, 'सत्ता का स्पन्दन' था—

"सत्ता का स्पंदन चला डोल,
आवरण-पलट की ग्रंथि खोल!"

तम-जलनिधि का बन मधु-मंथन,
ज्योत्स्ना-सरिता का आलिंगन,
वह रजत गौर, उज्ज्वल जीवन,
आलोक-पुरुष! मंगल चेतन!

केवल प्रकाश का था कपोल,
मधु-किरनों की थी लहर लोल ।"

इस आलोक-पुरुष, नटराज के ताडव-नृत्य का भी भौतिक साक्षात्कार मनु को हुआ । उन्होंने देखा, कैसे नृत्य के प्रभाव में दिक्काल लुप्त हो रहे है, कैसे सूर्य-चन्द्रादि पिंडों की रचना हो रही है, कैसे पहाड़ धूलि-कण के समान उड़ रहे हैं, कैसे असंख्य ब्रह्मांड बिखर रहे है, कैसे गणनातीत चेतन परमाणु बिख-

रते, बनते, विलीन होते जा रहे हैं--

"अन्तर्निनाद ध्वनि से पूरित,
थी शून्य-भेदिनी सत्ता चित्,
नटराज स्वयं थे नृत्य-निरत,
था अंतरिक्ष प्रहसित मुखरित,
स्वर लय होकर दे रहे ताल,
थे लुप्त हो रहे दिशाकाल।

× × ×

आनन्दपूर्ण तांडव सुन्दर
झरते थे उज्ज्वल श्रम-सीकर,
बनते तारा, हिमकर, दिनकर,
उड़ रहे धूलि-कण से भूधर,

× + ×

बिखरे असंख्य ब्रह्मांड गोल,
युग त्याग ग्रहण कर रहे तोल,

+ + +

यह विश्व झूलता महादोल,
परिवर्तन का पट रहा खोल।"

मनु विस्मय-विमुग्ध हो उठते है और चिल्ला पड़ते हैं--

"यह क्या! श्रद्धे! बस तू ले चल,
उन चरणो तक दे निज सबल;" इत्यादि।

कवि का जो भी, जैसा भी विश्वास रहा हो, सबसे विस्मयकारक उसका आत्म-विश्वास है जिसके साथ उसने शंकर के नृत्य का इतना सूक्ष्म, स्थूल एवं चाक्षुष बिम्ब अंकित किया है; और यह विश्वास भी कि पाठक उसके चित्रांकनों का रसास्वादनपूर्ण आस्तिकबुद्धि से करेंगे। कवि की प्रस्तुत पौराणिक आस्था और उसका अमोघ आत्म-विश्वास जिसके साथ उसने इस आस्था को सम्प्रेषणीय बनाने का उद्योग किया है, दोनों काव्य को पारलौकिक व्यंजना से पूर्ण कर देते हैं—

'रहस्य' सर्ग में वस्तु-योजना समस्त भौतिक एव लौकिक परिवेष्टनों से मुक्त-सी हो गई है। "त्रिदिक विश्व" के तीन आलोक-विन्दुओं को देख कर मनु विस्मय-चकित हो जाते—और उन्हें भाषित होता है जैसे वे किसी इन्द्रजाली माया-लोक में पहुँच गये हों--

"मैं किस लोक बीच पहुँचा, इस
इन्द्रजाल से मुझे बचाओ।"

यहाँ स्मरणीय है कि मनु पिछले सर्ग में, थोड़ी ही देर पहले, शंकर का मनोमुग्धकारी नृत्य देख कर, श्रद्धा से प्रार्थना कर चुके हैं कि वह उन्हें उन पावन चरणों तक पहुँचाए। और, जब वे त्रिपुर के दर्शन करते हैं, तब उनकी यह पूर्व मनोदशा बदली दीख पड़ती है और वे उस 'इन्द्रजाल' से बचना चाहते हैं। दार्शनिक दृष्टि से, मनु के शाभव स्थिति तक पहुँचने की मध्यवर्ती सरणि के रूप में चाहे जो व्याख्या, इस असंगतिपूर्ण अनुरोध के लिए, प्रस्तुत की जाय, इतना निश्चित है कि प्रसादजी ने भी एक इन्द्रजाल की अवतारणा की, इस तथ्य निरूपण के लिए कि मनुष्य-संसार में इच्छा, क्रिया तथा ज्ञान तीनों व्यापार एक-दूसरे से पृथक्-पृथक् चल रहे है। यह इन्द्रजाल अपनी चरम-सीमा को प्राप्त कर गया है जब श्रद्धा मुसकरा देती है और उसकी मुसकान से 'महाज्योति' की एक रेखा फूटकर, उन तीनों लोकों को परस्पर सयुक्त कर देती है, सकल विश्व में शृंग तथा डमरू का निनाद गूज उठता है ओर उस दिव्य अनाहत संगीत में श्रद्धा-समेत मनु तन्मय हो जाते हैं। पूरा वातावरण अपार्थिव, लोकातीत, पारलौकिक बन गया है। कवि ने अपने उद्देश्य की इच्छा, ज्ञान तथा-क्रिया की परस्पर एकरसता से ही अखड शान्ति से ओत-प्रोत आनद की उपलब्धि हो सकती है, अपने ढंग से, सिद्धि का मनोरम प्रयत्न किया है। लेकिन, इस साध्य-साधना में पूरा वातावरण पौराणिक-सा बन गया है। सावधान पाठक के लिए अपनी स्वाभाविक प्रश्न-वृत्ति को दबाकर कवि की प्रस्तुत परिणति को मौन भाव से स्वीकार कर लेने के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं मिलता। श्रद्धा को हम विशुद्ध मांसल आकर्षण से संयुक्त देख चुके हैं, उसे लज्जा के साथ कोमल-सुकुमार संघर्ष मे व्यस्त देख चुके हैं, अपनी सपूर्ण संयमशालीनता के बावजूद नारी-लभ्य दुर्बलता के सामने नतशिरस्क होते देख चुके हैं, और जब अन्त में यह पाते हैं कि श्रद्धा दिव्य इन्द्रजाली प्रतिभा से समन्वित वह देव-दूत है जो अपनी भौतिक मुसकान से आकाश के वायवीय ऊर्ध्व धरातलों पर स्थित अभौतिक 'त्रिदिक विश्व' को समरस बना देती है तथा शृंग-डमरू के शंकर संगीत को गुंजायमान कर देती है, तब लगता है, हम सहसा किसी अभौतिक, लोकातीत पौराणिक संसार मे चले गये हैं जहाँ आश्वस्त होने के लिए श्रद्धा के अतिरिक्त कोई अन्य साधन नही है, सरल-सहज विश्वास के अतिरिक्त कोई अन्य सहारा नही है। इच्छा, ज्ञान और क्रिया के एकीकरण तथा सामरस्य वाले आदर्श से हमें कोई असहमति नही है। किन्तु इस आदर्श की सिद्धि के हेतु जो अलौकिक सूत्र परस्पर गुंफित किये गये हैं, वे निश्चित-

तथा हमें पुराणों की दुनियाँ में स्थानान्तरित कर देते हैं जहाँ संभव-असंभव, पार्थिव-अपार्थिव सभी मेल-अनमेल तत्त्व बेहिचक मिलते तथा मिश्रित होते हैं।

'आनंद' सर्ग तो लौकिक-अलौकिक, पार्थिव-अपार्थिव, ऐन्द्रिय-अतीन्द्रिय समस्त तथ्यों एवं सत्यों का सीमान्त ग्रंथिबधन है। इस चरम परिणति में पौराणिकता के मधुमय रंगों तथा मोहक छायाओं का विस्मयजनक वितान तन गया है। सारस्वत की प्रजा के सदस्य, इड़ा के निर्देशन में, मनु-पुत्र मानव के साथ, सोमलता से आवृत 'धर्म-प्रतिनिधि' धवल वृषभ की पुण्य छाया में कैलाश की यात्रा करते हैं और संसृति की सेवा में लीन उस "द्युतिमय देव-द्वन्द्व" के पावन दर्शन कर, प्रगति मे झुक जाते है। मनु और श्रद्धा आनद-लीन हो चिर-मिलित 'पुरुष-प्रकृति' बन गये हैं, उनके--जैसे दिखाई नही पड़ रहे हैं क्योंकि विद्वानों ने बताया भी है कि मनु शाभव-स्थिति में पहुँच कर 'सदाशिव' बन गये है--

"चिर-मिलित प्रकृति से पुलकित
वह चेतन पुरुष पुरातन,
निज-शक्ति-तरंगायित था
आनन्द-अम्बुनिधि शोभन।"

और फिर, मनु वीतराग योगी की भाँति, लौकिक चेतना से पूर्ण हो, अभेदवाद तथा विश्व-नीड़वाद का उदात्त उपदेश भी देते हैं—

"सब भेद-भाव भुलवा कर
दुख-सुख को दृश्य बनाता,
मानव कह रे! 'यह मैं हूँ'
यह विश्व नीड़ बन जाता।"

पृथिवी और स्वर्ग 'अभिज्ञानशाकुंतल' में भी मिल गये है, लेकिन उनके मिलने की प्रणाली वहाँ भिन्न है। शकुन्तला तथा दुष्यन्त दोनों वहाँ स्वर्गलोक से नीचे उतर कर, मानवीय कर्त्तव्यों की परिधि में बँध जाते हैं जबकि यहाँ मनु एवं कामायनी पार्थिव लोक का परित्याग कर, सदेह शंभु-लोक में पहुँच गये है, सारस्वत-निवासी भी सदल-बल उनसे जा मिले हैं और प्रकृति से चिर-मिलित 'पुरातन पुरुष' मनु समरसता का उपदेश दे रहे हैं। प्रसादजी की कल्पना काव्य में प्रस्तुत काव्यात्मक होते हुए भी, पौराणिक बन गई है। विद्वानों ने बताया है कि काव्य कल्पना सत्य का आभास रखती हुई भी झूठी ही बनी रहती है, किन्तु पुराण की कल्पना मिथ्या को भी सत्य का स्वरूप प्रदान करती है। प्रसाद जी ने 'कामायनी' में ऐसी ही कुशल प्रतिभा का विनियोग किया है और मिथ्या को ऐसे कलात्मक कौशल तथा सहज विश्वास के साथ चित्रित

किया है कि वह सत्य का स्वरूप ग्रहण करता-सा प्रतिभासित होता है । सारस्वत-वाग्मियो का जुलूस जिस सूक्ष्म विवरण के साथ, जिस शैली में, वर्णित हुआ है, उसे देखकर लगता है जैसे हम काव्य नही अपितु किसी पौराणिक गाथा का पारायण कर रहे हो । इसी प्रकार, मानसरोवर तीर्थ में मनु तथा श्रद्धा की महिमा का वर्णन पौराणिक आस्वाद से संयुक्त है । प्रसादजी की कल्पना ने, अतएव 'सारस्वतवर्त्म' का अनुसरण कर, पुराण की सृष्टि की है जिसमे सामयिक समस्या का सनातनता के स्तर पर समाधान करने का उद्योग किया गया है ।

च

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम निम्नाकित निष्कर्षों पर पहुँचते हैं--

'कामायनी' का वातावरण आद्योपान्त अलौकिक, अति-लौकिक है । उसमें रहस्यपूर्ण शक्तियाँ कार्य-शील है : रहस्य-सत्ता है जिसका प्रकाश व्यक्त विश्व में बिखरा हुआ है, देव-शक्तियाँ है जो मनुष्य को संयम तथा शालीनता का पाठ पढ़ाती हैं और नैतिक विच्युतियो के लिए उसे उचित दण्ड देती है; काम एक अदृश्य किन्तु प्रभावशाली 'देवता' है जो विचित्र ढग से मनुष्य को अपनी माया में फसाता है और साथ ही, सयम-विहीन आचरण के विरुद्ध चेतावनी भी देता है, स्वप्न भी है जो अतीत, वर्तमान तथा भविष्यत् के परदे एक साथ उठाते है और मनुष्य को सही मार्ग दर्शन देने की चेष्टा करते है ; और सबसे बढ़कर, कैलाश-तीर्थ मान-सरोवर है जहाँ गौरी-शंकर चिरमिलित प्रकृति-पुरुष के रूप मे लोको तथा ब्रह्माडो के निर्माण एव विनाश की योजना कार्यान्वित करते रहते है । इस अलौकिक काव्य-ससार की स्पिरिट मूलत: रजनी किवा ज्योत्सना-स्निग्ध रजनी की है, जिसमे मधुर कल्पनाएँ हृदय तोड़ने वाली घटनाओं को भी एक मोहक ममत्व से आर्द्र बना देती है । जीवन को देखने-समझने की स्पिरिट मुख्यतया चाँदनी रात की स्पिरिट है जो अलस चेतना की आँखे खोलती है जो जीवन-भोग की ललित लालसा को रहस्य-भाव से जगाती तथा उपलालित करती है, जो किसी प्रकार के अवरोधों तथा बाधाओं से बच निकलने के लिए शान्तिदायी पलायन की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देती है और जो जीवन के चरम साध्य आनन्द की महिमा को भी अपनी लुभावनी माया से पर्यावृत कर देती है । यह स्मरणीय है कि अखण्ड चेतना के समरसतापूर्ण विलास का आनंद शांभव परिणति का आनंद भी, ज्योत्सना के मधुर वातारण में निमज्जित है । प्राची के रागारुण आलोक में इड़ा का मनु से परिचय हुआ, किन्तु परिणाम सुखद नहीं रहा क्योंकि बुद्धि के प्रकाश में नव संघटित सारस्वत सभ्यता स्वयं प्रजापति मनु के लिए घातक सिद्ध हुई ।

९४। कामायनी : प्रेरणा और परिपाक

प्रसाद की प्रतिभा 'कामायनी' में मूलतः पुराण-निर्मात्री बन कर प्रकाशित हुई है। हिमगिरि के उत्तुंग शिखर से नीचे समतल भूमि पर उतार कर, मनन-शील मनु को पुनः वही कैलाश-तीर्थ में पहुँचा दिया गया है और इस प्रकार, मानसरोवर की पौराणिक महिमा का वर्तमान युग में नवस्थापन सम्पन्न हुआ है।

५ | महाकाव्यत्व का परीक्षण

क.

"महाकाव्य" विश्व-साहित्य के इतिहास में एक विशिष्ट काव्य-रूप का परिचायक बन गया है। जिस प्रकार भारतीय साहित्य में रामायण तथा महाभारत प्रसिद्ध महाकाव्य है, उसी प्रकार प्राचीन यूरोपीय साहित्य में 'इलियड', 'ओडिसी', 'ईनीड', 'डिवाइन कामेडी'-इत्यादि[१] प्रसिद्ध महाकाव्य माने गये है। दिनकर का कथन है कि विश्व के महाकाव्य मनुष्यता की प्रगति के मार्ग में मील के पत्थरों के समान होते है और यह व्यंजित करते हैं कि मनुष्य किस युग में कहाँ तक प्रगति कर सका है।[२] कविवर सुमित्रानन्दन पन्त का कथन है कि महाकाव्य मानव-सभ्यता के संघर्ष तथा सांस्कृतिक विकास का जीवन्त पर्वताकार दर्पण होता है जिसमें अपने मुख को देखकर मानवता अपने को पहचानने में समर्थ होती है।[३] अतएव, महाकाव्य अन्य काव्य-रूपों की तुलना में अधिक महत्त्व का आधायक होता है क्योंकि उसका कर्त्तव्य एवं दायित्व मानव-प्रगति के सांस्कृतिक चरणों से शृंखलित रहते है। अस्तु।

भारतीय आचार्यों में भामह, दण्डी, रुद्रट, हेमचन्द्र इत्यादि ने महाकाव्य के लक्षणों का शास्त्रीय निरूपण किया है।[४] इन निरूपणों में प्रायः समान लक्षणों का ही सन्निवेश हुआ है। इधर ईसा की चौदहवी शताब्दी में कविराज विश्वनाथ ने इन सभी लक्षणों का समाहार करते हुए, 'साहित्य दर्पण' में महा-

---

१. 'इलियड' तथा 'ओडिसी' प्रसिद्ध यूनानी कवि होमर की कृतियाँ है, 'ईनीड' प्रसिद्ध रोमन कवि वर्जिल की रचना है तथा 'डिवाइन कामेडी' मध्यकालीन इटैलियन कवि दाँते--द्वारा रचित प्रसिद्ध काव्य है।

२. 'अर्धनारीश्वर', पृ० ४६।

३. 'तारकबध', प्राक्कथन, पृ० १।

४. भामह : 'काव्यालंकार', १।१९-२२; दण्डी : 'काव्यादर्श', १।१४-२०; रुद्रट : 'काव्यालंकार', १६।७-१९; हेमचन्द्र : 'काव्यानुशासन', ८-९।

काव्य के स्वरूप का विशद प्रतिपादन किया है। उनके अनुसार, महाकाव्य के लक्षण ये हैं —

महाकाव्य 'सर्गबन्ध' होता है, अर्थात्, उसमें सर्गों की योजना रहती है। उसका नायक कोई देवता अथवा उच्च, कुलीन वंश में उत्पन्न क्षत्रिय होता है। कहीं एक वंश के अनेक राजा भी नायक होते है। शृंगार, वीर तथा शान्त में से कोई एक रस प्रबन्ध का अंगी या मूल रस होता है। और अन्य रस अंग या गौण रूप में आते है। समस्त नाटक-संधियाँ वर्तमान रहती है। कथा इतिहास अथवा लोक में प्रसिद्ध सज्जन से सम्बन्ध रखती है। धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष के चार पुरुषार्थों में से कोई एक उसका फल होता है। काव्य के आरम्भ में आशीर्वचन, नमस्कार या वर्ण्यवस्तु का निर्देश होता है। खलों की निन्दा तथा सज्जनों का गुण कीर्तन उसमे रहता है। न अत्यन्त छोटे और न ही अत्यन्त बड़े आठ से अधिक सर्ग होते है। प्रत्येक सर्ग मे एक-ही छन्द रहता है, किन्तु उसका अन्तिम पद्य भिन्न छन्द में रचित होता है। कहीं-कहीं एक सर्ग में अनेक छन्द भी मिलते है। सर्ग के अन्त में अगली कथा की सूचना रहनी चाहिए। संध्या, सूर्य, चन्द्रमा, रात्रि, प्रदोष, अन्धकार, दिन, प्रातःकाल, मध्याह्न, मृगया, पर्वत, ऋतु, वन, समुद्र, सयोग, वियोग, मुनि, स्वर्ग, नगर, यज्ञ, संग्राम, यात्रा, विवाह, मन्त्र, पुत्र, अभ्युदय इत्यादि का यथासम्भव सागोपांग वर्णन भी होना चाहिए। काव्य का नामकरण कवि के नाम अथवा नायक के नाम पर होना चाहिए। कहीं इनके अतिरिक्त भी नामकरण होता है। सर्ग की वर्णनीय कथा से सर्ग का नाम रखा जाता है। संधियों के अंग यथासम्भव होने चाहिए। एक या दो भिन्न वृत्त भी रह सकते हैं। जलक्रीडा, मधुपान इत्यादि भी होने चाहिए। रघुवंश, शिशुपाल वध, नैषधचरित प्रभृति महाकाव्य हैं।[१]

यहाँ यह स्मरण रखना आवश्यक है कि आचार्यों ने अपने काल तक प्रणीत अथवा वर्तमान काव्यों के अनुशीलन के आधार पर ही इन लक्षणों का निरूपण किया है। इन पर विचार करने से ज्ञात होता है कि जीवन एवं प्रकृति के सश्लिष्ट चित्रण, प्रबन्ध में आद्योपान्त सम्मृग्य एक प्रधान रस (शृंगार, वीर अथवा शान्त), इतिवृत्त की ऐतिहासिकता अथवा लोकप्रसिद्धता, नायक वा नायकों की कुलीनता एवं धीरोदात्तता और साथ-ही, जीवन में साध्य पुरुषार्थ की सिद्धि में प्रेरकत्व- इन गुणो का समावेश महाकाव्य में आवश्यक माना गया है। इन्ही की प्रतिष्ठा के लिए रचना के आकार को भी रेखांकित किया

---

१. 'साहित्यदर्पण', ६।३१५-३२५।

गया है क्योंकि अल्प आकार में इन तत्त्वों या गुणों का निबन्धन साधारणतः कठिन है। देवता या किसी कुलीन राजा को नायक बनाने की आवश्यकता पर बल इस कारण दिया गया है कि इनके इतिवृत्त में सामान्यतः ऐसी घटनाओं अथवा प्रसंगों का समावेश हो सकता है जो पाठक अथवा भावक की मनोभूमि को उन्नत, परिष्कृत एवं रसाप्लुत बना सकें। कथानक के 'सदाश्रयत्व' अथवा 'सज्जनाश्रयत्व'[१] का उल्लेख भी इसी दृष्टि से किया गया समझना चाहिए। सर्ग-रचना, नाट्यसंधियों का अनुप्रवेश, नामकरण इत्यादि से सम्बन्धित विधान काव्य के वास्तु-पक्ष (रचना-कौशल) के महत्त्व को व्यंजित करते हैं।

पाश्चात्य काव्य-चिन्तन में भी महाकाव्य का जो लक्षण-निरूपण किया गया है, वह अधिकांशतः भारतीय मत से मेल खाता है—इस प्रमुख अन्तर के साथ कि वहाँ महाकाव्य (EPIC—एपिक) को मुख्यतः 'वीर-काव्य' माना गया है। 'Oxford Companion to English Literature' में महाकाव्य की परिभाषा यों दी गई है—"एपिक वह काव्य-कृति है जो इतिहास अथवा लोक-परम्परा में प्रसिद्ध, एक या एक से अधिक वीर पुरुषों की उपलब्धियों का शृंखलित आख्यान के रूप में वर्णन करती है।"[२] 'the Book of Epic' की भूमिका मे महाकाव्य की यों परिभाषा की गयी है—"एपिक या महाकाव्य उस वीर-रस-प्रधान काव्य गाथा को कहते है जिसमें सुख-दुःख, सयोग-वियोग गीति-तत्त्व और कथा-तत्त्वादि श्रेष्ठ काव्य के सभी गुणों का हृदयहारी चित्रण हो, जिसमे स्वाभाविक जीवन के मनोहारी चित्र और घात-प्रतिघात वर्णित हो और सारे तत्त्वों का प्रकृत समन्वय इस कुशलता से किया गया हो कि कृति सदा के लिए अमर हो जाये। .....पौराणिक कथाएँ, जिनमे हम प्रकृति को अपने ढंग से सोचने-समझने के प्रयत्न करते रहे है, महाकाव्य के मुख्य और आवश्यक अंग हैं। और, चूंकि महाकाव्य किसी भी जाति-विशेष का जीता-जागता इतिहास होता है, अतएव उसमें एक बड़ी नदी की चौड़ाई, गहराई और विस्तार होना अनिवार्य है।"[३] वर्तमान काल के प्रसिद्ध समालोचक

१. जिसका आश्रय सत् या सज्जन व्यक्ति हो—
"इतिहासकथोद्भूतमितरद्वा सदाश्रयम्।" (दण्डी)
"इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम्।" (विश्वनाथ)

2. 'the Oxford Companion to English Literature', fourth edition, पृ० २७३

३. 'विदेशों के महाकाव्य' (अनुवादक, गोपीकृष्ण गोपेश), १९४६, 'भूमिका', पृ० १३।

सी० एम० बौरा ने इस विषय में अपना अभिमत यों व्यक्त किया है—"एपिक रचना, सर्वसम्मत्या, कुछ विशिष्ट आकार वाली कथात्मक काव्य-विधा है और ऐसी घटनाओं का वर्णन करती है जो एक निश्चित गरिमा एवं महत्त्व रखती है और शुद्ध—जैसे हिंसापूर्ण कृत्यों वाले जीवन से प्रसूत होती है। यह रचना हमें विशिष्ट आनन्द प्रदान करती है क्योंकि इसमें वर्णित घटनाएँ तथा व्यक्ति मानवी उपलब्धियों के महत्त्व, एवं मनुष्य के समान तथा महत्ता में हमारा विश्वास बढ़ाती हैं।"[1] किन्तु, एक अन्य प्रसिद्ध पूर्ववर्ती समालोचक ऐबरक्राम्बी ने महाकाव्य के लिए आकार के महत्त्व का निषेध किया है और कृतिकार की "समग्र कल्पना-शैली" को महत्त्व दिया है जिसके अवलम्बन से वह प्रबन्ध की मानसिक योजना बनाता है तथा रचना के शिल्प को सँवारता है। "ऐसी रचनाएँ हमें उस लोक में ले जाती है जहाँ वैसी कोई घटना नहीं घटित होती जिसकी गम्भीर अर्थवत्ता न हो। इन रचनाओं में एक शक्तिशाली प्रतीकात्मक उद्देश्य गर्भित होता है जो उन्हें मोड़ता तथा रूपायित करता है और उनमे आद्योपान्त परिव्याप्त होता है।"[2]

एक अन्य वर्तमान समालोचक प्रो० टिलयार्ड ने महाकाव्य की विशेषताओं का यों परिगणन कराया है—(१) महाकाव्य की पहली आवश्यकता है, उसका श्रेष्ठ-स्तरीय एवं उच्च गम्भीरता से संयुक्त होना। (२) दूसरी आवश्यकता है, उसकी विशदता एवं व्यापकता तथा जीवन का सर्वांगीण परिचित्रण। (३) तीसरी आवश्यकता है, घटना-क्रम का आकस्मिक रीति से शृंखलित हो जाना। (४) चौथी आवश्यकता है, महाकाव्य में समकालीन जन-समुदाय की भावनाओं और उनके विश्वासों एवं "प्रिय आदतों" का मुखरण। (५) महाकाव्य को वीर-भावना का उत्पादक होना ही चाहिए।[3]

अन्यत्र टिल्यार्ड ने कहा है कि महाकाव्यकार को प्रत्येक वस्तु का ज्ञान होना चाहिए, तभी वह एक बहुसंख्यक जनसमूह की तरफ से बोल सकने का दावा कर सकता है। उसे तदनुरूप भावों एवं भावनाओं की विस्तीर्ण परिधि की भी योजना करनी चाहिए जिसमें सरलतम ऐन्द्रिय वासनाओं तथा ईश्वर अथवा धर्म के प्रति भय-मिश्रित आकर्षण का युगपत सन्निवेश हो। परन्तु, जहाँ जीवन के विस्तीर्ण क्षेत्र में वह (रचयिता) सामान्य ही समझा जायेगा,

---

1. 'From Vergil To Milton', पृ० १
2. Lascelles Abercrombie : 'the Epic', पृ० ४१-४२
3. E. M. W. Tillyard : 'the English Epic and Its Background' (1974), पृ०३-१२।

वहाँ उसे दुष्टता को सज्जनता से नापना चाहिए और उस पवित्रता को उदाहृत करना चाहिए जो सच्ची प्रतिभा का गुण बताया गया है केवल इसी शर्त पर जनसमुदाय उस पर विश्वास करेगा और उसे अपनी तरफ से बोलने की अनुमति देगा ।"[1]

वस्तु-विन्यास में कथानक के समुचित नियोजन, उसके बड़े आकार, उसमें नाट्य-सुलभ अन्विति की वर्तमानता, वर्ण्य व्यापार की गंभीरता एवं उदात्तता तथा चरित्रों की महार्घता इत्यादि पर यूरोप के आद्याचार्य अरस्तू ने भी बल दिया है । ऐसा प्रतीत होता है कि पुरुषार्थ-चतुष्टय की सिद्धि को छोड़कर, सामान्यतया अरस्तू और प्राचीन भारतीय आचार्यों की मान्यताओं में पर्याप्त साम्य है । आधुनिक पाश्चात्य समीक्षकों ने अवश्य इस तथ्य को रेखांकित किया है कि महाकाव्य युग-जीवन का समृद्ध चित्र होता है और साथ-ही, किसी महनीय प्रयोजन की सिद्धि के हेतु प्रेरणा प्रदान करता है ।

अब प्राच्य एवं प्रतीच्य मान्यताओं के प्रकाश में महाकाव्य के विषय में कतिपय सर्वसामान्य तथ्य निरूपित किये जा सकते हैं, यथा—

क. महाकाव्य का कुछ आकार होना ही चाहिए यद्यपि बृहदाकार ही उसे महाकाव्य नही बनाता ।

ख. महाकाव्य में घटनाओं का ऐसा चयन एवं वर्णन होना चाहिए जिससे जीवन एवं प्रकृति के सर्वांगीण, संश्लिष्ट चित्र उपस्थित हो सके ।

ग. महाकाव्य को वस्तु-योजना के गर्भ में किसी प्रतीकात्मक उद्देश्य की व्याप्ति आवश्यक है जो हमें गहराई से स्पर्श करता हो ।

घ. महाकाव्य का नायक ऐसे मानसिक संघटन से संयुक्त हो जो अखण्ड धैर्य, शौर्य, प्रणयभोग, अथवा विरक्ति-मूलक अखण्ड शान्ति की अन्तर्वृत्तियो को प्रश्रय दे सके ।

ङ. महाकाव्य में समसामयिक जीवन तथा अपने समय के बहुसंख्यक जनसमूह की भावनाओ एव विश्वासों का प्रतिफलन होना चाहिए—यद्यपि उसकी 'अपील' देश-काल की सीमाओं का अतिक्रमण भी कर जाती है ।

च. महाकाव्य का रचना-शिल्प सुगठित, मनोहर तथा प्रभावशाली होना चाहिए ।

इन विन्दुओं के आलोक में अब 'कामायनी' के महाकाव्य का विमर्श किया

---

1. E. M. W. Tillyard : the Epic strain in english Novel', पृ० १६,

जा सकता है । इनमें से कुछ काव्य के बाह्य तथा कुछ उसके अन्तःपक्ष से सम्बन्धित हैं ।

ख.

बाह्य पक्ष

अ. 'कामायनी' में 'कुल पन्द्रह सर्ग हैं ।' उनका नामकरण उनके वर्ण्य विषयो के आधार पर हुआ है । 'साहित्य दर्पण' में न्यूनतम सर्ग–संख्या आठ मानी गई है और 'ईशान–सहिता' में इस न्यूनतम सख्या को स्वीकार करते हुए अधिकतम संख्या तीस निर्धारित की गई है ।[1] भारतीय महाकाव्यो में संख्या–सम्बन्धी प्रतिबन्ध का पालन नही हुआ है । रामायण मे सात काण्ड, महाभारत में अठारह पर्व, रघुवंश में उन्नीस सर्ग, बुद्धचरित मे अठाइस सर्ग तथा रत्नाकर के 'हरि विजय' में पचास सर्ग उपनिबद्ध है । वस्तु-विभाजन-विषयक इस वैषम्य को देखते हुए, 'कामायनी' की सर्ग–संख्या संतोषजनक कही जायगी । इन सर्गों मे कुल मिलाकर ग्यारह सौ पद्य है जिनमे 'इडा' सर्ग में न्यूनतम सख्या तैंतीस और 'कर्म' सर्ग में अधिकतम संख्या एक सौ सत्ताइस है ।[2] 'ईशान–सहिता' मे सर्गों की पद्य–सख्या न्यूनतम तीस से अधिकतम दो सौ तक निश्चित की गई है ।[2] 'कामायनी' के सर्गों की पद्य–संख्या इस सीमा के भीतर आती है । सर्गों का नामकरण उनमें वर्ण्य विषयो के आधार पर (यथा–'चिन्ता', 'आशा', 'श्रद्धा' इत्यादि) हुआ है । प्रत्येक सर्ग में एक ही छन्द प्रयुक्त हुआ है जो आरम्भ से अन्त तक चलता है । केवल 'निर्वेद' सर्ग में श्रद्धा द्वारा गाये गये प्रसिद्ध गीत, "तुमुल कोलाहल कलह मे" इत्यादि में छन्द बदल गया है ।

आ. पुराने महाकाव्यों में छन्द अन्त में बदलता है, यद्यपि 'कामायनी' मे एक सर्ग के भीतर छन्द बदलते नही, तथापि एक ही छन्द के विविध रूपो का प्रयोग कवि–द्वारा किया गया है । 'कर्म' सर्ग में प्रयुक्त छन्द अठाइस मात्राओ वाला है, लेकिन उसके अन्त में कभी एक गुरु है, कभी दो और कभी तीन गुरु उपलब्ध होते है, यथा—

"कर्म–सूत्र-संकेत-सदृश थी
सोम-लता तब मनु को;

---

१. पद्यों का विभाजन यों है–'चिन्ता,' ८०; 'आशा', ८०; श्रद्धा; ६३; 'काम,' ६७, 'वासना,' ५३, 'लज्जा,' ४७, 'कर्म' १२७, ईर्ष्या,' ७१, इड़ा' ३३, स्वप्न' ५५, संघर्ष १२२, निर्वेद, १११, दर्शन, ३४, 'रहस्य', ७७ आनन्द ८०-११००;

२. कामायनी-सौन्दर्य' (डॉ० फतह सिंह)

चढ़ी–शिंजिनी-सी खींचा फिर
उसने जीवन–धनु को।" (एक गुरु)
'सब बातों में खोज तुम्हारी
रट-सी लगी हुई है;
किन्तु स्पर्श से तर्क–करो के
बनता 'छुई मुई' है।' (दो गुरु)
'श्रद्धा पुण्य प्राप्य है मेरी
वह अनन्त अभिलाषा;
फिर इस निर्जन में खोजे
अब किसको मेरी आशा ?' (तीन गुरु)

'चिन्ता', 'आशा' इत्यादि सर्गों मे भी ऐसी भिन्नता पाई जाती है। ऐसे पद्यो मे पिंगल शास्त्र के नियमो का पालन भी हुआ है और उनका उल्लंघन भी, किन्तु कवि वैविध्य का लोभ सवरण नही कर सका है। नीचे कतिपय उदाहरण देखें —

क. 'मौन ! नाश ! विध्वस ! अँधेरा !
शून्य बना जो प्रगट अभाव।'
ख 'जीवन तेरा क्षुद्र अंश है
व्यक्त नील नभ-माला में।'
क. 'करका क्रन्दन करती गिरती
और कुचलता था सबका।'
ख. दूर दूर तक विस्तृत था हिम
स्तब्ध उसी के हृदय समान।"[1]

'कामायनी' मे कुल मिलाकर कम-से-कम तेरह छन्दों का प्रयोग हुआ है जिनमे से कुछ पुराने छन्द है जिनका वर्णन पिंगलशास्त्र मे उपलब्ध है। ऐसे छन्दो मे ताटक, शृगार, रूपमाला और सार मुख्य है।[2] 'इड़ा' सर्ग में गीतों का प्रयोग हुआ है जिनके प्रारम्भ में एक टेक होती है जिसकी तुक से सभी पंक्तियो की तुकें प्राय: मिलती है। विषय तथा भाव के अनुसार छन्दों में परिवर्तन हुआ है। शब्द–विन्यास भी भावों के साथ बदलते गये है। 'चिन्ता' सर्ग मे जहाँ देवो के विनष्ट वैभव-विलास का वर्णन हुआ है, वहाँ पद-योजना का स्वरूप वही नही है जो विषाद एवं अवसाद का वर्णन करने वाले पद्यों में

---

१. 'कामायनी-सौन्दर्य' (डॉ० फतह सिंह) में उद्धृत पृ०
२. वही, पृ०

है, यद्यपि छन्द वही है।)"श्रद्धा सर्ग तथा इड़ा सर्ग के छन्दों और शब्दों में भी वैसा-ही भेद है जैसा स्वयं श्रद्धा और इड़ा में। जहाँ एक का मृदुध्वनि-बहुल सोलह मात्रा का शृंगार छन्द द्रुतगति से चलता हुआ हृदय में मधुरता, कोमलता तथा प्रसन्नता का संचार करता है, वहाँ दूसरे के लंबे-लंबे पद वाले गीत मंथर [illegible] चलते हुए मस्तिष्क पर बोझ डालते हुए से प्रतीत होते हैं।"[१]

उदाहरणतः निम्न उद्धरण लिये जा सकते हैं—

'और देखा वह सुन्दर दृश्य
नयन का इन्द्रजाल अभिराम।' ('श्रद्धा'-शृंगार छन्द)
'देखे मैंने वे शैल-शृंग
जो अचल हिमानी से रंजित उन्मुक्त, उपेक्षा-भरे तुंग।'
('इड़ा'—स्वनिर्मित छंद)

('कामायनी' की छन्दोयोजना सिद्ध-सरस्वतीक कवि-प्रतिभा की व्यंजना करती है। प्रसाद ने पुराने शास्त्रीय छन्दों का कुशल प्रयोग करने के साथ-साथ, उन शास्त्रीय छन्दों के चरणों को मिलाकर नवीन छन्द भी बनाये हैं।)उदाहरणतः, 'ईर्ष्या' सर्ग के छन्द के प्रथम चरण में सोलह मात्राओं का 'पादाकुलक' छन्द है और दूसरे चरण में सोलह मात्राओं का 'पद्धरि' छन्द है। इस प्रकार, दोनों के संयोग से बत्तीस मात्राओं का यह नया छन्द निर्मित हो गया है, यथा—

'उनके घर में कोलाहल है (१६ मात्राएँ—पादाकुलक)
मेरा सूना है गुफा-द्वार।')(१६ मात्राएँ-पद्धरि)

'इड़ा', 'रहस्य' तथा 'आनन्द' सर्ग में कवि ने नवीन छन्दों का आविष्कार किया है जिससे उनकी कवित्व-शक्ति का परिचय मिलता है। प्रसाद निजी तौर पर संगीतमयी कविता के ही पक्षपाती है जिस कारण छन्दों के सुष्ठु विनियोग को वह आवश्यक मानते हैं। कविवर पन्त का विश्वास है कि हिंदी का संगीत केवल मात्रिक छन्दों में ही अपने स्वाभाविक विकास तथा स्वास्थ्य की सम्पूर्णता प्राप्त कर सकता है, वर्णिक छन्दों में नही।"[२] प्रसाद ने 'कामायनी' में मात्रिक छन्दों के प्रयोग से मधुर संगीत की सृष्टि की है।)

इ. ('कामायनी' की कथा-वस्तु के मुख्य आधार है, मनु, श्रद्धा तथा इड़ा। मनु भारतीय आर्ष वाङ्मय में सातवें मन्वन्तर के प्रवर्त्तक माने गये हैं। श्रद्धा

---

१. वही, पृ०
२. 'पल्लव' की भूमिका, पृ० २१

तथा इड़ा के भी उल्लेख उपलब्ध होते हैं जिनका विवेचन पूर्ववर्ती एक प्रकरण में किया गया है । अतएव('कामायनी' के कथानक की मुख्य प्रेरणा इतिहास-सम्मत मानी जा सकती है,(उसके नायक मनु देववशज हैं, सारस्वत सभ्यता के निर्माता है, अतएव, उनका वृत्त महाकाव्य के अनुरूप हो सकता है । श्रद्धा के चरित्र में दण्डी द्वारा निरूपित कथानक का 'सदाश्रयत्व' [illegible]लकता है । काम तथा रति की संतान होने के कारण, और 'प्रेम-कला' रूपिणी 'मूलशक्ति' का सदेश सुनाने–हेतु संसार में आई हुई होने के कारण, श्रद्धा के गौरव में कोई सन्देह नही रह जाता ।("हृदय-सत्ता के सुन्दर सत्य" की खोज करने वाली वह बाला किसी भी पैमाने से नापने पर महाकाव्य की नायक या नायिका बनने के सर्वथा योग्य सिद्ध होगी । इड़ा कर्म-मार्गी प्रतिभा पुत्री है । अतएव, जब वह नायक मनु की कर्म-संगिनी बन जाय, तब प्रबन्ध के गाम्भीर्य की कल्पना आसानी से की जा सकती है ।) अतएव, कथानक के सदाश्रयत्त्व तथा गभीरता को स्वीकारने में कोई हिचकिचाहट नही होनी चाहिए ।

प्रबन्ध की कथात्मक योजना, अनेक छिद्रों तथा त्रुटियों के बावजूद सुगठित कही जायेगी । जैसा हमने अन्यत्र दिखाया है, उसमे 'आधिकारिक' एवं 'प्रासंगिक' कथाओं का नियोजन, पाँच प्रकार की अर्थ–प्रकृतियाँ, पाँच प्रकार की कार्यावस्थाएँ, पाँच प्रकार की सन्धियाँ इत्यादि सम्पूर्ण शास्त्रीय विधानों का समावेश हुआ है ।(काव्य का शैली-शिल्प भी सुघड़, मधुर तथा हृदयाकर्षक है। प्रसगानुरूप पदयोजना बदलती रही है । गुणो तथा अलंकारों का मनोरम सन्निवेश हुआ है । भाषा-विन्यास मे लाक्षणिकता, उपचार–वक्रता, प्रतीकात्मकता एव अपूर्व नाद-सौन्दर्य का मिश्रण काव्य-रसिकों को लुभा लेता है ।)

('कामायनी' की प्रबन्ध-रचना मे यद्यपि भारतीय काव्यादर्शों के पालन का प्रयास किया गया है, तथापि युगानुरूप परिवर्तन भी उसमे परिलक्षित होते है,(जिसके लिए 'प्रियप्रवास' तथा 'साकेत' के रचयिताओं ने उसका मार्ग प्रशस्त किया था । प्राचीन मान्यताओं को स्वीकारने पर भी 'प्रियप्रवास' में प्रारंभिक मगलाचरण, नमस्क्रिया अथवा आशीर्वचन की योजना नही हुई है । 'साकेत' में भी अन्य प्राचीन मान्यताओं के सन्निवेश के बावजूद नवम सर्ग मे प्रगीत मुक्तक की योजना की गई है । अतएव, कोई आश्चर्य नही कि 'कामायनी' में बहुत-सी प्राचीन रूढ़ियों का परित्याग किया गया है ।(काव्य का आरम्भ, बिना किसी मंगलाचरण इत्यादि को प्रत्यक्ष रीति से किया गया है । महाकाव्यों की सीधी-सपाट वर्णनात्मक प्रणाली का परित्याग कर, कवि ने प्रायः स्वकथन, स्वप्न, "मुक्त साहचर्य" के नियमानुरूप, अधिक नाटकीयता का समाश्रयण करते हुए, अपनी कहानी कही है । प्राचीन रूढ़ियों को तोड़ने एवं

नवीन भंगी अपनाने के लिए वह हमारी श्लाघा का ही आस्पद है ।

ई.(महाकाव्य के वर्ण्य विषयों में शास्त्रीय व्यवस्थानुसार संध्या, रजनी, प्रातः, मृगया, पर्वत, सागर, स्वर्ग, यात्रा, संयोग, वियोग, पुत्रोत्पत्ति प्रभृति का ग्रहण आवश्यक बताया गया है) 'कामायनी' मे इन समस्त विषयों का विनियोग हुआ है ।(प्रकृति के सम्पूर्ण कालिक स्वरूपों, यथा, संध्या प्रातः, रजनी इत्यादि; जलीय स्वरूपों, यथा, सरिता, सरोवर इत्यादि; और भौमिक स्वरूपों, यथा, पर्वत, उपत्यका इत्यादि के सुन्दर चित्र प्रस्तुत काव्य में चित्रित हुए है जिनका पूर्ण विवेचन हमने पृथक् इसी पुस्तक में किया है । "प्रलय–सिंधु" ('चिन्ता') का वर्णन सागर का वर्णन माना जा सकता है । 'ईर्ष्या' सर्ग मे मनु की मृगया का वर्णन, स्वर्ग के बदले कैलास-तीर्थ का वर्णन, 'कर्म' सर्ग में असुर पुरोहितों की सहायता से पशु-बलि वाला यज्ञ का वर्णन, श्रद्धा की पुत्रोत्पत्ति, 'आनन्द' सर्ग में इड़ा के नेतृत्त्व में गठित जुलूस के माध्यम से यात्रा का वर्णन, 'स्वप्न' सर्ग मे श्रद्धा के स्वप्न के माध्यम से मनु-द्वारा बसाये गये सुन्दर नगर (पुर) का वर्णन, 'संघर्ष' सर्ग में सारस्वत-प्रजाजन की मनु के विरुद्ध सशस्त्र क्रान्ति के व्याज से युद्ध का वर्णन, इन सभी वर्णनों की योजना महाकाव्य की शास्त्रीय मान्यताओ के अनुरूप समझी जायेगी । विवाह-वर्णन वाली व्यवस्था मनु तथा श्रद्धा के अंतिम मामल मिलन के रूप मे कार्यान्वित समझी जा सकती है । जहाँ तक सभोग एवं विप्रलंभ के वर्णन का सवाल है, इन दो प्रसंगों से तो प्रबंध का पूर्ण कलेवर ही गठित हुआ है । श्रद्धा का रूप सौन्दर्य–चित्रण, मनु के साथ उसकी अपनी वासना विह्वलता का चित्रण, श्रद्धा की वियोग-व्याकुलता का चित्रण-इन यावत् प्रसंगों में शृंगार के भाव, विभाव, अनुभाव इत्यादि समस्त सूत्रों का मधुर मोहक सगुंठन हुआ है) श्रद्धा को सोमरस का चषक पिलाकर 'साहित्य दर्पण' वाली मधुपान विषयक व्यवस्था का भी निर्वाह किया गया है ।(एक अन्य तथ्य को भी रेखाकित करना उपयोगी है कि जैसे प्राचीन महाकाव्यों, भारतीय अथवा पाश्चात्य, मे मानवेतर, अतिलौकिक शक्तियाँ (देव, दानव इत्यादि) का अनुनिवेश हुआ है, वैसे-ही 'कामायनी' में भी काम (दैवत-रूप मे) तथा 'देवशक्तियों' एवं 'रुद्र के नाराच' का प्रवेश कराया गया है ।) 'नर्तित नरेश' की ताडव-योजना भी प्राचीन काव्यो में अतिलौकिक तत्त्वों के सन्निवेश की परम्परा में परिणित की जायेगी ।

(अन्त में, एक नितरां स्पष्ट तथ्य भी उल्लिखित कर देना अप्रासंगिक नही होगा कि काव्य का नामकरण भी कथा-सूत्र का नयन करने वाली कामायनी (श्रद्धा) के नाम पर कर, कवि ने शास्त्रीय मर्यादा का ही पालन किया है

उपर्युक्त विवेचन के आलोक में यह समझना युक्ति-विहीन नहीं होगा कि प्रसाद 'कामायनी' को महाकाव्य का आयाम देना चाहते थे, और उसे बहिरंग-परीक्षण के आधार पर महाकाव्य की गौरवमयी अभिधा मिलनी ही चाहिए।

अन्तःपक्ष

(अ) विवेच्य कृति के अन्तःपक्ष का परीक्षण विवाद से खाली नहीं होगा। इस पक्ष-विमर्श में भी एक स्थूल विन्दु आता है, पुरुषार्थ-चतुष्ट्य में से किसी एक या अनेक की सिद्धि, जिसे महाकाव्य के लिए आवश्यक बताया गया है। प्रसाद समझते थे कि वह इस व्यवस्था की भी पूर्ति कर रहे हैं। वास्तव में, 'कामायनी' को आधुनिक युग की "कामगीता" कहा जा सकता है जिसमें काम के यावत् रूपों का वर्णन करते हुए, उसके मंगलकारी स्वरूप का परिचित्रण किया गया है। मनु श्रद्धा के इसी 'काम' की अन्ततोगत्वा उपलब्धि करते हैं। यही काम "धर्माविरुद्ध" होने से भगवान् का रूप बन जाता है—"धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।" शंकर स्वयं काम-रूप है। अतः, 'कामायनी' में काम के मांगलिक उपलालन की विधि एवं स्वरूप का प्रदर्शन हुआ है। मनु 'अपना-पराया' का भेदभाव भूलकर जब समरसता तथा "विश्व-नीड़" का उपदेश देने लगे हैं—

"सब भेद-भाव भुलवा कर
दुख-सुख को दृश्य बनाता,
मानव कह रे! 'यह मैं यह हूँ'
यह विश्व नीड़ बन जाता।"

और एक-ही अखण्ड चेतनता विलसने लगी है—

"चेतना एक विलसती
आनन्द अखण्ड घना था।"

तब वास्तविक आनन्दधर्मा मोक्ष का लक्ष्य चरितार्थ होता प्रतीत होता है। अतः इस दृष्टि से भी 'कामायनी' के महाकाव्यत्व पर सन्देह नहीं किया जा सकता।

(आ) भारतीय दृष्टि से ही महाकाव्य मे नाना रसों के निबन्धन के साथ एक प्रधान रस की व्याप्ति होनी चाहिए जिसे 'अंगी रस' कहा गया है। इस विषय में आचार्यों की मान्यता है कि यह अंगी रस शृंगार, वीर अथवा शान्त होना चाहिए। वस्तुतः अंगीरस अथवा मूल रस वही होता है जो काव्य के आरम्भ में प्रकट होकर अन्त तक व्याप्त रहता है और जिसे प्रबन्ध के भीतर पुनः पुनः खोजा तथा पाया जा सके। विद्वानों के बहुसंख्यक समुदाय ने 'कामायनी' का अंगीरस 'शान्त' को ही माना है क्योंकि 'आनन्द सर्ग' में जिस

समरसतामूलक आनन्द का परिपोष कराया गया है, वह शान्त रस की कल्पना को ही परिपुष्ट करता प्रतीत होता है। प्रसाद ने स्वयं रसविवेचन में, रस को आनन्दकोटिक मानते हुए, उसके एक छोर पर शृंगार तथा दूसरे छोर पर शान्त को प्रतिष्ठित किया है। और शैवागमों में प्रतिपन्न "निस्तरंग महोदधि-कल्प समरसता" को शान्तरस स्वीकार किया है। अतएव, वह भी यही चाहते थे कि उनकी इस सर्वश्रेष्ठ कृति में शैव-सम्प्रदाय का 'आनन्द रस' अथवा शास्त्रीय शब्दावली का 'शान्त रस' परिपुष्ट हो जाय।

लेकिन, जैसा मैने अन्यत्र दिखाया है, ('कामायनी' का अंगीरस 'शान्त' नही, 'अद्‌भुत' बन गया है--कवि की निजी इच्छा के विपरीत, क्योंकि उसकी छायावादी काव्य-चेतना, जो उसकी पौराणिक चेतना से पुष्ट ही बनी है, "इन्द्रजाल-जननी" बनने से अपने को रोक नही पाई है। (सम्पूर्ण काव्य में 'विस्मय' की ध्वनि, कही अल्प और कही पृथुल परिमाण मे, गूँजती सुनाई पड़ती है।) शृंगार की मादन सरस्वती की जो सुस्फीत धारा प्रबन्ध में कभी सतह के ऊपर और कभी सतह के नीचे प्रवहमान है, वह भी विस्मय के रंगों में लिपटी है। (इन्द्रजाली सौदर्य वाली श्रद्धा ने काव्य के पर्यवसान में भी अपना इन्द्रजाली चमत्कार प्रदर्शित किया है) और मूलत. (उसी चमत्कार के फलस्वरूप, अन्तिम सर्ग में समरसतानिष्ठ, अभेदमूलक आनन्द का वातावरण व्याप्त हो गया है।) तब, विवक्षा यह है कि सामरस्य, सौन्दर्य, चैतन्य एवं आनन्द का जो एकत्र परिपाक काव्य के अन्त में प्रदर्शित किया गया है,[1] उसके मूल में रहस्यमयी श्रद्धा की इन्द्रजाली मुसकान ही रही है--

> "श्रद्धा के मधु अधरों की
> छोटी-छोटी रेखाएँ,
> रागारुण किरण-कला-सी
> विकसीं बन स्मिति-लेखाएँ।"

अतएव, 'कामायनी' का अंगीरस 'शान्त' न होकर, 'अद्‌भुत' ही माना जाना चाहिए। आनन्द तो रसमात्र का ही स्वरूप है और अद्‌भुत रस का आनन्द तो सचमुच विलक्षण होगा।) नारायण पंडित ने 'अद्‌भुत' को मूल रस

---

१. "समरस थे जड़ या चेतन,
सुन्दर साकार बना था;
चेतनता एक विलसती,
आनन्द अखण्ड घना था।"

भी माना है।[1]

तब, 'कामायनी' में एक अंगीरस की स्पष्ट व्यंजना है जो शास्त्रीय व्यवस्था से मेल न खाते हुए भी, प्रबन्ध में एक अंगीरस (मूल रस) की सर्वातिशायी व्याप्ति की व्यवस्था की पूर्ति करती है। अतएव, इस दृष्टि से भी, 'कामायनी' महाकाव्य की गरिमामयी पंक्ति में स्थापित की जा सकती है।

(इ) सबसे उलझन का विषय है, 'कामायनी' की कथा-सृष्टि से सम्बन्धित। हमने अन्यत्र कहा है कि उसका कथानक **'प्रख्यात'** अथवा **'उत्पाद्य'** न होकर, 'मिश्र' की जाति का है क्योंकि कवि ने **वैदिक वाङ्मय में प्रकीर्ण** सूत्रों को लेकर अपनी कल्पना के सहारे उसकी रचना की है।[2] मनु, श्रद्धा तथा इड़ा इतिहास के व्यक्ति हो सकते है—मनु तो निश्चिततया ऐतिहासिक व्यक्तित्व हैं ही—किन्तु उनका कोई समन्वित, संकलित एवं सघटित आख्यान उपलब्ध नही। ऐसी अवस्था में, उनके इतिवृत्त का ऐसा निर्माण जो महाकाव्य की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके, अपेक्षित था। यद्यपि भारतीय आचार्यों ने स्पष्ट शब्दों में, आधुनिक भणिति-भंगी का अनुगमन करते हुए, यह नही कहा कि महाकाव्य में जीवन अथवा समकालीन जीवन का पूर्ण तथा विश्वसनीय चित्र अवतीर्ण होना चाहिए, तथापि उन्होने जब संध्या, सूर्य, रजनी, मृगया, रणप्रयाण, संभोग, विप्रलंभ इत्यादि के यथासम्भव "सांगोपांग" वर्णन[3] की व्यवस्था दी, तब उनका उद्देश्य जीवन की पूर्णता एवं संकुलता का परिचित्रण ही था। वैसे-भी, जिन लक्ष्य ग्रंथों को दृष्टि मे रख कर, एतद्विषयक लक्षण-निरूपण किये गये थे, उनमे से प्रायः सभी अपने-अपने युग की सभ्यता एवं संस्कृति का प्रतिबिम्बन करते है और उनके भीतर का ससार संकुल, सघन, उद्घाटक तथा दिलचस्प दिखाई पड़ता है। देश-विदेश के समस्त महाकाव्य युग-जीवन के प्रकृत चेहरे को, उसकी सम्पूर्ण छवियों, त्रुटियों तथा आकर्षणों के साथ, खोलते हैं और हमें लोक-प्रचलित आदतों, रीतियों, विश्वासों, आचार-विचार की पद्धतियों तथा स्थिति-विशेष मे प्रतिक्रियालु होने की प्रणालियों से अवगत कराते हैं। वास्तव में, अतीत की सही पहचान महाकाव्यों के अवलोकन से ही होती है। जैसा प्रोफे० टिल्यार्ड ने कहा है, महाकाव्य की वस्तु-योजना में विशदता, व्यापकता एवं जीवन का सर्वांगीण चित्रण रहना

---

१. **"सर्वत्राप्यद्भुतो रसः।" (साहित्यदर्पण)**

२. **"प्रख्यातोत्पाद्यमिश्रत्व भेदोन्त्रेधापि तन्त्रिधा।" (दशरूपक, १।१५)**

३. **"वर्णनीया यथायोगं सांगोपांगा अमी इह।"**

(साहित्यदर्पण, ६।३२४)

आवश्यक है । सी० एम० बौरा के अनुसार, महाकाव्य की घटनाएँ एक निश्चित गरिमा तथा महत्त्व रखती हैं। कुछ इन्ही-जैसे कारणों से महाकाव्य अपना दायित्व, मानवी प्रगति एवं संस्कृति को दर्पणवत् प्रतिबिम्बित करने का दायित्व, संभाल सकता है। यदि सभी महाकाव्यकार होमर और व्यास की स्पर्धा में खड़े नहीं किये जा सकते, तो इतना तो अवश्य मानना पड़ेगा कि जिस समाज तथा परिवेश से कवि अपनी सामग्री का संकलन कर रहा है, उसका प्रांजल एवं विश्वसनीय स्वरूप उसकी रचना में उत्कीर्ण हो जाय । इस पैमाने से नापने पर 'कामायनी' का महाकाव्यत्व का दावा, जो अब तक परि-पुष्ट होता-सा दीख पड़ा है, खंडित-सा प्रतीत होने लगता है।

'कामायनी' यदि ऐतिहासिक काव्य है, तो हम यह अपेक्षा करते हैं कि जलप्लावन के बाद इस आर्ष-भूमि में जो जन-जीवन पनपा, उसका प्रांजल एवं विश्वसनीय प्रतिबिम्ब इसमें उतर आया हो। मनु वर्तमान मन्वन्तर के प्रवर्त्तक हैं। अतएव, वह उस सुदूर अतीत का सही सांस्कृतिक प्रतिनिधित्व करते हुए समझे जा सकते है। किन्तु, प्रसाद ने उनके चरित्र में विचित्र तथा परस्पर विसंवादी तत्त्वों का ऐसा गोरख-धंधा उत्पन्न किया है कि वह किसी भी युग के प्रतिनिधि पुरुष नही बन पाते। मनु देववंशज है, नम्बर एक। मनु अग्निहोत्र जलाने वाले है, नम्बर दो। मनु मृगया-विहारी है तथा पशुओं का माँस-भक्षण करने वाले हैं, नम्बर तीन। मनु सारस्वत-सभ्यता के निर्माता है, नम्बर चार। मनु कैलास-तीर्थ मे निवास करने वाले समरसता एवं अभेदवाद के उपदेष्टा हैं, नम्बर पाँच। मनु प्रभुत्वकामी, बर्बर वृत्तियों वाले असाधारण मनुष्य हैं, नम्बर छः। मनु आदिम अथवा आदि मानव हैं और रहस्य-चिन्तक हैं, नम्बर सात। नायिका श्रद्धा भी देववंशज है, ममता-माया की प्रतिमूर्ति है, यायावरी प्रवृत्तियों[1] से अनुशासित है, प्रेमिका होकर पत्नी बनी है और अन्ततः इन्द्रजाल का तमाशा खड़ा करती तथा हिमगिरि के उत्तुंग शिखर से नीचे मैदान में उतरने एवं सभ्यता का प्रसार करने वाले मनु को पुनः उसी हिम-वान् के शीतल अंचलों में पहुँचा कर, स्वयं भी वहीं "संसृति की सेवा" (?) में तल्लीन हो जाती है। इड़ा की भी सम्पूर्ण प्रतिभा जुलूस के नेतृत्व में पर्यव-सित हो गई है, कुमार मानव के सहयोग से उसने कौन-सी नयी मानवीय व्यवस्था की सृष्टि की, यह रहस्य अनावृत नही होने पाता।

सुतराम्, इन तीन प्रमुख पात्रों के जीवन तथा कर्त्तृत्व से किस युग-विशेष का चित्र बनता है, यह, ईमानदारी से, समझ में नहीं आता। मनु तो अपने

---

१. "घूमने का मेरा अभ्यास" ('श्रद्धा')

चरित्र मे एक नही, अनेक युगों की सम्भावनाएँ समेटे हुए हैं । अतएव, स्वभावतः प्रश्न उठेगा कि क्या कवि सचमुच जलप्लावन के बाद वाले युग-जीवन को चित्रित करना चाहता भी है अथवा नही ? 'तरुण आर्यो' के जीवन का जो मानस-चित्र उसने तैयार किया था, क्या उसकी तनिक भी प्रतीति 'कामायनी' की वस्तु-योजना से परिणमित होती है ? सबसे बड़ी प्रश्नास्पद जिज्ञासा यह उत्पन्न होती है कि क्या कवि–द्वारा गृहीत युग 'लोक-विहीन' था, क्या उसमें लोक अथवा जनसमुदाय था ही नही ? यदि था तो उसके जीवन की कुछ छोटी-मोटी रेखाएँ तो अवश्य उत्कीर्ण होनी चाहिए थी जिससे यह जान पड़ता कि कवि एक जनसमुदाय के विश्वासों तथा "प्रिय आदतों" का, संक्षिप्त ही मुखरण तो कर रहा है ।

वास्तविकता यह है कि प्रसाद, प्राचीन इतिवृत्त लेते हुए भी, प्रस्तुत काव्य में उस प्राचीन रोमाटिक युग के प्रवक्ता ('माउथपीस') नही बन सके । आमुख में वह स्वीकार करते है कि आदिम युग के मनुष्यों के प्रत्येक दल ने ज्ञानोन्मेष के अरुणोदय मे (जो) भावपूर्ण इतिवृत्त संगृहीत किये थे ।" इससे यह उम्मीद की जा सकती थी कि इन यायावरी दलो के पारस्परिक सम्पर्क–संघर्ष का जीवन्त चित्रण 'कामायनी' मे रहता और साथ-ही, ज्ञान के नवोन्मेष के भी चित्र अनुस्यूत होते जो निश्चय-ही अतीव मनोहारी बने होते । लेकिन, प्रसाद काल के सम्पूर्ण अन्तराल को मापने की मृग-मरीचिका मे फँस गये, मानवता के विकास के समस्त चरणो को एक अकेली कृत्ति के घेराव में समाहित करने की लालसा के शिकार बन गये । हमारे सम्मुख ऐसे महाकाव्य हैं जिनमे युग-जीवन का संदर्भ चित्रित हुआ है और साथ-ही जिनमे मानवता की शाश्वत समस्या को उभारा तथा उसका, अपने ढग से, समाधान भी प्रस्तुत किया गया है । लेकिन, ऐसे काव्यो की कथा-वस्तु की व्याप्ति-सीमा एक निश्चित काल–खण्ड ही है । प्रसाद ने यदि इस प्रकार अपनी सर्वश्रेष्ठ रचना की कथ्यवस्तु को अपनी रूपविधायिनी कल्पना में उतारा और सँवारा होता, तो 'कामायनी' वह महाकाव्य बन गई होती जिसके "पर्वताकार दर्पण" में मानवता अपने युगों-पुराने मुख को निहारती और पहचान लेती, अथच साथ-ही-साथ, कुछ ऐसा शाश्वत सन्देश भी देती जिसकी स्वाभाविकता हमें उसी प्रकार स्वीकार होती जिस प्रकार गन्ने से निकला हुआ रस हमें स्वीकार होता है । सुदूर अतीत की कृतियों को जाने दीजिए, आप तुलसी के रामचरित मानस को ही ले सकते है । यहाँ कवि ने ऐसा संकुल संसार बसाया है जिसमें राघवेन्द्र राम का युग, मध्यकालीन मुगलों एवं सामन्तों का युग और स्वयं हमारा युग भी, बहुत-कुछ, एक-साथ बोलते है । इसीलिए, तुलसी 'युग-कवि', 'जन-कवि' और

'मानवता के कवि' एक-साथ बन गये हैं। आप कह सकते हैं, 'प्रसाद का युग तुलसी का युग नहीं था और न प्रसाद तुलसी ही थे।' तर्क ठीक ही है, किन्तु, हमारा उत्तर होगा, 'दृष्टिकोण भिन्न होते हुए भी महाकवि जब महीयसी रचना की सृष्टि करने का संकल्प करता है, तब उसकी कारयित्री प्रतिभा का वह चमत्कार फूटना चाहिए जिससे सावधि युग और निरवधि काल, दोनों परस्पर इस प्रकार मिल जायँ जिससे हमें किसी कृत्रिमता का बोध न हो।' विश्व के समस्त महाकाव्यकारों ने यह उपलब्धि की है, प्रसाद चमत्कार-जननी श्रद्धा के सहयोग के बावजूद ऐसा नहीं कर पाये। प्रोफे० टिल्यार्ड ने घटनाओं के आकस्मिक रीति से शृंखलित करने की छूट महाकवियों को दी है, और प्रसाद ने इस छूट का उपयोग भी किया है। लेकिन, फिर भी 'कामायनी' का महाकाव्यत्व निर्विघ्नित नहीं बन सका। उसे ऐतिहासिक काव्य अथवा महाकाव्य कहने में हमारा संकोच निराकृत नहीं हो सका।

(ई) ऐतिहासिकता की कसौटी को निश्चित रूप से कारगर न समझ कर, कतिपय वर्तमान समालोचक 'कामायनी' में मानवता के विकास का "रूपक" और "मनुष्यता का मनोवैज्ञानिक इतिहास" खोजने तथा देखने का उद्योग करने लगे हैं। उनकी दृष्टि पूर्णतः निस्संग न होकर श्रद्धालु बन गई है। ऐसे आलोचकों का नेतृत्व डॉ० नगेन्द्र ने किया है। अतएव, उनकी तर्क-सरणी को तनिक सूक्ष्म परीक्षण आवश्यक बन जाता है।

डॉ० नगेन्द्र का कथन है कि महाकाव्य के रूप में 'कामायनी' का मूल्यांकन कवि के "मौलिक उद्देश्य के अधिक निकट" होगा।[1] अर्थात्, वह यह मान कर चलते हैं कि कवि सदा-सर्वदा अपने अभिलाष अथवा संकल्प में सफल ही होता है। यही से उनकी आलोचक-दृष्टि श्रद्धालु भावक की दृष्टि बन जाती है। तीसरी शताब्दी ईसा के प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक तथा समालोचक, कैसियस लोन्जाइनस, द्वारा रचित प्रख्यात ग्रंथ, 'On the sublime', से प्रेरणा ग्रहण कर नगेन्द्र ने 'कामायनी' के महाकाव्यत्व के परीक्षण के लिए 'उदात्त कथानक,' 'उदात्त कार्य अथवा उद्देश्य', उदात्त चरित्र', 'उदात्त भाव' और 'उदात्त शैली' के पंचविध सूत्र प्रस्तावित किये हैं। कथानक की उदात्तता का आधार वह यह बताते हैं कि 'कामायनी' की घटनाओं का क्षेत्र "ब्रह्माण्ड नहीं है, पिण्ड है—मानव-आत्मा या मानव-चेतना है।" इस सूत्र को पकड़कर, वह सम्पूर्ण कथानक को "मानव के अधिमानसिक जीवन" में घटित होने वाली घटनाओं के रूप में व्याख्यात करते हैं। मनोविश्लेषणीय स्थापनाओं के आधार पर उनकी

---

१. **कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ,' प्रथम संस्करण, पृ० १५.**

टिप्पणी है--"अवचेतन के उद्घाटन और तत्संबंधी अनुसंधानों से यह स्पष्ट हो गया है कि भौतिक जगत् का विराट् घटना-चक्र मानव-चेतना के अतल गह्वरों में होने वाले घटना-चक्र की छाया-मात्र है। कामायनी के कवि ने इस रहस्य को समझा जाता है और वर्तमान युग की वैज्ञानिक उपलब्धियो का उपयोग करते हुए अपने महाकाव्य में इसका प्रतिफलन किया है। कहने का अभिप्राय यह है कि कामायनी की घटनाओं में निश्चय ही महाकाव्योचित प्रबलता और आयाम हैं, किन्तु यह प्रबलता और आयाम आधिभौतिक अर्थात् बाह्य एवं ऐहिक नही है--चेतनागत तथा आध्यात्मिक है।"[१]

फ्रायड ने अवचेतन मानस का उद्घाटन करते हुए, 'ईड', 'ईगो' तथा 'सुपर-ईगो' की स्थापना की है, और इन कल्पनाओं से परिचित व्यक्ति जानता है कि हमारा कार्य-कलाप, 'ईड' की छाया से शासित होने पर भी, बहुत दूर तक व्यवहार--जगत् मे 'सुपर-ईगो' से रूपायित एमं सचालित होता है। यह 'सुपर-ईगो' अवचेतन नही, चेतन मानस की सृष्टि है। अतएव, डॉ० नगेन्द्र का भौतिक जगत् के विराट् घटना-चक्र को मानव-चेतना के अतल गह्वरों में होने वाले घटना-चक्र, अर्थात्, 'ईड', की छाया-मात्र बताना युक्तिसंगत नही। भौतिक विश्व मे घटित होने वाले संपूर्ण संघर्षो की जन्मभूमि अवचेतन मानस मे स्थिर करना नितान्त सरल टिप्पणी है इतना अवश्य स्वीकारा जा सकता है, जैसी मैंने एक अन्य प्रकरण मे स्वयं स्थापना की है, कि मनु के चरित्र का संघटन कवि ने असाधारण मनोविज्ञान के आदर्श पर किया है और उसमें अवचेतन मानस का प्रचुर उपयोग हुआ है। देव-दम्भ तथा प्रलय के वर्णन अथवा 'संघर्ष' सर्ग में मनु तथा प्रजावर्ग के बीच घटित द्वन्द्व-संघर्ष के चित्रण को मूर्त्त जगत् की महाकाव्योमय सघनता एव विस्तार से समन्वित घटनाएँ बताते हुए भी, नगेन्द्र अपनी पूर्वनिर्धारित 'थीसिस' के अनुरूप, मनु के भीतर अहंकार के जागरण तथा पराभव, उनकी कुंठाएँ, इड़ा-रूपिणी बुद्धि पर अधिकार जमाने तथा अन्तरात्मा की तीन प्रवृत्तियो के प्रतीक त्रिलोक के दर्शन से मानव-चेतना द्वारा सामरस्य की सिद्धि एवं पूर्णानन्द की उपलब्धि-इन्ही अधिमानसिक घटनाओं को अतिशय महत्त्व देते है और यह स्थापना करते है कि इनसे निर्मित कथानक में महाकाव्योचित "प्रबलता एवं आयाम" वर्तमान है--जो बाह्य तथा ऐहिक न होकर "चेतनागत तथा आध्यात्मिक" है।[२]

टी० एस० ईलियट ने अपनी आलोचनाओं में "वस्तुनिष्ठ संबंधक (Obe-

---

१. **'कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ,' प्रथम संस्करण, पृ० १७**

२. **वही : पृ० १७**

ctive correlative) की चर्चा की है जिसके समाश्रयण से कवि अपनी भावनाओं तथा चिन्तनाओं को अभिव्यक्ति प्रदान करता है । भारतीय काव्य-शास्त्र के 'विभाव' पक्ष को ही प्रकारान्तर से उसने अनुमोदन दिया है । यह सद्यः माना जा सकता है कि प्रसाद ने मनु की कहानी के व्याज से मानव-चेतना की कहानी कही है । तब पुनः प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या मानव-चेतना के विकास-क्रम में ठीक यही अधि-मानसिक घटनाएँ घटती हैं, अथवा, 'यही' नहीं तो 'इतनी-ही', नपी-तुली, निश्चित घटनाएँ घटी होंगी ? नृतत्त्वीय मनोविज्ञान इस प्रकार का कोई साक्ष्य प्रस्तुत नहीं करता । जब से मानव-चेतना का विकास आरंभ हुआ है, तबसे उसकी अध्यान्तरिक प्रतिक्रियाएँ लगभग समान रही हैं--प्रेम, वत्सलता, क्रोध, रहस्य, ईर्ष्या, करुणा इत्यादि मनोवृत्तियों में कोई उल्लेखनीय अन्तर नही पाया गया है । बर्बरता के धरातल से वर्तमान सभ्य एवं सुसंस्कृत धरातल तक पहुँचने में मनुष्य की अन्तश्चेतना के मौलिक ताने-बाने में कोई मौलिक अन्तर नहीं घटित हुआ है, प्रत्युत अनुभवों की शृंखला से तथा समाजबद्ध जीवन व्यतीत करने की बाध्यता से उसका बाह्य आचरण शिष्ट, सुघड़ तथा परिष्कृत बन गया है । अतएव, तात्त्विक दृष्टि से मानव की चेतना के विकास के प्रदर्शन का प्रयास व्यवस्थित नही जान पड़ता ।

तथापि, यदि ऐसा प्रयास कवियों की सर्व-स्वीकृत स्वच्छन्दता एवं प्रजा-पतित्व के आलोक में उचित भी मान लिया जाय, तो भी यह प्रश्न बना रह जाता है कि 'कामायनी' में मानव-चेतना के प्रवाह, अथवा 'विकास' ही सही, का जो चित्रण हुआ है, क्या उसमें इतनी शक्ति तथा आयाम वर्तमान है कि वह महाकाव्य के लिए उचित एवं अपेक्षित माना जा सके ? इस दृष्टि से विचार करने पर भी हमें निराश होना पड़ता है । मनु की चेतना के चित्रित पटलों में चिन्ता, आशा रहस्य, वासना, ईर्ष्या अहंकार, अनुताप, निर्वेद, राम तथा सामरस्य एवं चरम रूप में अभेदमूलक पूर्णानन्द की उपलब्धि—इतने ही स्वरूप दृष्टिगोचर होते है । इतने से भी मानव-आत्मा के विस्तार की एक यथेष्ट परिधि नप जाती है । लेकिन—फिर भी, वह सघनता, वह संकुलता, वह वैविध्य, चित्तवृत्तियों वह समृद्ध नाट्य जो हमारे लिए दिलचस्प तथा उन्मलिक ('रिवीलिंग') होता, कवि की प्रतिभा की पकड़ में नही आ सका है । असलियत यह कि उसने ऐसा कथानक ही नही चुना अथवा चुने हुए कथा-सूत्र का ऐसा नियोजन ही नही किया । मानव-चेतना का एक-ही पटल शक्ति-पूर्वक यहाँ उद्घाटित हो सका है, और वह है (मनु की) प्रभुत्व-कामना, जो अहंकार का अनियंत्रित विकसित स्वरूप है और जिसका पर्यवसान पराजय-मूलक निर्वेद में हुआ है । केवल इस एक पटल के सबल चित्रण से ही महाकाव्योचित

वस्तु-विन्यास की, अधिमानसिक ही सही, अपेक्षा की पूर्ति नहीं होती । कथानक की 'उदात्तता' की बात कहते हुए भी, नगेन्द्र अन्ततः वस्तु-संघटन की "प्रबलता और आयाम" के तत्त्व को ही प्रमुखता देने लगे हैं क्योंकि वह भी अपने अवचेतन की इस मौन स्वीकृति से पिंड नहीं छुड़ा सके हैं कि महाकाव्य की वस्तु-योजना में एक निश्चित 'आयाम' होना ही चाहिए जिसके ही सहारे जीवन का पूर्ण-गंभीर चित्रण संभव है । मानव-चेतना के जटिल, अनेक-रूप पटलों को खोलने के लिए भी भौतिक स्थितियों के संघर्ष की पृष्ठभूमि आवश्यक होती है । शेक्सपियर-जैसे नाट्यकारों ने भौतिक परिस्थितियाँ उत्पन्न कर ही, 'किंग लियर', 'ऑथेलो' इत्यादि त्रासदियों मे अभीष्ट मनोभाव का प्रभावकारी चित्रण करने में सफलता प्राप्त की है । यदि प्रसाद मानव-चेतना का महाकाव्य लिखना चाहते थे, तो उन्हें पहले भौतिक परिस्थितियों की उद्भावना एवं सृष्टि करनी चाहिए थी, और तब उनके घात-प्रतिघात के परिणाम-रूप में वह मनु की 'अधिमानसिक' 'घटनाओं', का भी शक्तिशाली चित्र उत्पन्न कर पाते । तब, कामायनी, सचमुच "मानव-चेतना का महाकाव्य"[1] बन गई होती ।

'उदात्त' का आमोघ सूत्र पकडते हुए भी, डॉ० नगेन्द्र मनु के चरित्र को उदात्त नही प्रमाणित कर सके हैं । उनका कथन है कि मनु का व्यक्तित्व-विकास "मानव-चेतना के विकास का प्रतीक है ।.....सहज मानव-चेतना का प्रतीक होने के नाते मनु का चरित्र विकासशील है; शैव दर्शन की शब्दावली में वह पाशव या आणव स्थिति से आरंभ होकर शाम्भव स्थिति को प्राप्त करता है ।"[2] जैसा मैंने अभी कहा है, मानव-चेतना के विकास का जो इतिहास मनु के मानस-प्रवाह के साथ दिखाया गया है, वह विश्वसनीय नहीं मनुष्य का मानसिक जीवन चिन्ता से प्रारम्भ होना है और मनु की "अनगढ़" चेतना की चित्रित अवस्थाओं से गुजरता हुआ आनंद को प्राप्त होता है—ऐसा मानने का अब तक मनोवैज्ञानिक आधार नही मिल सका है । यदि कवि मानव चेतना के विकास का ऐसा ही क्रम समझता है, तो फिर श्रद्धा तथा इड़ा की चेतनाएँ यह अनगढ़ स्वरूप क्यों नहीं प्रदर्शित करती ? जैसा, पुनः पहले कहा है, मानव-चेतना का विकास प्रदर्शित करना काव्य की सर्जनात्मक क्षमता पर बहुत बड़ा बोझ डालेगा और इसके लिए कथानक की दीर्घता एवं संकुलता परमावश्यक अपेक्षाएँ हैं । कथा का जो विरल, क्षीण तथा पतला

---

१. 'कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ,' प्रथम संस्करण, पृ० २३

२. वही : पृ० १९–२०

धागा प्रसाद ने लिया है, वह उनके गुरु-गंभीर प्रयोजन का भार वहन ही नहीं कर सकता। 'संघर्ष' सर्ग में भौतिक संघर्ष का जो वर्णन आया है, उसका परिणाम केवल हुआ है, मनु में पलायनशील निर्वेद की प्रस्फुरणा। वहाँ एक ऐसा प्रसंग उपपन्न था जिसमें मनु तथा इड़ा की अध्यान्तरिक प्रतिक्रियाओं तथा हलचलों का अतीव व्यंजक चित्र अंकित किया जा सकता था। लेकिन, प्रसाद उस अवसर का भी लाभ नहीं उठा सके।

'कामायनी' की शैली की "असाधारणता" एवं "नानावर्णन-क्षमता" को हम भी स्वीकार करते है, और यदि नगेन्द्र उसे 'उदात्त' की अभिधा देना चाहते हैं, तो हमारा यहाँ उनसे खास मत-भेद नहीं है। किन्तु, केवल भाषा शैली अथवा पदयोजना की शैली ही महाकाव्य के लिए आवश्यक नहीं। पाश्चात्य समालोचक ऐबरक्राम्बी का मत मैंने इसी प्रकरण में पहले उद्धृत किया है। आकार के महत्त्व का प्रत्याख्यान करते हुए भी, उसने प्रबन्धकार की "समग्र कल्पना-शैली" को महत्त्व दिया है जिसके अवलंबन से वह प्रबंध की मानसिक योजना बनाता है और रचना के शिल्प को सँवारता है। प्रसाद ने रचना के शिल्प को अवश्य सवाँरा है, किन्तु वस्तु की मानसिक योजना में उनकी प्रतिभा-शैली कुंठित हो गई और और वह वैसी वस्तु-योजना नही बना सके जो ईलियट के शब्दों में उनके अभीष्ट उद्देश्य को चरितार्थ करने के लिए उपयुक्त" "वस्तुनिष्ठ संबंधक" बन सके। तो, नगेन्द्र मनु के चरित्र में औदात्त्य नहीखोज सके और "सहज मानव के प्रतिनिधित्व" तथा "शैव दर्शन की शब्दावली"[1] की आड़ लेकर उन्होंने कवि की तरफ से सफाई भी दे दी। यह तो, लेकिन, नितान्त स्पष्ट ही है कि "उदात्त चरित्र" का फार्मूला उन्हें काम नहीं दे सका।

'कामायनी' के कार्य अथवा उद्देश्य की तथा उसमें प्रतिष्ठित "महाभाव" की उदात्तता स्वीकारी जा सकती है। इच्छा, क्रिया तथा ज्ञान का समन्वय उद्देश्य, है और अखंड आत्मरस या आनंदरस "महाभाव" है।)इन दोनों के औदात्त्य के स्वीकरण के बाद भी, यह मूल प्रश्न बना रह जाता है कि क्या केवल उद्देश्य अथवा मूलभाव की निजी उदात्तता ही किसी रचना को महाकाव्य बना देगी ? ऐबरक्राम्बी ने कहा है कि महाकाव्यों के संसार में घटने वाली प्रत्येक घटना की कोई गंभीर अर्थवत्ता होनी चाहिए और उनमें एक प्रतीकात्मक उद्देश्य भी व्याप्त होना चाहिए—जो उन्हें मोड़ता एवं रूपायित करता हो। यह कथन 'कामायनी' के महाकाव्यत्व को आपातिक विश्वसनीयता प्रदान

---

१. 'कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ,' प्रथम संस्करण, पृ० २०

करता है । 'कामायनी' में केवल दो महत्त्व की घटनाओं का वर्णन है—जल-प्लावन में देव-सभ्यता का विनाश और सारस्वत प्रजा-द्वारा मनु के विरुद्ध विद्रोह । इन दोनों की अर्थवत्ता स्वीकार्य हो सकती है । और प्रतीकात्मक उद्देश्य की वर्तमानता भी सहज ही बोधगम्य है । लेकिन, इन दोनों घटनाओ से केवल एक सिद्धि मिलती है—चरित-नायक मनु में निर्वेद का जनन । जिसे मूल उद्देश्य माना गया है—इच्छा, क्रिया तथा ज्ञान का समन्वय उसके परिपोष की दिशा मे इन घटनाओं से कोई सहायता नही मिली है । कवि ने इन तीनो लोकों का जो वर्णन किया है और उसमें इन तीन मनोवृत्तियो का जो काव्यात्मक चित्र उपस्थित किया है, उनसे मनु के अन्तर्जीवन के अब तक के उद्‌घाटित पटलों अथवा स्वरूपों का कोई प्रत्यक्ष मेल नही दिखाई पड़ता । इच्छा, क्रिया तथा ज्ञान का त्रिकोणात्मक संघर्ष पहले मनु अथवा श्रद्धा अथवा इड़ा में प्रदर्शित हुआ होता तो त्रिदिक विश्वों के सम्मिलिन के चमत्कार को सार्थकता मिल गई होती । अतएव, यह बहुश्लाघ्य उपलब्धि कृत्रिम, ऊपर से थोपी गई प्रतीत होती है । और इससे भी बढकर कृत्रिम अतिम सर्ग मे निबद्ध समरसतामय आनन्द का मोहक उपप्लवन दिखाई पड़ता है । विश्व के जाने-माने महाकाव्यों में जो प्रतीकात्मक उद्देश्य व्यजित हुआ है, वह उनमें वर्णित घटनावली की स्वाभाविक फलसिद्धि, के रूप मे प्रतिफलित हुआ है । जब घटनाओं तथा कवि के अभीष्ट मूल उद्देश्य में सगति स्थापित होती है, तभी, ऐवरक्राम्बी के शब्दो में, प्रत्येक घटना की गभीर अर्थवत्ता होगी और तभी वह उद्देश्य सही, स्वाभाविक रीति से काव्य की धारा को अपने अनुकूल मोड दे सकेगा । मेरी समझ मे तो त्रिदिक् विश्व के आनयन अथवा अन्तर्निवेश के लिए काव्य में उसके पूर्व कही कोई प्रत्यक्ष औचित्य अथवा आधार तैयार नही किया गया है—आनद की सिद्धि तो मनु के निर्वेद की चरम परिणति मानी भी जा सकती है । श्रद्धा अथवा इडा को रागात्मिका वृत्ति और व्यवसायात्मिका बुद्धि वृत्ति का प्रतीकत्व प्रदान करने से हमें संतोषकारी समाधान नही मिलता । सपूर्ण चमत्कार तो श्रद्धा की मुसकान से परिणमित हुआ है । आनद के मूलभोक्ता तो मनु स्वय है; इडा भी मुख्यत. तमाशाबीन रही है । केवल इतना निवेदन करने के बाद इड़ा उस समग्र संदर्भ मे मौन रही है—

"हम सब एक कुटुम्ब बनाकर
यात्रा करने है आये;
सुन कर यह दिव्य तपोवन
जिसमें सब अघ छुट जाये ।"

अतएव, मनु के ही भीतर अतिम चरण में ऐसा समझा जा सकता है—

इच्छा, क्रिया तथा ज्ञान की समन्वयबुद्धि जगी है जिसके प्रसाद-रूप में वह अकेले पूर्णानन्द का भोग कर रहे हैं। इसी कारण, मेरी आपत्ति है कि त्रिदिक् विश्व के सम्मिलन तथा त्रिविध मनोवृत्तियों के मिलन-स्वरूप मनु के "दिव्य अनाहत निनाद" में तन्मय होने के पूर्व, मनु के अध्यन्तर में इच्छा, क्रिया एवं ज्ञान के पारस्परिक वैषम्य अथवा संघर्ष का चित्रण होना चाहिए था। प्रसाद ऐसा नहीं कर सके, और इसी उल्लेख्य असफलता के कारण उनका मूल उद्देश्य प्रबन्ध की मानसिक योजना के नैसर्गिक परिणाम-रूप में निष्पन्न नहीं हो सका।

इस प्रकार, 'कामायनी' को "मानव-चेतना के विकास का महाकाव्य" अथवा "सम्पूर्ण मानवता के विकास की गाथा" बताना अर्थवाद से अधिक नहीं समझा जायेगा। श्रद्धालु दृष्टि किस प्रकार अपनी स्थापनाओं की दुर्बलता का भान कर अपनी स्थितियाँ बदलती रहती है, इसका एक उदाहरण इधर हाल में प्रकाशित डी० लिट्० के एक शोध-प्रबन्ध में किया गया। यह उल्लेख है कि 'कामायनी' "आधुनिक चेतना का संवाहक महाकाव्य" है।[1]

आज के व्यक्ति की चेतना "विभक्त, विशृखलित व खंडित चेतना" मानी भी जाय, तो भी मनु अथवा इड़ा की चेतनाओं में इस विशृखलता एवं विभक्तता का वह समृद्ध चित्रण उपलब्ध नहीं जो इस जाति के संभावित महाकाव्य में होना चाहिए।

ग.

'कामायनी' के मूल में सन्निहित उद्देश्य तथा उसका शिल्पगत सौन्दर्य एवं आकर्षण—यही तत्त्व है जिनके आधार पर श्रद्धालु पाठकों तथा पंडितों ने, स्वयं कवि की अभिलाषा का सूत्र पकड़कर और उसमें महाकाव्य के कतिपय बाह्य लक्षणों की निष्पत्ति के आलोक में, उसे महाकाव्य स्वीकार किया है। लेकिन, "तत्त्वाभिनिवेशी" समालोचक वर्ण्यवस्तु ('कण्टेण्ट') के—चाहे वह भौतिक हो, चाहे मानसिक या मनोवैज्ञानिक—निश्चित आयाम तथा उसके सुसंगत, स्वाभाविक नियोजन एवं परिणति के अभाव में विवेच्य रचना को 'महाकाव्य' का पांक्तेय गौरव प्रदान करने में ईमानदारी का संकोच महसूस करता है।

---

१. डॉ० रमेश्वर दयाल खंडेलवाल, 'जयशंकर प्रसाद, वस्तु और कला, पृ० २२

६ | अंगी रस : अद्‌भुत

क.

आनन्दवर्धन ने प्रबंध काव्य मे, नाना रसो का निबधन होते हुए भी, किसी एक रस को अंगीरस, अर्थात्, मूल रस स्वीकार किया है।[1] प्रबंध में प्रथम प्रस्तुत होकर जो रस पुनः-पुनः अनुसंधीयमान होता है, वह स्थायी रस 'अंगी-रस' कहा गया है।[2] इस प्रकार मूल वा अंगी रस वस्तु-विन्यास मे लगभग आद्योपात व्याप्त होता है और उसमे निबधित अन्य रस, अपने-अपने पृथक् संदर्भो चर्व्यमाण होते हुए भी, मूलतः किवा अन्ततः, उसी रस के उपकारक होते है। इसी दृष्टि से महाभारत मे शात तथा रामायण मे करुण रस का अंगीत्व स्वीकार किया गया है। 'कामायनी' का महाकाव्यत्व विवाद का आस्पद भले हो, उसका प्रबन्धत्व, स्पष्ट ही सिद्ध है। अतएव, उसके मूल रस का अन्वेषण किया जा सकता है, जैसा पडितो ने किया भी है।

'कामायनी' के मूल रस की गवेषणा मे विद्वानो का ऊर्जस्वल समुदाय शान्त का पक्षधर रहा है। संस्कृत के आचार्यो मे उद्‌भट ने सर्वप्रथम भरत द्वारा निर्दिष्ट आठ रसो मे शान्त को मिलाकर नवरसो का उल्लेख किया है।[3] मम्मट ने नवम रस के रूप मे शान्त को स्वीकार करते हुए निर्वेद को

---

१. "प्रसिद्धेऽपि प्रबन्धनां नानारस निबन्धने।
एको रसोऽङ्गीकर्त्तव्यः × × ॥"
('ध्वन्यालोक', ३।२१)

२. "प्रबन्धेषु प्रथमतरं प्रस्तुत. सन् पुन पुनरनुसन्धीयमानत्वेन
स्थायी यो रसः ··· ··· ··· ··· ।"
(वही, ३।२२ की वृत्ति)

३. "शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानका.।
बीभत्साद्‌भुतशान्तश्च नव नाट्ये रसाः स्मृतः ॥"
(काव्यालङ्कारसार संग्रह, ४।१४)

उसका स्थायी भाव बताया है।[१] तत्वज्ञान, विपदा, ईर्ष्या इत्यादि के कारण अपनी अवमानना का नाम निर्वेद है।[२] यह निर्वेद वैराग्य अथवा सांसारिक विषयों से विमुखता का पर्याय है। लेकिन, निर्वेद एक अभावात्मक (निगेटिव) भाव है और उसे शान्तरस का उत्पादक नही माना जा सकता क्योंकि रसवाद की सम्पूर्ण कल्पना रसास्वाद की आनन्दमयता पर अवलम्बित है। अभावात्मक निर्वेद पर आश्रित शान्त आनन्दमूलक नही हो सकता। इसी कारण अभिनवगुप्त ने शान्त का स्थायीभाव 'शम' (शान्ति) को स्वीकार किया है जो अपनी प्रकृति में एक विधेयात्मक भाव है। उनके अनुसार शम "समस्त-तृष्णा-क्षयसुखात्मा" है, अर्थात्, समस्त लौकिक तृष्णाओं से सुखात्मक निवृत्ति ही शम है और उसके परिपोष के निष्पन्न रस शान्तरस है। अन्यत्र निरीहावस्था में आत्म विश्रान्तिजन्य आनन्द को शम कहा गया है।[३] अभिनव ने शान्त को ही मूक रस प्रतिपादित किया है, और उसकी तात्विक आनन्दधर्मिता पर बलाघात दिया है। विद्वानों ने इसी शममूलक आनन्दात्मक शान्त को 'कामायनी' का अंगीरस का प्रतिपादित किया है।

यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि प्रबन्धनायक मनु के भीतर इस शम का प्रस्फुटन प्रदर्शित कर ही, 'कामायनी' के अगीरस का गौरव शान्त को दिया गया है। मै इस प्रश्न पर दूसरी रीति से विचार करने का अनुरोध कर रहा हूँ। अभिनव के 'अभिव्यक्तिवाद' से हम सभी जानते है कि रसावस्था में प्रभाता अपने अन्तःकरण में ही वासनात्मतया अवस्थित स्थायीभाव का आस्वादन करता है। विचारणीय यह है कि यदि यह मान भी लिया जाय कि प्रबन्ध के अन्तिम सर्गों में मनु सचमुच 'शान्ति' की खोज करने लग गये हैं, तो भी क्या भावक भी उनके परिवर्तित मनोभाव के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर पाता है ? दूसरे शब्दों मे, क्या भावक के अभ्यन्तर में निसर्गतः स्थिर रहने वाला 'शम' स्थायी भी मनोविश्रान्तिकारक परिपोष की अवस्था को अधिगत कर लेता है ? वस्तुतः प्रभाता के वासनात्मक इत्यादि भावो का परिप्लवन ही रसास्वाद है।

---

१. "निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमोरसः।"
('का० प्र०' चतुर्थ उल्लास, सू० ४७)

२. तत्त्वज्ञानापदीर्ष्यादेर्निर्वेदः स्वावमाननम् ॥',
('साहित्य दर्पण', ३।१४२)

३. "शमोनिरीहावस्थायामानन्दः स्वात्मविश्रामादिति।"
(नगेन्द्र : 'रससिद्धांत' पृ० ३१)

इस कसौटी पर कसने से शान्त का अंगीत्व विच्छिन्न हो जाता है। 'निर्वेद' सर्ग तक तो मनु का सम्पूर्ण जटिल आचरण भानुदत्त के द्वारा प्रतिपादित 'माया-रस' से सराबोर है। किन्तु जब उसे निवृत्ति की ओर अभिमुख दिखाने का प्रयास कवि द्वारा किया जाता है, तब उसकी कला हमारी 'आस्तिक बुद्धि' पर अनुचित दबाव डालती है और मनु की चित्तवृत्ति का दिशान्तरण हमारी सहृदय-सुलभ आस्था से कट जाता है। इस प्रसंग में हमारा आग्रह है कि आप प्रत्यभिज्ञा अथवा शैवागम के सिद्धान्तों की जवनिका मे प्राभात के निजी अनुभव को प्रच्छन्न करने की चेष्टा न करें।

'निर्वेद' सर्ग मे हमें कदाचित् सबसे पहले मनु की शान्ति की भूख भी क्षीण प्रतीत होती है—

"श्रद्धा के रहते यह सम्भव
नहीं कि कुछ कर पाऊँगा,
तो फिर शान्ति मिलेगी मुझको।
जहाँ खोजता जाऊँगा।"

द्रष्टव्य यह है कि मनु श्रद्धा-कृत उपकारो के भार से दबे हुए है और शत्रुओ से प्रतिशोध भी लेना चाहते है। लेकिन, श्रद्धा के रहने—जो दया, माया, ममता एवं मधुरिमा की सजीव प्रतिमूर्ति है—वह प्रतिहिंसा का अवलम्ब नही ले सकते। इस कारण, बाध्यता-वश वह शान्ति की खोज करने का उपक्रम कर रहे है। 'चिन्ता' सर्ग मे उनकी विरक्ति का जो चित्रण उपलब्ध है,[1] उसे 'निर्वेद' सर्ग की इस शान्ति-खोजी मनोवृत्ति से तत्त्वतः नही जोड़ा जा सकता। भीषण जलविप्लव में घटित व्यापक विध्वंस के परिणामस्वरूप जीवन से विरक्ति का अनुभव एक वस्तु है और अविचार-व्याभिचार के परिणामों से मुमूर्षु तथा प्रतिशोध लेने मे असमर्थ व्यक्ति की जीवन-विरक्ति दूसरी वस्तु है। पहले मे यह सम्भावना गर्भित है कि वह शम अथवा सच्चे निर्वेद का आयाम ग्रहण कर सके जबकि दूसरे मे सम्भावना झाँकती है कि वह अवसर मिलने पर अपना अवगुण्ठन हटा दे और प्रतिपक्षियो को उसी सिक्के में उनका मूल्य चुका दे। 'निर्वेद' सर्ग वाली शान्ति-कामना की कृत्रिमंता मनु के इस

---

१. "गया, सभी कुछ गया, मधुरतम
सुर-बालाओं का शृङ्गार,
उषा ज्योत्स्ना-सा, यौवन-स्मित,
मधुप-सदृश निश्चिन्त विहार।" इत्यादि।

कथन से भी विज्ञप्त होती है कि "जीवन सुख नहीं है, विकट पहेली है। अरे मनु, भाग चल, इस इन्द्रजाल से कितनी व्यथा मैंने नहीं झेली है।"

मनु ने जिस स्तर पर और जिस पद्धति से जीवन का भोग करने का प्रयास किया है, उसमें मिलने वाली असफलता किसी भी व्यक्ति में जीवन को पहेली अथवा इन्द्रजाल के रूप मे परिभाषित करने की प्रवृत्ति उत्पन्न कर सकती है। पहेली या इन्द्रजाल से पलायन करने वाला मनुष्य सच्चे निर्वेद किवा शम का आश्रय नही बन सकता, कारण कि वह पहेली अथवा इन्द्रजाल उसे पुनः आकर्षित कर सकता है।

आगे, 'दर्शन' सर्ग में चित्रित मनु की चित्तवृत्तियों का विश्लेषण विषय को और भी स्पष्ट बनाएगा। सरस्वती के तट पर एक लतावृत गुहा में छिपे मनु "मातृमूर्ति" श्रद्धा को देखकर कहते है—"आह ! तुम रमणी नहीं। तुमने जिस पुत्ररत्न को रो-रो कर पाया, उसे ही तुमने उन्हें सौप दिया जिनमे मैं प्राण लेकर भाग आया हूँ। क्या ऐसा करते समय तुम्हारा मन कराह न उठा ? ये श्वापद-से अधीर हिंसक हैं और वह बाल-वीर कोमल शावक है। तुम्हारा हृदय कितना कठोर है ! इड़ा फिर भी छल कर गई।" श्रद्धा के इस उपालम्भ का समाधान करने पर मनु पुनः कहते हैं—"हे देवि ! तुम कितनी उदार हो ! तुम क्षमा-निलय में रहती हो। मैं तुमको निहार कर भूला हूँ। वह लघु विचार है। मैं भाव-चक्र में पिस-पिस कर, बढ़ते-बढ़ते चला आया हूँ। मैं अपनी सत्ता खोकर शून्य बन गया हूँ। मेरे वक्ष को चीर कर मेरी लघुता मत देखो। उसमें पश्चाताप का तीर घुसा हुआ है।"

इन समस्त कथनों पर विचार करने से प्रतीत होता है कि मनु के अन्तस् में अपनेपन का, पुत्र-स्नेह का, श्रद्धा की अनन्यसाधारण उदारता का तथा उसके प्रति अपने आचरण पर गहन अनुशय का भाव पंख फड़फड़ा रहा है। सूक्ष्मता से विचार करें तो जान पड़ेगा कि यह समग्र भाव-मिश्रण आत्म-केन्द्रित है और इसमें "समस्ततृष्णाक्षय" की स्पष्ट छाया भी नहीं दिखायी पड़ती।

लेकिन, प्रसाद स्वयं चाहते है कि मनु के भीतर शान्तरस की कुल्याएँ प्रवाहित की जायँ।

उनकी अपनी रसविषयक मान्यता शैवागम से प्रभावित है और रस की प्रशान्ति-मूलक आनन्दमयता पर आस्था रखते हुये, उन्होंने यह स्थापना की है कि "यह शान्तरस निस्तरंग महोदधि-कल्प समरसता ही है।"[1] प्रसाद अपनी इस मान्यता को मनु के चरित्र में प्रतिफलित करने की लालसा से अनुप्राणित

---

१. 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध', चतुर्थ संस्करण पृ० ७५-७८

होकर, नटराज, शंकर के सुन्दर आनन्दपूर्ण ताण्डव का मनु को दर्शन कराते हैं जिससे मनु हतचेन हो पुकार उठते हैं—

"यह क्या श्रद्धा ! बस तू ले चल,
उन चरणों तक, दे निज संबल
सब पाप-पुण्य जिसमें जल-जल
पावन बन जाते हैं, निर्मल,
मिटते असत्य से ज्ञान-लेश
समरस, अखण्ड, आनन्द-वेश ।" ('दर्शन')

वास्तव में, इसी स्थल पर पहुँचने पर हमें एक झटके से प्रतिभास होता है कि मनु शायद सचमुच तत्त्वज्ञान से प्रभावित हो, समरसता एवं अखण्डानन्द वाले नर्तित नटेश की ओर झुक गये है। शान्तरस का एक आयाम, किसी (आनन्दमयी) अलौकिक सत्ता की अनुभूति जिसके सान्निध्य में लौकिक तृष्णाएँ विनष्ट हो जाती है, यहाँ प्रस्फुट हुआ है। छायावाद के एक प्रमुख तत्त्व, विस्मय की सृष्टि, का विनियोग कर, कवि ने यहाँ मनु के अभ्यन्तर में शम-जैसी भावस्थिति उत्पन्न कर दी है। आस्थाशील भावक भी यहाँ मनु की मानसिक अवस्था से तादात्म्य का अनुभव करने लगता है।

लेकिन 'रहस्य' सर्ग में कवि की इस क्षणिक उपलब्धि का रहस्य विनष्ट हो गया है। श्रद्धा मनु का ऊर्ध्व देश में नयन करते-करते, ऐसे समतल पर पहुँचती है जहाँ से 'त्रिदिक् विश्व' के तीन आलोक-पिंडों का दर्शन मिलना है। स्मरण रखें कि मनु में नर्तित नटेश के साक्षात्कार से शम-भाव उत्पन्न हो गया है और कवि की कला से उम्मीद की जाती है कि वह इस अभीप्सित भाव के परिपोष में, कम-से-कम प्रबन्ध की अन्तिम चरणों मे तो अपनी कुशलता का परिचय देगी। किन्तु, मनु की तात्कालिक प्रतिक्रिया वही इन्द्रजाली प्रतिक्रिया होती है—

"मनु ने पूछा, कौन नये ग्रह
ये है, श्रद्धे ! मुझे बताओ,
मैं किस लोक बीच पहुँचा, इस
इन्द्रजाल से मुझे बचाओ ;" ('रहस्य')

श्रद्धा इस इन्द्रजाल के सुलझाव में इच्छा, क्रिया तथा ज्ञान लोकों का वर्णन करती है और अन्ततः अपनी मुसकान-रेखा से तीनों को परस्पर सम्बद्ध कर देती है। ईमानदारी की बात है कि यहाँ पुनः दूसरा इन्द्रजाल अपनी विस्मयकारी छटाएँ दिखाने लगा है। और, यदि हमें किसी रस की अनुभूति होती है, तो वह 'अद्‌भुत रस' है। कवि ने यहाँ जो महाकाल के विषम नृत्य

की ज्वाला में स्वप्न, स्वाप तथा जागरण के भस्म होने तथा दिव्य, अनाहत निनाद में मनु के तन्मय होने का कथन किया है, वह भी भावक में विस्मय की अनुभूति को ही परिपुष्ट करता है, उसके विवक्षित शम-जन्य शान्त का नहीं। यहीं पर कह देना उचित प्रतीत होत. है कि तन्मयता अथवा आनन्द का अनुभव शान्त का ही एकाधिकार नहीं, अपितु वह रसमात्र का व्यवच्छेदक धर्म है।

'आनन्द' सर्ग का निबन्धन तो कवि की दार्शनिक मान्यताओं के परिपोष-हेतु ही हुआ है। यहाँ विस्मय–तत्त्व को ही अधिक विश्वसनीय आयाम जाने-अनजाने प्रदान किया गया है। इस विश्वसनीयता के उपलालन के लिए इड़ा के नेतृत्त्व में सारस्वत-वासियों का जुलूस मानसरोवर के सुरम्य प्रदेश में पहुँचाया गया है। शम के परिपोष के लिए, जो कवि की अपनी अभिलषित वरीयता है, इड़ा के मुख से कहलाया गया है कि "जगती की ज्वाला" से झुलसाया एक मनस्वी इस गिरि-प्रान्त में सपत्नीक संसृति की सेवा कर रहा है। उसके बाद की कहानी तो प्रत्यभिज्ञा के अभेदमूलक सामरस्य वाले आनन्द के सिद्धान्त का काव्यात्मक अनुवचन बन गयी है। इस चरम परिणित में, भावक की मनोभूमि शान्त के उपप्लवन से संसिक्त नहीं बनती, अपितु वहाँ भी इन्द्रजाल-जननी श्रद्धा के मधु अधरों की लघु रेखाओं से प्रकृति में मोहक, विस्मयकारी परि-वर्तन घटित हो जाता है। "क्षण-भर" में विश्व-कमल के अणु-अणु पिग पराग से मचलने लगे हैं और आनन्द-सुधा-रस छलकने लगा है। एक दिव्य "प्रेम–ज्योति" के दर्शन से समस्त नरसमुदाय की आँखें परितृप्त बन जाती हैं और कवि प्रबन्ध का पर्यवसान कर देता है—

"समरस थे जड़ या चेतन,
सुन्दर साकार बना था,
चेतनता एक विलसती,
आनन्द अखण्ड घना था।"

शान्त रस की सिद्धि के लिए इस छन्द का प्रचुर उपयोग किया गया है। किन्तु, तनिक सावधानी से विचार करें तो जान पड़ेगा कि सामरस्य, सौन्दर्य, चैतन्य तथा आनन्द का यहाँ जो एकत्र कथन हुआ है, वह प्रसाद की दार्शनिक आस्था का काव्य-सुलभ अनुवाद ही है। सहृदय भावक अपनी व्यभिचारिणी बुद्धि से पिण्ड नहीं छुड़ा पाता और उसे यह स्मरण हो ही जाता है कि यह सम्पूर्ण करामात उसी श्रद्धा की मुसकान से परिणामित है और केवल "क्षण-भर" की ही सृष्टि है—

"क्षण भर में सब परिवर्तित,
अणु-अणु के विश्व-कमल के,
पिंगल पराग से मचले,
आनन्द-सुधा-रस छलके ।" ('आनन्द')

प्रबुद्ध पाठक आसानी से समझ सकते है कि क्षण-भर में विस्मय-भाव ही सघन बन सकता है, शम-भाव नही । हम विस्मयविभोर हो उठते है कवि की की चमत्कारविधायिनी कला पर जो अपने स्वामी के प्रतिपाद्य-दर्शन की तो पुष्टि करती है, किन्तु जो उसके अभीष्ट रस की सिद्धि मे उसका साथ छोड़ देती है और प्रबुद्ध भावक के अभ्यन्तर में अब तक जाग्रत एव उपलालित विस्मयजन्य अद्‌भुत की परिपुष्टि में ग्रहीता के साथ सहयोग करती है ।

अतएव, उपर्युक्त तथ्यो के आलोक मे यह निश्चित है कि 'कामायनी' का मूल रस शान्त नही बन पाया है, भले कवि का वह अभीष्ट रहा हो अथवा शैवागम या प्रत्यभिज्ञा के आधार पर मूर्धन्य समीक्षक भी उसका पक्ष-पोषण करते रहे हो ।

ख.

प्रस्तुत गवेषणा के उत्तरपक्ष मे मै स्थापना करूँगा, जैसा पूर्व विवेचन मे यत्रतत्र संकेतिक किया गया है, कि कामायनी का मूलरस 'अद्‌भुत' है ।

इस स्थापना को पल्लवित करने के पूर्व मै यह निवेदन करना आवश्यक समझता हूँ कि अद्‌भुत रस का महत्त्व भी आचार्य-परम्परा में कथित हुआ है । एक मूलरस की कल्पना करते हुए, जैसे करुण, शान्त, शृगार तथा भक्ति रस की प्रतिष्ठा हुई है,[1] वैसे-ही महापात्र विश्वनाथ के प्रपितामह नारायण पंडित द्वारा अद्‌भुत को मूलरस प्रतिपादित किया गया है । विश्वनाथ ने रस-विवेच मे अपने पूर्ववर्ती विद्वान् धर्मदत्त के साक्ष्य पर यह कथन किया है—

"रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते ।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्‌भुतो रसः ।
तस्मादद्‌भुतमेवाह कृती नारायणो रसम् ।"
(सा० द०, विमला टीका, १९८६, पृ० ४९)

---

१. "एको रसः करुण एव ।" (भवभूति)
"शान्तात्तु प्रकृतिमतः ।" (भरत)
"शृङ्गारमेव रसनाद्रसमामनामः ।" (भोजराज, 'शृङ्गार प्रकाश')
"स च रसो भगवद्‌भक्तिमय एव ।" (रूपगोस्वामी, 'भक्तिरसामृतसिन्धु')

अर्थात्, रस में चमत्कार सर्वत्र सारभूत प्रतीत होता है। इसी चमत्कार के सारभूत होने से सर्वत्र अद्भुत रस ही अनुभूत होता है। अतएव, नारायण पंडित एक अद्भुत रस ही मानते हैं।

वास्तव में, रसानुभूति में चमत्कार का महत्त्व असंदिग्ध है। अभिनव ने शैव दर्शन की प्रेरणा से चमत्कार का अर्थ लिया है, विघ्नरहित आत्मप्रतीति, आत्मास्वाद या आत्मानन्द।[१] काव्यलक्षण का निरूपण करते समय पंडितराज ने चमत्कार को अलौकिक का पर्याय माना है तथा उसे एक विशिष्ट प्रकार की आनन्ददायिनी अनुभूति कहा है।[२]

नारायण ने उक्त उद्धरण मे चमत्कार को विस्मय का पर्याय मान लिया है। तत्त्वतः विस्मय तथा चमत्कार के समीकरण में कोई आपत्ति नहीं दीखती। विस्मय की परिभाषा मे विश्वनाथ ने लिखा है—"लोकसीमा से अतिक्रान्त, अलौकिक सामर्थ्य से युक्त किसी वस्तु के दर्शनादि से उत्पन्न चित्त के विस्तार को विस्मय कहा जाता है।[३]

इस प्रकार, चित्तविस्फारक होने के कारण विस्मय को चमत्कार की सृष्टि करता है, मान लिया गया हो तो कोई तात्त्विक विवाद उत्पन्न होने का अवकाश नही है।[४]

'कामायनी' छायावादी काव्य है जिसकी सौन्दर्य-चेतना विस्मय की कील से ही मुख्यतः उलझी हुई है। अतः, अपने दार्शनिक आग्रह के बावजूद, कवि विस्मयभाव से मुक्त नहीं हो सका है क्योंकि उसकी 'रमणीय' की खोज ही विस्मय से प्रारम्भ हुई है। इतना ही नही, प्रबन्ध के प्रारम्भिक छन्द में ही विस्मय व्यज्यमान हो उठा है।[५]

---

१. 'हिन्दी अभिनव भारती,' पृ० ४७१–७२।

२. "रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता। लोकोत्तरत्वं चाह्लादगतचमत्कारत्वापरपर्योऽनुभवसाक्षिको जातिविशेषः।"
('रसगंगाधर', प्रथम आनन)

३. "विस्फारश्चेतसो यस्तु स विस्मय उदाहृतः।"
('साहित्यदर्पण', ३।१८०)

४. विश्वनाथ ने रसविरोध प्रकरण में अद्भुत का किसी अन्य रस से विरोध नहीं प्रदर्शित किया है। अतएव, 'कामायनी' के अंगीरस अद्भुत में उसमें उपलब्ध अन्य समस्त रसों का समाहार हो जाता है। (लेखक)

५. "हिम–गिरि के उत्तुंग शिखर पर
बैठ शिला की शीतल छाँह,

कवि ने, जाने-अनजाने रचना का श्रीगणेश ही विस्मय की ध्वनि से किया है। मैं कहना चाहूँगा कि शायद जानबूझकर ऐसा किया गया है क्योंकि समरस आनन्द के मूल स्रोत शंकर स्वयं ही अपने आनन्द-ताण्डव में विस्मय की सृष्टि करते है।[1] 'चिन्ता' सर्ग का नियोजन इसी विस्मय की पीठिका में किया गया है। 'आशा' सर्ग से मुख्य कथा का सूत्रपात होता है। इस सर्ग के प्रथम छन्द ही आनन्दपूर्ण विस्मयभाव को उद्दीप्ति करते है--

"उषा सुनहले तीर बरसती,
जयलक्ष्मी-सी उदित हुई,
\+ \+ \+
यह विवर्ण मुख त्रस्त प्रकृति का
आज लगा हँसने फिर से।" ('आशा')

"विगत विश्व का नव एकान्त," हेम घोलने वाला "वह विराट," वह "अनन्त रमणीय," चन्द्रिका के स्निग्ध आलोक मे खुलने वाली अलस चेतना की आँखे, हृदय-कुसुम की अचानक खिली मधु-भीगी पाँखे, मधुर भूख के समान नव-दीप्त "अनादि वासना" (चिर-परिचित के समान प्रतीयमान होने पर भी)--मनु को होने वाले ये समस्त अनुभव उसे रहस्यपूर्ण विस्मय तथा सुखद आश्चर्य की स्रोतस्विनी मे प्रक्षिप्त कर देते है। मनु व्यक्त विश्व की रमणीयता एवं रहस्यपूर्णता की प्रतीति से भी अभिभूत हो जाते है और अपने अन्तःकरण के अव्यक्त गुहा-प्रदेश की मधुर हलचल से भी चचल बन जाते है। सर्गान्त मे, "इन्द्रजाल-जननी" रजनी" के मादक माधुर्य का जो वर्णन किया गया है, वह विस्मय-तत्त्व के अन्तर्भाव से ओतप्रोत है। जब कवि यह सम्भावना व्यक्त करता है कि रजनी हाँफती हुई किसी प्रियतम के पास चली जा रही है अथवा अपने "जीवन की छाती" के घावो का अनुसंधान कर रही है, तब ही विस्मय भाव का दीपन नही होता, अपितु जब मनु रजनी-रानी के भोले माधुर्य पर मुग्ध होकर उसे सुकुमार उपालम्भ देते है, "देख अकिंचन जगत लूटता, तेरी छवि भोली-भाली," तब भी वह हृदयाकर्षक विस्मय के क्रोड़ में ही

एक पुरुष भीगे नयनों से
देख रहा था प्रलय प्रवाह।" ('चिन्ता')

१. **"देखा मनु ने नर्तित नटेश,**
हतचेत पुकार उठे विशेष;
यह क्या ! श्रद्धे ! बस तू ले चल,
उन चरणों तक, दे निज संबल;" इत्यादि ('दर्शन')

विश्रान्त हैं।

'श्रद्धा' सर्ग भी विस्मय के ध्वनन से प्रारम्भ होता है—

"कौन तुम ? संसृति–जलनिधि-तीर
तरंगों से फेंसी मणि एक,
कर रहे निर्जन का चुपचाप
प्रभा की धारा से अभिषेक।"

श्रद्धा के अप्रत्याशित प्रश्न पर तो मनु को कुतूहल हुआ ही है, परन्तु जब वह आगन्तुक की तरफ निहारते है, तब तो नयन का अभिराम इन्द्रजाल ही पूर्ण समारोह के साथ उपस्थित हो जाता है—

"और देखा वह सुन्दर दृश्य
नयन का इन्द्रजाल अभिराम,
कुसुम-वैभव में लता समान
चन्द्रिका से लिपटा घन श्याम।" इत्यादि।

प्रसाद अपनी सम्पूर्ण दार्शनिक आस्थाओं के बावजूद मुख्यतः सौन्दर्य एव प्रेम के कलाकार है। सौन्दर्य की भावना मे विस्मय अपरिहार्यत अन्तर्भूत होता है। श्रद्धा का निखिल सौन्दर्य-विलास असाधारण्य के कारण विस्मय का प्रीति-भोज बन गया है। "बिजली का फूल ही मन को दीप्त कर देता है, और जब उसे गुलाबी रंग मे रंग दिया जाय, तब कवि की अभीप्सित व्यजनो के अनुमान से काव्य-रसिक ऊब-चूब होने लगता है। "आह ! वह मुख" "और उस मुख पर वह मुसकान"; "हँसी का मद-विह्वल प्रतिबिम्ब" इत्यादि कथन सौन्दर्य-रस की मादकता एव विस्मयोत्पादकता का युगपत् ध्वनन करते है। इतना ही नही, जब वह इन्द्रजाली सौन्दर्य वाली काम-बाला प्रथम साक्षात्कार मे ही अपरिचित मनु के प्रति अपने हृदयरत्ननिधि की समस्त रत्न-मंजरी का अशेष दान कर देती है, तब भी हम विस्मय से अभिभूत हो उठते है, सोचते हैं—"मानवता की विजय का सन्देश देने वाली यह अप्सरा विलक्षण है, अपने आत्म समर्पण मे !"

'कामायनी' का शिल्प नाट्योन्वित है, कवि की मनोदृष्टि भी नाट्कीय प्रेरणा से गर्भित है। अतएव, सम्पूर्ण प्रबन्ध मे नाट्यसुलभ विस्मय-तत्त्व का संगुफन हुआ है। 'काम' तथा 'वासना' सर्गो के अधिकांश विम्ब विस्मय मे संसिक्त होकर सहृदय भावक को अद्भुत रस की छोटी-बड़ी कुल्याओं में सरा-बोर कर देते है।[१] 'वासना' सर्ग के उन छन्दों में जहाँ मनु श्रद्धा के रूप-माधुर्य

१. पीता हूँ, हाँ, मैं पीता हूँ
यह स्पर्श-रूप-रस-गंध-भरा

से विह्वल होकर उसका समीपी परिचय जानने के लिए व्यग्र हो उठे हैं, विस्मय-भाव की व्यंजना स्पष्ट दिखाई पड़ती है । वासना के उज्ज्वार के उष्ण बिम्बों में भी मनु का हृदय जिस पिछलाव से ओतप्रोत हो गया है, वहाँ भी सहृदय भावक मादनरस का आचमन करते हुए, विस्मय की स्रोतस्विनी में डूबने लगता है—'क्या ही वह इन्द्रजाली रूप-सुषमा और क्या ही वह चित्त-पिघलाव ! दोनों अद्भुत, दोनों विलक्षण !'

'कर्म' तथा 'ईर्ष्या' सर्ग मुख्यतः विवरणात्मक है, यद्यपि वीभत्स एवं 'मृगया' रसों की खोज क्रमशः उनमें की जा सकती है ।' 'इड़ा' सर्ग में निर्वेद की व्यंजना हुई है, किन्तु कतिपय छन्दों मे विस्मय की ध्वनि भी सुनाई पड़ती है । काम जब पुनः अदृश्य भाव से वहाँ प्रकट हो जाता है, तब मनु के साथ हम भी विस्मय मे पूछ बैठते है—"यह कौन ? अरे फिर वही काम !"

प्रसाद, तथ्य यह है, विस्मय को अपनी कला का उपकारक तत्त्व मानते हैं । जब उन्हें प्रतिभासित होता है कि उनका आख्यान कठोर या बुद्धि-वादी आस्वाद से ससिक्त होने लगा है, तब वे झटिति विस्मय का झटका देकर पाठक को सावधान कर देते है । इस प्रसंग मे यह उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है कि उनकी दोनों नारियाँ, श्रद्धा तथा इडा, अपने रूप एवं शील में विस्मय की वाहिका एवं उत्पादिकता है । श्रद्धा का इन्द्रजाली सौन्दर्य और उससे भी बढ़कर उसका इन्द्रजाली चरित्र न केवल हमी को, अपितु मनु को भी, विस्मय-सरोवर में डाल देते है । इड़ा बुद्धि का प्रतीक बतायी गयी है । लेकिन, उसकी भी रूप-सृष्टि विस्मय के गूढतम तत्त्वों से हुई है—

"बिखरी अलकें ज्यों तर्क-जाल ।
वह विश्व-मुकुट सा उज्ज्वलतम शशि खण्ड-सदृश था स्पष्ट भाल ।"
इत्यादि ।

निबन्ध के पूर्वपक्ष मे मैने बताया है कि 'निर्वेद' सर्ग के अन्त में मनु जिस शान्ति की खोज का कथन कर रहे है, वह वस्तुतः एवं तत्त्वतः, शम नहीं है । उसके अनन्तर श्रद्धा का सम्पूर्ण कृतित्व इन्द्रजाली बन गया है । शास्त्र-चेतन

मधु लहरों के टकराने से
स्वनि में है क्या गुंजार भरा ?" इत्यादि ।

१. **धनंजन ने मृगया इत्यादि रसों का उल्लेख किया है ।**
"प्रीतिभक्त्याद्यो भावा मृगयाक्षादयो रसाः ।
हर्षोत्साहादिषु स्पष्टसन्तर्भावान्न कीर्तिताः ॥"
('दशरूपक', ४।८३)

प्रसाद ने निर्वहण संधि में 'नाट्यदर्पण' के निर्देश[1] का अनुगमन करते हुए, जानबूझकर अद्‌भुत का सन्निवेश किया है, यद्यपि प्रबन्ध के पर्यवसायी चरणों में उन्होंने आनन्दमय, निस्तरंग महोदधि-कल्प शान्त रस की व्यंजना के लिए सतर्क प्रयास किया है जिसमे उन्हें असफलता ही हाथ लगी है। एक तथ्य और रेखांकित करना अप्रासगिक नही होगा। प्रबन्ध के नायक और नायिका, दोनों के भीतर अल्पाधिक परिमाण में रहस्य की प्रवृत्ति विद्यमान है और दोनों ही सौन्दर्यमूलक मादन रस में पगे हुए है। आ० शुक्ल के शब्दों में, 'मधुचर्या' का अतिरेक चाहे भले न हो, उसकी चासनी में प्रबन्ध आद्योपान्त अभिषिचित है– 'आनन्द' सर्ग के अवसान में तो सम्पूर्ण सृष्टि ही मदन के मृदुतम कंपन से चंचल हो गई है और पाषाणी प्रकृति भी मांसल भावों से संयुक्त होकर हँसने लगी है। तब सौन्दर्य की माया एवं मदन की मधुचर्या रहस्य-भाव से जब उलझ जायेगी, तब शान्तरस की अभिव्यक्ति हो ही नहीं सकती। ऐसी परिस्थिति में, यदि कोई एक शास्त्रीय रस प्रधानता ग्रहण कर सकता है, तो वह 'अद्‌भुत' ही होगा क्योंकि उसका उपजीव्य वही 'विस्मय' है जो सौन्दर्य, काम तथा रहस्य को भी जीवित प्रदान करता है।

अतएव, निष्कर्ष यह निकला कि 'कामायनी' का मूल अथवा अंगी रस 'अद्‌भुत' ही है।

---

१. 'रस–सिद्धान्त' में डॉ० नगेन्द्र द्वारा 'हिन्दी नाट्य-दर्पण' से उद्‌धृत अंश के आधार पर (पृ० २८८)।

व्य है । वह मनु को विश्व का निर्णायक बनने की प्रेरणा देती है और एतदर्थ विज्ञान की उपलब्धियों का उपयोग आवश्यक समझती है । श्रद्धा जहाँ व्यक्त विश्व को 'महाचिति का विराट शरीर' मानती है, वहाँ इड़ा यह मानती है कि यह विश्व जड़ है और इसे चेतन बनाने के लिए विज्ञान आवश्यक है—

"तुम जड़ता को चैतन्य करो विज्ञान सहज साधन उपाय ।
यश अखिल लोक में रहे छाय ।।"

इस प्रकार, जहाँ श्रद्धा पुत्रैषणा से अनुप्राणित हुई है । वहाँ इड़ा लोकैषणा से अनुप्रेरित है । मनु उसे साक्षात् 'बुद्धि' समझते हैं, उनके सोये मनोभाव कल-रव करते हुए जाग पड़ते हैं और कर्म-मार्ग अपना कर वह सुख-साधनों का द्वार खोलने के लिए सन्नद्ध हो जाते हैं—

"मेरे विकल्प संकल्प बनें, जीवन हो कर्मों की पुकार—
सुख-साधन का हो खुला द्वार ।"

अतएव, इड़ा जीवन एवं प्रकृति का, बुद्धि से उपभोग करने का संदेश देने वाली प्रवृत्ति-मार्गी नारी है । श्रद्धा से उसका साम्य यह है कि वह भी श्रद्धा की तरह जिजीविषा के स्फुलिंग को मनु के भीतर प्रज्वलित करती है और कर्म का उद्‌बोधन देती है । श्रद्धा वहाँ व्यावहारिक रूप से क्या चाहती है, यह स्पष्ट नहीं हो पाया है, मानवता को विजयिनी बनाने के लिए उस समय कोई क्रियात्मक फार्मूला वह मनु के अनुपालनार्थ नहीं उपस्थित कर सकी है । देव-सृष्टि के विध्वंस से अवसन्न चेतना वाले मनु को अपने उद्‌बोधनों से मानों वह 'कोरामिन' का पूरी शीशी वाला 'इंजेक्शन' दे रही थी । 'ईर्ष्या' सर्ग में मनु मृगयाविहारी आदिम मानव बन गये हैं, अतः "जीवन का कोमल तंतु" बढ़ाने के उपाय ही श्रद्धा उनके सम्मुख रख सकी है । इड़ा अधिक भाग्यशालिनी है । जिस मनु को उसने प्रोत्साहित किया है, वह मनु प्रचुर अनुभव-सम्पन्न, 'बुद्धि-रस' को स्वयं चखने वाले—यद्यपि जीवन-निशीथ के अंधकार से त्रस्त—मनु हैं, यथा—

"अवलंब छोड़कर औरों का जब बुद्धिवाद को अपनाया,
मैं बढ़ा सहज, तो स्वयं बुद्धि को मानो आज यहाँ पाया ।"

अतएव, उसके द्वारा कर्ममयी प्रकृति-विजय का जो मंत्रदान किया गया है, वह अधिक सार्थक बन गया है ।

ग.

'संघर्ष' सर्ग में इड़ा के चरित्र का विवेकशील स्वरूप प्रकाशित हुआ है । मनु अपने को "प्रजापति" समझकर उसका घर्षण करना चाहते हैं । इड़ा उनके इस अतिवादी अहं को नियंत्रित करने का उपदेश देती है । नियामक भी नियम में

बँधा है; निर्बाधित अधिकार की माँग किसी भी राजा या राष्ट्रपति के लिए शोभा नहीं देती—यह उसकी सुचिन्तित मान्यता है। इस संदर्भ में वह दार्शनिक के रंगों में चमक उठी है। मनुष्य विकसित चेतना का आकार है; भिन्न-भिन्न "चिति-केन्द्रों" में चलने वाला संघर्ष क्रमशः तिरोहित होकर एकत्व को स्थान दे रहा है; "व्यक्ति-चेतना" शनैः-शनैः समष्टि-चेतना में विलुप्त होती जा रही है; "बुद्धि-साधना" का यही उद्देश्य; है जैसे व्यक्ति-चेतना राष्ट्र-चेतना में, वैसे-ही राष्ट्र-चेतना विश्व की "महाचेतना" में विलीन होती जा रही है, विलीन होती जानी चाहिए—इड़ा ने यह उपदेश अहंवादी मनु को दिया है। इस प्रकार वह समष्टिवादिनी, विश्ववादिनी नारी बन गई है।

सबसे उल्लेखनीय विन्दु यह है कि बुद्धिवाद की उपदेशिका होते हुए भी, इड़ा भौतिकवादी नहीं है। संसार महाचेतना के शासन में चल रहा है, एक व्यापक नियम अथवा 'ऋत' के नियमन में चल रहा है—इड़ा यह मानती है। मनु के व्यक्तिवाद के शमन के लिए उसने "अनन्त चेतन" के उन्मद नृत्य का कथन किया है और उसी की लय में मिलाकर चलने का उद्बोधन दिया है—

"ताल ताल पर चलो, नहीं लय छूटे जिसमें,
तुम न विवादी स्वर छेड़ो अनजाने इसमें।" (**'संघर्ष'**)

विश्व का संचालन किसी अनंत चेतन-सत्ता द्वारा हो रहा है और उसके ताल में ताल मिलाकर चलना तथा किसी भी विवादी स्वर को छेड़ने से बचना मनुष्य का (मनु का) धर्म है। मनु द्वारा अपनी सीख की उपेक्षा होते देख, समष्टिवादिनी तथा सामंजस्यवादिनी इड़ा मनु को स्मरण दिलाती है कि उसने उन्हें प्रकृति के साथ संघर्ष करना सिखाया है और उस "बिखरी विभूति" का उसे सहज स्वामी बनाया है। प्रकृति के साथ संघर्ष सिखाने वाली इड़ा प्रजा का प्रजापति से संघर्ष बचाना चाहती है क्योंकि वह "महाचेतना" की लयताल-मयी गति को बाधित करना नहीं चाहती। 'बुद्धि' की उपासिका वह 'विश्वास' का अनुरोध कर रही है—

"अभी समय है, मुझ पर कुछ विश्वास करो तो;
बनती है सब बात, तनिक तुम धैर्य्य धरो तो!"

किन्तु, मनु में धैर्य कहाँ, विश्वास कहाँ? प्रजा-संघर्ष में यदि वह मुमूर्षु हुए है, तो इसका दोष इड़ा पर कैसे मढ़ा जा सकता है? 'दर्शन' सर्ग में श्रद्धा ने इड़ा की जो भर्त्सना की है, उसके औचित्य को इसी प्रकाश में जाँचा-परखा जाना चाहिए।

घ.

इड़ा का मनस्तत्त्व सोम का बना नहीं है जैसा श्रद्धा का है। कवि ने शायद

ही कही उसे स्पष्टतया द्रवीभूत किया है । 'निर्वेद' सर्ग में उसके अन्तर्द्वन्द्व का स्वल्प चित्रण उपलब्ध होता है । घायल मनु के समीप बैठी कितनी रातें बिता चुकी है । वह उस समग्र हिंसा-काण्ड पर ग्लानि से भरी है और "घृणा" तथा "ममता" के परस्पर विसंवादी भाव उसके अन्तर्मन में उठ रहे हैं । कवि ने इड़ा के हृदय में ऐसे नारी-हृदय की पहचान की है जिसमें "क्षमा और प्रति-शोध—" "दोनों शी माया" युगपत नाच रही है । वह पुरानी बातों को स्मरण करती है जिससे उसका मानसिक द्वन्द्व और भी उभार में आ जाता है । "उसने मुझसे स्नेह किया था । जब स्नेह अबाध होकर दौड़ पड़ता है, तब वही अपराध हो जाता है । किन्तु, वह एक अपराध कितना भयकर सिद्ध हुआ है ! वह परदेशी उस दिन आकर, अप्रतिहत गति से शैल-शृंगों पर चढ़ता आगे बढ़ता गया; शासन का सूत्रधार बना; नियमन का आधार बना और अन्ततः स्वयं अपने-ही द्वारा निर्मित नवविधान से दण्डित भी हुआ । जिसने मेरा उपकार किया था, वही आज मेरा अपराधी बना है । अपना सुख अथवा दूसरों का सुख जभी सीमा तोड़ कर बढ़ने लगता है, तभी वह दुःख एवं अनर्थ का कारण बन जाता है ।"

इस पृष्ठावलोकन में इडा ने आत्मालोचन भी किया है । मनु की दुर्दम प्रगति तथा उपकारों से वह अभिभूत है, किन्तु वह 'अनुपात-भावना'—Sense of proportion—की रक्षा आवश्यक समझती है, सीमा का उल्लंघन अनुचित मानती है, यद्यपि नारी होने के नाते पुरुष-स्नेह की नैसर्गिकता को भी महसूस करती है । वह स्वयं अपनी आतरिक उलझन को समझती है—

"इसे दंड देने मैं बैठी
या करती रखवाली मैं,
यह कैसी है विकट पहेली,
कितनी उलझन वाली मैं?" (**'निर्वेद'**)

"बिखरी अलके ज्यो तर्क-जाल" तथा "त्रिबली थी त्रिगुण-तरंगमयी" की व्यंजनाएँ इड़ा के प्रस्तुत अन्तर्द्वन्द्व में स्पष्ट हुई हैं । वस्तुतः, वह हृदय तथा मस्तिष्क, दोनों में समुचित संतुलन बनाये रखना चाहती है । यही उसकी मानसिक उलझन है ।

तथापि, इड़ा को विश्वास—जैसा प्रतीत होता है कि इस समग्र हिंसा-काण्ड से कुछ सुन्दर, कुछ हित-कारक परिणाम निकलेगा । "यत् भगवता विधीयते, तत् सर्वमेव शुभाय" की मानने वाली है वह—

"एक कल्पना है मीठी यह,
इससे कुछ सुन्दर होगा ।" (**'निर्वेद'**)

इस कथन से अदृष्ट में किसी-न-किसी प्रकार का क्षीण विश्वास इड़ा में प्रतिध्वनित होता है । अतएव, वह कठोर बुद्धिवादिनी नही बन सकती । श्रद्धा तथा कुमार, माँ-बेटे, को दुःखी देख कर वह "कुछ द्रवित" अवश्य हो उठी है । उनके पास पहुँच कर वह पूछती है--"तुमको किसने बिसराया है? इस रजनी में कहाँ भटक रहे हो ? आज मैं अधिक चंचल हूँ । अपनी व्यथा की गाँठ खोलो तो मुझसे । जीवन की लम्बी यात्रा में खोये हुए भी मिल जाते है और दुःख की रातें कट जाती हैं ।"

इड़ा की इस जिज्ञासा से उसके हृदय-तत्त्व की व्यंजना होती है । वास्तव में वह अमिश्र बुद्धि की नहीं, 'विवेक' की प्रतिनिधि मानी जायेगी । वह सारस्वत-देश की रानी है, एक व्यापक जनसमूह की अनुशासित रीति से प्रगति-मार्ग में आगे बढ़ाने वाली लोक-नायिका है । अतएव, वह संयम का मूल्य समझती है और इसी कारण, 'रोमांस' की स्वच्छन्दता की विरोधिनी बन गई है । "हँसना-रोना, पाना-खोना" उसका स्वभाव नही है ।

प्रसाद ने इड़ा की बुद्धिवादिता को हृदय-तत्त्व से सस्कारित करने का प्रयत्न किया है । जब मनु-श्रद्धा का पुराना टूटा परिवार पुनः संयुक्त हो गया है, और इड़ा वस्तु-स्थिति को समझ गई है अथच श्रद्धा "यह विश्व, अरे, कितना उदार" वाला कथन समाप्त कर चुकी है, तब इड़ा श्रद्धा से पूछती है—"हे अम्बे! तब मुझ पर ही तुम्हारा अनुराग क्यो नही उत्पन्न होता ?" मनु की प्रेमिका मनु की पत्नी को 'अम्बा' कहे—इससे इड़ा के पश्चात्ताप का ध्वनन होता है । और उसके शरीर की जो दशा हो गई है, उससे उसका नारीत्व तो व्यजित होता ही है—

"पीछे मुड़ श्रद्धा ने देखा,
वह इड़ा मलिन छवि की रेखा,
ज्यों राहु-ग्रस्त-सी शशि लेखा,
जिस पर विषाद की विष-रेखा ।" (**'दर्शन'**)

इस प्रकार का चित्र विरहिणी नारियों का होता है । इड़ा के अन्तस्तल में विरह की टीस तो है नही । वह ग्लानि, पश्चात्ताप, श्रद्धा की वर्तमान विपत्ति में अपनी भागीदारी की प्रतीति इत्यादि मनोभावों से आक्रान्त है जिससे वह "हेमवती छाया" छवि की मलिन रेखा बन गई है । यह उसके हृदय-तत्त्व की अम्लानता का द्योतक है--यद्यपि वह मोम का समानधर्मा नही है ।

प्रस्तुत संदर्भ में ही, पश्चात्ताप-ग्रस्त इड़ा को श्रद्धा-द्वारा जो डाँट-फटकार बताई गई है, वह अनुचित प्रतीत होती है । इड़ा इस भर्त्सना का आस्पद नहीं है । श्रद्धा कहती है, "तुम जीवन की अन्धानुरक्ति हो, तुम आशामयी हो, तुम

चिर आकर्षण हो ।" असलियत यह है कि श्रद्धा जीवन के प्रति विवेकपूर्ण अनुराग रखती है, अन्धानुराग नहीं । यदि वह आशामयी है, तो यह उसके चरित्र का भूषण है, दूषण नही । यदि वह चिर-आकर्षण है, तो इस कारण कि उसका रूप सौन्दर्य तथा शक्ति का विलक्षण समुच्चय है और उसका चरित्र प्रज्ञा तथा प्रतिभा का अनुपम संस्थान है । श्रद्धा फटकारती है, "तुम मादकता का अवनत मेघ हो, मनु के मस्तिष्क की चिर-अतृप्ति हो, उत्तेजित चंचला शक्ति हो ।" यह आरोप नितान्त असंगत, अनुचित है । इसका प्रतिवाद करने के लिये श्रद्धा के पिता काम की वह फटकार सुनाई जा सकती है जो उसने श्रद्धा के ही संदर्भ में मनु को दी थी--

"पर तुमने तो पाया सदैव उसकी सुन्दर जड़ देह-मात्र,
सौन्दर्य-जलधि से भर लाये केवल तुम अपना गरल-पात्र ।"

('इड़ा')

यह तो मनु का स्वभाव ही है, सौन्दर्य-सागर से केवल गरल-पात्र भरना। इसमें विलक्षण सौन्दर्य धारण करने वाली नवयुवती इड़ा का क्या दोष? उसका "प्रभा-पूर्ण" मुख निहार कर मनु "हतचेतन" हो गये थे; नारी के पास "माया-ममता का बल" होता है, वह शक्तिमयी शीतल छाया होती है--श्रद्धा के इन कथनों का जो उत्तर इड़ा देती है, वह उसके चरित्र की कुंजी है--

"अधिकार न सीमा में रहते,
पावस-निर्झर-से वे बहते ।" ('दर्शन')

इड़ा नारी होने के नाते माया-ममता की नैसर्गिक शक्ति का परिचय दे सकती थी जैसा श्रद्धा चाहती है, किन्तु इड़ा पत्नीत्व मे ही अपनी प्रतिभा का विलयन नही चाहती थी । वह राष्ट्रनायिका रानी थी जो मनु की सहायता से सारस्वत-देश को सुगठित, व्यवस्थित एव प्रगतिमय राष्ट्र के रूप में बदलने की अभिलाषिणी थी । अतएव, वह श्रद्धा का 'रोल' अदा नही कर सकती थी । इसी कारण, वह अधिकारों के स्वच्छन्द अभ्यास को प्रतिबंधित करना आवश्यक समझती थी ।

ङ.

प्रजा-विद्रोह के फलस्वरूप जो राष्ट्र-विघटन हुआ है, उसका दायित्व इड़ा स्वयं वहन करती प्रतीत होती है ।[१] तथापि, उसका मनःसंघर्ष वर्तमान ही है। वह कहती है : "क्या मै नितान्त भ्रम में थी ? क्या मनुष्य प्रकृति की दुर्दान्त शक्तियों के सम्मुख परास्त हो विनाश के मुख में ही चुपचाप जाता रहेगा? क्या

१: **"जनपद-कल्याणी प्रसिद्ध, अब अवनति- कारण हूँ निषिद्धि ।"**

वह सदा अदृष्ट एवं नियति के अनुशासन में ही पिसता रहेगा ?" यह तर्क इड़ा की आधुनिक वैज्ञानिक चेतना का ध्वनन करता है । श्रद्धा की तर्कना अथवा भर्त्सना से वह तनिक विचलित अवश्य हुई है, किन्तु उसके स्वभाव अथवा व्यक्तित्व की जड़ें, ज्यों-के त्यों, अव्याहत बनी हुई हैं ।

लेकिन, कवि को अपना प्रयोजन सिद्ध करना है--उसे बुद्धि का प्रतीक दिखा कर, उसी के माध्यम से बुद्धिवाद अथवा विज्ञानवाद की कदर्थना करनी है । इड़ा द्वारा वह श्रद्धा से क्षमा-याचना करता है, इस बात के लिए कि उसने श्रद्धा का "सुहाग छीना है।" कवि का पक्षपात् साफ झलकता है । इड़ा ने मनु को बुलाने के लिए कोई दूत वा आमंत्रण नही भेजा है, न श्रद्धा परित्याग के लिए कोई दुरभिसन्धि ही की है । अतः, सुहाग छीनने का अपराध उस पर क्यों कर मढ़ा जा सकता है ? उस प्रतिभा-पुत्री को अपनी-ही दृष्टि मे गिराने के लिए उसी के मुख से कहलाया गया है--"तिस पर मैने छीना सुहाग, हे देवि! तुम्हारा दिव्य राग ।" इसी स्थल से इड़ा के चरित्र मे गिरावट शुरू हो गई है । श्रद्धा अपनी स्वभाव-सिद्ध बहक मे उसे डाँटती ही चली जा रही है--

"सिर चढ़ी रही! पाया न हृदय !
तू विकल कर रही है अभिनय ;
\+ \+ \+
ओ तर्कमयी ! तू गिने लहर,
प्रतिबिम्बित तारा पकड़, ठहर,
× × ×
सुख-दुख का मधुमय धूप-छाँह,
तूने छोड़ी यह सरल राह ।"

('दर्शन')

प्रसाद ने इड़ा को श्रद्धा की "चरण-धूल" लेने को विवश कर दिया है । इतना-ही-नही, अपने शिथिल भाषा-विन्यास के कारण समालोचकों को यह समझने की गलत प्रेरणा भी दी है कि इड़ा ने कुमार (श्रद्धा-पुत्र) के साथ दाम्पत्य संबंध स्थापित कर लिया ! काव्य के अवसान-विन्दु तक इड़ा के चरित्र

---

१. इस कल्पना के लिए शायद निम्न पंक्तियों से प्रेरणा मिली है--

"पकड़ा कुमार-कर मुकुल फूल,
× × ×
दो लौट चले पुर ओर मौन,
जब दूर हुए, तब रहे दो न।" ('दर्शन')

का अपकर्ष पूर्ण हो गया है । सारस्वत-निवासियों की 'शोभा-यात्रा' का नेतृत्व उसे सौंप दिया गया है । मानसरोवर-प्रदेश में पहुँच कर इड़ा श्रद्धा के चरणों पर शीश नवा कर, श्रद्धा से अपराधी के स्वरों में आत्म-स्वीकृति-सी करती प्रदर्शित की गई है--

"भगवति ! समझी मैं सचमुच,
कुछ भी न समझ थी मुझको;
सबको ही भुला रही थी,
अभ्यास यही था मुझको ।" ('आनंद')

ध्यान में रखने की बात यह है कि मनु को इच्छा, क्रिया एवं ज्ञान के सामंजस्य की आवश्यकता का अनुभव कराया गया है, लेकिन इड़ा की तर्कशील बुद्धिवादिता की श्रद्धा-द्वारा भर्त्सना करा कर, उसे किसी प्रकार के 'समन्वय' की आवश्यकता का ज्ञान होने का कोई अवसर नही दिया गया है । अर्थात् इड़ा का संपूर्ण मूल्य-विधान उलट दिया गया है, दूसरे शब्दों में बुद्धि-तत्त्व का एकान्त प्रत्याख्यान कर हृदय-तत्त्व की सर्वातिशयी महत्ता स्थापित की गई है । शायद प्रसाद का यह उद्देश्य नही है क्योंकि वह मस्तिष्क और हृदय का समन्वय ही चाहते है । लेकिन, श्रद्धा के महत्त्वस्थापन के निमित्त उन्होने, जाने-अनजाने, इड़ा को अन्ततः नितान्त दीन-दयनीय, कदर्य-कृपण बना दिया है ।*

एक प्रतिभाशाली चरित्र का ऐसा अपकर्षण साहित्य में अन्यत्र उपलब्ध नही होगा ।

इस तरह का बयान पहले स्व० नंददुलारे वाजपेयी ने अपनी प्रसाद वाली पुस्तक में दिया है— दे० 'जयशंकर प्रसाद' (सं० २०१५), पृ० ८३.

—इधर प्रकाशित एक शोध-प्रबंध, "हिन्दी महाकाव्य : सिद्धान्त और मूल्यांकन" (१९६८) में इड़ा और मानव के परिणय-संबंध की बात दुहराई गई है । दे० पृ० २६३.

ग. प्रतीक–भूमि

८. रूपकात्मकता

९. मानव–चेतना का विकास

८ | रूपकात्मकता

क.

'कामायनी' में रूपक-तत्त्व की खोज से हमारा अर्थ स्पष्ट है। यहाँ 'रूपक' न तो रूपक-नामक अलंकार का और नहीं नाट्य वा नाटक का वाचक है। हिन्दी में जिसे 'अन्योक्ति' अथवा 'अन्यापदेश' कहा जाता है, उसी अर्थ की व्यंजना 'रूपक से अब होने लगी है। इस अर्थ में यह अंग्रेजी के 'ऐलीगरी' (Allegory) शब्द का पर्याय बन गया है। किन्तु, 'रूपक' अलंकार की छाया इस रूपक में भी वर्तमान है। अलंकार 'रूपक' में प्रस्तुत पर अप्रस्तुत का अभेद आरोप किया जाता है। "मुखचन्द्र" में मुख को ही पूर्णभाव से चन्द्रमा मान लिया गया है, अर्थात्, प्रस्तुत वा वर्ण्य मुख में अप्रस्तुत वा अवर्ण्य चन्द्रमा का आरोप कर दिया गया है। 'ऐलीगरी' के वाचक 'रूपक' में प्रस्तुत कोई कथा होती है जिसका वर्णन उपरितः किया जाता है, किन्तु उस कथा में कोई अन्य भीतरी कथा आरोपित रहती है। पॉल हार्वे ने इसी कारण ऐलीगरी को 'extended metaphor' कहा है, अर्थात्, वैसा 'रूपक' नामक अलंकार बताया है जिसकी व्याप्ति का विस्तार कर दिया गया है।[1] इस प्रकार, ऐलीगरी एक द्व्यर्थक कहानी वा आख्यान है जिसमें बाहरी कथा के भीतर और उसके साथ-साथ एक दूसरा सुसंगत अर्थ निष्पन्न होता जाता है। ऐसे दो अर्थों वाले आख्यान में पाठक की रुचि ऊपरी कथा एवं आभ्यन्तर गूढ़ार्थ दोनों में समान-भाव से बनी रहती है। प्रच्छन्न अर्थ भी, जो लेखक की मूल विवक्षा है, ऊपरी कथा के विकास के साथ एक तारतम्यपूर्ण रीति से विकसित होता जाता है। ऐसी कहानी के पीछे और भीतर छिपा हुआ गूढ़ार्थ किसी नैतिक, सैद्धान्तिक अथवा धार्मिक प्रयोजन से बँधा होता है और उसी अभीष्ट उद्देश्य को प्रति-फलित करना लेखका अथवा कवि का साध्य होता है। इसी 'ऐलीगरी' के अर्थ में यहाँ 'रूपक' शब्द का प्रयोग किया गया है और 'कामायनी' में पंडितों द्वारा

---

1. 'the Oxford Companion to English Literature' (third edition), पृ० १९।

ऐसे-ही रूपक की खोज की गयी है ।

गूढ़ार्थ-व्यंजक रूपक-पद्धति का प्रयोग लगभग प्रत्येक राष्ट्र के साहित्य में उपलब्ध होता है । यहूदियों के धर्मग्रंथों में प्रायः इसके उदाहरण मिल जाते हैं। लैटिन साहित्य में प्लूटार्क तथा ओविड के रचित रूपक प्रसिद्ध हैं। आंग्ल साहित्य में स्पेंसर, स्विफ्ट तथा जॉन बनियन विख्यात रूपक-रचयिता हुए हैं । स्पेंसर की 'फेयरी-क्वीन' तथा बनियन की 'पिल्ग्रिम्स प्रोग्रेस' प्रसिद्ध रूपक-कथाएँ हैं। वैदिक मन्त्रों तथा आख्यानों के भी रूपकात्मक अर्थ लगाये गये हैं । पौराणिक आख्यान भी प्रतीक-पद्धति से अनुवचित हुए हैं । तथापि, शास्त्रीय संस्कृत साहित्य में सुपरिभाषित ढंग से रूपकों का प्रणयन हुआ है, ऐसा शायद नहीं कहा जा सकता । हिन्दी में जायसी-रचित 'पद्मावत' निश्चित-ही रूपकाश्रित काव्यकृति है जिसे आ० शक्ल ने 'अन्योक्ति' कहा है। प्रसाद ने स्वयं आमुख में इसी अर्थ में 'रूपक' शब्द का प्रयोग किया है—"यदि श्रद्धा और मनु अर्थात् मनन के सहयोग से मानवता का विकास रूपक है, तो भी बड़ा ही भावमय और श्लाघ्य है ।"

अतएव, 'कामायनी' अधुनातन अर्थ में रूपक (ऐलीगरी) हो सकती है। इस सम्बन्ध में यह ध्यातव्य है कि ऐसी रचनाओं में पात्रों एवं घटनाओं को प्रतीक-रूप में ग्रहण किया जाता है और प्रतीकार्थों में अन्विति बिठाकर, समग्र कथा के भीतर अभीष्ट व्यंग्यार्थ की सिद्धि का प्रयत्न किया जाता है । रचयिता भी इस दिशा में सावधान प्रयास करता दिखायी देता है । हमारे ज्ञात साहित्य में बनियन की रचना सर्वश्रेष्ठ एवं सफल रूपक है जिसमें कवि का एकवचनात्मक उद्देश्य है, पार्थिव संसार से ईश्वरीय धाम तक की आस्तिक भक्त की क्रमिक यात्रा का वर्णन करना । स्पष्ट-ही, इस कथा के भीतर एक निश्चित धार्मिक गूढ़ार्थ उपनिबद्ध है और इसी कारण, यह सफल रूपक सिद्ध हुई है । इसके विपरीत, स्पेंसर की 'फेयरी क्वीन' विशृंखल बन गयी है, क्योंकि उसमें सन्निहित रूपकार्थ एकवचनात्मक न होकर बहुवचनात्मक हो गया है । कवि ने एकसाथ तीन-तीन रूपकों के निबन्धन का प्रयास किया है : पहला, 'व्यक्तिगत रूपक' क्योंकि वह एलिज़बेथन दरबार के प्रभावशाली व्यक्तियों अथवा पार्षदों के प्रति परोक्ष रीति से अपना सम्मान व्यक्त करना चाहता था; दूसरा, 'ऐतिहासिक रूपक' जिसके द्वारा वह तद्युगीय ऐतिहासिक संस्थाओं एवं घटनाओं का प्रकारान्तर से वर्णन करना चाहता था; और तीसरा, 'नैतिक रूपक' जिसमें रेडक्रॉस नाइट (Redcross Knight) 'पवित्रता' (Holiness) का और कुमारी उना (Virgin Una) 'सत्य' (Truith) के प्रतीक हैं । अन्य प्रतीकार्थों की व्यंजना भी कवि को अभीष्ट थी । उदा-

हरणतः, फेयरी क्वीन, अप्सराओं की रानी, से कवि का व्यंग्यार्थ 'गरिमा' अथवा 'महिमा' (Glory) की भावात्मक अवधारणा से और साथ-ही रानी एलिज़बेथ से भी था। बहुवचनात्मक रूपक की प्रतिष्ठा का संकल्प-निर्वाह स्पेंसर नहीं कर सका और इसीलिए, पूर्वयोजित द्वादश खण्डों में से वह केवल छः या सात खण्ड ही लिख पाया। प्रसाद ने भी 'कामायनी' में एक से अधिक रूपकों अथवा गूढ़ार्थों के संगफन का प्रयत्न किया है जिससे काव्य में उलझाव की स्थितियाँ उत्पन्न हो गयी हैं। आमुख में सन्निविष्ट सूत्रों को पकड़ कर विद्वानों ने अनेकधा प्रतीकार्थ एवं रूपकार्थ खोजने एवं प्रस्थापित करने का साग्रह प्रयत्न किया है।

ख.

ऐतिहासिक काव्य के साथ प्रतिद्वन्द्विता करने वाली सशक्त स्थापना है, 'रूपक' काव्य की। "मानव-सभ्यता के विकास का विराट् रूपक" समझने की तर्कना बड़ी शक्ति के साथ उपस्थित की गयी है और कामायनी की कथा-वस्तु के लगभग प्रत्येक पात्र एवं घटना की प्रतीकार्थक व्याख्या की गयी है। जैसा पहले कहा है, प्रसादजी ने इस व्याख्या के लिए स्वयं निमन्त्रण दिया है। मनन, श्रद्धा तथा बुद्धि के संतुलित समन्वय अथवा इच्छा, क्रिया तथा ज्ञान के सामरस्य से मनुष्य आनन्द की प्राप्ति कर सकता है, यही प्रसाद का मूल विवक्ष्यार्थ है और इसके लिए, मनु मन अथवा मनन का, श्रद्धा हृदय का और इड़ा बुद्धि का प्रतीक बताई गयी है। लेकिन, कामायनी का प्रबुद्ध पाठक जानता है कि इन प्रतीकार्थों का पूर्ण निर्वाह नही हो पाया है।

कतिपय आपत्तियो का उल्लेख किया जाना विषय को स्पष्ट करने की दृष्टि से उपयोगी सिद्ध होगा। मनु को मानव-मन अथवा मनोमय कोष में स्थित जीव का प्रतीक माना जाय तो उनका पुत्र मानव भी ऐसा ही प्रतीक माना जाना चाहिए। लेकिन, तब पिता-पुत्र दोनों मे "लगभग एक ही प्रतीकार्थ की पुनरावृत्ति" हो जाती है। इस आपत्ति की सफाई यह कहकर दी गयी है कि प्रसादजी ने भी इस असंगति का अनुभव किया था और इसी कारण, आनन्द-लोक की यात्रा करने से पूर्व श्रद्धा कुमार (मानव) को पीछे छोड़ जाती है।[1] हमारा निवेदन यह है कि इस तथोक्त असंगति की उद्भावना अथवा निर्देश और उसका परिहार दोनों आवश्यक एवं अनाहूत जैसे प्रतीत होते हैं। प्रसादजी को पिता-पुत्र में प्रतीकार्थ की एकरूपता का निराकरण करना अभीष्ट नहीं था क्योंकि कहानी के प्रत्येक तथ्य अथवा पात्र में कोई

१. **'कामा० के अध्ययन की समस्याएँ' (नगेन्द्र) पृ० ५२**

निश्चित प्रतीकार्थ सन्निहित किया ही जाय, ऐसा उनका प्रयोजन ही नहीं था। प्रसादजी की काव्य-दृष्टि उद्देश्य-गर्भित अवश्य थी जिसकी रेखायें 'श्रद्धा' सर्ग में ही उभर आई थीं। कुमार को इड़ा के पास छोड़कर उन्होंने केवल यह संकेत किया कि श्रद्धा-वृत्ति, मनन-वृत्ति तथा तर्क-वृत्ति के सामरस्य से मानव-व्यापार सुचारु-रूपेण संचरणशील हो सकता है। (कुमार में मनु के पितृत्व से मनन-वृत्ति तथा श्रद्धा के मातृत्व से श्रद्धा-वृत्ति का प्रस्फुटन था और इड़ा स्पष्ट ही तर्कमयी तथा बुद्धि का प्रतीक कही गयी है।)

सारस्वतप्रदेश-वासियों का जुलूस बनाकर कुमार तथा इड़ा के मानसरोवर की यात्रा करने में भी, इसी प्रकार, प्रतीकार्थ खोजा गया है और किसी संगत अप्रस्तुतार्थ की अप्राप्ति में, इसकी सफाई के दो कारण दिये गये हैं : प्रथम, प्रस्तुत कथा को विकास का थोड़ा-सा स्वतन्त्र अवकाश मिलना ही चाहिए; द्वितीय, कामायनी की कथा के विकास में असंगतियों का समावेश हुआ ही है।[1] इस सम्बन्ध में भी हमारी विवक्षा यह है कि सारस्वत-वासियों का जुलूस पुनः उद्देश्य-प्रेरित है। प्रसादजी का प्रयोजन इस शोभा-यात्रा की योजना में यह दिखाना रहा है कि नई मानव-व्यवस्था, जिसकी स्थापना कुमार ने इड़ा के सहयोग से की है, तब तक अपूर्ण रह जाती जब तक पूर्णानन्दलीन मनु एवं श्रद्धा के समीप जाकर, व्यवस्थापक तथा प्रजाजन दोनों ही समरसता के सिद्धान्त में दीक्षित होकर आनन्दवाद का सन्देश ग्रहण नही करते। कथावस्तु की दृष्टि से यह प्रकरण बाहर से थोपा हुआ, पैवन्द-जैसा अवश्य प्रतिभासित होता है क्योंकि 'रहस्य' सर्ग के अवसान तक कथा स्वाभाविक विराम को उपलब्ध कर जाती है, इड़ा तथा कुमार ने कैसी राष्ट्र-व्यवस्था स्थापित की, इसकी जिज्ञासा सुषुप्त-सी बन गयी होती है। लेकिन, कवि का अभीप्सित आनन्दवाद, तब, पुष्ट रेखाओं में उत्कीर्ण नही हो पाता। प्रसाद की इस प्रसंग में वकालत करना हमारा अभिप्राय नही है; मैं तो यह मानता हूँ कि सम्पूर्ण काव्य उद्देश्य-बोझिल है और इस कारण, उसका कलात्मक सौष्ठव क्षतिग्रस्त हो गया है। लेकिन, तब, प्रत्येक चित्रण वा मोड़ का प्रतीकार्थ खोजना, जो कवि का अभीष्ट नही है (यद्यपि उसने स्वतः यह प्रलोभन प्रक्षिप्त किया है), अनुचित तथा असंगत समझा जाएगा। 'कामायनी' को "निस्सदेह ही" रूपक सिद्ध करने का प्रयास उसमें प्रत्येक घटना का प्रतीकार्थ खोजने के रूप में परिणमित होता है जो प्रसाद का साध्य नहीं था। जल-प्लावन जैसी स्थूल भौतिक घटना का अप्रस्तुतार्थ, चेतना का निम्नतम अन्नमय कोष में रमकर माया में

---

१. 'कामा० के अध्ययन की समस्याएँ' (नगेन्द्र) पृ० ५२

डूब जाना, दर्शन की व्याख्या हो सकती है, किन्तु 'कामायनी' में भीषण प्रलय का वर्णन इसी प्रतीकार्थ को लेकर किया गया है, ऐसा मानना उचित नहीं होगा ।

देवों को इन्द्रियों का प्रतीक और श्रद्धा के पशु को अहिंसा का प्रतीक मानना भी उद्भावनापूर्ण है ।[1] देव-जाति ने 'आत्मवाद' का सम्यक् अर्थ ग्रहण न कर, इन्द्रियों की तुष्टि तथा वासना के व्यवसाय को ही चरम साध्य मान लिया था, जिसके परिणामस्वरूप जल-विप्लव घटित हुआ । देवगण, अतएव, इन्द्रियों के 'प्रतीक' नही, इन्द्रिय तुष्टि एवं "वासना के विकल प्रतिनिधि" हैं ।[2] 'प्रतीक' तथा 'प्रतिनिधि मे अन्तर करना आवश्यक है । प्रतीकार्थों की यह शोध तनिक तर्कपूर्ण विचार करने पर अतीव हास्यास्पद बन जायेगी । देखिए : देवगण=इन्द्रियाँ; जल-प्लावन=अन्नमय कोश अथवा माया में आप्लावन । तो, देव-सृष्टि के प्रलय-ग्रस्त हो जाने का प्रतीकार्थ हुआ, 'इन्द्रियों का माया में डूब जाना' । लेकिन, वास्तव में यह 'चेतना' है जो इन्द्रियों के माध्यम से अन्नमय कोश की माया में डूबती है । तब, अलग-अलग पात्रों अथवा घटनाओं का प्रतीकार्थ स्थापित करना, केवल इसलिए कि काव्य में रूपक की 'निस्सन्देह' अवतारणा प्रमाणित की जा सके, निश्चय-ही अनुचित समझा जायेगा । श्रद्धा के पशु को अहिंसा का प्रतीक बताना भी तर्कसंगत नहीं । इस विषय में उद्धृत पंक्तियाँ ये है—

"एक माया ! आ रहा था पशु अतिथि के साथ;
हो रहा था मोह करुणा से सजीव सनाथ ।" ('वासना')

'एक विचित्र माया का दृश्य था : अतिथि श्रद्धा के साथ एक पशु आ रहा था; ऐसा दीखता था मानो मोह (प्यार) करुणा के साहचर्य से सजीव-सनाथ हो रहा था ।'

स्पष्ट-ही, पशु श्रद्धा के प्रति प्यार से भरा था और श्रद्धा उसे अपनी करुणा अथवा स्निग्ध ममता प्रदान किए थी । इतने ही से पशु 'अहिंसा' का 'प्रतीक' कैसे बन गया ? अहिंसा अपने में एक निषेधात्मक, निष्क्रिय भाव है (जब तक उसमें प्रेम तथा ममता का क्रियात्मक भाव न जुट जाय) । यहाँ पशु अपनी पालयित्री श्रद्धा के साथ प्यार के सुकुमार धागों से बँधा हुआ है, अर्थात्, रागात्मक अनुषंगों से अनुप्राणित है । प्रसादजी भी कुछ ऐसा ही सोचते हैं :

---

१. **'कामा० के अध्ययन की समस्याएँ' (नगेन्द्र) पृ० ४५ ।**

२. **"विकल वासना के प्रतिनिधि वे सब मुरझाये चले गये ।"**
('चिन्ता' सर्ग)

"एक माया !" अर्थात्, पशु साक्षात् 'माया' था। इस प्रकार, पशु माया अथवा ममता का प्रतीक बन जाता है। लेकिन, मेरी विवक्षा यह है कि यहाँ पशु में प्रतीकार्थ खोजना ही अनावश्यक है। कवि का अभीष्ट केवल इतना प्रदर्शित करना है कि श्रद्धा में जीव-मात्र के लिए ममता एवं स्नेह का भाव हिल्लोलित था और यह आभास देना कि उसकी करुणा-ममता के आस्पद पशु की हत्या से उसे गहरा धक्का लगेगा। प्रसादजी ने केवल अपने तीन प्रमुख पात्रों में प्रतीकार्थ की अवस्थिति का कथन किया, और विद्वानों ने प्रत्येक पात्र और घटना में प्रतीकार्थ की स्थापना कर, 'कामायनी' को 'ऐलीगरी' अथवा रूपक सिद्ध करने का पांडित्यपूर्ण प्रयास किया !

श्रद्धा तथा इड़ा की ही प्रतीकात्मकता झमेले में पड़ी हुई दिखाई पड़ती है जिनके सम्बन्ध में कवि ने स्वयं प्रतीकार्थों का कथन कर दिया है। कवि द्वारा श्रद्धा हृदय की प्रतीक कही गयी है जिसमें ममता, मृदुता, करुणा प्रभृति वृत्तियाँ निसर्गतः निवास करती हैं। लेकिन, स्पष्ट है कि इस प्रतीक का निर्वाह कथा में नहीं हो पाता है। अपने पुत्र कुमार को इड़ा के पास छोड़ जाना, जब कि वह इड़ा की प्रकृति को समझ गयी है, 'हृदय' का कार्य नहीं माना जायेगा। वहाँ श्रद्धा विवेक का आश्रय ग्रहण कर, 'बुद्धि'—जैसी कठोरता बरतती है—यह सोच लेना कि कुमार, श्रद्धा एवं मनन के अन्तस्तत्त्वों से गठित हुआ, इड़ा (बुद्धि) के सहयोग से नई मानवता का प्रवर्त्तन करेगा। काव्य के अन्तिम सर्गों में श्रद्धा 'हृदयता' छोड़कर, स्वर्गीय फरिश्ता अथवा रहस्य की सृष्टि करने वाली साधना-दीक्षक अथवा दार्शनिक गुरु बन गयी है जहाँ उसका हृदय-प्रतीक तिरोहित हो गया है। "हृदय-सत्ता का सुन्दर सत्य" खोजने वाली वह अन्ततः रहस्यनिर्मात्री, अलौकिक क्षमता से समन्वित, "पुलकित विश्व-चेतना" बन गयी है जो 'विहँस' कर "अग-जग को मुखरित" करने लगी है। आ० शुक्ल ने श्रद्धा की प्रतीक-सत्ता को, जैसे और व्यापक बनाने के लिए, "विश्वास-समन्वित रागात्मिकता वृत्ति" कहा है। लेकिन, स्पष्ट ही, इस प्रतीक का निर्वाह भी आद्योपान्त नहीं हो सका है—मुख्यतया इस अर्थ में कि, कहानी के अन्तिम चरणों में श्रद्धा स्वतः विश्वास की माँग करने वाली दिव्य उपदेष्टा बन गयी है। प्रतीकार्थ की इसी अस्थिरता का परिणाम, अथवा उसे स्थिरता प्रदान करने की चेष्टा का परिणाम, यह हुआ है कि विद्वानों ने श्रद्धा को "गाँधीजी की अहिंसा और पाश्चात्य दार्शनिकों की मानव-भावना" का पर्याय माना है[1] और इस प्रतीकार्थ में भी रूपक की पूर्ण संगति न बैठती देखकर, उसे जीवन

---

१. 'कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ', पृ० ५१

के अस्तित्व में आस्था रखने वाली "जीवन-चेतना" अथवा "जीवन-प्रेरणा" निरूपित किया है।[1] (स्मरण रहे कि श्रद्धा के पशु को भी अहिंसा का प्रतीक बताया गया है।[2]) मैं यह नहीं कहता कि इन प्रतीकों का समावेश श्रद्धा में बिलकुल नही होता। मेरी विवक्षा केवल इतनी है कि इन प्रतीकार्थों पर आग्रह करना 'कामायनी' के सामान्य प्रबुद्ध पाठक की तात्त्विक कठिनाइयाँ बढ़ाने में सहयोगी सिद्ध होता है।

इड़ा को बुद्धि अथवा 'व्यवसायात्मिका बुद्धि' मान लेने से भी हमारी मानसिक कठिनाई बढ़ जाती है। प्रसाद ने स्वयं इड़ा के प्रसंगों में इस प्रतीक-स्वीकृति के लिए प्रेरणा प्रदान की है। परिणाम यह हुआ कि इड़ा की अन्तर्निहित 'मानवीयता' की ओर पंडितों की प्रवीण दृष्टि नही जा सकी है। इड़ा के चित्रण में, लेकिन, मैं मानता हूँ, प्रसाद श्रद्धा की अपेक्षा, अधिक सावधान तथा सफल रहे है। "बिखरी अलकें ज्यों तर्क-जाल" वाले प्रसिद्ध छन्द में दोनों नेत्रों से एक-साथ "अनुराग-विराग ढालने" तथा त्रिबली के "त्रिगुण तरंग-मयी" होने का उल्लेख कर, प्रसाद ने इड़ा को जिस जीवन-रस-प्यासी, कर्म-शील, विवेकग्राहिणी नारी के रूप में काव्य में प्रविष्ट कराया, वह अन्त तक बना रहा है—यद्यपि यह कथन तनिक चौंकने वाला प्रतिभासित हो सकता है। अतएव, यदि इड़ा में कोई प्रतीक स्थापित करना ही है, तो उसे ही 'जीवन-प्रेरणा' अथवा 'जिजीविषा' का प्रतिरूप मानना चाहिए, न कि श्रद्धा को—वह सक्रिय जिजीविषा जो अपने लक्ष्य की पूर्ति के निमित्त बुद्धि, कर्म, सकल्प, राग-विराग तथा आस्थामय विवेक को अपने वृत्त में समेटती है। काव्य में कही कोई ऐसा संकेत नही जिससे इड़ा में आस्था का निषेध माना जाय; उलटे, उसने जो कुछ कर्म-विस्तार किया, वह आस्था के मौलिक अभाव में सम्भव ही नही होता। 'आनन्द' सर्ग में भी उसकी अन्तर्निहित आस्था साफ-साफ झलकती है। आ० शुक्ल ने भी इड़ा को "व्यवसायात्मिकता बुद्धि" बताकर, हमारा मार्ग उलझावपूर्ण बना दिया, यद्यपि उन्होंने प्रसाद की ही मान्यता का आचार्य-सुलभ अनुमोदन किया।

यहाँ हम पुनः स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि हमारा कहना यह नहीं कि इड़ा में बुद्धि-प्रतीक की बिलकुल स्थापना ही नहीं की जा सकती। हमारी आपत्ति का आधार तब उपस्थित होता है जब इस प्रतीक के सहारे यह कह दिया जाता है कि इड़ा का चरित्र "एकान्त बौद्धिक" है और वह "हृदय की

---

१. 'कामा० के अध्ययन की समस्याएँ', पृ० ५३-५४।

२. वही, पृ० ४६।

विभूतियों से वंचित व्यवसायात्मिक बुद्धि द्वारा अनुशासित" है (केवल 'बुद्धि' तक तो शायद विशेष आपत्ति नहीं होती, किन्तु शुक्लजी की टिप्पणी से प्रेरणा ग्रहण कर, 'व्यवसायात्मिक बुद्धि' से शासित बताना और भी अनुचित प्रतीत होता है।)

लेकिन, इड़ा में बुद्धि की प्रतीक-स्थापना से एक विचित्र, अनर्गल स्थिति उत्पन्न हो गयी है जिससे हमारी आपत्ति और भी सार्थक बन जाती है। हमारा अभिप्राय है 'संघर्ष' सर्ग में मनु-द्वारा इड़ा के घर्षण के प्रयास तथा उसके भयंकर परिणाम की घटना से। 'मनु ने (अर्थात् मन ने) इड़ा अर्थात् बुद्धि पर अधिकार-स्थापन का प्रयत्न किया जिसका परिणाम भयंकर हुआ।' इस प्रतीकार्थ की संगतिपूर्ण व्याख्या करना कठिन है। एक व्याख्या यों की गयी है—"ज्यों ही मन श्रद्धा को त्याग देगा, वह नीचे प्राणमय कोश में पहुँच जायेगा। बुद्धि व्यवसायात्मिक वृत्ति है, वह उसको संघर्ष की निरन्तर प्रेरणा तो दे सकती है, परन्तु सुख नही दे सकती। × × × अन्त में एक ऐसी स्थिति आ जाती है कि मन बुद्धि पर पूर्ण एकाधिकार करने के लिए लालायित हो उठता है। यहाँ उसका पूर्ण पराभव होता है और एक प्रकार की मानसिक प्रलय हो जाती है[1] इस व्याख्या में, स्पष्ट ही, बुद्धि की निन्दा की गयी है। अतएव, जब मन बुद्धि पर पूर्णाधिकार स्थापित करने की चेष्टा करेगा, तब उसका 'पराभव' कैसे, क्यों घटित होना चाहिए ? आगे चलकर, 'सुखवाद' के साथ 'बुद्धिवाद' के 'अतिचार' के फलस्वरूप 'मन का पूर्णतः पराभूत' होना बताया गया है।[2] तब, यदि बुद्धि का अतिचार भर्त्सनीय ही है, तो बुद्धि पर पूर्ण अधिकार मंगलकारक ही सिद्ध होना चाहिए और इस प्रकार, मनु (मन) का इड़ा (बुद्धि) पर अधिकार-स्थापन किसी संघर्ष के सूत्रपात का कारण नही होना चाहिए था। ऐसी अवस्था में, ऊपर के उद्धरण का अन्तिम अंश, यह कि बुद्धि पर पूर्ण एकाधिकार करने की ललक से मन का पूर्ण पराभव निश्चित होगा, असंगत बन जाता है। पुनः, यदि मन ने बुद्धि पर अधिकार स्थापित करने की चेष्टा की, तो वहाँ क्या "बुद्धिवाद का अतिचार" है अथवा विलासी, प्रभुत्व-पिपासु मन का दुष्परिणाम ? यदि इड़ा को बुद्धि का प्रतीक मानकर यह प्रतीकार्थ ग्रहण किया जाय कि मनु के मन ने इड़ा अर्थात् बुद्धि का घर्षण कर, उन्मुक्त विलास-गगन में उड़ानें भरने की चेष्टा की और फलतः मनु को भयंकर परिणाम भुगतना पड़ा, तो शायद यह अर्थ अधिक संगत प्रतीत होगा :

---

१. 'कामा० के अध्ययन की समस्याएँ', पृ० ४९।

२. वही, पृ० ४९।

बुद्धि का नियमन हट जाने पर मनुष्य विपत्ति में पड़ेगा ही । परन्तु, कठिनाई यह है कि स्वयं प्रसादजी ने, और विद्वानों ने, यह अभिप्राय ग्रहण नहीं किया है । उनका अभिप्राय यह है कि बुद्धिवादी जीवन-दृष्टि ने मनुष्य को विपन्न एवं विपद्ग्रस्त बना दिया है । तब, वैसी अवस्था में, मन पर अर्थात् सम्पूर्ण चेतना पर बुद्धि-द्वारा आक्रमण तथा अधिकार-स्थापन किये जाने की बात अधिक सार्थवती है, न कि बुद्धि के ऊपर मन के हावी होने की बात । लेकिन, जब इड़ा को बुद्धि का प्रतीक मान लिया गया और काव्यगत प्रत्येक घटना अथवा मोड़ की प्रतीकात्मक व्याख्या आवश्यक बन गयी, तब मनु-द्वारा किये गये इडा-घर्षण की और क्या व्याख्या सम्भव हो सकती थी, इसके अतिरिक्त कि मन ने बुद्धि को स्वायत्त करने की चेष्टा की ?

स्व० नन्ददुलारे वाजपेयी की एतद्विषयक व्याख्या अधिक उद्भावनापूर्ण, तर्क-संगत है । "मनु जितनी बुद्धि का भार सहज रूप से वहन कर सकता है, अथवा जितनी अतिरिक्त बुद्धि वह सँभाल सकता है, उतनी ही उसे धारण करता है । उतनी बुद्धि तो श्रद्धा मे है ही । किन्तु, मनु तो उतने से सन्तुष्ट नही हुआ और बुद्धि का अधिपति बनने का दम भरने लगा । स्पष्ट ही उसका माथा फिर गया था, अन्यथा वह ऐसे दुस्साहस का काम न करता । आधुनिक मानव भी तो यही कर रहा है !"[१] जैसा अभी कहा है, वाजपेयीजी की इड़ा में बुद्धि की प्रतीक-स्थापना की संगति बिठाने की यह चेष्टा अवश्य अधिक तर्क-संगत है । लेकिन, यह भी विचारपूर्ण विश्लेषण की कसौटी पर खरी नही उतरती । इसमे दो छिद्र हैं : प्रथम, श्रद्धा मे कामचलाऊ बुद्धि की वर्तमानता की बात और द्वितीय, बुद्धि का अधिपति बनने की बात । श्रद्धा यदि 'हृदय' की प्रतीक है, तो फिर उसमें उचित परिमाणवाली 'बुद्धि' को अवस्थिति की बात तर्कसंगत नहीं । अपनी आपत्ति को स्पष्ट करने के लिए कह दूँ कि 'व्यक्ति' की हैसियत से श्रद्धा (नायिका) में हृदय के साथ बुद्धि, विवेक इत्यादि सभी गुण थोड़े-बहुत परिमाण में रह सकते है, किन्तु हृदय की 'प्रतीक' की हैसियत से उसमे बुद्धि की वर्तमानता की बात असंगत हो जाती है । 'बुद्धि का अधिपति' बनने की बात यो ढह जाती है कि जब मन बुद्धि पर आधिपत्य ग्रहण करने मे सफल हो जायेगा, तब बुद्धि को वहाँ तक "दौड़ाने" की स्थिति ही क्यो आयेगी जहाँ "मन की शक्ति या पहुँच" नही जा सके, जैसा वाजपेयीजी ने आगे इसी संदर्भ मे कहा है ? अतएव, इड़ा-रूप बुद्धि पर अधिकार-स्थापन के चित्रण की प्रतीकात्मक सफाई इस व्याख्या से भी नही हो पाती । प्रसाद ने

---

१. 'जयशंकर प्रसाद', पृ० ८५

बुद्धिवाद के अतिचार का प्रत्याख्यान किया है, इसे तो सभी सामान्यतः स्वीकार करते हैं।

तैत्तिरीयोपनिषद् में वर्णित पंचकोशों के आधार पर मनु अथवा मन का विकास प्रदर्शित करते समय, कुछ विद्वानों ने श्रद्धा-रूप हृदय तथा इड़ा–रूप बुद्धि के रूपक का निर्वाह दिखलाने का प्रयास किया है। एक शोध-प्रबन्ध में, ऐसा प्रयास करते समय, 'हृदय-तत्त्व' का जो कार्य-निरूपण किया गया है, वह इस तथ्य का ज्वलन्त निदर्शक है कि किसी सामान्य-स्वीकृत स्थिति को 'दैवी सत्य' (Gospel truth) मानकर जब काव्यगत चित्रणों की व्याख्या की जाती है, तब कैसी-कैसी असंगतियाँ प्रविष्ट हो जाती हैं। इस प्रबन्ध में हृदय-तत्त्व के तीन रूप बताये गये हैं : पहला, वह मन को कर्मण्यता का पाठ पढ़ाता है और सांसारिक उन्नति के लिए प्रेरणा प्रदान करता है; दूसरा, वह मन को इस पार्थिव जगत् के प्रपंच से वैराग्य की प्रेरणा देता है और तीसरा, वह मन को अपनी चेतना-शक्ति के द्वारा ऊँचा उठाता तथा त्रिपुर की वास्तविकताओं का ज्ञान कराता है। हृदय की इस त्रिविध व्यापार-क्षमता की असंगतियाँ स्वतः स्पष्ट हैं। चेतना की दो शक्तियाँ, हृदय तथा बुद्धि, पहले मानी गयी हैं जो उचित ही हैं, और पुनः उस चेतना को हृदय की शक्ति मान लिया गया है : "यहाँ से अब हृदय की चेतना-शक्ति उसे ऊँचा उठाती है।"[1] ये सभी असंगतियाँ, स्पष्ट है, इस कारण हुई हैं कि कथा में श्रद्धा के संयोग अथवा प्रभाव से जो मोड़ आए हैं, उन्हें हृदय-तत्त्व का परिणाम दिखाया जाना आवश्यक था क्योंकि श्रद्धा हृदय की प्रतीक है, होनी चाहिए।

श्रद्धा तथा इड़ा की प्रतीकात्मक स्थितियों को लेकर आ० शुक्ल ने जो आपत्तियाँ उठाई हैं, वे अभी भी अपनी जगह पर तत्त्वतः बनी हुई हैं,[2] यद्यपि उनके परिहार का सावधान प्रयास किया जा चुका है।[3]

'कामायनी' के अध्ययन में एक और उलझन भी पैदा कर दी गयी है जिसका सम्बन्ध, न्यूनाधिक रूप में, इसी रूपकाश्रित मनोदृष्टि से है। मानव-सभ्यता के विकास का विराट् रूपक सिद्ध करने की पूर्व-चिन्ता में मनु को 'आदिम पुरुष' और श्रद्धा को 'आदिम नारी' बताया गया है। हम यहाँ भी दुहराना चाहेंगे कि इस धारणा के लिए भी प्रसादजी ही उत्तरदायी हैं। आमुख के कतिपय संकेतों और काव्यगत कतिपय चित्रणों से इस धारणा का उपलालन

---

१. **'कामायनी में काव्य, संस्कृति और दर्शन'**, पृ० १७४-७५।
२. **'हिन्दी साहित्य का इतिहास'** (सं० २०१९), पृ० ६५८।
३. **'कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ'**, पृ० ५२-५४।

हुआ है । उदाहरणार्थ, कुछ पंक्तियाँ नीचे उद्धृत की जा रही हैं—

"बनो संसृति के मूल रहस्य,
तुम्हीं से फैलेगी यह बेल × × ×" ('श्रद्धा')

"चेतना का सुन्दर इतिहास—
अखिल मानव भावों का सत्य" ('श्रद्धा')

"आज ले लो चेतना का यह समर्पण-दान,
विश्व-रानी ! सुन्दरी नारी ! जगत की मान !" ('वासना')

"किन्तु बोली क्या समर्पण आज का हे देव !
बनेगा चिर-बंधु नारी-हृदय हेतु सदैव ।" ('वासना')

ऐसे चित्र 'आदि पुरुष' और 'आदि नारी' की कल्पना को जन्म देते हैं । नृतत्त्व-चेतन पाठक स्वभावतः प्रश्नाहत हो उठता है : "क्या सचमुच मनु और श्रद्धा आदि मानव-मानवी हैं ?" विद्वानो ने मनु की चेतना के विकास में मनुष्य की आदिम-चेतना के उत्तरोत्तर 'अव्यवस्थित' विकास की कहानी गढ़ी है । मनु आदिम मानव हैं और उनकी अपरिष्कृत चेतना रपटीले मोड़ों से होती हुई, अन्ततः एकान्त परिष्कृत तथा विकसित होती हुई, आनन्दवाद की चरम भूमि को प्राप्त हो गयी है—ऐसी स्थापना भी की गयी है। किन्तु, प्रश्न यह खड़ा होता है कि यदि मनु की चेतना का स्वरूप, आदि अथवा आदिम मानव होने से, इतना असंस्कृत रहा है. तो श्रद्धा की चेतना का प्रवाह, जब कि वह भी आदि, आदिम मानवी है, आरम्भ से ही इतना सुसंस्कृत एवं परिमार्जित क्यों रहा ? पुनः, जब मनु तथा श्रद्धा दोनों देव-वंश के हैं, तब नई सृष्टि के प्रयास में उनमे से एक (मनु) क्रमशः कैसे घोर स्वार्थ-परायण तथा हिंसालु बन गया जब कि दूसरे पर इस प्रकार का परिवर्तनकारी प्रभाव नहीं पड़ा ? प्रसाद ने, और कतिपय नये ग्रंथकारों ने, मनु की चेतना में उत्पन्न अनर्थकारी विपर्यय को देव-संस्कारों के पुनरुद्बोधन का परिणाम संकेतित अथवा प्रदर्शित किया है । यह तर्कना बिलकुल अखंडित रह जाती, यदि 'ईर्ष्या' सर्ग में मनु का मृगया-व्यसन उन्हें एकान्त बर्बर बनाकर श्रद्धा से मृत हरिण-शावकों के सहारे भोजन की पूर्ति करने का अनुरोध करने के लिए मजबूर नहीं कर दिया होता—

"तुम बोज बीनती क्यों ? मेरा
मृगया का शिथिल हुआ न कर्म ।" ('ईर्ष्या')

देव-संस्कृति, सुन्दर-सुस्वादु भोज्य पदार्थों की जगह, मृगया में मारे गये जन्तुओं के माँस के अशन को अधिक वरीयता प्रदान करती थी, ऐसा शायद कोई भी व्यक्ति मानने को तत्पर नही होगा । ऐसे-ही, विषय-भोग की लालसा

इतनी दुर्दमनीय देव-जाति में थी कि उसके सदस्य, भावी संतति का भार वहन करने वाली प्रेमिकाओं को इतनी निष्ठुरता के साथ तिरस्कृत कर देते थे, ऐसी कल्पना भी शायद युक्ति-संगत नहीं होगी। स्पष्ट है कि इस तथा अन्य ऐसे प्रकरणों में प्रसादजी की मनोदृष्टि मनु की नृतत्त्वीय अर्थों वाली 'आदिमता', 'प्रिमिटिव स्टेट' की ही ओर केन्द्रित थी। और, इसी कारण, मनु के चरित्र में उत्कीर्ण समस्त विलक्षण विशेषताओं को केवल इस आधार पर सुलझाना सम्भव तथा समीचीन नही होगा कि मनु में 'आशा' सर्ग से जो देव-संस्कार उद्‌बुद्ध होने लगे थे, उन्ही के सशक्त नवोदय के फलस्वरूप, उनके आचरण में अमानुषिक विकृतियाँ विस्फोटित हुईं। सचाई यह है कि प्रसाद ने नानाविध कल्पनाओं तथा अवधारणाओं को एक समग्रता में गुफित करने का प्रयास किया जिसमें सच्ची सफलता, शायद, उनकी प्रवीण प्रतिभा की पकड़ को फुसलाकर पलायन कर गयी।

९ | मानव–चेतना का विकास

क.

मानव-चेतना के विकास से दो तात्पर्य गृहीत हो सकते हैं : प्रथम, शैशवावस्था से वयस्कावस्था तक व्यक्ति के मनोमय व्यापार का विकास और द्वितीय, वयस्क मनुष्य की मानसिक प्रक्रियाओं-प्रतिक्रियाओं का विकास। प्रथम रूप में आधुनिक मनोविज्ञान की एक विशिष्ट शाखा विकसित हो गई है। जिसे 'विकासात्मक मनोविज्ञान' (Developmental psychology) कहा जाता है। द्वितीय रूप में वयस्क व्यक्ति की मानसिक क्रियाओं का आचारगत परिष्कार की दृष्टि से अध्ययन किया जा सकता है और उसके आधार पर मानवी संस्कृति एवं सभ्यता के विभिन्न स्तरों एवं सोपानो का निर्धारण किया जा सकता है। स्पष्ट है कि 'कामायनी' मे मानव-चेतना के विकास का अध्ययन इस दूसरे रूप मे हो किया जाना चाहिए क्योकि उसके नायक और नायिका दोनों मे से कोई भी पहले विकास-क्रम से संबधित नही है। वहाँ भी, विद्वानों ने मनु के मनोमय व्यापार के, जिसका ही प्रतिफलन मनु के स्थूल आचरणों में हुआ है, आधार पर ही यह प्रदर्शित किया है कि 'कामायनी' मानव-चेतना के विकास का महाकाव्य है। अतएव, प्रस्तुत गवेषणा में हमारा विवेच्य यही होगा कि मनु की चेतना में जो परिवर्तन घटित हुए हैं वे आचारगत परिष्कार-परिमार्जन की दृष्टि से कहाँ तक अनुकूल तथा सहायक हैं।

चेतना को मनोवैज्ञानिकों ने एक अखंड, सतत प्रवाहशील धारा के रूप में माना है : जिस प्रकार पानी की धारा मे लहरियाँ तथा तरंगे एक-दूसरे में प्रवाहित तथा मिश्रित होते हुए एक अखंडित धारा का निर्माण करती हैं, उसी प्रकार चेतना के विभिन्न स्पन्दन एक-दूसरे में प्रवाहित तथा मिश्रित-सम्मिलित होकर, चेतना की एक अखंडित, सातत्यपूर्ण धारा का निर्माण करते हैं। तथापि, समझने-समझाने के लिए मानव-चेतना के तीन रूपों तथा स्तरों का विचार किया जा सकता है, यथा, संवेग, चिन्तन और प्रेरणाएँ। संवेग वे प्रतिक्रियाएँ हैं जो किसी उत्तेजन की उपस्थिति में आविर्भूत होती हैं; चिन्तन मन का सक्रिय

व्यापार है जो किसी कठिनाई अथवा समस्या के समाधान के संदर्भ में कल्पना एवं तर्कना के आश्रय से चलता है, प्रेरणाएँ वे ईहाएँ तथा इच्छाएँ हैं जो मनुष्य के व्यापारों को, अदृश्य किन्तु सशक्त ढंग से, प्रचोदित एवं परिचालित करती हैं। मानव-जीवन में चेतना के ये ही तीन स्वरूप तथा आयाम प्रत्यक्षतः दृष्टिगोचर होते हैं और इन्हीं के प्रगतिशील, उत्तरोत्तर विकास पर जीवन का संतुलनमय विकास अवलंबित रहता है। (मनोवैज्ञानिकों ने इस संबंध में स्वाभाविकता के साथ-साथ, आनुवंशिकता (heredity) तथा वातावरण (environment) के प्रभावों का भी निरूपण किया है—और बताया है कि परिवेश तथा परिस्थितियों के साथ उचित अभियोजन (adjustment) में, जो व्यक्ति के संतुलित एवं समन्वित विकास के लिए आवश्यक है, वंश परम्परा का भी अत्यधिक प्रभाव पड़ता है।)

अतएव, मनु की चेतना के विकास का अध्ययन करते समय उपर्युक्त त्रिविध चेतना-रूपों का विवेचन करना आवश्यक होगा और यह भी देखना होगा कि मनु के मनोमय विकास में उनकी आनुवंशिकता तथा वातावरण का क्या और कितना प्रभाव रहा है। इसी गवेषणा के आलोक में, 'कामायनी' में मानव-चेतना के तथोक्त विकास का भी परीक्षण किया जा सकेगा।

किन्तु, प्रस्तुत गवेषणा आरंभ करने के पूर्व, संवेगों, चिन्तन-प्रकृति तथा प्रेरणाओं के संबंध में कतिपय मोटी बातों का उल्लेख करना वांछनीय है। भय, क्रोध, प्रेम, स्पर्धा, घृणा, पीड़ा, आनंद, चिन्ता, लज्जा प्रभृति संवेग ब्रिजेज़ (Bridges) जैसे मनस्तत्त्ववेत्ताओं के अनुसार, पाँच वर्ष की आयु से प्रारंभ होकर वयस्कों के जीवन मे थोड़े-बहुत स्वरूप-भेद के साथ प्रवेश करते हैं। ये संवेग ही बाद को एक विशिष्ट पद्धति से संगठित होकर स्थायी भावों (Senti ments) का आविर्भाव करते हैं और ये भाव वयस्क-जीवन में अपना गहरा प्रभाव दिखाते हैं। प्रेरणाओं के सम्बन्ध में "आहारनिद्राभय–मैथुनं" का जो हमारा पुराना विधान रहा है, उसी की नवीन स्थापना आधुनिक मनोविज्ञान द्वारा भी की गई है। भूख,प्यास, निद्रा, काम तथा चोट से अपने अंगों को बचाना जैसी प्रवृत्तियों को दैहिक ईहाओं (physiological drives) के अन्तर्गत गिनाया गया है और मानसिक प्रेरणाओं अथवा ईहाओं में प्रभुत्व, आत्म-सम्मान, सुरक्षा, सामाजिकता, युयुत्सा अथवा आक्रामकता, नवीन अनुभव प्राप्त करने की इच्छा इत्यादि का समावेश किया गया है। दूसरों द्वारा प्रेम-पूर्ण प्रतिक्रिया प्राप्त करने की प्रवृत्ति जब तीव्र और लैंगिक अथवा काम-ईहा से संयुक्त हो जाती है, तब स्त्री और पुरुष दोनों ही अपने विपरीत लिंग वाले व्यक्ति के साथ प्रेमाभिव्यक्ति का विनिमय करने की प्रवृत्ति से आकुल

हो जाते हैं; और तब काम की स्थूल ईहा मनोलैंगिक प्रेरणा (psycho-sexual motive) का स्वरूप ग्रहण कर लेती है। मौलिक संवेग स्थायी भाव तथा ये प्रेरणाएँ सभी परस्पर घनिष्ट भाव से गुंथे हुए हैं और परिवेश एवं वातावरण के साथ समुचित रूप से अभियोजित होकर, मनुष्य का संस्कार परिष्कार करते हैं तथा मानवी संस्कृति का विकास-पथ प्रशस्त करते हैं। मनस्तत्त्वविदों ने बताया है कि अहंभाव (Egoism) की प्रेरणा का समुचित विकास एवं अभियोजन सभ्यता के विकास में बड़ा महत्त्व रखता आया है। चिन्तन-स्वरूप के संबंध में मनोविज्ञान के पंडितों ने बताया है कि बालकों का चिन्तन आत्म-केन्द्रित होता है, उसमें स्पष्ट संगति वर्तमान नहीं होती, वह अत्यधिक काल्पनिक होता है और उसमें निश्चल, निर्जीव पदार्थों को भी सजीव एवं सचेतन समझ लेने की प्रवृत्ति रहती है जबकि वयस्कों के चिन्तन की विशेषताएँ हैं, वस्तुनिष्ठता, युक्तिपूर्ण सुसंगतता और वातावरण एवं भविष्य के प्रति जागरूकता। लेकिन, जैसा उन्होंने भी स्वीकार किया है, वयस्क-चिन्तन में भी बालकों के चिन्तन की ये विशेषताएँ लिपटी रह सकती हैं।

अब, मनु की चेतना के विकास का अध्ययन अधिक स्पष्टता-पूर्वक किया जा सकता है।

ख.

१. मनु के चेतना-व्यापार का प्रथम प्रकाश हुआ है चिन्ता में। चिन्ता का मूल कारण है, अतीत के वैभव-विलास का विनाश और सहचारी कारण है, यौवन के मधुमय स्रोत की उपेक्षा एवं विफलता—

"चिन्ता करता हूँ मैं जितनी
उस अतीत की, उस सुख की ;
उतनी ही अनंत में बनती
जातीं रेखायें दुख की।"
"उधर उपेक्षामय यौवन का
बहता भीतर मधुमय स्रोत।"

मनु की इस चिन्ता में उनका चिन्तन ('मनन') भी कार्यशील है। चिन्ता-चिन्तन की इस प्रक्रिया में निम्नलिखित विन्दु उभर आये हैं :—

(क) देव-सृष्टि के विलोप पर मनु को गहरा दुःख है। देवों के सुख-विलास में वे भी साझीदार रहे हैं और उस ऐश्वर्य-शृंगार की स्मृतियाँ उन्हें भीतर से सर्प-दंश के समान काट रही हैं; उनकी विगत विलास के प्रति भीतरी ललक अभी जीवित है :

"गया, सभी कुछ गया, मधुरतम
सुर-बालाओं का शृंगार;
उषा ज्योत्स्ना-सा, यौवन-स्मित,
मधुप-सदृश निश्चित विहार।"

× ×

"अब न कपोलों पर छाया-सी
पड़ती मुख की सुरभित भाप;
भुज-मूलों में, शिथिल वसन की
व्यस्त न होती है अब माप।"

(ख) देवों के उन्मत्त विलास, अनास्थापूर्ण दंभ, तथा अनियंत्रित अहंभाव के प्रति मनु सहज रोष से उद्विग्न है। वे अनुभव कर रहे हैं कि 'विकल वासना के प्रतिनिधि' उन देवों के संयम-विहीन आचरण से ही वह सर्वनाशी प्रलय घटित हुआ है :

"अरी उपेक्षा-भरी अमरते !
री अतृप्ति ! निर्बाध विलास !
द्विधा-रहित अपलक नयनों की
भूख-भरी दर्शन की प्यास।"

(ग) मनु सोचते हैं कि देव-जाति का विनाश बचाया जा सकता था; विनाश न हुआ होता तो अच्छा था :

"आह सर्ग के अग्रदूत ! तुम
असफल हुए, विलीन हुए;
भक्षक या रक्षक, जो समझो,
केवल अपने मीन हुए।"
"प्रकृति रही दुर्जेय, पराजित
हम सब थे भूले मद में;
भोले थे, हाँ तिरते केवल
सब विलासिता के मद में।"

(घ) मनु के मन में जीवन की अनित्यता की अनुभूति गहरी हो उठी है :

"ओ जीवन की मरु-मरीचिका,
कायरता के अलस विषाद !

+ + +

मौन ! नाश ! विध्वंस ! अँधेरा !
शून्य बना जो प्रकट अभाव

वही सत्य है, अरी अमरते !
तुमको यहाँ कहाँ अब ठाँव ?"

(ङ) मनु आत्म-भर्त्सना के भाव से भर गये है :

"आह अमरता का जीवित हूँ
मैं वह भीषण, जर्जर दम्भ,
आह ! सर्ग के प्रथम अंक का
अधम-पात्रमय-सा विष्कंभ ।"

(च) अतीत का मनन इतना गहरा है और निराशा तथा पश्चात्ताप का भाव इतना तीव्र एवं गहन है कि मनु अपनी चेतना-मात्र का ही विलोप चाहने लगे है :

'चेतनता चल जा, जड़ता से
आज शून्य मेरा भर दे।"

अतएव, मनु की चेतना के घटक तत्त्व लक्षित होते हैं—क्षोभ, विषाद, रोष, पश्चात्ताप, निराशा, आत्मा-भर्त्सना तथा जीवन की अनित्यता-निस्सारता की अनुभूति; और अन्तर्धारा के समान प्रवाहित है उसमें उमड़ते यौवन के उपभोग-हेतु किसी प्रेमास्पद की अभिलाषा। वह पूर्णतः एकाकी है और यौवन के अनुकूल किसी सहचर के अभाव से पीड़ित हैं : "हे अभाव की चपल बालिके" मे किसी चपलनयना का अभाव उन्हे भीतर-भीतर डँस रहा है; देवों ने यदि थोड़ा सयम बरता होता, तो शायद प्रकृति की वह विध्वंस-लीला नही घटित हुई होती और तब, मनु को अपने यौवन की विफलता के अनुभव का अवसर ही उपस्थित नही हुआ होता। मनु के संवेग अत्यधिक संवेदनशील और अत्यधिक मननशील व्यक्ति के सवेग है तथा उनका चिन्तन काल्पनिक न होकर, वस्तुनिष्ठ है, आत्म-केन्द्रित न होकर, सम्पूर्ण सृष्टि के सहार से लिपटा हुआ है। और वह देव-जाति के वंशज है जिन्होने अपनी आँखों से उसका विनाश देखा है। अर्थात्, काव्य के आरम्भ में मनु एक पूर्ण सुसंस्कृत, विकसित बुद्धि एवं पुष्ट रागात्मक संवेदना वाले व्यक्ति है जिनकी चेतना देव-जाति की, गौरवमयी उपलब्धियों के विलोप से अवसन्न हो गई है। अभी उनमें कोई ऐसी वृत्ति संकेत-रूप में भी नही दिखाई पड़ती जिससे हम यह सोचने के लिए प्रेरित हों कि मनु बर्बर, पाशविक धरातल के जीव है।

२. उषा के सुनहले तीरों के साथ, जब जल-संदोह घट जाता है और प्रकृति का संत्रस्त विवर्ण मुख हँसने लगता है, मनु की अवसाद-ग्रस्त चेतना रहस्य की प्रतीति से चंचल हो उटती है। मनु सोचते हैं, कोई 'विराट' सत्ता **है जो आकाश के नीलमणि-निर्मित बड़े चषक में सुवर्ण की पीताभ धूलि घोल**

कर, नया रंग भरने का मधुर उपक्रम कर रही है और वे तत्काल उस रहस्य-मयी सत्ता को जानने के लिए अधीर हो उठते हैं--

" 'कौन' ? हुआ यह प्रश्न अचानक
और कुतूहल का था राज ।"

दार्शनिक चिन्तक की मुद्रा में मनु समझ लेते है कि वह सत्ता सर्वशक्ति-मान, निखिल विश्व की नियामिका और साथ ही, अनंत रमणीयता का आगार है। मनु रहस्यवादी आस्तिक भक्त के समान उस सत्ता के प्रति गहरी जिज्ञासा व्यक्त कर, उसकी रहस्यमयता को शान्त भाव से स्वीकार कर लेते हैं--

'हे अनंत रमणीय ! कौन तुम ?
यह कैसे मैं कह सकता ।
कैसे हो ? क्या हो ? इसका तो
भार विचार न सह सकता ।" ('आशा')

रहस्य का यह भाव उसी सुसंस्कृत व्यक्ति की आस्थामयी प्रतिक्रिया है जिसने अपनी जाति का सर्वनाश देखा है और जो उस अनाशंकित विपत्ति की अनुभूति से सर्वथैव विषण्ण, अवसन्न हो गया था । प्रकृति के प्रांगण मे जो आकस्मिक पट-परिवर्तन घटित हुआ है, उससे मनु के मनोमय जीवन में नवीन आशा का संचार होने लगा है । उनकी मृतप्राय जिजीविषा सहसा उद्दीपित हो उठती है, "जीवन ! जीवन !" की पुकार उनकी शिराओं में बिजली की भाँति दौड़ जाती है । वह रहस्य-सत्ता जैसे उनके कानों में अपने अस्तित्व की गूँज करने लगती है कि 'मैं हूँ" और इस गुंजन की प्रतिक्रिया यह होती है कि मनु स्वयं अपना आस्तित्व बनाये रखने तथा उसका प्रसार करने का संकल्प-सा कर लेते हैं--

"मैं भी कहने लगा, 'मैं रहूँ'
शाश्वत नभ के गानों में ।"

जीवन की यह लालसा 'प्रखर विलासमयी' है । किन्तु जीवित रह कर मनु क्या करेंगे ? वह एकाकी हैं, जीवन के सुख साधन विनष्ट हो चुके हैं, 'अमर वेदना' का भार वहन करने में वह असमर्थ-सा हो रहे हैं--

"तो फिर क्या मैं जिऊँ और भी,--
जीकर क्या करना होगा ?
देव ! बता दो, अमर वेदना
लेकर कब मरना होगा ?"

स्पष्ट है कि मनु की चेतना की यह छटपटाहट उनकी मननशीलता का परिणाम है । जीवन-व्यर्थता की अनुभूति से अभिभूत मनु यदि जल-प्लावन

के अवसान पर, रमणीय प्रत्यूष के दर्शन से ही जीवन-लालसा से भर गये होते, तो वह उनकी चेतना का नितान्त सरल, स्वाभाविक विकास कहा जाता । किन्तु, मनु रहस्यमयी सत्ता की अनुभूति से भी प्रभावित हो गये है और वह रहस्य तब और भी रहस्यमय बन गया है जब वह अपने कानों से उसका गुंजरित कथन भी सुन लेते है । यहाँ उनकी चेतना की ऋजुता तनिक खंडित हो गई है, यद्यपि अस्वाभाविकता का संस्पर्श उसमें नही है । वह रमणीय गुहा मे सुन्दर-स्वच्छ निवास बनाते है, अग्निहोत्र जला कर तप मे अपना जीवन अर्पण करते है । कवि ने कहा है कि उनके भीतर देव-सस्कार फिर जीवित हो उठते है और वह देव-यज्ञो की माया से आकर्षित हो जाते है । अग्निहोत्र का अवशिष्ट अन्न कुछ दूरी पर रथ आने मे भूत-दया तथा प्राणिसुलभ सहानुभूति से उनके नवीन परिचय की विज्ञप्ति होती है । किन्तु, मनु की मननशीलता चलती ही जाती है । अग्निहोत्र के समीप तपोनिरत होकर, मनु जीवन-विषयक नाना नवीन प्रश्नों के आविर्भाव तथा उनके 'अर्धप्रस्फुटित उत्तरो' की प्रतीति करते हुए, नियति के शासन मे विवश होकर यज्ञ-कर्मों मे लीन हो जाते है ।

यहाँ ध्यान मे यह रखना आवश्यक है कि 'चिंता' सर्ग मे मनु की चेतना सवेगो तथा चिन्तन से ही मुख्यत: प्रभावित है, उसमे किसी प्रेरणा का दर्शन नही होता । 'आशा' सर्ग मे, उनकी चेतना मे एक प्रेरणा स्पष्ट भाव से प्रविष्ट हो गई है, और वह है जीवित रहने की, जिजीविषा की; इसी जीवन लालसा के साथ अनुस्यूत हो गया है उनका अहभाव जिसकी रक्षा भी होनी चाहिए । अतएव, बिलकुल स्वाभाविक ढग से, बहुत समय वैसे ही व्यतीत हो जाने पर मनु की 'अनादि वासना' 'मधुर प्राकृतिक भूख के समान' नवीन रूप मे जाग्रत हो उठी; वह चिर-परिचित-से द्वन्द्व-सुख' के लिए छटपटा उठे और उनके प्राण यों मुखर हो गये--

"कब तक और अकेले ? कह दो
हे मेरे जीवन, बोलो ?"

इस स्थल से जीवित रहने, आत्म-प्रसार करने तथा द्वन्द्व-सुख का मधुमय आस्वादन करने की प्रेरणा मनु की चेतना को स्पष्ट भाव से संचालित करने लगी है । किन्तु, जीवन-भोग की यह लालसा रहस्यानुभूति से सयुक्त होकर ही चल रही है । रात्रि के तारों को मनु 'तम के सुन्दर रहस्य' और 'अनंत की गणना' जैसी अभिधाओं से सम्बोधित करते है तथा 'इन्द्रजाल जननी रजनी' से उसके रहस्यमय प्रियतम का परिचय पूछते हैं । वह वस्तुत: अपने अतीत 'जीवन की छाती के दाग' की खोज का उस मनोहर रजनी पर आरोप

करते हैं और कहते है—

"मैं भी भूल गया हूँ कुछ,
हाँ स्मरण नहीं होता, क्या था ?
प्रेम, वेदना, भ्रांति या कि क्या ?
मन जिसमें सुख सोता था !"

इस विवेचन से प्रत्यक्ष है कि रहस्यानुभवी मनु, अब जीवन–भोग की लालसा के आविर्भाव के संदर्भ में, कल्पनाजीवी बन गये है; उनका चिन्तन वस्तुनिष्टता से कुछ दूर हटकर, कल्पना के रागारुण अनुषंगो से आवेष्टित–सा हो चला है। किन्तु, जैसा पहले कहा जा चुका है, वयस्को के चिन्तन में भी कल्पना का पुट कभी–कभी समाविष्ट हो जाता है, और ऐसी स्थिति जीवन के असामान्य संदर्भों मे ही उत्पन्न होती है। मनु की अवस्था इस समय असामान्य ही है। एक बात और भी स्मरणीय है। मनु की किसी प्रेमास्पद-प्राप्ति की कामना स्थूलतः लैंगिक नही है अपितु यह मनोलैंगिक (Psycho Sexual) है जिसमे विशुद्ध कामुकता की दैहिक ईहा की बर्बरता वर्तमान नहीं है।

'आशा' सर्ग की समाप्ति तक मनु का मनोमय व्यापार जिजीविषा की आभ्यतर प्रेरणा से स्पन्दनशील बन गया है; और उसी मौलिक प्रेरणा की लपेट में, उसी की पुष्टि एव सवर्धना मे, अहभाव तथा प्रणय–भोग की सहचारी प्रेरणाएँ आविर्भूत हो गई है। इस स्थल से मनु का मनोमय जीवन असामान्यता के तत्त्व से रंजित हो गया है जिसे यो दिखाया जा सकता है : जीवन-लालसा अहं की विस्तार-लालसा प्रणय-भोग की लालसा जगत् की नियामिका सत्ता की रहस्यानुभूति। ऐसी असामान्य चेतना–सरणि वाला व्यक्ति कल्पना, चिन्तन, सवेग, सभी क्रिया–प्रतिक्रियाओ मे असाधारण संवेदना का प्रदर्शन करेगा। मनु की आरम्भिक सुखानुभवी चेतना को गहरा धक्का लगा है प्रलय के भयकर दुष्परिणामो के फलस्वरूप; और यह इस बात का पर्याप्त सकेत है कि उनकी चेतना का विकास साधारण धरातल पर, साधारण रीति से, प्रत्याशित नही किया जा सकता। विद्वानो ने कहा है कि आचार्य शुक्ल द्वारा वांछित मनु के प्रजापति-रूप के चित्रण की भावना, जिसमें एक पुरुष के प्रकृति के विरुद्ध सघर्ष और उस पर विजय–प्राप्ति के महान् प्रयास का अंकन किया जा सकता था, प्रसादजी के मन मे वर्त्तमान थी, किन्तु "अन्तर्मुख कथानक के नायक का व्यक्तित्व–प्रसार देशकाल के विस्तार में सम्भव नही था," इसी कारण, प्रसादजी 'आ० शुक्ल की उस विराट कल्पना–मूर्ति का अंकन

नहीं कर सके ।"[1] इस प्रसंग में निवेदन है कि 'कामायनी' का कथानक अन्तर्मुख अवश्य है, और इसीलिए, उसके नायक मनु भी मुख्यतः अन्तर्मुख हैं; किन्तु "वह भव्य चित्र उनकी कल्पना में उभरा" भी था, ऐसा समझना संगत नहीं है । इस विश्वास की पुष्टि में निम्न पंक्तियाँ उद्धृत की गई हैं—

"हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर,
बैठ शिला की शीतल छाँह,
एक पुरुष, भीगे नयनों से,
देख रहा था प्रलय-प्रवाह !
नीचे जल था, ऊपर हिम था,
एक तरल था, एक सघन;
एक तत्त्व की ही प्रधानता,
कहो उसे जड़ या चेतन ।"

लेकिन, विचार करने से स्पष्ट हो जाएगा कि प्रसादजी वह 'भव्य चित्र' अंकित करना ही नहीं चाहते थे । वे समझते थे कि मनु की स्थितियों वाला नायक प्रकृति से संघर्ष कर ही नहीं सकता था, विजय की बात दूर रही । हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर आसीन, भीगे नयनों से प्रलय-प्रवाह देखने वाला पुरुष आ० शुक्ल की कल्पना वाला प्रजापति नहीं बन सकता था । प्रसादजी भी ऐसा नहीं सोचते थे, नहीं चाहते थे । मनु की चेतना के विकास की कुंजी "नीचे जल था, ऊपर हिम था" वाली पंक्तियों में कवि ने संकेतित कर दी है । अर्थात्, मनु जड़ या चेतन में एक ही तत्त्व की वर्तमानता की प्रतीति से ही चंचल हो सकते हैं, अर्थात्, वह रहस्य-चिन्तक या रहस्य-दर्शी बन सकते हैं, और, यदि वह समस्त 'प्रजापतित्व' के बाद, उसकी चरम परिणति के रूप में, अपने व्यक्तित्व को आत्यंतिकी आनन्द-सत्ता में विलीन कर देते हैं, तो इस संभावित परिणति के लिए कवि ने 'कामायनी' की आरंभिक पंक्तियों में ही प्रचुर, असंदिग्ध संकेत प्रक्षिप्त कर दिये हैं । इस प्रकार, प्रसादजी अपनी कल्पना के आदि में और अन्त में एकदम सुसंगत ठहरते हैं । हिमगिरि के परिवेश में अपने नायक को रखकर, शिला की शीतल छाया उसे प्रदान कर, उसके नयनों को आँसुओं से आर्द्र कर तथा निखिल सृष्टि में एक तत्त्व की प्रधानता का निर्देश कर, प्रसादजी अपनी रोमांटिक भाव-भूमि की अवतारणा करने की ही चेष्टा कर रहे थे । रोमांटिक काव्य का नायक असाधारण संवेदना एवं चिन्तन, रहस्य की विचित्र अनुभूति तथा प्रकृति के रम्य रूपों, विशेषतया

---

१. 'कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ; पृष्ठ २०–२१

सन्ध्या एवं विभावरी के साथ एक विस्मय-भरी आत्मीयता-बुद्धि से संयुक्त रहेगा। मनु के आचरण में ये सभी विशेषताएँ वर्तमान हैं, और प्रसादजी ने मनु को मुख्यतः एक असाधारण मननशील रोमांटिक व्यक्तित्व के रूप में कल्पित किया है जो बिलकुल स्वाभाविक रीति से आनन्द-सत्ता में आत्म विसर्जन कर देता है।

'श्रद्धा' सर्ग में, श्रद्धा के साक्षात्कार से जैसी उल्लासमयी प्रतिक्रिया होनी चाहिए थी, उसका प्रस्फुटन मनु की चेतना में नही हुआ है। "द्वन्द्व" की अभिलाषा वाले मनु के मन में एक हलकी गुदगुदी अवश्य हुई है जब उनके कर्ण-कुहरों में श्रद्धा की पृच्छा–मयी मधुरवाणी का मनोहर संगीत गूँज उठा। नवागन्तुक के इन्द्रजाली अभिराम रूप तथा उसकी मद–विह्वल मुसकान के दर्शन से जीवन-भोग की प्रखर लालसा वाले व्यक्ति में जो प्रतिक्रिया चित्रित हुई है, वह आत्म-कदर्थना की प्रतिक्रिया है जिसमें पराजय-वृत्ति लिपटी हुई है। मनु कहते हैं—

"शैल निर्झर न बना हतभाग्य,
गल नहीं सका जो कि हिम–खण्ड,
दौड़कर मिला न जलनिधि-अंक
आह वैसा ही हूँ पाषंड।"

देव-जाति के दुर्दान्त दम्भ के साझीदार मनु भी थे। अतएव, वह अपने को एक घोर पाखंड मानते है क्योंकि उन्होंने जीवन में 'गलना' नहीं सीखा, दूसरे के हृदय-सागर में अपने हृदय-निर्झर का संगम नही करा सके। (यह स्मरणीय है कि मनु ने अब सहानुभूति का पाठ पढ़ लिया है, अग्निहोत्र के अवशिष्ट अन्न के उपयोग में।) अपने कामना-कलित और साथ ही 'ज्योतिर्मय' अतीत की स्मृतियाँ अभी भी उन्हें भीतर से काट रही हैं—

"एक विस्मृत का स्तूप अचेत,
ज्योति का धुँधला-सा प्रतिबिम्ब,"

श्रद्धा एक दिन अचानक प्रकट होती है और मनु को एकान्त में 'प्रभा की धारा से निर्जन का चुपचाप अभिषेक' करते हुए देखकर पूछती है, "तुम कौन हो जो जगत् के सुलझे हुए रहस्य-सा, एक करुणा-मय सुन्दर मौन तथा चंचल मन के आलस्य–सा दिखाई पड़ रहे हो ?" श्रद्धा के इस प्रश्न-कथन से प्रकट होता है कि मनु नितान्त मौन एवं निश्चेष्ट हो, चिन्तन-मग्न बैठे हैं। श्रद्धा की मधुर वाणी के संगीत से उन्हें कुतूहल होता है और चिन्ता-धारा खण्डित हो जाती है। श्रद्धा के इन्द्रजाली अभिराम रूप की गुलाबी कान्ति तथा उसकी अरुणोदय की प्रथम किरण के समान अम्लान, मद-विह्वल मुसकान को देख,

मनु विस्मय-विमुग्ध हैं और अपना परिचय देते हुए आर्द्र गम्भीर स्वरों में निवेदन करते हैं—"मैं एक भ्रान्त उल्का के समान असहाय शून्य में विचरण कर रहा हूँ। मैं अभागा वह शैल हूँ जिसमें से कोई निर्झर फूट कर प्रवाहित नहीं हुआ, वह हिम-खण्ड हूँ जो कभी गल नहीं पाया और दौड़कर सागर से संगम नहीं कर सका। आह! मैं एक पूरा पाखण्ड हूँ। जीवन की पहेली सुलझाने में व्यस्त हूँ, किन्तु लगता है जैसे विस्मृति का मार्ग ही उत्तम मार्ग है। वह कामना-कलित मधुर अतीत भूलता ही जा रहा है और दीन जीवन का यह संगीत तिमिर के गर्भ में निरन्तर बढ़ता ही जा रहा है। मैं उद्भ्रान्त हूँ। मैं ज्योति का धुँधला-सा प्रतिबिम्ब हूँ, घनीभूत हूँ और जीवन में सफलता की कोई आशा नहीं रखता।"

मनु के इस आत्म-निवेदन में उनकी चेतना पर यह प्रकाश पड़ता है : "अतीत के सुखैश्वर्य की स्मृतियाँ उन्हें यद्यपि सता रही हैं। देव-जाति का वंशज होने के नाते वह अपने को गौरव का आगार समझते हैं, किन्तु अपने वर्तमान जीवन में वह सर्वथा कदर्थित, विडम्बित है। आत्म-भर्त्सना का भाव भी भीतर से पीड़ित कर रहा है और यह पश्चात्ताप भी कि उन्होंने अतीत में हृदय की मधुर वृत्तियों का अभ्यास नहीं किया। वह उस अतीत को जो सुख-मय किन्तु दुष्पूर्ण था, भूल जाना चाहते हैं क्योंकि उस विस्मृति से उन्हें शायद मानसिक विश्रान्ति मिले।"

अतएव, मनु के मन में एक उद्वेजनामय संघर्ष वर्तमान है : अतीत को भूल जाना चाहते हैं, फिर भी, अतीत के सुखों का आस्वादन भी चाहते हैं, इस अन्तर के साथ कि अब वह हृदय के द्रवित रस के अभ्यास से अपने नवीन जीवन का अभिषिंचन करेंगे। जीवन जीने तथा उसका उपभोग करने की लालसा अब तक एक मौलिक प्रेरणा का स्वरूप ग्रहण कर चुकी है। जीवन-भोग पर्याय है सम्पन्न यौवन-भोग का, और यौवन-भोग में आत्म-विस्तार, अहं की संतृप्ति का प्रथम अवकाश मिलता है। अतएव, मनु की चेतना की केन्द्रीय समस्या अभी है किसी सहचर की प्राप्ति की जिसके आश्रय से वह अपने उपेक्षित यौवन को सार्थक बना सके। इसीलिए, मनु श्रद्धा से उसका परिचय पूछते हुए कहते हैं—

"कौन हो तुम वसन्त के दूत,
विरस पतझड़ में अति सुकुमार!
× × ×
कल्पना की मधु लहरी दिव्य
कर रही मानस-हलचल शांत!"

स्पष्ट है कि मनु के मनोमय जीवन की तात्कालिक उद्वेजना यौवन के उपेक्षित मधुमय स्रोत के विफल प्रवाह से ही सम्बन्धित है जिस कारण ही, श्रद्धा के रूप-सौन्दर्य के दर्शन से उनकी 'मानस-हलचल' शान्त हो गई है । यों रहस्य-सत्ता की अनुभूति भी उन्हें चंचल करती ही रही है, किन्तु वह इस कारण कि प्रलय के सर्वग्रासी स्वरूप से उन्हें उस लोकातीत सत्ता का आभास मिला है ।

लेकिन, श्रद्धा ने अपने प्रथम परिचय के आधार पर मनु की चेतना का जो विश्लेषण किया है, उससे ज्ञात होता है कि जीवन-भोग की लालसा जो स्पष्ट प्रेरणा के रूप में उनके मानसिक संघटन में प्रवेश कर गई है, अभी लग-भग भ्रूणावस्था में है । श्रद्धा को देखकर उनकी 'मानस-हलचल' अवश्य शान्त हुई है, किन्तु श्रद्धा के दर्शन से जो उमंग-उन्मेष उनके भीतर होना चाहिए था, वह प्रकट नही हो सका है । इसीलिए, श्रद्धा को पूछना पड़ा—

"हृदय में क्या है नहीं अधीर,
लालसा जीवन की निश्शेष ?
कर रहा वंचित कहीं न त्याग
तुम्हें, मन में धर सुन्दर वेश ?"

और उनकी दबी-दुबकी जीवनैषणा को उद्दीप्त करने के लिए यों उपदेश देना पड़ा—

"काम से झिझक रहे हो आज,
भविष्यत् से बन कर अनजान ।
+ + +
काम मंगल से मंडित, श्रेय
सर्ग इच्छा का है परिणाम;
तिरस्कृत कर उसको तुम भूल
बनाते असफल हो भवधाम ।"

तब भी, मनु की विषण्णता की बर्फ गली नहीं । उनका उत्तर है—

"किन्तु जीवन कितना निरुपाय !
लिया है देख, नहीं सन्देह;
निराशा है जिसका परिणाम,
सफलता का वह कल्पित गेह ।"

इस निराशा एवं निस्सहायता की मनोभूमि को विघटित करने के निमित्त, श्रद्धा का उद्बोधनपूर्ण स्वरों में जीवन का शंखनाद फूँकना पड़ा—

"अरे, तुम इतने हुए अधीर !
हार बैठे जीवन का दाँव,
जीतते मर कर जिसको वीर ।
× + ×
प्रकृति के यौवन का शृंगार
करेंगे कभी न बासी फूल;
मिलेंगे वे जाकर अति शीघ्र
आह, उत्सुक है उनकी धूल ।
पुरातनता का यह निर्मोक
सहन करती न प्रकृति पल एक,
नित्य नूतनता का आनन्द
किये है परिवर्तन में टेक ।
× × ×
एक तुम, यह विस्तृत भू-खण्ड
प्रकृति-वैभव से भरा अमंद;
कर्म का भोग, भोग का कर्म
यही जड़ का चेतन आनन्द ।
+ + +
तपस्वी ! आकर्षण से हीन
कर सके नहीं आत्म-विस्तार ।
× × ×
डरो मत अरे अमृत-संतान
अग्रसर है मंगलमय वृद्धि;
पूर्ण आकर्षण जीवन-केन्द्र
खिंची आवेगी सकल समृद्धि ।"

श्रद्धा ने जीवन का भोग करने, काम को साहसपूर्ण भाव से अगीकार करने तथा विश्वास-पूर्वक आत्म-विस्तार करने का सन्देश दिया है । और, अन्त में 'दया-माया-ममता' से पूर्ण अपनी 'सेवा' भी उन्हें समर्पण करती है । स्पष्ट है कि मनु की जीवन-लालसा की लपट को प्रज्वलित करने के लिए श्रद्धा ने प्रचुर मानसिक उद्बोधन प्रदान किया है और अपनी सेवाएँ समर्पित कर, मनु की चेतना की सम्पूर्ण उद्वेजना की तृप्ति के लिए सामग्री प्रस्तुत कर दी है : मनु अब यौवन का उपभोग कर सकेंगे, जीवन को सफल बना सकेंगे और आत्म-विस्तार कर, अहं की संतृप्ति भी कर सकेंगे । इतना ही नहीं; मन जो

विश्व-नियामिका रहस्य-सत्ता के सम्मुख विवशता-निरुपायता की भावना से ग्रस्त हैं, उसका सुन्दर समाधान भी श्रद्धा ने प्रस्तुत किया है : "दुःख और सुख भूमा का मधुमय दान है, विकास का सत्य है। तनिक निस्संग, उन्मुक्त भाव से देखा जाय तो विश्व का यह अभिराम उन्मीलन प्यार करने की वस्तु है क्योंकि यह लीलामय महान् चिन्मय सत्ता का सजग प्रकाश है।" इस दार्शनिक उपदेश से मनु की रहस्य-सत्ता-विषयक उद्विग्नता का निराकरण हो जाना चाहिए और प्रसन्न एवं विश्वस्त भाव से मानवी सृष्टि की सुरभित 'बेल' प्रसारित करने में कोई हिचक नहीं होनी चाहिए—

"बनो संसृति के मूल रहस्य,
तुम्हीं से फैलेगी वह बेल;
विश्व भर सौरभ से भर जाय
सुमन के खेलो सुन्दर खेल।"

'श्रद्धा' सर्ग के अन्त तक, लगता है, मनु की चेतना का स्वरूप जीवन-भोग के लिए लालायित उस व्यक्ति का-सा हो जाना चाहिए जो मनसा पूर्णतः स्वस्थ है, प्रसन्न है, आस्था एवं विश्वास से भरा है और इस प्रतीति से उद्बुद्ध है कि वह 'संसृति का मूल रहस्य' बनने जा रहा है।

\+ \+ \+

श्रद्धा मनु के साथ रहने लगी और मनु तथा वह दिनानुदिन परस्पर अधिकाधिक परिचित होने जा रहे हैं। कवि ने उस परिचय तथा उसकी परिणति ('वासना' सर्ग) को चित्रित करने के पहले मनु के मनोमय जीवन की मिश्रित झाँकियाँ 'काम' सर्ग में चित्रित की हैं। मनु के मन में "वसन्त के अग्रदूत" रूपशालिनी श्रद्धा के आगमन से काम, जीवन-भोग की प्रवृत्ति स्पष्टरूप से जाग्रत हो गई है। किन्तु, जगत् को रहस्य-भाव से देखने-सोचने की प्रवृत्ति भी नवोदित काम-भाव से लिपटी हुई है। अतएव, अभी-अभी हमने जो अनुमान किया है कि मनु की चेतना अब स्वस्थ एवं सुसगत रूप से जीवन-भोग तथा प्रजा-सृष्टि को उद्देश्य-पूर्ति में संलग्न हो जाएगी, वह मिथ्या प्रमाणित हो जाता है और मनु असामान्य प्राणी बने ही रह जाते हैं जिनके आचार-विचार का मनोवैज्ञानिक 'पूर्व-कथन' (Prediction) नहीं किया जा सकता।

तो, रम्यागना-दर्शन की जो सीधी, प्रत्यक्ष प्रतिक्रिया होनी चाहिए, वह मनु के भीतर आविर्भूत नहीं हुई है। 'काम' सर्ग की आरम्भिक पंक्तियों में उनकी चेतना की मिश्रित हलचल चित्रित हुई है। उन्हें मनु की 'उन्माद'-दशा समझना भ्रमात्मक है।[1] मनु ने पहले भी, देव-सभ्यता के स्निग्ध-ललित

१. शैदा ने 'कामायनी की व्याख्यात्मक आलोचना' में इन पंक्तियों को मनु का "उन्माद" कहा है—दे० प० १४१-४२।

अंचल में, काम तथा कामिनियों का सुखमय आस्वाद प्राप्त किया है और देखा है कि यह काम-भोग, यौवन-वसन्त की ये मद-भरी 'कलियाँ' तथा शिथिल, सुरभित 'विछलने' अन्ततः भ्रान्तिमूलक है क्योंकि उनका पर्यवसान अभी-अभी सर्वनाशी प्रलय में हो चुका है। अतएव, श्रद्धा के दर्शन तथा उसके प्रोत्साहन-भरे उद्‌बोधन से मनु के मन में एक विचित्र क्लेशकारी अन्तर्द्वन्द्व मच गया है। पुराने जीवन में यौवन ने कैसी अलसाई अगड़ाइयाँ ली थी, सुरभित-संगीतमय कैसी मधुर उद्वेजनाएँ उत्पन्न की थी, काम तथा कामिनियों की उल्लासगर्भित ध्वनियों में कितनी विह्वलता की अनुभूति हुई थी, अबोध शिशुओं के समान भावी सुख-विलास के कैसे-कैसे मोहक चित्र मनु के मनस्पटल पर अंकित हो जाते थे या हो गये थे और कैसे वह सम्पूर्ण संगीत एवं कोलाहल प्रलय में विनष्ट हो गया ये सभी भाव तथा विचार मनु की चेतना को चंचल बना रहे है। ध्यातव्य यहाँ यह है कि श्रद्धा-जैसी दिव्य-लावण्यमयी तथा अयाचित अपने सेवा-साहचर्य को समर्पण करने वाली नारी के प्राथमिक परिचय से ही, मनु के भीतर अतीत की मधुर स्मृतियाँ तथा यौवन-भोग की व्यर्थता की भावना जाग्रत हो गई है। एक बार पुनः उन्हें रूप का रसमय निमन्त्रण मिल रहा है, वैसा निमन्त्रण जिसमें भावी प्रजापतित्व के गौरव की प्रतिज्ञा भी है; किन्तु, जीवन के सुख-वैभव की नश्वरता की प्रतीति झटके-से, तत्काल, मनु को जीवन-भोग की दिशा में बढ़ने से रोक रही है। 'काम' सर्ग के पहले आठ छन्दों में मनु-चेतना की यही हलचल अंकित हुई है, जीवन-वन में यौवन-वसंत के आगमन के अर्थगर्भित रूपक-द्वारा। कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य है—

"मधुमय वसंत जीवन-वन के,
बह अन्तरिक्ष की लहरों में,
कब आये थे तुम चुपके से
रजनी के पिछले पहरों में ?
क्या तुम्हें देखकर आते यों,
मतवाली कोयल बोली थी ?
उस नीरवता में अलसाई
कलियों ने आँखे खोली थीं ?
× × ×
वे फूल और वह हँसी रही
वह सौरभ, वह निश्वास छना,
वह कलरव, वह संगीत अरे
वह कोलाहल एकान्त बना !"

'वह कलरव, वह संगीत, वह कोलाहल सहसा एकांत बन गया ।'—इस कठोर सत्य के सन्दर्भ में

"कौन हो तुम वसन्त के दूत,
विरस पतझड़ में अति सुकुमार !"

ऐसी अर्थगर्भा श्रद्धा ने मनु को अपना मादक साहचर्य प्रदान किया है । इसी कारण, 'निराशा की निश्वास' है, और 'अभिलाषा की प्रगति' भी अस्पष्ट रहस्य की धुँधली छायाओं में रुकती नही—

"कहते-कहते कुछ सोच रहे
लेकर निश्वास निराशा की—
मनु अपने मन की बात रुकी
फिर भी न प्रगति अभिलाषा की ।"

अन्तर्मुख मनु के मन की 'अभिलाषा', जीवन-लालसा, रहस्यानुभूति की झिलमिल अवरोधात्मक छायाओं को चीरती हुई, आगे बढ़ती गई है ।

मनु की यह मानसिक हलचल रात में घटित हो रही है । वह नीले आकाश तथा उसमें बिखरे प्रकाश-पिंडों को दुर्बोध समझ रहे हैं । चन्द्रमा, तारे, ग्रह इत्यादि "सौन्दर्यमयी चंचल कृतियों" की "नृत्य-शिथिल" माया मनु को आकर्षित करती है; अणुओं का वेग-मय अविराम नर्त्तन अन्तरिक्ष में सजीव उल्लास बिखेर रहा है । लेकिन, मनु के मन में उल्लास नही है । तारों के बिखराव में वह चन्द्रमा की असफलता लूटती हुई देखते हैं; आकाश के समस्त आलोक उन्हें मूर्च्छित हो सोते दिखाई दे रहे है और मनु "सुन्दरता के उस परदे" में छिपे किसी अमूल्य "धन" की जिज्ञासा से चंचल हो उठते है । अर्थात्, ज्योत्स्ना-प्लावित रजनी की वह सम्पूर्ण चित्र-पूर्ण माया मनु को विचित्र उलझन में डाल देती है जिससे जीवन-भोग की कामना बाधित हो जाती है—

"मैं देख रहा हूँ जो कुछ भी,
वह सब क्या छाया उलझन है ?
सुन्दरता के उस परदे में
क्या अन्य धरा कोई धन है ?"

गगनचारी आलोक-पंजों के सौन्दर्य एवं रहस्यमयता की बात सोचते-सोचते, मनु को सौन्दर्य की अप्सरा श्रद्धा का प्रखरता-पूर्वक स्मरण हो आता है जो अपने रूप एवं आचरण मे कम रहस्यमय नही है । क्या मनु उसे सही-सही समझ सकेंगे ? शायद उनके प्राणों के धागों की उलझन उसी के सहारे सुलझ सके—

"मेरी अक्षय निधि ! तुम क्या हो,
पहचान सकूँगा क्या न तुम्हें ?
उलझन प्राणों के धागों की,
सुलझन का समझूँ मान तुम्हें ।"

कामायनी की मूर्ति, काम की उद्वेजना बनकर, मनु के मरुस्थल के समान शून्य हृदय में अन्तःसलिला धारा की नाईं चंचल नृत्य कर रही है । वह थोडी देर तक उसकी मादक स्मृतियों में बहते हुए, पुनः उस नीले अवगुंठन में छिपी रहस्य-सत्ता के दर्शन के लिए चंचल हो उठते हैं—

"सब कहते हैं 'खोलो खोलो
छवि देखूँगा जीवन-धन की'—"

मनु की रहस्योन्मुख प्रवृत्ति की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह परिलक्ष्य है कि वह उस रहस्य-सत्ता के सौंदर्य से अभिभूत हैं, उसकी सर्वशक्तिमत्ता की भावना से प्रभावित हैं, किन्तु उससे आत्मीयता स्थापित नही कर सके हैं क्योंकि वह पहेली-जैसा रहस्य ही बनी हुई है । "हे अनन्त रमणीय ! कौन तुम ?" से चल कर, 'काम' सर्ग में "छवि देखूँगा जीवन-धन की" तक मनु पहुँच पाये है । ऐसा भान होता है जैसे जीवन–भोग की लालसा, इस रहस्य–भावना से विच्छिन्त होती हुई, स्वय भी उस रहस्य के साथ तादात्म्य स्थापित करने में बाधक हो रही है ।

प्रलय के परिणाम, अतीत के सुख-विलास के स्मरण के सन्दर्भ में, जैसे कामायनी के सेवा–समर्पण को स्वीकार करने में मनु के लिए बाधक प्रतीत हो रहे हैं, रहस्य-जिज्ञासा भी वैसे ही उनको अवरोधित करती है । उस रात को, वह विचित्र अन्तर्द्वन्द्व उन्हे कुछ समय तक पीड़ित करता है, किन्तु अन्ततोगत्वा मनु निश्चय करते है कि इन बाधाओ के बावजूद, वह जीवन-लालसा के मधुर भार को नही सँभाल नही सकेंगे ।

"जो कुछ हो, मैं न सम्हालूँगा
इस मधुर भार को जीवन के,
आने दो कितनी आती है
बाधाये दम-संयम बन के ।"

इसी मनोभंगी में मनु नक्षत्रों को चुनौती देते हैं कि वे ऊषा की लाली का मर्म कथमपि नही समझ सकेंगे । यह ऊषा की लाली जीवन-भोग की मधुर सिद्धियाँ हैं जिन्हें दम-संयम का उपदेश देने वाले योगी-यती नहीं समझ सकते । साथ-ही, मनु इस विषय में सन्देहशील भी हैं कि जीवन की सुख–लालिमा उपभोग्य है अथवा नही; यद्यपि सन्देह की वह जाली भग्न होने की अवस्था

में है। उनका मानसिक संघटन विचित्र प्रकार का बन गया है। सुषमा, चाहे नीले आकाश की हो, चाहे आलोक-पिंडों की हो अथवा चाहे वह माँसल आयामों में मूर्त्त हुई हो, उन्हें समानभाव से आकर्षित करती है, एक अनूठे रहस्य के सदृश। वह उसका उपभोग करेंगे, किन्तु उसका अन्तर्निविष्ट मर्म भी जानना चाहेंगे। जिज्ञासा और भोग-लालसा दो विरोधी वृत्तियाँ है। मनु दोनों से युगपत् आन्दोलित है। एक की सफलता दूसरे की विफलता है। थोड़ी देर तक मनु इस उद्वेगमय अन्तर्द्वन्द्व का तीव्रेपन के साथ अनुभव करते हैं—

"कौशल यह कोमल कितना है
सुषमा दुर्भेद्य बनेगी क्या ?
चेतना इन्द्रियों की मेरी
मेरी ही हार बनेगी क्या ?"

किन्तु, कल्पना की तरंगों पर चढ़ कर, मनु की चेतना इस अन्तर्द्वन्द्व की बाधा को चीर देने में समर्थ हो जाती है और वह जीवन-रस का पान करने लगते हैं—

"पीता हूँ, हाँ, पीता हूँ
यह स्पर्श-रूप--रस-गंध--भरा,
मधु--लहरों के टकराने से
ध्वनि में है क्या गुंजार भरा ?"

यह उन्माद की अवस्था है जिसमें मनु अपनी वस्तु-स्थिति को सहज ही विस्मरण कर देते है और जीवन--भोग की क्रिया आनन्दानुभूति से थोड़ी देर के लिए भर जाते है। असामान्य मनोविज्ञान मे इसे ही 'अतिरंजित आह्लाद' (Euphoria) कहा गया है। इस छन्द वा पद से यह अर्थ निकालना कि मनु जीवन-भोग का संकल्प करते है, भ्रामक है। स्मरण रहे कि मनु रात को शय्या–लग्न हैं और उन्हें निद्रा का आरम्भ अभिभूत कर रहा है।

नींद की अवस्था में मनु के स्वप्न की योजना कर, प्रसादजी ने तब तक प्रस्फुटित उनकी चेतना के विभिन्न स्वरूपों एवं स्तरों का परोक्ष-भाव से चित्रण किया है जिसमें आधुनिक स्वप्न–विज्ञान की छाया स्पष्ट वर्त्तमान है—

"उस दूर क्षितिज में सृष्टि बनी
स्मृतियों की संचित छाया से;
इस मन को है विश्राम कहाँ ?
चंचल यह अपनी माया से।"

मन की स्मतियों की संचित छाया का ही प्रतिबिम्बन इस स्वप्न में हुआ

है जिसमें काम के भोग तथा काम के संयम को श्रद्धा के प्रेरक व्यक्तित्व के साथ गुंफित कर दिया गया है। स्वप्न-दर्शन की एक प्रतिक्रिया यह लक्षित हुई है कि मनु सम्भवतः काम के सयमित उपभोग की भावना से भर गये हैं—

"मनु आँख खोलकर पूछ रहे—
'पथ कौन वहाँ पहुँचाता है ?
उस ज्योतिमयी को देव ! कहो
कैसे कोई नर पाता है ?")

'वासना' सर्ग के आरम्भ मे कहा गया है कि मनु काम के संयम-मूलक सन्देश का बहुत दिनों तक मनन करते रहे और साथ ही, श्रद्धा के सहयोग से गृहस्थी के उपकरण, पशु, शस्य इत्यादि का संचय भी होता रहा। दोनों की चेतनाएँ परस्पर टकरा रही थी, किन्तु वे एक-दूसरे में गूथम-गूँथ नहीं हो पा रही थीं। मनु में वासना का उदय हो रहा था, यद्यपि श्रद्धा अभी तक "अतिथि" ही बनी हुई थी। इस प्रकरण में मनु की चेतना का एक अस्वाभाविक रूप प्रकट हुआ है, श्रद्धा के पशु के प्रति प्रदर्शित स्नेह की उनकी प्रतिक्रिया। मनु की वैराग्य-विभूति ईर्ष्या के पवन से प्रज्वलित हो उठती है और उनका अहं अप्रत्याशित रूप से विक्षुब्ध हो जाता—

"अरी नीच कृतघ्नते ! पिच्छल-शिला-संलग्न,
मलिन काई-सी करेगी हृदय कितने भग्न
हृदय का राजस्व अपहृत कर अधम अपराध,
दस्यु मुझसे चाहते हैं सुख सदा निर्बाध।"

और वह विश्व की समस्त सुन्दर विभूतियों को स्वायत्त करने की प्रेरणा से चंचल हो उठते हैं—

"विश्व में जो सरल सुन्दर हो विभूति महान,
सभी मेरी हैं, सभी करती रहें प्रतिदान।
यही तो, मैं ज्वलित बाड़व-वह्नि नित्य अशान्त।
सिन्धु-लहरों-सा करें शीतल मुझे सब शान्त।"

मनोविज्ञान की शब्दावली में यह 'प्रभुत्व' (mastery) की प्रेरणा का प्रकाश है। प्रभुत्व-स्थापन की भावना में व्यक्ति की अपने मार्ग के बाधक तत्त्वों पर विजय प्राप्त करने अथवा उन्हें मार्ग से हटा देने की भावना भी सनिहित रहती है। प्रस्तुत संदर्भ में मनु श्रद्धा पर एकाधिपत्य स्थापित करने की भावना से चंचल हो गये हैं और उस दिशा में बाधक प्रतीत होने वाले उस पशु को भी वह सहन नहीं कर सकते। मनु के भीतर ईर्ष्या का विस्फोट बर्बर-जैसा प्रतीत होता है। इसका कारण कवि द्वारा सकेतित समझा जा सकता है,

वासना का उद्रेक । किन्तु, मनु–जैसे रहस्यदर्शी व्यक्ति का इतना ईर्ष्यालु हो उठना आपाततः असंगत एवं अनुचित दिखाई पड़ता है । इसी प्रकार, प्रभुत्व-भावना का सहचारी विस्फोट असाधारण है । मनोविज्ञान की अभिधावली में यह अहं-जन्य प्रभुत्व-प्रेरणा का 'अति-विकास' (Overdevelopment) कहा जाएगा । 'अति-विकास' का अर्थ यह होता है कि कोई प्रेरणा उन परिस्थितियों में भी जाग्रत एवं उद्दीप्त हो जाती है जो साधारणतः उसके उद्दीपन के अनुपयुक्त होती हैं । रथ बेनेडिक्ट तथा मार्गरेट मीड जैसे नृतत्त्वविशारदों ने अपने अध्ययन के आधार यह प्रमाणित किया है कि विभिन्न संस्कृतियाँ कुछ विशेष प्रकार की प्रेरणाओं के विकास को प्रोत्साहित तथा कुछ प्रेरणाओं के विकास को हतोत्साहित करती है । मनु देव-जाति के वंशज है, देव-संस्कृति के पोष्य पुत्र हैं । प्रसादजी ने देव-संस्कृति को दंभ, वासना, उच्छृङ्खलता इत्यादि प्रवृत्तियों का आखेट चित्रित किया है । तो, क्या मनु का प्रस्तुत आचरण इसी कारण परिणमित है कि देव-संस्कार उनमें अब प्रबल हो उठे है ? इसी के साथ यह भी ध्यान आकर्षित करता है कि श्रद्धा के कोमल कर-स्पर्श से तथा उसकी रूप-सुषमा को देखकर मनु शान्त हो जाते है—"देखकर वह रूप-सुषमा मनु हुए कुछ शांत ।"

मनु के प्रस्तुत आचरण के लिए चाहे जो सफाई दी जाय, इतना निश्चित है कि श्रद्धा-ससर्ग से मनु मे श्रद्धा, सहानुभूति, जीव-दया इत्यादि कोमल प्रवृत्तियों का विकास नही हुआ है यह स्मरणीय है कि प्रलय की आरम्भिक प्रतिक्रिया में अग्निहोत्र से अवशिष्ट अन्न के उपयोग में वह जीव-दया की भावना से सहज ही स्पन्दनशील बन गये थे । अतएव, मनु की चेतना में प्रस्फुटित यह नवीन आयाम असाधारण समझा जाएगा । रहस्य-जिज्ञासा का जो प्रस्फुटन अभी तक उनकी चेतना में दिखाया गया है, अभी तक उन्हे जो तपस्वी तथा वैरागी के रूप में चित्रित किया गया है, उसके प्रकाश में इसे मनु का पतन कहा जाना चाहिए । वासना के उदय तथा उद्रेक का जो चित्रण उपलब्ध है, वह नितान्त मानवीय एवं स्वाभाविक है । मनु ने जिन शब्दो में अपना 'समर्पण-दान' श्रद्धा को दिया है और श्रद्धा ने जैसा उसका प्रत्युत्तर दिया है, उनमें कही कोई असाधारण तत्त्व वर्तमान नही है—

"आ ले लो चेतना का यह समर्पण दान,
विश्व–रानी ! सुन्दरी नारी ! जगत की मान !" (मनु)
× × × "क्या समर्पण आज का हे देव !
बनेगा चिर--बंध नारी--हृदय हेतु सदैव ?

आह मै दुर्बल, कहो क्या ले सकूँगी दान !
वह, जिसे उपभोग करने में विकल हों प्रान ?"

पाठक ऐसा सोचने के लिए मनसातत्पर हो जाता है कि श्रद्धा-साहचर्य के बाद से मनु की मानवीयता का प्रवाह शान्त-स्थिर भाव से बहता रहेगा। 'वासना' सर्ग तक आते-आते, मनु की चेतना, कुल मिलाकर, पूर्ण स्वास्थ्य-लाभ का विश्वास दिलाती है यद्यपि सजग-सावधान पाठक के मन मे यह आशंका छिपी-लुकी रह ही गई है कि मनु का अहभाव कदाचित् 'दुर्बल-प्राण' कामायनी के साहचर्य से सयमित न होने पावे। और, इस आशका के लिए अवकाश प्रदान कर, प्रसादजी ने सूक्ष्म कलात्मक कौशल का परिचय दिया है।

'कर्म' सर्ग में मनु की जीवन-भोग की कामना का तीव्र सचार और उसकी परिणति का चित्रण हुआ है। देव-जीवन के पुराने सस्कार जाग्रत हो गये है यज्ञ का सम्पादन कर, सोम-रस-पान करने की ललित लालसा लालक उठी है। मनु ने श्रद्धा के उत्साह-पूर्ण वचनो का, कामोद्रेक की प्रेरणा मे, भ्रान्त अर्थ लगा लिया है और जीवन को, उसकी सपूर्ण मादकता एव विलासिता के साथ, भोगने के लिए व्याकुल बन गये है, जीवन का पर्याय है उनके लिए श्रद्धा की प्राप्ति एवं उपभोग—

"श्रद्धा ! पुण्य प्राप्य है मेरी
वह अनंत अभिलाषा;"

और जीवन के मधुर स्वप्नो की पूर्ति का साधन है यज्ञ-विधान—

"कर्म-यज्ञ से जीवन के
सपनों का स्वर्ग मिलेगा,"

मनु श्रद्धा के आत्म-समर्पण का तत्काल उपभोग कर सकते थे, लेकिन 'कर्म-यज्ञ' का प्रतिबन्ध उन्होने स्वत: अपने ऊपर लगा लिया क्योकि यज्ञ सम्पन्न करने के बाद ही वह मादक सोमरस का पान कर सकते थे। वैदिक संस्कृति मे सोमरस का जैसा भी महत्त्व रहा हो, प्रस्तुत संदर्भ में तो वह लौकिक अभिप्राय से संयुक्त विशुद्ध आसव के रूप मे प्रयुक्त हुआ है जो विलास-भोग का अपरिहार्य उपकरण है। मनु ने अपने भी सोम का पानकर, अपने प्राणों की प्रत्येक शिरा को मादकता से भर दिया है और कामायनी के सहज कामोद्रेक का अनुचित लाभ उठा कर, उसे भी सोम पिला दिया है और अपनी वासना की पूर्ति कर ली है—

"पुरोडास के साथ सोम का
पान लगे मनु करने;

लगे प्राण के रिक्त अंश को
मादकता से भरने।"
"उधर सोम का पात्र लिये मनु
समय देखकर बोले--
श्रद्धे ? पी लो इसे बुद्धि के
बन्धन को जो खोले।"
"आँखें प्रिय आँखों में, डूबे
अरुण अधर थे रस में
+ + +
चेतनता नस-नस में।"

अतएव, 'कर्म' सर्ग के अन्त तक मनु की चेतना हिंसालु, तामसी-विलासी व्यक्ति की चेतना बन गई है जिसमें संस्कारित मनुष्य की भावनाओं का प्रायः विलोप हो गया है। यह ध्यातव्य है कि कामायनी के दैहिक उपभोग में मनु ने छलपूर्ण आश्वासन दिया है--

"वही करूँगा जो कहती हो
सत्य, अकेला सुख क्या ?"

यह आश्वासन कवि की कलात्मक योजना अवश्य कहा जाएगा क्योंकि कामायनी स्वतः काम के सहज उद्रेक से चंचल हो गई थी और मनु के इस छलपूर्ण आश्वासन से उसने जो सोम-पात्र मे अपने अधर डुबा दिये, उससे उसके आत्म-गौरव की रक्षा हो गई वह न तो अपनी दृष्टि में और न हमारी दृष्टि मे ही रति-विह्वलता के कारण पराजित समझी जाएगी--

"हृदय काल्पनिक विजय में सुखी
चेतनता नस-नस में।"

लेकिन, मनु की चेतना का यह हिंसालु पटल उस स्वस्थ विकास के प्रति विद्रोहशील है जिसकी आशा हम अभी कर चुके थे। 'ईर्ष्या' सर्ग में उनकी चेतना का यह स्वरूप पूर्ण पराकाष्टा को प्राप्त हो गया है। अब वह नियमित रूप से पशुओं का आखेट करते है; उनकी लाशें अपने निवास तक ले आते हैं; मातृत्व-भार से दबी श्रद्धा के भावों के साथ कोई सहानुभूति नही दिखाते; भावी शिशु के सुख-दुलार के लिए प्रस्तुत की गई साज-सज्जा को देख वह क्रोधपूर्ण ईर्ष्या से प्रज्वलित हो उठते है और घोर असंस्कारित व्यक्ति के समान श्रद्धा पर यों बरस पड़ते है—

"यह जलन नहीं सह सकता मैं
चाहिए मेरा ममत्व,

इस पंचभूत की रचना में
मैं रमण करूँ बन एक तत्त्व ।
यह द्वैत, अरे यह द्विविधा तो
है प्रेम बाँटने का प्रकार;
भिक्षुक मैं? ना, यह कभी नहीं
मैं लौटा लूँगा निज विचार

\+ + +

भूले से कभी निहारोगी
कर आकर्षणमय हास एक;
मायाविनि ! मैं न उसे लूँगा
वरदान समझकर, जानु टेक !"

तथा 'ज्वलनशील अंतर लेकर', श्रद्धा को छोड़ चले जाते हैं। जैसे पशु के प्रति श्रद्धा के स्नेह को देखकर मनु ईर्ष्यीभिभूत हो उठे थे, वैसे ही अपनी भावी औरस संतान के प्रति प्रदर्शित श्रद्धा के वात्सल्यपूर्ण आयोजन को देखकर वह ईर्ष्या के विस्फोट से अभिभूत हो, यह बर्बर आचरण कर बैठते हैं। वह 'द्वैत', वह 'प्रेम बाँटने का प्रकार' नहीं सहन कर सके, मनु के [illegible] अहं का असाधारण विस्फोट हुआ है। अतएव, मनु की चेतना का यह प्रकाश मनुष्य की चेतना का सहज विकास नहीं है, और इसी कारण, वह मानव-चेतना के विकास का प्रतीक भी नहीं कहा जाएगा। न मनुष्य व्यक्तिगत जीवन में साधारणतः ऐसी प्रतिक्रियाओं से शासित होता है और न समग्ररूप से मानवता का विकास ही इस पद्धति पर हुआ समझा जाएगा। मनु की चेतना आरंभ से ही असाधारण व्यक्ति की असाधारण चेतना है जिसका विकास किंवा प्रकाश कब, किस रूप में होगा, इसका पूर्व-कथन नहीं किया जा सकता। प्रसाद जी तत्त्वतः ऐसा ही सोचते भी थे। मनोविश्लेषण-शास्त्र के अध्ययन से उन्हें ज्ञात था कि मनुष्य की चेतना के विभिन्न स्तर कौन, कि [illegible] रूपों में अभिव्यक्त होते हैं और कैसे उसके अचेतन में पड़े संस्कार ('कर्म') उसके अहं ('इगो') को शासित-संचालित किया करते हैं। मनु के रूप में 'कामायनी' में मानव-चेतना की असाधारणता का चित्रण हुआ है, और उस मानव-चेतना का विकास कहना अर्थवाद होगा, शायद बिलकुल असंगत भी। मननशील, रहस्यदर्शी मनु मृगया के इस प्रकार अनुरागी बन गये कि मृग का शव अपने वास-स्थान पर लाकर रखने लगे और श्रद्धा को उसी (मृत मृग) के सहारे बसन ही नहीं, अशन तक

का प्रबंध करने के लिए उपदेश देने लगे[१]—यह मानव-चेतना के विकास, उसके ऊर्ध्वारोही प्रगतिशील परिवर्तन का पर्याय अथवा प्रतीक नहीं समझा जाएगा।

'इड़ा' सर्ग में मनु की चेतना का लगभग वही स्वरूप दिखाई पड़ता है जो प्रलय के उपरान्त लक्षित हुआ है। मनु श्रद्धा-परित्याग के बाद एक बार पुनः स्वस्थ चित्त होकर, दार्शनिक की भंगी में जीवन के रहस्यमय उद्गम तथा संसार में व्याप्त कटुता-संघर्ष के विषय में सोचते हैं, जीवन की निष्फलता एवं निराशा का कथन करते हैं; आत्मचिन्तन की प्रेरणा से भरकर, अपनी त्रुटियों तथा पूर्वकृत्यों पर पश्चात्ताप करते हैं और उसी मनोभंगी मे अब तक वर्धित एवं पोषित अपने जीवनादर्श को, जिसमें अबाध पवन तथा ज्वलनशील पतग की गत्वरता को अहंभाव-जन्य मान्यता मिली है, भर्त्सना भी करते से दिखाई पड़ते हैं।

> **"पागल मैं किस पर सदय रहा ? क्या मैने ममता ली न तोड़ ?**
> **किस पर उदारता से रीझा ? किससे न लगा दी कड़ी होड़ ?**
> **"स्थिर मुक्ति, प्रतिष्ठा मैं वैसी चाहता नहीं इस जीवन की,**
> **मैं तो अबाधगति मरुत-सदृश, हूँ चाह रहा अपने मन की,**
> **जो चूम चला जाता अग-जग प्रति पग में कम्पन की तरंग।**
> **वह ज्वलनशील गतिमय पतंग !"**

सारस्वत प्रदेश के ध्वंस को देखकर मनु और भी चिन्तामग्न बन जाते है और जीवन की अभिलाषाओं की भग्नता की भावना से अभिभूत हो जाते है। इसी मनोभंगी में देवासुर-संग्राम की पीठिका का स्मरण कर, वह देवों तथा असुरों दोनों की संस्कृतियों की दुराशयता का कथन करते है, इस आधार पर कि दोनों ही श्रद्धा-विश्वास से विहीन थीं। मनु की इसी आत्म-ग्लानि-पूर्ण चिन्तना को और भी प्रखर करने के लिए प्रसादजी ने पुनः काम की अदृश्य वाणी का विधान किया है जिसमें काम ने उन्हें उनकी वासना तथा श्रद्धा-अपमान के लिए कोसा है तथा उनके भावी प्रजापतित्व की घोर विफलता का अभिशाप भी दिया है।

मनु की इस सम्पूर्ण चिन्तनमग्नता के आलोक में ऐसा विश्वास करने की प्रवृत्ति होती है कि अब वह शान्त, सुस्थिर एवं संतुलित भाव से भावी-जीवन

---

१. **"तुम बीज बीनती क्यों ? मेरा**
मृगया का शिथिल हुआ न कर्म।"

की योजना कार्यान्वित करेंगे । लेकिन, यह विश्वास पुनः 'संघर्ष' सर्ग में मिथ्या प्रमाणित हो गया है । फिर, वही भाव दृढ़ हो जाता है कि मनु असाधारण प्राणी हैं, उनके आचरण का पूर्व कथन नही किया जा सकता, वह असामान्य मनोविज्ञान' (Abnormal psychology) के आस्पद हैं, और इसीलिए उनकी क्रियाओं तथा आचरणों में मानव-चेतना के विकास का इतिहास अन्वेषणीय नही है ।

'संघर्ष' सर्ग में मनु की उच्छृंखल वृत्ति पराकाष्टा को पहुँच गई है और उन्हें इसके लिए कठोर दंड भी मिला है । यहाँ मनु की चेतना का बुद्धिग्रस्त, क्रूरतम स्वरूप प्रस्फुट हुआ है जिसमें प्रभुत्व-प्रेरणा इतनी सीमा तक बढ़ गई है कि उनकी प्रजासृष्टि की अभूतपूर्व प्रतिभा का प्रकाश उसके दंभ एवं कालुष्य में सर्वथा लुप्त हो गया है । सारस्वत-सभ्यता का नवनिर्माण करने वाले मनु निज-सहयोगिनी, 'सारस्वत-रानी' इड़ा का घर्षण करते हैं और 'रक्तोन्माद' में भयंकर हिंसा-काण्ड कर, स्वयं मुमूर्ष हो भूमिसात हो गये हैं और रक्त की धाराएँ आसपास प्रवाहित ही हैं--

"और गिरीं मनु पर, मुमूर्ष वे गिरे वहीं पर;
रक्त-नदी की बाढ़ फैलती थी उस भू पर ।"

'निर्वेद' सर्ग में मनु की प्रभुत्व-कामी चेतना ने सहसा पलटा खाया है जो पूर्णत. स्वाभाविक था । श्रद्धा को देखकर मनु अत्यन्त उत्तेजित एवं क्षोभ-पूर्ण स्वरों मे उस वातावरण से अपने को दूर हटा ले चलने के लिए उससे अनुरोध करते हैं, किन्तु श्रद्धा के प्रति उनके मन में गहरी कृतज्ञता एवं सुकुमार आस्था स्फुरणशील है । वह आर्द्र शब्दों में निवेदन करते हैं—

"दूर-दूर ले चल मुझको,
इस भयावने अंधकार में
खो दूँ कहीं न फिर तुमको ।
\+ + +
ले चल इस छाया के बाहर,
मुझको दे मत यहाँ रहने ।
मुक्त नील नभ के नीचे या
कहीं गुहा में रह लेंगे,
अरे झेलता ही आया हूँ
जो आवेगा सह लेंगे ।"

'जो आवेगा सह लेंगे'—इस कथन से प्रकट होता है कि मनु के भीतर विरक्ति का भाव यद्यपि प्रवेश कर गया है, तथापि वह उनकी चेतना का सहज

प्रकाश नहीं है, अपितु परिस्थिति की बाध्यता है। अभी तक अतीत के सुखोपभोग की मधु-मदिर स्मृतियाँ उन्हें तीव्र दंश दे रही हैं—

"मैं था, सुन्दर कुसुमों की वह
सघन सुनहली छाया थी,
मलयानिल की लहर उठ रही
उल्लासों की माया थी!
उषा अरुण प्याला भर लाती
सुरभित छाया के नीचे,
मेरा यौवन पीता सुख से
अलसाई आँखें मीचे।

+ + +

सहसा अंधकार की आँधी
उठी क्षितिज से वेग-भरी,
हलचल से विक्षुब्ध विश्व, थी
उद्वेलित मानस-लहरी।"

प्रलय के बाद श्रद्धा के आगमन से मनु के जीवन में जो नवीन रस, नवीन संगीत आ गया, उसे स्मरण कर भी, वह दुःखी हो रहे हैं—

"इस पतझड़ पर घन बन कर मेरे
दूरागत वंशी-रव-सी;
गूँज उठीं तुम, विश्व-कुहर में
किस रागिनी-अभिनव-सी।

+ + +

उस पर बिजली की माला-सी
झूम पड़ीं तुम प्रभा-भरी,
और अलक बह रिमझिम बरसा
मन-वनस्थली हरी हुई।"

मनु को पश्चात्ताप भी हो रहा है कि वह श्रद्धा की 'मंगल-माया' को समझ नहीं सके। वह उसके उपकार की भावना से दबे जा रहे हैं और उसके मधुमय प्रणय-दान के लिए अपने को सर्वथा अधम, अपात्र व्यक्ति समझ रहे हैं—

"कितना है उपकार तुम्हारा
आश्रित मेरा प्रणय हुआ?

+ + +

किन्तु अधम मैं न समझ पाया
उस मंगल की माया को,
+ + +
नहीं पा सका हूँ मैं जैसे
जो तुम देना चाह रही,
क्षुद्र पात्र ! तुम उसमें कितनी
मधु-धारा हो ढाल रही ।"

मनु ने जिस समय श्रद्धा का अपमान किया, उस समय भी जीवन को अपने ढंग से, अपने धरातल पर भोगने की उनकी कामना को बुद्धि की तर्कना से प्रोत्साहन मिल रहा था जिस कारण श्रद्धा का मूल्य नही समझ सके थे, इसे भी मनु ने स्वीकार किया है--

"बुद्धि-तर्क के छिद्र हुए थे
हृदय हमारा भर न सका ।"

मनु का हृदय उनके "जीवन के उच्च अंश, कल्याण-कला" कुमार के प्रति स्नेह से विगलित हो रहा था । उन्होंने श्रद्धा से प्रार्थना की—

"सुखी रहें, सब सुखी रहें बस
छोड़ो मुझ अपराधी को ।"

मनु अपराध-भावना से अभिभूत हैं । किन्तु यह उल्लेखनीय है कि श्रद्धा के प्रति किये गये अपराध की प्रतीति तो उन्हें हो रही है, लेकिन इड़ा के प्रति अथवा अपनी सारस्वत-प्रजा के प्रति भी उन्होंने कोई अपराध किया है, उसकी अनुभूति उन्हें नहीं हुई है । प्रतिहिंसा तथा प्रतिशोध का भाव अभी उनके मन से तरंगित हो रहा है, किन्तु, इस प्रतीति से कि श्रद्धा के रहते वह प्रतिशोध नहीं ले सकेंगे और बिना वैसा किये, उन्हें मानसिक शान्ति नहीं मिल सकेगी, मनु शान्ति की खोज में चुपके से निकल जाते हैं—

"श्रद्धा के रहते यह संभव
नहीं कि कुछ कर पाऊँगा,
तो फिर शांति मिलेगी मुझको
जहाँ खोजता जाऊँगा ।"

'दर्शन', 'रहस्य' तथा 'आनंद' के अंतिम सर्गों में मनु की चेतना का स्वरूप 'विकास' नहीं कहा जा सकता क्योंकि उनमें श्रद्धा के द्वारा उसके ऊर्ध्व रूपान्तर को सोद्देश्य आयोजित किया गया है । मनु को 'आदि मानव' या 'आदिम मानव' मानकर यह स्थापना करना कि ऐसे मनुष्य की चेतना के विकास का क्रम ऊबड़-खाबड़ होता ही है, अनर्गल है । मनु आदि मानव हैं, तो श्रद्धा भी आदि

मानवी होगी । फिर, उसकी चेतना के प्रवाह में भी तो कुछ ऐसा ही विकास दृष्टिगोचर हो सकता था । किन्तु, श्रद्धा की चेतना में तत्त्वत. कोई विकास नहीं चित्रित हुआ है । इन्द्रजाली सौन्दर्य लेकर वह काव्य में अवतीर्ण हुई है और सुसंस्कृत भारतीय नारी के महनीय शील की मन्द्र छवियाँ दिखाकर, अन्ततः पुनः जादूगरनी बन, मानसरोवर के सुरम्य प्रदेश में 'पाषाणी प्रकृति' को 'मासल' बनाने लग गई है। उसके मनोविकास में मानव-चेतना की किसी अन्तर्यात्रा के दर्शन नहीं होते । इड़ा की स्थिति भी वैसी ही है ।

अतएव, अन्तिम विश्लेषण में 'कामायनी' के तीनों प्रमुख पात्र मानवता के मनोवैज्ञानिक विकास का सही प्रतिनिधित्व नही करते । मनु को मन का प्रतीक माना जा सकता है, किन्तु वह मन भी असाधारण मनुष्य का असाधारण मन है मानवता का उससे कल्पना-जन्य संबंध ही जोडा जा सकता है । मनु के अन्तर्जीवन के भिन्नंशः उद्घाटित होने वाले पटलों वा स्वरूपो को मनोवैज्ञानिक अनुमोदन प्राप्त हो सकता है, लेकिन, उसके आधार पर काव्य को मनुष्यता के मनोवैज्ञानिक विकास का रूपक नही कहा जा सकता ।

घ. माधुर्य–भूमि

१०. सौन्दर्य-वर्णन की परम्परा
११. कामायनी की सौन्दर्य-भावना
१२. काम एवं प्रणय की वर्णन-परम्परा
१३. कामायनी में काम एवं प्रणय (श्रंगार)

१० | सौन्दर्य-वर्णन की परम्परा

क. वेद

जिस क्षण से मनुष्य ने चेतना सँभाली उसी क्षण से वह सौन्दर्य का उपासक रहा है। सौन्दर्य की रश्मियाँ जिस पदार्थ मे उसे दिखाई पड़ी, वही उसके अनुभवन से उसकी हृत्तन्त्री के तारों में मधुर अनुरणन उत्पन्न हुआ और उसने अपनी अनुभूतियों को वाणी का परिधान प्रदान किया। यह परम्परा अद्यापि अनवच्छिन्न रूप से चलती जा रही है।

ऋग्वेद मे कवि को 'ऋषि', 'मुनि', 'विप्र' प्रभृति अभिधाओ से अभिहित किया गया है और सभी अवस्थाओ में उससे ऐसे सवेदनशील व्यक्ति का बोध ग्रहण किया गया है जो किसी आन्तरिक प्रेरणा अथवा आन्तरिक प्रफुल्लता अथवा उल्लास की भावना से अनुप्राणित है।[1] 'काव्य' भी कवि की आभ्यंतर प्रेरणा से प्रसूत अभिव्यक्ति के लिए वहाँ प्रयुक्त हुआ है।[2] एक मंत्र के ऋषि विश्वामित्र ने हृदय मे स्फुरित होने वाली 'ज्योति' (अन्त.प्रेरणा) को ही 'मति' अर्थात् ऋचा का आधार बताया है।[3] अतएव, ऋग्वेद के ऋषि अपनी आन्तरिक स्फुरणाओ से शासित होकर, सौन्दर्य का दर्शन तथा उसकी अभिव्यक्ति करते थे। प्रो० पी० एस० शास्त्री ने आंग्ल रोमांटिक समीक्षक वाल्टर पेटर की रोमांटिक काव्यानुभूति विषयक स्थापना का उल्लेख करते हुए, कहा है—"ऋग्वेद के कवि सर्वत्र सौन्दर्य की तलाश करते और पाते थे। किन्तु, उन्हें सपूर्ण गोचर जगत् चिरन्तन भाव से नवीन एव ताजा प्रतिभासित होता था। यही वैदिक ऋषियों का वह काव्य-सिद्धान्त उद्योतित होता है जिसमें

---

१. द्रष्टव्य : मोनियर विलियम्स, "Sanskrit–English Dictionary" पृ० २२६, ८३२, ९७२।

२. वही, पृ० २८०।

३. ऋग्वेद, ३।२६।८।

सौन्दर्य को एक अपरिचित वैचित्र्य से संयुक्त समझा गया है।"[1] वस्तुतः विस्मयोत्पादन ही सौन्दर्य के सनातन आकर्षण का रहस्य है। वैदिक ऋषियों को इसी कारण प्राकृतिक शक्तियों के सौन्दर्य दर्शन में निरतर एक नवीनता की प्रतीति होती है जो उन्हें विस्मय से भर देता है।

ऋग्वेद के कवियों का जीवन प्रकृति के विराट् एवं अनन्त उत्क्रोड़ मे व्यतीत होता था। इस कारण, उनकी ऋचाओं में प्रकृति की विराट् एवं ललित शक्तियों का समभावेन परिचित्रण उपलब्ध होता है। मरुत्, सविता, विष्णु, अग्नि इत्यादि देवताओ के विराट् चित्रो के साथ-साथ उषा के अत्यन्त मोहक एवं अभिराम चित्र ऋग्वेद मे अकित हुए है। वन में फैलती हुई अग्नि का एक भीषण, प्रभावोत्पादक चित्र यों उत्कीर्ण हुआ है—"हे अग्ने ! पवन के वेग से अधिक वेगवान् होकर, स्वेच्छानुसार, तुम अपनी जिह्वाओं-रूपी कर्तनियो से, चिग्घाड़ते हुए, शुष्क वन मे फैले जाते हो। अपरिवर्तमान एवं प्रकाश की ज्वालाओं से युक्त अजर अग्नि ! जब साँड़ के समान तुम विटपों को ओर ललचाते हुए झपटते हो, तब तुम्हारा मार्ग काला बन जाता है।"[2] एक अन्य मंत्र में अग्नि का ललित सौन्दर्यचित्र यों अंकित हुआ है—"हे सुन्दर मुख वाले अग्नि ! तुम महान् तेजस्वी हो। जब तुम सुवर्ण के समान प्रकाशित होते, तब तुम्हारा स्वरूप शोभन बन जाता है। विद्युत् के रूप मे तुम्हारा तेज अन्तरिक्ष मे प्रकट होता है। तुम सूर्य के समान प्रकाशमान् होते हो।"[3] मरुत् सविता, विष्णु इत्यादि के चित्रो में भी वैराट्य के साथ लालित्य का संनिवेश हुआ है।[4] अश्विनीकुमारों के सौन्दर्याकन-सबंधी एक मंत्र में उन्हे दो शोभितागी ललनाओं तथा विवाहित दम्पती के रूप में दर्शाया गया है।[5]

---

१. G. S. Shastri : 'The Rigvedic theary of Poetry", Proceedings and Transactions of the All-India Oriental conference. Twelfth–Session (B.H.V.).

२. ऋग्वेद : १।५८।४।

३. वही : ७।३।६।

४. ऋग्वेद : १ । ३५ । ४, १ । ६४ । ३, १ । १५४ । ४, १० । ७५।३ इत्यादि ।

५: "प्रातर्यावाणा रथ्येव वीराजेव यमां वरमा सचेथे।
मेने इव तन्वा शुम्भमाने दम्पतीव कतुविदा जनेषु ॥"
(वही, २ । ३९ । २)

वैदिक कवियों की लालित्य-भावना का मंद्र, मधुर निदर्शन उषा–सूक्तों में हुआ है। उसकी सुनहली किरणों, नित्य यौवन तथा मंगलमयी ज्योति से वे आ-प्राण प्रभावित हैं।[1] एक सूक्त में उषा के जन्म लेने का बड़ा काव्यात्मक वर्णन किया गया है –"ज्योतियों में श्रेष्ठ ज्योति प्रकट हुई। सर्वत्र अद्भुत प्रकाश फैल गया। रात्रि ने जैसे सूर्य से जन्म लिया था, वैसे-ही उषा के लिए अपना स्थान दे दिया। श्वेतवर्ण के बछड़े के समान चमकती हुई उषा आ गई, रात्रि ने इसके लिए स्थान छोड़ दिया। ये दोनों परस्पर बँधी हुई, अमर आकाश में क्रमपूर्वक गति करती हुई, एक-दूसरे के वर्ण को मिटा देती हैं। इन दोनों बहनों (उषा एवं रात्रि) का मार्ग एक ही है। ये देवताओं की प्रेरणा से बारम्बार यात्रा करती हैं। एक मन वाली ये दोनों विभिन्न वर्ण की हैं और परस्पर टकराती नहीं है।"[2] एक अन्य मन्त्र में उषा को नर्तकी की भाँति अपनी रूप-श्री का प्रदर्शन करते तथा गाय के समान अपने स्तन का अनावरण करते चित्रित किया गया है।[3] एक स्थल पर कहा गया है—"हे देवि ! तुम तन्वी कन्या के समान अपने शरीर को विकसित कर प्रकाशमान् सूर्य को प्राप्त होती हो और तब मुसक्याती हुई कांतिमती युवती की भाँति अपने हृदय-प्रदेश को खोल देती हो।"[4]

मानवीय सौन्दर्य का चित्रण, मूलरूप में, वेदों में प्रायः उपलब्ध नहीं हैं। उपमान-रूप में अवश्य यत्र-तत्र उसकी क्षीण किरणें चमक उठती हैं। मरुतों की तुलना अनेक स्थलों पर सुन्दर वरों से की गई है और उषा को अनेक मंत्रों में रमणीय-दर्शना युवती से उपमित किया गया है। एक स्थल पर अग्नि की ओर अग्रसर होती हुई घृत-धाराओं को मेले में स्थित हास्यवदना मंगलमयी युवती से तथा यज्ञ की ओर प्रवर्तित घृत-धाराओं को विवाह-समारोह में सम्मिलित होने वाली अलंकारादि से भूषित कन्याओं से उपमित किया गया है।[5] उषा-विषयक अधिकांश चित्रों में नारी–सौन्दर्य का मोहक स्वरूप उतर आया है। वहाँ उषा को सद्य:स्नाता आभरणयुक्त रमणी, पश्चिम की ओर मुख कर शरीर–विन्यास करने वाली रमणी, संस्मयमाना युवती, माता द्वारा

---

१. ऋग्वेद : १।९२।४, ५।४७।२ इत्यादि।
२. वही : १।११३।१-३।
३. वही : १।९२।४।
४. वही : १।१२३।१०।
५. वही : ४।५८।८; ४।५८।९।

उबटन कर स्वच्छ की गई रूपवती कन्या से तुलित किया गया है ।[1] मूलरूप में नारी-सौन्दर्य के कतिपय चित्र भी ऋग्वेद के दसवें मंडल में उपलब्ध हैं । उदाहरणतः, इन्द्राणी के रूप-सौन्दर्य की प्रशंसा करते हुए, उसे "सुन्दर भुजाओं वाली, सुन्दर अंगुलियों वाली, सघन केशों वाली तथा मांसल जंघाओं वाली" बताया गया है[2] और प्रसिद्ध सूर्या-सूक्त में नवपरिणीता, सूर्या के विलक्षण सौन्दर्य एवं पति-गृह में उसके नागरी-सुलभ सौभाग्य का चित्रण हुआ है ।[3] एक मन्त्र में शय्या पर सोने वाली, मधुर गंध वाली नारियों का कथन उपलब्ध है ।[4]

यों-तो, जैसा आरम्भ में ही कहा गया है, वैदिक ऋषि प्राकृतिक शक्तियों की उपासना प्राणमयी सत्ताओं के रूप में करते हैं और उनके स्वरूप एवं शील का वर्णन करते समय एक प्रकार की विस्मय-भावना से भर जाते है । वस्तुतः उनकी संभ्रमपूर्ण प्रशस्तियों में यह भावना प्रत्यक्ष झलकती दिखाई पड़ती है । वैदिक कवि सृष्टि-विस्तार की अनन्तता एवं दुर्बोधता से प्रभावित है और उसके प्रति एक कुतूहल एवं जिज्ञासा तथा विस्मय के भाव से अनुप्राणित हुए हैं । दिन तथा रात के क्रमशः आवागमन, सरिताओं के निरन्तर गतिशील रहने पर भी जल-संदोह समुद्र का निश्चल बने रहना, नित्यनवीन सूर्यों, अग्नियों, जलों, उषाओं इत्यादि की संख्या के विषय में प्रश्न पूछना[5] इत्यादि कतिपय प्रसगों में ऋषियों के कुतूहल, विस्मय एवं जिज्ञासा के भाव स्पष्ट ध्वनित हुए है और उनका संवेदनशील मन सृष्टि के इन गूढ रहस्यों के प्रति विस्मयाभिभूत हो उठा है । ऋग्वेद के प्रथम तथा दशम मण्डलों को छोड़कर, प्रायः सम्पूर्ण ऋग्वेद में प्राकृतिक शक्तियों की अनेकता की स्वीकृति उपलब्ध है । यही कारण है कि इन ऋषियों की विस्मयानुभूति रहस्यानुभूति के पूर्ण आयाम को प्राप्त

---

१. ऋग्वेद : ५।८०।४-६; १।१२३।१०-११ इत्यादि ।
२. वही : १०।८६।८ ।
३. वही : १०।८५।६-११, २६-२७, ४४-४५ ।
४. "प्रोष्ठेशया वह्यो शया नारीर्यास्तल्पशीवरीः ।
स्त्रियो याः पुण्यगंधास्ता. सर्वा. स्वापयामसी ।।" (वही : ७। ५५।८)
५. "कत्यग्नय. कति सूर्यास. कत्युषास. कत्यु स्विदापः ।
नोपस्पिजं वः पितरो वदामि पृच्छामि व. कवयो विद्मने कम् ।।"
'हे पितरो ! मैं तुमसे तर्क नहीं करता, केवल जिज्ञासा ही करता हूँ । बताओ, अग्नि, सूर्य, उषाएँ और जल की अधिष्ठात्री देवियाँ कितनी-कितनी हैं ?' (ऋग्वेद : १०।८८।१८) ।

नहीं कर सकी है क्योंकि किसी अज्ञात तथा अज्ञेय शक्ति के एकत्व में उनकी आस्था अभी स्थिर नहीं हो पाई है ।[1]

सौन्दर्य-वर्णन में वैदिक कवियों की एक प्रियता का बारम्बार निदर्शन हुआ है—वह है उनका ज्योति अथवा प्रकाश अथवा कान्ति के प्रति स्थिर आकर्षण तथा सौन्दर्य का मंगलमय स्वरूप । ज्योति उनके समीप मूलतः, मुख्यतः नेत्रसापेक्ष रही है, चक्षुरिन्द्रिय का विषय रही है । इसके वर्ण अथवा रंग के विषय में उनकी उतनी-ही स्थिर प्रियता 'सुवर्ण' एवं 'अरुण' के प्रति परिलक्षित होती है । स्वर्ण के लिए 'हिरण्य' तथा स्वर्णमय (विशेषण) के लिए 'हिरण्यय' शब्द का बहुलता से प्रयोग हुआ है । वैसे-ही, लाल के लिए 'अरुण', 'रोहित', 'शौण' इत्यादि का प्रयोग भी प्रायः मिलता है । अथर्ववेद में, पृथिवी की महिमा का बखान करते हुए, उसे सुनहले वक्ष वाली बताया गया है—"तस्यै हिरण्यवक्षसे पृथिव्या अकरं नमः ।"[2] इन्द्र, अग्नि, मरुत, उषा इत्यादि सभी प्रसिद्ध देवता लाल अथवा स्वर्ण वर्ण के कहे गये हैं । "हिरण्ययः", "हिरण्यशिप्र', "हिरण्यपाणि", "हिरण्याक्ष", "हिरण्यनेमयः" प्रभृति का प्रयोग प्रायः उपलब्ध होता है । सोने की किरणें, सोने का रथ, सोने का कवच इत्यादि का उल्लेख विभिन्न प्रसगों मे हुआ है ।[3] 'दीप्ति', 'कान्ति' तथा 'उज्ज्वलत्व' के सूचक शब्दो का विनियोग भी प्रचुरता से उपलब्ध है । 'सुष्ठु', 'सुपेशस', 'अभिराम', 'मद्र', 'शुभ्र', 'चारु', 'कोम्य', 'रोचन', 'सुभग' प्रभृति शब्दों का प्रयोग सुन्दर के अर्थ मे हुआ है ।[4] शोभा के अर्थ में 'श्री' का प्रयोग भी प्रायः मिलता है ।[5] कतिपय मंत्रो मे 'सूनरी', 'सूनरो' (सुन्दर) का प्रयोग भी उपलब्ध है ।[6] 'रमणीय' के अर्थ मे 'रण्व' शब्द भी कतिपय मत्रो में प्रयुक्त हुआ

---

१. "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" इत्यादि वाला कथन ऋग्वेद के प्रथम मण्डल १६४।४६) में उपलब्ध है जो दशम मण्डल के साथ बहुत बाद का समझा गया है ।

२. अथर्व०, १२।१।२६ ।

३. ऋग्वेद : १।७।२, १।६।२, १।६।१, १।१४।१२, १।५७।२, १।२२।५, १।२५।१३, १।३५।९–१०, १।१०५।१, २।२७।९, २।३४।३, ३।६।१०, १०।८५।२०, ७।७५।६, ६।६५।२, ६।६६।२, ६।५६।३ इत्यादि ।

४. वही : १।१३।७, १।४७।२, १।४८।१३, १।१८७।६, १।१८८।६, २।१६।१, १।२०।१, १।२९।१, २।३३।५, २।२७।९ इत्यादि ।

५. वही : १।१७९।१, १।११७।१३ इत्यादि ।

६. वही : १।४८।१०, ८ इत्यादि ।

है ।[1] संज्ञा पदों में 'सु' उपसर्ग जोड़कर सुन्दर का बोध प्रायः कराया गया है ।

अतएव, यह स्पष्ट है कि ऋग्वेद में सौन्दर्य के प्राकृतिक, मानवीय तथा दिव्य स्वरूपों का बहुविध वर्णन हुआ है । एक उल्लेखनीय विशेषता यह देखी गई है कि उषा, मरुत, अग्नि, सूर्या इत्यादि से सम्बन्धित सूक्तों में बाह्य सौदर्य के अतिरिक्त, ऋषि-कवियों ने इन प्राणमयी शक्तियों के आन्तरिक सौन्दर्य की भी व्यंजना की है और उनके मंगल-विधायक शील को भी बलाघात दिया है ।

ख. वाल्मीकि

आदिकवि वाल्मीकि ने रामायण में प्रकृति तथा मानव के सौन्दर्य का प्रचुर वर्णन किया है । वेद की तुलना में रामायण का सौन्दर्य-वर्णन स्वभावतः अधिक ललित एवं काव्यात्मक है । यद्यपि प्रकृति के उद्दीपक स्वरूप का भी वर्णन उसमें उपलब्ध है, तथापि विशुद्ध आलंबन-रूप में प्रकृतिगत सौन्दर्य के चित्रण में कवि को सविशेष आनन्द मिला है । वाल्मीकि के वर्णनों की सामान्य प्रवृत्ति 'यथार्थवादी' है जो फूलों-फलों, पक्षियों-पशुओं, कीचड़-भरी सड़कों, जलार्द्र पवनों इत्यादि के वर्णन में स्फुट रूप से दिखाई पड़ती है । प्रायः वैदिक ऋषियों के समान, वाल्मीकि का सौन्दर्य-बोध व्यापक है और उसमे प्रकृति के उग्र एवं भयावह स्वरूपों का भी समावेश हुआ है ।[2] चित्रकूट, मन्दाकिनी, पञ्चवटी, अनेक अरण्यों, समुद्रों इत्यादि का वर्णन बड़ा सफल एवं प्रभावोत्पादक है ।

रामायण के कतिपय संदर्भों में ऐसे वर्णन संप्राप्त है जिनसे अलौकिक शक्ति एवं सामर्थ्य का बोध होता है । धनुष-भंग में राम की विस्मयकारिणी लोकोत्तर शक्ति, उसी प्रसंग में राम का मार्ग रोकने वाले परशुराम का अलौकिक प्रभाव एवं सामर्थ्य, समुद्र-लंघन के समय हनुमान का विराट् पराक्रम इत्यादि अनेक प्रसंगों में हम साधारण धरातल से ऊपर उठकर अलौकिक शक्ति का अनुभव करते हैं । लंकापुरी अपनी सौन्दर्य-सम्पदा मे अमरावती एवं अलका के साथ प्रतिस्पर्धा करती है, किन्तु वही हनुमान के प्रवेश के साथ भयंकर रूप धारण कर लेती है । रावण के पुष्पक विमान के सौन्दर्य-वर्णन में अलौकिकता का व्यंजना हुई है ।[3] लेकिन, ऐसे चित्रों में प्रायः अतिमानवीय एवं पौराणिक रंगों का समावेश हो गया है जिससे चमत्कार तो उत्पन्न होता है, किन्तु किसी 'विराट्' की अनुभूति नहीं हो पाती और न वास्तविक विस्मय अथवा रहस्य

---

१. ऋग्वेद : १।६५।३, १।६६।२, १।१२९।७ इत्यादि ।

२. युद्धकाण्ड, ४।११५–२४ ।

३. सुन्दरकाण्ड, ८ और युद्ध०, १२४।२४–२८ ।

का भाव ही अप्रतिहत बना रह पाता है। सुन्दरकाण्ड मे रावण के गृह का वर्णन अत्यन्त अभिराम एवं विस्मयकारी है,[1] तो भी इस विस्मय की जाति कुछ दूसरी ही भासित होती है।

ऋतु-वर्णन में कवि की सौन्दर्य-भावना यथार्थवाद का आधार लेने पर भी नितान्त मोहक एवं रमणीय बन गई है। विभिन्न संदर्भों में हेमन्त, वर्षा, शरद् इत्यादि के ललित चित्र अंकित हुए हैं जिनमें कवि-कल्पना की रमणीयता एवं ओजस्विता प्रतिबिम्बित हैं। वर्षा के एक चित्र में मेघों का गम्भीर गर्जन यों अंकित हुआ है—"बिजली जिनकी पताका है, बगुलों की पंक्तियाँ जिनकी मालाएँ हैं, जो विशाल पर्वत के आकार वाले हैं, वैसे मेघ उस प्रकार भयावह गर्जन कर रहे हैं जिस प्रकार युद्धस्थल में मस्त गजराज गर्जते हैं।"[2] बादलों के भीषण नाद का यह प्रभावकारी चित्रण है। एक अन्य कल्पना—मधुर चित्र यों अंकित है—

"**बालेन्द्रगोपान्तरचित्रितेन विभाति भूमिर्नवशाद्वलेन।**
गात्रानुवृत्तेन शुकप्रभेण नारीव लाक्षोक्षित कम्बलेन॥"[3]

'नयी उगी घास से आच्छन्न, लाल रंग की बीर-बहूटियों से चित्रित भूमि उस नारी के समान शोभा दे रही है जिसने सुग्गे के समान हरे रंग वाली, यत्र-तत्र लाख की लाल बुँदकियो से रंजित कम्बल ओढ़ लिया है।'

प्रावृड्-वर्णन में ऐसे श्लोक सनिविष्ट है जिनमे वर्षागम कान्तवियुक्त राम के भीतर मदन-दीपन का कारण बना है। आदिकवि के ये चित्र कविकुलचक्र-चूड़ामणि, कालिदास के 'ऋतुसहार' एवं 'मेघदूत' के प्रणयन के आधार बने है।[4]

प्राकृतिक सौन्दर्य के अतिरिक्त, वाल्मीकि ने नारी-सौन्दर्य के भी मादक, मोहक चित्र अकित किये है। रावण के शयनकक्ष में सोई हुई सुन्दरियो का वर्णन विस्तृत एवं लालित्यपूर्ण है। उदाहरणार्थ केवल एक दो चित्र द्रष्टव्य है—"कितनी ही स्त्रियाँ मदिरा पीकर बाजा बजाती हुई, नाचती-गाती हुई सो गई थी। ऐसा जान पड़ता था जैसे वे गजराज द्वारा मसली गई वन की फुल्ल वल्लरियाँ हों। × × × स्तनों के बीच में पड़े हारों की शोभा जलमुर्ग

---

१. सुन्दर०, ७।१४-१५।
२. रामायण : किष्किन्धाकाण्ड, २८।२०।
३. वही, किष्कि०, २८।२४।
४ डॉ० रमाशंकर तिवारी : 'महाकवि कालिदास' (संशोधित संस्करण), में "वाल्मीकि और कालिदास" शीर्षक प्रकरण पठनीय।

के समान हो रही थी। प्रमदाओं की जाँघें नदी के किनारों के समान, आभूषण हंस तथा चक्रवाक के समान तथा सोई हुई स्त्रियों का समूह नदी के समान शोभायमान लग रहे थे। कितनी-ही स्त्रियों के स्तनों पर पति द्वारा अंकित नखक्षत शोभा दे रहे थे।"[1] सुन्दरकाण्ड के अठारहवें सर्ग में रावण के अशोक-वाटिका में जाते समय उसका अनुगमन करने वाली मदिरा के नशे में चूर प्रमदाओं का वर्णन भी उल्लेख्य है। नारी के रूप-वर्णन में कनकवर्णा, चन्द्राननां, पद्माननां, कमलेक्षणा, विशालाक्षी, सुभ्रू, सुमध्या, नीलकेशी, बिम्बोष्ठी प्रभृति विशेषणों का विनियोग हुआ है। सीता की जाँघों के लिए कदली, हाथी-सूँड़ इत्यादि तथा स्तनों के लिए बिल्वफल, तालफलं इत्यादि उपमान प्रयुक्त किये गये हैं। एक भिन्न प्रसंग में उरस्यों की तुलना स्वर्णकलश से की गई है। स्त्री-सौन्दर्य के साथ, रामायण में पुरुष-सौन्दर्य का भी वर्णन हुआ है। अरण्यकाण्ड के आरम्भ में राम के रूप-सौन्दर्य का आकर्षक चित्रण उपलब्ध है। अप्सराओं इत्यादि के रूप-सौन्दर्य-वर्णन में कवि की पौराणिक आस्था प्रतिफलित है और वहाँ दिव्य सौन्दर्य की रश्मियाँ फूट गई हैं।

अतएव, यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आदिकवि की सौन्दर्य-भावना प्रकृति एवं मनुष्य के दोनों आयामों को समेटती है और भारतीय साहित्य में सौन्दर्य तथा वैभव का जो समृद्ध संसार आगे चलकर अवतीर्ण हुआ है, उसकी भूमिका आदिकाव्य में ही ठोस आधारों पर प्रतिष्ठित हो गई है।

ग. अश्वघोष

अश्वघोष ने अपनी काव्य-सर्जना का उद्देश्य यद्यपि संसार से विरक्ति बताया है और उसके ललित पक्ष के तिरस्कार की सिफारिश की है,[2] तथापि उनकी रचनाओं में ललित सौन्दर्यानुभूति के प्रकरण उपनिबद्ध हुए हैं जिनकी ओर हमारी दृष्टि सहज-ही आकर्षित होती है। 'सौन्दरनन्द' के अन्तिम सर्ग में भगवान् बुद्ध ने नन्द से कहा है, "जब तुम नगर में धर्मोपदेश करते रहोगे, तब लोग विस्मयाभिभूत होकर कहेंगे, अहो ! कैसा आश्चर्य है ! जो नन्द पहले कामासक्त था, वह अब मुक्ति की बातें कर रहा है !"[3] विद्वानों का

---

१. रामायण : सुन्दरकाण्ड, सर्ग १०-११

२. "प्रायेणालोक्यं लोकं विषयरतिपरं मोक्षात्प्रतिहतं
काव्यव्याजेन तत्त्वं कथितमिह मया मोक्षः परमिति।
तद्बुद्ध्वा शास्त्रिकं यत्तदवहितमितो ग्राह्यं न ललितं
पांसुभ्यो धातुजेभ्यो नियतमुपकरं चामीकरमिति ॥"
(सौन्दर०, १८।६४)

३. सौन्दरनन्द, १८।५८

कथन है कि इस श्लोक की टिप्पणी में कवि की अपनी ही जीवन-धारा के परिवर्तन की प्रतिच्छाया झलकती है।[४] हम वस्तुतः कवि के ऋणी हैं कि बौद्ध धर्म की पताका फहराने के पूर्व, उसने लौकिक रस का प्रचुर आस्वादन कर लिया था जिससे प्रेम एवं सौन्दर्य के कतिपय मन्द-मोहक चित्र उसकी कृतियों में अवतीर्ण हो सके हैं।

'बुद्धचरित' तथा 'सौन्दरनन्द', दोनों ही काव्यों में प्रकृति–सौन्दर्य एवं मानव-सौन्दर्य के मधुर चित्र अंकित मिलते हैं। शाक्य राजपुत्र गौतम स्वयं वन्य प्रदेश की भूमि के सौन्दर्य से आकर्षित दिखाये गये हैं।[१] मदन-दीपन के उद्देश्य से नाना युवतियों ने सिद्धार्थ का ध्यान प्रकृति–गत सौन्दर्य की ओर आकर्षित किया है। उदाहरणतः, एक चपलनयना सुन्दरी सिद्धार्थ से यों कहती है--"तीर पर उत्पन्न होने वाले सिन्दुवार-विटपों से आच्छन्न इस वाणी को देखो जो श्वेत वस्त्रों से आवृत, सोती हुई प्रमदा के समान है।"[२] 'सौन्दरनन्द' के दशम सर्ग में हिमालय का सौन्दर्य-वर्णन श्लाघ्य बना है। वही देवराज इन्द्र के नन्दनवन का वर्णन भी अत्यन्त हृद्य एवं हृादक है।[३]

मानव-सौन्दर्य में, पुरुष एवं नारी, दोनों के सौन्दर्य का चित्रण बौद्ध कवि ने बड़ी सरसता से किया है। नन्द की पत्नी रूप एवं शोभा के कारण 'सुन्दरी,' हठ एवं गर्व के कारण 'मानिनी' और दीप्ति एवं मनस्विता के कारण 'भामिनी,' इन तीन नामों से जानी जाती है।[४] उसके बहिरंग सौन्दर्य का चित्र यों अंकित हुआ है--"मुसकान-रूप हंस वाली, नेत्र-रूप भ्रमर वाली तथा पीनस्तन-रूप उन्नत कमल-कोश वाली वह स्त्री-रूपी पद्मिनी (वापी) सूर्यवंश में उदित नन्द-रूपी सूर्य से अत्यन्त शोभित हुई।"[५] शाक्यमुनि को भोजन कराने के निमित्त आई हुई गोपराज की कन्या नन्दबाला का रूपचित्रण भी मोहक बना

---

१. the Saundarar nand of Asvaghosa, edited by E. H. gohnston, पृ० ८.

२. बुद्धचरित, ५।४,

३. वही , ४।४९,

४. सौन्दर०, १०।१९-३५,

५. "लक्ष्म्या च रूपेण च सुन्दरीति स्तम्भेन गर्वेण च मानिनीति।
दीप्त्या च मानेन च भामिनीति या तो बभाषे त्रिविधेन नाम्ना ।।"
(वही , ४।३)

६. "सा हासंहसा नयनद्विरेफा पीनस्तनाभ्युन्नतपद्मकोशा।
भूयो बभासे स्वकुलोदितेन स्त्रीपद्मिनी नन्दविवाकरेण ।।" (वही ४।४)

है ।[१] 'सौन्दरनन्द' में, प्रकृति-सौन्दर्य की पृष्ठभूमि में नन्द और उसकी पत्नी सुन्दरी के संयुक्त सौन्दर्य-चित्र अंकित हुए हैं, यथा—"पहाड़ी झरने के समीप स्थित, एक-दूसरे के प्रति अनुरक्त किन्नर-किन्नरी के समान वे दोनों क्रीड़ा करते थे और अपनी-अपनी रूप-शोभा के कारण एक-दूसरे को चुनौती देते थे।"[२] 'बुद्धचरित' में कवि ने सिद्धार्थ के पुरुष-सौन्दर्य का भी ह्लादक चित्रण किया है और उसके रूपदर्शन से नागरी-नारियों पर पड़े प्रभाव का अभिराम चित्र उपस्थित किया है।[३] 'सौन्दरनन्द' के स्वर्ग-दर्शन प्रकरण में प्राप्त गुफाओं में रहने वाली सुन्दरी किन्नरियों का निम्नोद्धृत चित्र अत्यन्त ही मोहक एवं रमणीय बना है—

"दरीचरीणामति सुन्दरीणां मनोहरश्रोणिकुचोदरीणां ।
वृन्दानि रेजुर्दिशि किन्नरीणां पुष्पोत्कचानामिव वल्लरीणां ।।"

(सौन्दर०, १०।१३)

'गुफा-निवासिनी किन्नरियाँ, जिनके नितम्ब, स्तन एवं उदर मनोहर थे, चारों ओर इस प्रकार शोभित हुई जैसे खिले हुए फूलों से भरी हुई लताएँ शोभा देती हैं।'

अश्वघोष की सौन्दर्य-दृष्टि स्वभावतः आदि कवि के समान स्वच्छन्द एवं व्यापक नहीं है, तथापि कतिपय स्थलों पर वह अधिक सूक्ष्म एवं हृदयग्राहिणी बन गई है। उनकी सौन्दर्य-कल्पना में ज्योति, दीप्ति एवं औज्ज्वल्य को महत्त्व मिला है। नवजात शिशु सिद्धार्थ जिस शय्या पर सोया था, वह स्वर्ण के समान उज्ज्वल ("कनकोज्ज्वलाङ्गे") थी (१।१७)।

सिद्धार्थ स्वयं दीपक की प्रभा से युक्त और सुवर्ण के समान शुभ्र द्युति वाला, "कनकोज्ज्वलाङ्गः" था।[४] तथापि, पौराणिक रंगों के प्रवेश के कारण, अश्वघोष की सौन्दर्य-भावना मे विशुद्ध विस्मय का तत्त्व उपलब्ध नही है।

घ. कालिदास

कालिदास "रागपरिवाहिनी गीतिः,"[५] अनुराग उत्पन्न करने वाली कविता-कामिनी के उपासक हैं। अतएव, सौन्दर्य का अतिशय प्रेम उन्हें निरन्तर अनुप्राणित करता रहा है। ऋग्वेद की ऋचाओ में वर्णित सौन्दर्य युगपत् दिव्य-

---

१. बुद्धचरित, १२।११०,
२. सौन्दरनन्द, ४।१०,
३. बुद्धचरित, १।१२-१३; ४।३–८,
४. बालक सिद्धार्थ को दीपक की प्रभा से युक्त तथा स्वर्ण की भाँति उज्ज्वल कान्ति वाला बताया है :
"दीपप्रभोऽयं कनकोज्ज्वलाङ्गः सुलक्षणैर्यस्तु समन्वितोऽस्ति ।
निधिगुणानां समये स गन्ता बुद्धिभावं परमां श्रियं वा ।।" (१।३४)
५. 'अभिज्ञान शाकुंतल', पंचम अंक,

उदात्त एवं मधुर है । रामायण में आकर वह मादक एवं विलास-युक्त बना है, यद्यपि पौराणिक चमत्कार से संश्लिष्ट वैराट्य की छवियाँ भी वहाँ विकीर्ण हैं । अश्वघोष की कृतियों में प्रायः रामायण की सौन्दर्य-ध्वनियाँ ही सुनाई पड़ती है, यद्यपि रिरंसा की कदर्थना का मौलिक उद्देश्य कवि को सौन्दर्य-सागर में डुबकी लगाने से सतत प्रतिबंधित करता रहा है । कालिदास की सरस्वती 'कला के सुवर्ण' की अभिलाषिणी है[1] और वाणी एवं अर्थ के सम्यक्, शोभाशाली सामंजस्य की ह्लादैकमयी पीठिका पर अपनी रंगीन छवियों का वितान तानती है ।[2] अतएव, सौन्दर्य-दर्शन की वैदिक परम्परा युग-परिवर्तन के साथ कालिदास में आकर अधिक मोहक एवं मृदुल बन गई है ।

कालिदास औपनिषदिक ऋषियों की संगति मे, मानव, प्रकृति तथा परम-तत्त्व को एक-ही प्राण-सत्ता से अनुप्राणित मानते हैं । इसी कारण, उनके द्वारा भावित सौन्दर्य अविभाज्य है । हम ऐसा देखते है कि प्रकृति के प्रति मनुष्य का प्रेम चित्रित करते-करते, उनकी भारती मनुष्य के प्रति प्रकृति का प्रेम चित्रित करने लग जाती है और फिर इन दोनों से हटकर परमेश्वर के प्रति इन दोनों के अनुराग का वर्णन करने लग जाती है । इसके मूल में हमारी जातीय प्रतिभा का प्रतिफलन ही माना जाना चाहिए ।[3] कालिदास के काव्यो में प्रकृति की नानारूपिणी छवियो के मनोरम एवं प्रभावशाली चित्रण उपलब्ध होते हैं । कवि प्रकृति में रम गया है, घुल मिल गया है और "जिस प्रकार प्रकृति की रमणीयताएँ चिर-पुरातन होने पर भी चिर-नवीन रहती हैं, उसी प्रकार कवि की कूँची प्रकृति-चित्रों को सजाने में जिस कौशल का परिचय देती है, उसमें + + चिरनव्यता, चिर-उल्लास एवं चिर-लालित्य के तत्त्व स्पन्दित होते रहते हैं ।"[4]

प्रकृति की रमणीयताओं का जितना सरस एवं ललित वर्णन कालिदास ने किया है, उससे भी अधिक हृद्य एवं ह्लादक वर्णन उन्होने मानव-सौन्दर्य का किया है । कालिदास वस्तुतः रूप की माया से सर्वात्मना अभिभूत है और नारी-सौन्दर्य का संस्पर्श मानों उनकी हृदय-विपंची के समस्त तारों को एक-साथ झकृत कर देता है । उसकी दृष्टि मे सौन्दर्य दैवी विभूति है जो मानव तथा

---

१. डॉ रमाशंकर तिवारी : 'महाकवि कालिदास' में "कालिदास की काव्यकला" शीर्षक अध्याय का प्रथम विभाग पठनीय ।

२. "वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये ।
जगत; पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरौ ।।" (रघुवंश, १।१)

३. 'महाकवि कालिदास' (लेखक-कृत) प्रथम संस्करण, पृ० २९५,

४. वही , पृष्ठ २९३

प्रकृति में समान भाव से भास्वर हो रही है । "नारी-देह में जो सौन्दर्य प्रकाश करता है, वही प्रकृति के विभिन्न पदार्थों में भी प्रतिबिम्बित है और जिस प्रकाश से प्रकृति की नानारूपिणी छवियाँ विश्व में अपना सम्मोहन बिखेरे हुई हैं, वही प्रकाश नारी-रूप में फूटकर चराचर सृष्टि को बन्दी बना देता है । कालिदास सौन्दर्य के इस रहस्य से भलीभाँति परिचित हैं । यही कारण है कि नारी-रूप के वर्णन में उनकी दृष्टि प्रकृति-जगत् का अनुसन्धान करने लगती है और प्रकृति-रूपों के चित्रण में वह नारी-रूप से अनुप्राणित हो जाती है ।"[1]

समग्र प्रकृति की अपेक्षा, कालिदास प्रकृति के भिन्न-भिन्न रूपों में अधिक अनुरक्त हैं, और प्रकृति के रूपों में भी वे सौन्दर्य के व्यापक प्रभावों (Mass Effect) का नहीं, प्रत्युत अलग-अलग सुन्दर वस्तुओं का चित्रण करते हैं । वहाँ भी उन्होंने मानवीय भावनाओं तथा व्यापारों का चित्रण किया है और इन वस्तुओं को मानवीय रागों से जोड़ दिया है । समुद्र के शान्त अथवा विक्षुब्ध रूपों के, विध्वंसकारी भयंकर झंझाओं के, सूर्यास्त तथा सूर्योदय के भव्य दृश्यों के, विशाल वनरात्रि की अशान्त बनाने वाली नीरवता के अथवा गगनचुम्बी निर्वाक पर्वतों के उदात्त चित्र कालिदास के काव्यों में उपलब्ध नहीं होते । यह स्पष्ट है कि वैदिक कवियों की बिरादरी के अन्तरंग सदस्य वे शायद नहीं रह पाये हैं जैसी उनसे अपेक्षा की जा सकती थी ।

तथापि, प्रकृति के प्रत्येक महान् रूप से कालिदास का घनिष्ठ परिचय है और प्रकृति-सौन्दर्य के अनेक सुन्दर चित्र उनकी कृतियों में प्राप्तव्य हैं । 'रघुवंश' के तेरहवें सर्ग में समुद्र का वर्णन हुआ है, यद्यपि कवि की भीतरी प्रेरणा एवं उल्लास के दर्शन वहाँ नहीं होते । समुद्र को वर्षा का उत्स तथा विष्णु की शय्या एवं चन्द्रमा का जन्मस्थान कहा गया है । सिर के छिद्रों से जल की धारा उड़ाने वाली ह्वेल मछलियों तथा शंख एवं प्रवाल का वर्णन किया गया है । समुद्र में नदियों के गिरने का दृश्य का अतीव रसपूर्ण चित्रण यों किया गया है—

"मुखार्पणेषु प्रकृति प्रगल्भाः स्वयं तरङ्गाधरदानदक्षः ।
अनन्य सामान्य कलत्रवृत्तिः पिबत्यसौ पाययते च सिन्धूः ॥"

(रघु०, १३।९)

'दूसरे लोग स्त्रियों का अधरपान करते हैं, अपना अधर नहीं पिलाते । किन्तु, समुद्र की रीति निराली है क्योंकि जब नदियाँ ढीठ होकर अपना मुख उसके सामने बढ़ाती हैं, तब वह बड़ी चतुराई से अपना तरंग-रूपी अधर उन्हें

१. 'महाकवि कालिदास' (लेखक-कृत) प्रथम संस्करण, पृष्ठ २७०–७१

पिलाता है और उनका अधर स्वयं पीता है ।'

पर्वतों का वर्णन अनेक संदर्भों में हुआ है, लेकिन 'कुमारसंभव' में उपलब्ध हिमालय तथा कैलाश का वर्णन कवि की पटुता एवं सजीवता की छापें लिये है । "किन्तु, वहाँ भी गिरिराज के क्रोड़ में प्राप्त व्यापक एकान्तों, बर्फीली चोटियों, उत्तुंग शिखरों को अपनी मोहक माया से आवृत करने वाले सूर्योदय एवं सूर्यास्त के मनोरम दृश्यों, जलप्रपातों तथा बर्फीली नदियों और नगाधिराज के विराट् गौरव के साक्षात्कार से उत्पन्न होने वाली आध्यात्मिक अनुप्रेरणा—इन सब बातों का कवि ने कोई चित्रण नहीं किया है । पूर्व एवं पश्चिम के समुद्रों तक फैले हुए हिमालय को पृथिवी का मानदण्ड ('पृथिव्या इव मानदण्डः') बताकर, उसने अवश्य नगाधिराज के विराट आकार की सुन्दर व्यंजना की है । किन्तु, उसके बाद, कवि पर्वतों के अन्तराल में पाये जाने वाले रत्नों, बादलों से उतरकर सिद्धों के निचले प्रान्तों को छोड़कर ऊँची चोटियों पर भाग जाने + + चमकीले पौधों के रात में प्रेमियों के लिए सुरत-प्रदीप बन जाने इत्यादि के ही कथन में उलझ गया है ।"[1]

आकाशीय दृश्यों के चित्रण कालिदास ने प्रायः किये हैं । सूर्योदय तथा सूर्यास्त के चित्र भिन्न-भिन्न कृतियों में उपलब्ध होते हैं, किन्तु इनकी चिरनवीन स्वर्गीय रंगों वाली सुषमाएँ शक्ति के साथ चित्रित नहीं हैं । सूर्यास्त की नीरवता ने कवि को अधिक आकृष्ट किया है, किन्तु वैसे संदर्भों में भी स्वयं सूर्यास्त के नहीं, सूर्यास्तकालीन पार्थिव जीवन के चित्र अंकित हुए हैं । नीरवता-निमज्जित तारक-खचित रजनी की माया का चित्रण भी कहीं प्राप्त नहीं होता ।' 'मेघदूत' में बादलों के अनेक सुन्दर एवं भव्य चित्र अवश्य अंकित हुए हैं । लेकिन, सबसे बढ़कर, कवि की हार्दिक प्रियता लक्षित होती है, चन्द्रमा के सौन्दर्य-वर्णन में । "नक्षत्रताराग्रह संकुलापि ज्योतिष्मती चन्द्रमसैव रात्रिः—" चन्द्रमा के प्रति कवि का यह आकर्षण 'कुमार सम्भव' के आठवें सर्ग में शिव-पार्वती की संभोग-केलियों के प्रसंग विषयक छन्दों में प्रदर्शित हुआ है । इनमें कल्पना का लालित्य प्रसन्नभाव से स्फुट हो गया है उदाहरणतः चाँदनी के फैलने पर कवि उत्प्रेक्षा करता है—चन्द्रमा ऐसा दीख पड़ रहा है, मानों वह अपनी किरणरूपी अंगुलियों से रजनी रूपी नायिका के मुँह पर फैले हुए अंधकार-रूपी केशों को हटाकर, उसका मुँह चूम रहा हो और रात भी उस चुम्बन का रस लेने के लिए कमलरूपी नयन बन्द किये बैठी हो ।[2] एक ऐसी-ही

१. 'महाकवि कालिदास' (लेखक-कृत) प्रथम संस्करण, पृ० ३०२.

२. "अङ्गुलीभिरिव केशसञ्चयं संनिगृह्य तिमिरं मरीचिभिः ।
कुड्मलीकृत सरोजलोचनं चुम्बतीव रजनीमुखं शशी ।।" (८।६३)

मधुर कल्पना यह द्रष्टव्य है—जैसे नवोढ़ा बधू पहली बार संभोग-भय से काँपती हुई अपने पति के पास जाती है वैसे ही ये टिमटिमाती तारिकाएँ भी काँपती हुई चन्द्रमा के पास जा रही हैं।[1]

प्राकृतिक सुषमाओं के चित्रण में कालिदास नारी के सौन्दर्य-संसार में झाँकने लगते है। शरद-वर्णन में नदियाँ मतवाली प्रमदाओं से स्पर्धा करती हैं—"नदियाँ मतवाली कामिनियों की भाँति मन्दगति से सचरण करती हैं। उछलती मछलियाँ मानो उनकी किंकिणियाँ है, तट पर बैठे श्वेत पक्षियों की पंक्तियाँ मानो उनकी मालाएँ है और ऊँचे टीले मानो उनके पुष्ट नितंब है।"[2] चन्द्रिका चर्चित रजनी में कवि प्रतिदिन बढ़ती हुई नवल अलबेली बाला के दर्शन करता है। मेघमुक्त चन्द्रमा उसके मोहक मुख के समान, तारे आभूषण के समान तथा ज्योत्सना श्वेत साड़ी के समान शोभित हो रहे है।[3] नवागत वसन्त की शोभा ऐसी विराजती चित्रित की गई है, मानो वह कैशोर तथा यौवन के बीच स्थित हो—"मुग्धत्वस्य च यौवनस्य च सखे मध्ये मधूनी स्थिता।"[4] एक स्थल पर स्वच्छ जल वाली मन्दाकिनी पृथ्वी-रूपी नायिका के कण्ठ की मुक्तावली बताई गई है।[5] इन समस्त चित्रणो मे प्रकृति के भिन्न-भिन्न रूप कही स्वतत्र आलबन रूप में और कही उद्दीपन-रूप मे चित्रित हुए है। कोयल की कूक का एक चित्र अवलोक्य है—"उन दिनों कोयल की कूक मानो कामदेव का यह आदेश सुना रही थी कि हे सुन्दरियो! मान छोड़ो, कलह छोड़ो, बीता यौवन फिर हाथ नहीं आता। यह सुन-सुन कर सभी रमणियाँ अपने-अपने पतियो के साथ पुनः रमण करने लगी है।"[6]

नारी-सौन्दर्य के वर्णन में कालिदास ने प्रकृति के रमणीय उपादानों से सहायता ली है। नवतरुणी पार्वती स्तनों के बोझ से झुकी हुई, प्रातःकालीन रवि के समान लाल वस्त्र पहने हुई ऐसी प्रतीत होती है जैसे फलों के गुच्छों के भार

---

१. "एषचारुनुखि योग्यतारया युज्यते तरलबिम्बया शशी।
साध्वसादुपगतप्रकम्पया कन्ययेव नवदीक्षया वरः॥" (८।७३)

२. 'ऋतुसंहार' ३।३

३. वही, ३।७.

४. 'विक्रमोर्वशीय,' २।७.

५. 'रघुवंश', १३।४८.

६. "त्यजत मानमलं बत विग्रहैर्न पुमरेति गतं चतुरं वयः।
परभृताभिरितीव निवेदिते स्मर मते रमते स्म वधूजनः॥"
('रघुवंश', ९।४७)

से झुकी हुई लाल-लाल किसलयों वाली चलती-फिरती लता हो--

"आवर्जिता किञ्चिदिवस्तनाभ्यां वासो वसाना तरुणार्करागम् ।
पर्याप्त पुष्पस्तबकावनम्रा सञ्चारिणी पल्लविनी लतेव ॥

(कुमार०, ३।५४)

शकुन्तला के लाल ओठ लता की कोपलों के समान शोभते है, दोनों भुजाएँ विटप की कोमल शाखाओं की भाँति जान पड़ती है और उसके अंगों में खिला हुआ नया यौवन प्रफुल्ल कुसुम की भाँति लुभावना लग रहा है--"कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु सन्नद्धम ।" 'मेघदूत' की यक्षप्रिया का रूप-सौन्दर्य भी प्रकृति की भिन्नश. प्राप्त रमणीयताओं का सकलित समवाय है--

"श्यामास्वङ्गं चकितहरिणी प्रेक्षणे दृष्टिपातं
वक्त्रच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान् ।
उत्पेश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासान्
हंतैकस्मिन्क्वचिदपि न ते चण्डि सादृश्यमस्ति ॥" ('उत्तरमेघ', ४६)

- हे प्रिये ! प्रियगुलता में तुम्हारे कोमल अंग को चकित हरिणी-नेत्रों में तुम्हारे कटाक्ष को, चन्द्रमा में तुम्हारी मुख-कान्ति को, मोर-पखों में तुम्हारे केशकलाप को तथा नदी की कुटिल तरंगों में तुम्हारे भ्रू-विलास को अलग-अलग देख लेता हूँ । लेकिन, एक स्थान पर, हे मानिनी ! तुम्हारी शोभा का पूर्ण दर्शन नहीं कर पाता ।'

कालिदास नवयौवन की माया से उत्पन्न नारी-सौन्दर्य के निखार से भूरिशः प्रभावित हैं । राजानक रुय्यक ने अपनी 'सहृदयहृदयलीला' नामक पुस्तक में बताया है कि नवयौवन के उदय से अंगों में सौष्टव एवं विपुलीभाव आता है और उनका पारस्परिक विभेद स्पष्ट हो जाता है । नवयौवन-प्राप्त कुमारी उमा के सौन्दर्य का अत्यन्त मधुर-मोहक चित्र कवि ने यों चित्रित किया है--

"उन्मीलितं तूलिकयेवचित्रं सूर्यांशुभिर्भिन्नमिवारविन्दम् ।
बभूव तस्याश्चतुरस्रशोभि वपुर्विभक्तं नव-यौवनेन ॥"

(कुमार०, १।३२)

--जैसे तूलिका से ठीक-ठीक रंग भरने पर चित्र खिल उठता है तथा जैसे सूर्य-किरणों का स्पर्श पाकर कमल खिल जाता है, वैसे-ही नवयौवन के सस्पर्श से पार्वती का सब प्रकार से शोभा देने वाला शरीर विभक्त हो गया, अर्थात्, उसमें विभिन्न अंग प्रस्फुट लक्षित होने लगे ।' इसी कारण, कवि यौवन को शरीर की लता का नैसर्गिक शृंगार मानता है जो मदिरा के बिना ही मन को मतवाला बना देता है ।[1]

१. 'कुमारसंभव', १।३१.

कालिदास संस्कृत साहित्य में पहले सिद्धसारस्वत कवि है जिन्होंने नारी-सौन्दर्य का पूर्ण मनोयोग से परिभाषण एव प्रतिपादन किया है। यक्ष पत्नी की रूपाकृति के चित्रण में उन्होंने नारी-रूप का एक सार्वकालिक प्रतिमान स्थापित कर दिया है। "वह यक्षिणी छरहरी देह वाली, नवव्यक्त यौवन वाली, नन्हें-नन्हें दाँतों वाली, पके बिम्बफल के समान लाल अधरों वाली, क्षीण कटि वाली, चकित हरिणी की लोल चितवन वाली, गहरी नाभि वाली, नितम्ब-भार से अलसाई गति वाली, स्तनों के भार से झुकी हुई, अलका की युवतियों में विधाता की पहली सृष्टि है।'[१] नारी-रूप की इसी प्रतिमा को पार्वती के रूपांकन में कवि ने और भी इन्द्रिय-ग्राह्य बना दिया है। नवयुवती उमा की जाँघों के निर्माण मे विधाता ने सम्पूर्ण सुन्दर सामग्रियों का उपयोग किया है। वे जाँघें हाथी की सूँड़ तथा कदली के वृक्ष के समान सुडौल, सुचिक्ण हैं; इस विशेषता के साथ कि वे पहले की भाँति कठोर नही तथा दूसरे की भाँति शीतल नही।[२] त्रिबली की तीन रेखाएँ मानो कामदेव के स्तनादि तक आरोहण के लिए सुन्दर सोपान है[३] और उनके पाण्डु एव प्रवृद्धस्तन स्वय इस प्रकार सटे हुए है कि उनके बीच में कमल का एक सूत भी समाया नही जा सकता था—"मृणालसूत्रान्तरमप्यलभ्यम्।"[४] स्पष्ट है कि नारी-मूर्ति का यही आदर्श सहृदयों को आज भी मान्य है, हमारी मूर्ति-कला मे यही प्रतिमान युग-युग में रूपायित हुआ है। कालिदास निर्व्याज भाव से यह मानते है कि नारी-सौन्दर्य का मुख्य धर्म वीर्यक्षोभ उत्पन्न करना है। पार्वती की रूप-सम्पदा इसी जाति की थी। उर्वशी की रूप-रचना के लिए, इसी कारण, विषयो से पराङ्मुख हुने वाले वृद्ध ऋषि नारायण के स्रष्टृत्व का प्रत्याख्यान किया गया है और उसका श्रेय कान्तिप्रद चन्द्रमा, शृगाररस के देवता मदन तथा कुसुमाकर वसन्त के बीच बाँट दिया गया है।[५]

---

१. 'उत्तरमेघ', २२.
२. 'कुमारसंभव', १।३५-३६.
३. वही, १।३९.
४. वही, १।४०.
५. "अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रद.
शृङ्गारैकरस. स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः।
वेदाभ्यासजडः कथं न विषय-व्यावृत्त-कौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः॥"
('विक्रमो०', १।१०)

कालिदास ऐसी रूपलक्ष्मी को विद्युत-ज्योति की भाँति अपार्थिव वा स्वर्गीय मानते है ।[1] सौन्दर्य के आधायक तत्वो मे कान्ति, दीप्ति माधुर्य, तथा 'लावण्य' को उन्होने अपरिहार्य महत्त्व दिया है । वियोग-सतप्त दुष्यन्त शकुतला का चित्र बनाते समय इसी लावण्य को अपनी तूलिका की पकड़ मे नही ला सका था- "तथापि तस्या लावण्यं रेखया किञ्चिदन्वितम् ।"[2] आभूषणों की उपयोगिता स्वीकार करते हुए भी, कालिदास सौन्दर्य-स्फुटन के लिए उनकी आवश्यकता स्वीकार नही करते । 'कुमारसभव' मे उनका स्पष्ट कथन है कि आभूषण सौन्दर्य को जितना अलकृत करते है, उतना-ही वे स्वतः सौन्दर्य-संसर्ग से अलंकृत भी होते है--"अन्योन्यशोभाजननन्नाद्भव साधारणो भूषणभूष्यभावः ।"[3] अर्थात् उनकी कल्पना में रूप वही है जो सहज स्फुट हुआ है, "अविलष्टकान्ति" है,[4] सभी अवस्थाओं मे शोभा का पोषण करता है।[5] लीला, विलास, विच्छित्ति प्रभृति स्वभावज अलकारों को उन्होने अवश्य मान्यता दी है और "लीलाचतुरा" पार्वती को "नेत्रकौमुदी" बताया है । अतएव, सौन्दर्य मुख्यतः चाक्षुष है और नयन-प्रसादन उसका प्राथमिक गुण है जिसके पश्चात् ही, वह चित्तहरण करता है । ऐसे सौन्दर्य की कोई अवमानना नहीं कर सकता, उसके प्रति कोप नहीं कर सकता --"अलभ्यशोकानिभवेयमाकृतिर्विमानना सुभ्रु कुतः पितुर्गृहे ।" सौन्दर्य का यह विश्वविजयी स्वरूप है ।

कालिदास मानते है कि आकृति का सौन्दर्य अन्तरात्मा के सौन्दर्य से समन्वित होता है,[6] यह सौन्दर्य पाप-वृत्ति से सर्वथा शून्य होता है,[7] और प्रिय को लुभाने मे ही इसकी सार्थकता है, अर्थात्, आतरिक वशीकरण धर्म ही रूप-सौन्दर्य का फल है । पवित्र सौन्दर्य मे अपूर्व शोभा होती है, अपूर्व शान्ति रहती है, अपूर्व निर्मलता एव मागलिकता रहती है—कविकुलगुरु की यही भावना मगल-स्नान कर चुकने वाली पार्वती के इस चित्रण मे व्यजित हुई है—

---

१. 'अभिज्ञान०', १।२४.

२. वही, ६।१४.

३. 'कुमारसंभव', १।४२.

४. 'अभिज्ञान०', ५।१९.

५. 'मालविकाग्निमित्र,' अंक २.

६. 'अभिज्ञान०', अंक २.

७. "यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः ।"

(कुमार०, ५।३६)

"सा मंगलस्नानविशुद्धगात्री गृहीतपत्युद्गमनीयवस्त्रा ।
निवृत्तपर्जन्यजलाभिषेका प्रफुल्लकाशा वसुधेवरेजे ।।"
('कुमार०', ७।११)

—'मंगलस्नान से निर्मल होकर जब पार्वती ने पति से मिलने योग्य वसन धारण किया, तब वह वर्षा के जलाभिषेक के अनंतर प्रफुल्ल काश-कुसुम धारण करने वाली वसुधा के समान शोभा देने लगी ।'

कवीन्द्र रवीन्द्र ने इस चित्र पर यों टिप्पणी की है—"इसमें सारी चेष्टाओं का अन्त और समग्र वेषभूषा का अन्तिम परिणाम है। इसके बीच न तो इन्द्र सभा का प्रयास है, न कामदेव का कोई मोह है और न वसंत की कोई अनुकूलता। इस समय यह अपनी-ही निर्मलता और मंगलता से आप-ही अचचल और आप-ही सम्पूर्ण है।" अर्थात्, कालिदास सौन्दर्य की चरम परिणति शान्ति मे मानते हैं।[1]

पुरुष के रूप-सौन्दर्य मे कालिदास ने ऋग्वेद मे वर्णित इन्द्र के शरीर-सौन्दर्य ा प्रतिमान अंगीकार किया है ऋग्वेद के एक सूक्त मे इन्द्र को महान्, बिजली के समान तेजस्वी, रश्मिवन्त, बाहु में वज्र धारण करने वाला, पर्वतो को प्रकपित करने वाला, वज्रहस्त तथा दृढ़ अगो वाला, बताया गया है।[2] 'रघुवश' में दिलीप को भी विशाल वक्षस्थल, साँड़ के समान चौड़े कंधे वाला तथा शाल के समान लम्बी बलशाली भुजाओ वाला वर्णित किया गया है।[3]

कालिदास को भी वैदिक ऋषियो की भाँति अरुण रग, बालसूर्य की दीप्ति ('बालार्करागं') तथा स्वर्ण-रग बहुत प्रिय हैं। उनके कमल तथा सिकता भी 'कनकमय' है जो रूपसियों की क्रीड़ा में सहायक होते हैं।[4] कान्ति, शोभा इत्यादि के ऊपर कालिदास 'माधुर्य' को सौन्दर्य का सबसे अधिक मोहक तत्त्व मानते है। इसी कारण, वल्कल-वेष्टित शकुंतला को अक्षय्य रूप-सुषमा का बखान करते हुए, उन्होने टिप्पणी की है कि 'मधुर' आकृतियों के लिए कौन सा वस्तु मंडन नही बन जाती—"किमिव हि मधुराणा मण्डनं नाकृतीनाम।" चित्त के द्रवीभाव से युक्त आह्लाद को 'माधुर्य' कहा गया है।[5] कालिदास का

---

१. 'महाकविकालिदास' (प्रथम संस्करण), पृ० २८०
२. ऋग्वेद ; २।१२।१२-१३.
३. 'रघुवंश', १।१३.
४. 'उत्तरमेघ; ११; वही,
५. "चित्तद्रवीभावमयो ह्लादो माधुर्यमुच्यते।" (सा० द०, ८।२)

अभीष्ट सौन्दर्य हृदय को पिघलाने तथा आनंद-पूरित करने वाले 'माधुर्य' से गर्भित है ।

ङ. परवर्ती संस्कृत कवि

कालिदास के परवर्ती कवियों की सौन्दर्य-दृष्टि आत्मनिष्ठता से अधिक विषयोन्मुखता से प्रभावित रही है । वस्तुतः इसकी प्रेरणा भी उन्हें कालिदास से मिली समझी जायेगी । उमा के रूप-वर्णन में कालिदास ने नखशिख-प्रणाली का मोहक सूत्रपात किया था । परवर्ती कवियों की कृतियों में यह प्रणाली प्रायः अपनायी गई है और परम्परा प्रथित उपमानों की योजना से नारी-मूर्ति के मादक चित्र अंकित हुए हैं । मदन-दीप ने अथवा 'वीर्यक्षोभ कारित्व' का सूत्र इन पश्चाद्भावी कवियों ने जम कर पकड़ा है और रोमावली, स्तनादि के वर्णन में लक्षि., मदन-दीपक कल्पनाएँ की है । अलंकृति तथा पाण्डित्य-प्रदर्शन की भावना भी इन कवियों को लुभाती रही है । भारवि, माघ इत्यादि के बाद स्थूल-सौन्दर्य-वर्णन की परम्परा श्रीहर्ष के 'नैषधचरित' में चरम सीमा पर पहुँच गई है । नल तथा दमयन्ती के सौन्दर्य-वर्णन में कवि की कल्पना अतिशय चमत्कार-पूर्ण तथा अत्युक्ति-बोझिल बन गई है और "निसर्गोज्ज्वलता" (सहज सुन्दरता) की शपथ लेने के बाद भी कवि ने इस रचना में ऐसी जटिल ग्रंथियाँ जोड़ दी हैं जिनसे उसकी भाव-व्यंजना अति-दुरूह बन गई है ।[1] इतना ही नहीं, दमयन्ती के सौन्दर्य-वर्णन में उसके गुह्यांग (योनि) का उल्लेख करना भी आवश्यक समझ कर, श्रीहर्ष ने सुरुचि-सीमा का अतिक्रमण भी किया है । 'अमरुशतक', 'चौरपञ्चाशिका', 'आर्यासप्तशती' इत्यादि मुक्तकीय रचनाओं में नायिका-भेद की परिपाटी का अनुसरण हुआ है और वासना को उद्दीप्त करने वाले गहन चित्रों का अंकन किया गया है--यद्यपि अमरु, विल्हण, जयदेव इत्यादि कवियों ने नारी के रूप-सौन्दर्य के ललित, रसपूर्ण चित्र भी अंकित किये हैं । इन समस्त चित्रणों में कामशास्त्रीय प्रेरणाएँ प्रकट अथवा प्रच्छन्न रूप से उपलब्ध होती हैं क्योंकि सामन्ती समाज में अतिशय विलासपूर्ण शृंगारिकता सहज भाव से स्वीकृति प्राप्त कर चुकी थी । कश्मीरी कवि विल्हण अपने आश्रयदाता नरपति की युवती कन्या शशिकला को प्राकृत एवं संस्कृत शास्त्रों के अतिरिक्त, शृंगारसार वाले गहन कामशास्त्र को भी पढ़ाया करते थे जिससे उन्होंने एकान्त में गान्धर्व विवाह भी कर लिया था--

"शृंगारसारगहनं किल कामशास्त्रमध्यापयत्यमलचन्द्रकलां कदाचित् ।"

(विल्हणकाव्यम्)

---

१. 'नैषधचरित', २२।३.

कालिदासोत्तर संस्कृत काव्य में प्रकृति-गत सौन्दर्य का चित्रण भी हुआ है। यहाँ भी अलंकृति-प्रियता एवं पांडित्य-प्रदर्शन तथा चमत्कार-जनन की प्रवृत्तियाँ प्रतिफलित है। प्रकृति के उद्दीपनवत् वर्णन की अधिकता है; तथापि सूर्योदय, सूर्यास्त, चन्द्रोदय और रजनी तथा वसन्त के चित्रों में यथेष्ट रमणीयता वर्तमान है।[1] सौन्दर्य विषयक धारणा में कालिदास ने रामणीयक की "प्रतिक्षण-नवता" का उल्लेख 'मालविकाग्निमित्र' में किया था। अग्निमित्र के तेजोदीप्त रूप का वर्णन करते हुए नाट्याचार्य कहते है कि समुद्र की भाँति स्थिर रहते हुए भी, ये राजा मेरी आँखों को पल-पल में नये दिखाई पड़ते हैं—

"न च परिचितो न चाप्यरम्यश्चकितमुपैमि तथापि पार्थिवस्य।
सलिलनिधिरिव प्रतिक्षणं मे भवति स एव नवो नवोऽपमक्ष्णोः॥"
(१।११)

इसी कथन का माघ ने, रैवतक पर्वत की प्रशंसा मे लिखित "क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः" की प्रसिद्ध पंक्ति में, अधिक प्राञ्जल संस्कार किया है।[2] किन्तु, फिर-भी, इन कवियों का प्रकृति-वर्णन प्रायेण परम्परा मुक्त तथा यत्र-तत्र पौराणिक कल्पनाओं से आच्छन्न बन गया है। संक्षेपतः, वाल्मीकि तथा कालिदास के सौन्दर्य-वर्णन में उपलब्ध प्रतिमान तथा उपमान ही उत्तरकालीन संस्कृत कवियों द्वारा रूढ-भाव से, कहीं यांत्रिक और कहीं संस्कारित स्वरूप में, गृहीत हुए हैं।

च. अपभ्रंश कवि

अपभ्रंश-काल में अभभ्रंश के कवियों ने भी प्रचुर सौन्दर्य-वर्णन किया है और संस्कृत काव्य के ललित, समृद्ध उत्तराधिकार का उन्मुक्त प्रयोग किया है। उनकी कृतियों में प्राकृतिक तथा मानवीय सौन्दर्य का वर्णन बड़े समारोह के साथ किया गया है। उदाहरणार्थ, सूर्यास्त का एक चित्र यों अंकित है—

"रमणिहिं संहु रमणु णिविट्ठु जाम, रवि अत्थ गिहरि संपत्तु ताम।
रत्तउ दीसइ णं रइहि णिलउ, णं वरुणासा वहु घुसिण तिलउ।
णं सग्ग लच्छि माणिक्कु ढलिउ, रत्तुप्पलुणं णहसरहु घुलिउ।
णं मुक्कउ जिण गुण मुद्धएण, णिय रायपुंजु मयरद्धएण

---

१. द्रष्टव्य : 'किरातार्जुनीय', नवम सर्ग ; 'जानकीहरण', अष्टम सर्ग 'शिशुपालवध', चतुर्थ-पञ्चम-षष्ठ सर्ग; 'रावणवध' एकादश सर्ग; नेमिनिर्वाण', षष्ठ सर्ग; 'नैषध', बाईसवाँ सर्ग।

२. 'शिशुपाल०', ४।१७

अद्धद्धउ जलणिहि जलि पइट्ठ, णं दिसि कुंभयलु विट्ठ ।
चुउ णिय छवि रंजिर सायरंभु, णं दिण सिरिणारिह तणउ गब्भु ।
आहिंडिवि भुवणु अलद्ध वासु, णं गयऊ रयण रयणायरासु ।
लच्छीहि भरंतिहि कणयवण्णु, णिच्छुट्टविकलसु व जलिणिमण्णु
धत्ता –पुण संझा देवयस विश महि, रंजिवि राएं विप्फुरिय ।
कोसंभु चीरु णं पंगुरिव, णाह विवाहइ अंवयरिय ।।"[1]

—'रक्तवर्ण सूर्य ऐसा प्रतीत होता है जैसे रति का भंडार हो अथवा पश्चिम-काश वधू का कुंकुम-तिलक हो; मानों स्वर्ग-लक्ष्मी का मणिका ढलक गया हो [illegible] सरोवर का रक्त-कमल गिर पड़ा हो; अथवा उनके गुणों पर मुग्ध मकरध्वज ने अपना राग पुंज छोड़ दिया हो; अथवा समुद्र में अर्ध-प्रविष्ट सूर्य-मंडल दिग्गज का कुम्भ हो, अथवा दिन-श्री-नारी का पतित गर्भ हो; अथवा मानों रक्तमणि भुवनतल में भटकता-भटकता निवास न पाकर पुनः रत्नाकर की शरण में गया हो, अथवा जैसे जल भरती हुई लक्ष्मी का कनकवर्ण कलश छूट कर जल में डूब गया हो; अथवा मानों संध्या के राग से रंजित पृथ्वी ने पृथ्वीपति के विवाह पर धारण किया गया कुसुंभी रंग का वस्त्र अब उतार दिया हो ।'

निम्न पंक्तियों में कवि ने प्रकृति को मानव-जीवन के साथ संश्लिष्ट कर दिया है—

"जिह फुरियउ दीवय दित्तिउ तिह कंताहरणह दित्तियउ ।
जिह संझा राएं रंजियउ तिह वेसा राएं रंजियउ ।
जिह दिसि दिसि तिमिरइं मिलियइं तिह दिसि दिसि जारइं मिलियइं ।
जिह रयणिहि कमलयइं मउलियइ तिह विरहिणि वयणइं मउलियइं ।"[2]

—'जैसे दीपकों की दीप्ति स्फुरित हुई, वैसे-ही स्त्रियों के आभरणों की दीप्ति चमक उठी । जैसे संध्या राग अर्थात् लाल रंग से रंजित हो गई, वैसे-ही वेश्या भी अनुराग से रंजित हो गई । जैसे सब दिशाओं में अंधकार-मिलन होने लगा, वैसे-ही सर्वत्र जार मिलने लगे । जैसे रात्रि के कमल मुकुलित हुए, वैसे-ही विरहिणी के मुख-कमल मुकुलित, अर्थात्, संकुचित हो गया ।'

पुष्पदंत का गंगा-वर्णन भी ललित है, यथा—

महीतल में बहने वाली गंगा ऐसी प्रतीत होती थी जैसे वह हिमालय की साड़ी हो; मानों पर्वत शिखर-गृह पर चढ़ने के लिए सीढ़ी हो; मानों ऋषभ-

---

१. पुष्पदंत : 'महापुराण', ४।१५
२. वही, १३।८

नाथ के जय की रत्नखान हो; मानों कठोर राहु के भय से डरती हुई चन्द्रमा की कान्ति भूतल पर आ गई हो; × × × मानों गिरिराज-शिखर-रूपी पीवर स्तन से युक्त वसुधा-नारी का हार हो; + + मानों उत्तर दिग्वधू की बाहु हो जिस पर हंसपंक्ति-रूपी वलय शोभा दे रहा हो; मानों विमल मंथर गति वाली वह समुद्र भर्त्तार से मिलने जा रही हो। + + + + मत्स्य-रूपी नेत्रों वाली, भँवर-रूपी गहरी नाभि वाली, भ्रमर-रूपी केशपाश वाली, स्नान-रतगजों के गंडस्थल-रूपी स्तनों वाली + + + चंचल तरंग-रूपी त्रिवली वाली, श्वेत झाग-रूपी वस्त्र वाली तथा पवनोद्धत शुभ्र तुषार-रूपी हार वाली गंगा शोभित हो रही है।"[१]

कवि स्वयंभू ने अपने ग्रंथ 'पउमचरिउ' ('पद्म-चरित' 'रामायण') में सागर की ओर बहती हुई नर्मदा का अलंकृत वर्णन, प्रियतम-मिलन के लिए अभिसार करने वाली शृंगारित नारी के रूप में किया है, यथा–"नर्मदा के शब्दायमान जलप्रवाह नूपुर की झंकार के समान है; दोनों सुन्दर पुलिन उपरितन वस्त्र के समान हैं; स्खलित-उच्छलित जल रशनादाम की भ्रान्ति उत्पन्न करता है; उसके आवर्त्त त्रिबली की रेखाओं के समान हैं; हस्तियों के सजल गंडस्थल अर्धोन्मीलित स्तनों के समान है; आंदोलित फेन-पुंज लहराते हार के समान हैं + + इत्यादि।"[२] इसी प्रकार, 'सुदर्शन चरिउ' ('सुदर्शन-चरित्र') में कवि नयनंदी ने गंगा को लीला एवं मंथर गति से समुद्र की ओर जाने वाली उत्फुल्ल भाव-युक्त वेश्या बताया है।[३] नयनंदी ने प्रभात-वर्णन में प्रत्यूष-रूपी मातंग-द्वारा संसार-सरोवर से नक्षत्र-रूपी कुमुद कुमुदिनियों के नाश और शशि-रूपी हंस के पलायन का दृश्य प्रस्तुत किया है तथा सूर्य को केसरी एवं गाढ़ान्धकार को गज बताते हुए; सूर्य को दिग्वधू का लीलाकमल, गगना-शोक का कुसुम-स्तवक, दिन श्री का विद्रुम और नभ श्री का सुन्दर कस्तूरी कहा है।[४]

अपभ्रंश-कवियों ने ऋतुओं इत्यादि का वर्णन भी किया है। लेकिन इन वर्णनों में परम्परागत शैली एवं संस्कृत कवियों की पद्धति की स्पष्ट छाप अंकित है' यद्यपि उद्दीपन के अतिरिक्त शुद्ध आलंबन भाव से चित्रित प्रकृति-चित्र भी इन कवियों ने अंकित किए हैं। प्रकृति को चेतन सत्ता की भाँति भी चित्रित किया

---

१. 'अपभ्रंश-साहित्य' (डॉ० हरिवंश कोछड़), पृ० ८६-८७
२. 'अपभ्रंश साहित्य, (डॉ० कोछड़), पृ० ६४
३. वही : पृ० १६४
४. वही : पृ० १६५

गया है और उसे मानव-भावों से जोड़ा भी गया है ।

नारी-सौन्दर्य के वर्णन में अपभ्रंश-कवियों ने नखशिख-पद्धति का प्रायः अनुसरण किया है जिस पर संस्कृत कवियों की परम्परा का प्रभाव निर्व्याज रूप से पड़ा है । नयनंदी द्वारा चित्रित नायिका मनोरमा का एक अलंकृति-पूर्ण चित्र यह द्रष्टव्य है--

"मनोरमा लक्ष्मी के समान है । उसकी तुलना किससे की जा सकती है ? उसकी गति से पराजित होकर लज्जित हंस कलत्रों-सहित मानसरोवर में चले गये । उसके कोमल, अरुण चरणों को देखकर रक्तकमल जल में प्रविष्ट हो गये और चरणों की सुन्दर नख-कान्ति से पराभूत नक्षत्र आकाश में चले गये । + + उसकी सुन्दर जाँघों से तुलना करने पर कदली निस्सार खड़ा रहा । उसके नितंब-बिम्ब को न प्राप्त कर, काम ने अपना शरीर भस्मावशेष कर दिया । + + + उसकी नाभि की गहराई से विजिता गंगा की जल-भँवर निरन्तर घूमती रही और कभी स्थिर नही हो सकी । उसकी क्षीण कटि को देखकर क्या सिंह तपश्चरण के विचार से गिरि-कन्दरा में चला गया ? उसकी सुन्दर रोमावली से पराजित होकर लज्जित सर्पिणी मानों बिल में प्रविष्ट हो गयी । यदि विधाता उसकी रोमावली-रूपी लौह-शृंखला का निर्माण नही करता, तो उसके मनोहारी गुरु स्तनों के भार से कटि अवश्य भग्न हो जाती । + + + इत्यादि ।"[1] सोमप्रभाचार्य ने 'स्थूलिभद्र कथा' में कोशा नाम्नी वारवनिता का रूप-वर्णन नखशिख-प्रणाली पर बहुत कुछ इसी शैली में किया है ।[2]

तथापि, अपभ्रंश का सम्पूर्ण नारी-सौन्दर्य-वर्णन बाह्य रूपाकन की स्थूलता तक ही सीमित नही है । उदाहरणतः पुष्पदन्त के 'महापुराण' मे गुणमंजरी वेश्या के रूप वर्णन में शारीरिक सौन्दर्य के अतिरिक्त, उसके आन्तरिक सौन्दर्य का भी वर्णन हुआ है और सीता का सौन्दर्य भी परम्परा-मुक्त मात्र नही है, यथा--

"बड्ढ परमेसरि विब्ब देह णं वीयायंदहु तणिय रेह
णं ललिय महा-कइ पय पउत्ति णं भयण भाव विण्णाय जुत्ति ।
णं गुण समग्ग सोहग्गथत्ति णं णारिरूव विरयण समत्ति ।

---

१. 'अपभ्रंश साहित्य' (डॉ कोछड़) पृ० १६७
२. वही : पृ० ३५४

लायण्ण वत्त णं जलहि वेल सुरहिय णं चंपय कुसुम माला ।
थिर सूहव णं सप्पुरिस कित्ति बहुलकवण णं वायरण दित्ति ।"[1]

अपभ्रंश के कवियों ने अपने संस्कृत के पूर्वजों के अनुसार स्त्री-सौन्दर्य में 'लावण्य' को महत्त्व दिया है। 'भविसयत्त कहा' में कवि धनपाल धक्कड़ सुमित्रा को "लावण्य-जल में तैरती" हुई[2] तथा (पांडव पुराण) में यशःकीर्ति ने नायिका के "लावण्य" से इन्द्राणी को भी खिन्न होती हुई बताया है।[3] नारी की मुख-प्रभा की चन्द्रमा से श्रेष्ठता, व्यतिरेक के माध्यम से, 'महापुराण' मे प्रदर्शित की गई है—"यदि उस सुन्दरी का मुख चन्द्रमा के समान कहूँ, तो मेरा क्या कवित्व होगा ? उसके मुख में मृगाक के समान न कलंक है, न वह उसके समान टेढ़ा ही है। पुनः वह मुख (चन्द्रमा की विपरीतता में) कभी क्षय-ग्रस्त नहीं होता।"[4]

हिन्दी कवि

हिन्दी साहित्य को ऋग्वेद से लेकर अपभ्रंश काल तक की सम्पूर्ण, काव्य-परम्परा का समृद्धिमान् उत्तराधिकार मिला है और सौन्दर्य-वर्णन के इस ललित रिक्थ का हिन्दी कवियों ने स्वच्छन्द भाव से उपयोग किया है। उत्तरकालीन संस्कृत काव्य में अलंकारों के हृद्य विनियोग के साथ-साथ, 'वक्रोक्ति' सम्मत वाग्विच्छित्ति (कथन की विदग्धता) की छवियाँ भी प्रस्फुटित हुई हैं। मध्यकालीन हिन्दी भक्ति-काव्य, प्रेमाख्यानकों इत्यादि में नख-शिख पद्धति के अन्तर्गत अगणेय सौन्दर्य-चित्रों की अवतारणा हुई है। जायसी का नखशिख-वर्णन श्रीहर्ष जैसे संस्कृत कवियो तथा अपभ्रंश के महाकाव्यो एवं खण्ड-काव्यों की वैभवमयी परम्परा की प्रतिकृति है। सगुणोपासक कवियों में सूरदास का सौन्दर्य-वर्णन कालिदास तथा परवर्ती संस्कृत सूरियो के सौन्दर्य-वर्णन एवं अपभ्रंश कवियों के सौन्दर्य वर्णन का उज्ज्वल वैभवपूर्ण एवं वर्णाढ्य संस्कार कहा जायेगा। सूर ने निरन्तर सौन्दर्य की अपार्थिवता, मादकता, नयन ग्राह्यता, लावण्य एवं उसके अद्भुत विस्मयोत्पादक प्रभाव को रेखांकित किया है।[5]

---

१. 'अपभ्रंश साहित्य' (डा० कोछड़) पृ० ८०
२. 'अपभ्रंश साहित्य', पृ० ९९
३. वही : पृ० १२०
४. वही : पृ० ९०
५. विस्तृत जानकारी के लिए देखिये लेखक-कृत 'सूर का शृंगार-वर्णन' (द्वितीय खंड) में तीसरा अध्याय।

तुलसी के सीता-सौन्दर्य-वर्णन पर भी संस्कृत एवं अपभ्रंश कवियों की कल्पना की छापें वर्तमान हैं । संबद्ध पंक्तियाँ देखिये :—

"जनु बिरंचि सब निज निपुनाई । बिरचि बिस्व कहँ प्रगटि देखाई ।।
सुन्दरता कहुँ सुन्दर करई । छबिगृहँ दीपसिखा जनु बरई ।।"

इन पंक्तियों में कालिदास–द्वारा चित्रित शकुन्तला, पार्वती इत्यादि नायिकाओं के रूप-सौन्दर्य की स्पष्ट छाया दीख पड़ती है । 'कुमारसंभव' में पार्वती के रूप-वैभव का चित्रण करते समय कालिदास ने कहा है कि "ऐसा जान पड़ता है मानों संसार का सम्पूर्ण सौन्दर्य ब्रह्मा एक स्थान पर देखना चाहते थे । इसीलिए, उन्होंने सकल उपमा योग्य वस्तुओं को यत्नपूर्वक एकत्र कर, अपनी सौन्दर्य-दिदृक्षा को तृप्त करने के लिए पार्वती की सृष्टि की है ।"[१] वैसे-ही, 'दीपसिखा' मे इन्दुमती के "सचारिणी दीपशिखेव रात्रौ" की[२] मनोरम प्रकाश-द्युति झलकती है । अपभ्रंश-काव्य मे भी 'दीपशिखा' का उपमान गृहीत हुआ है ।[३] सीता के नेत्रो का प्रभाव तुलसी ने यह कहकर व्यजित किया है कि जहाँ-जहाँ मृगनयनी सीता देखती थी, वहाँ-वहाँ मानों श्वेत कमलों की वृष्टि हो जाती थी—

"जहँ बिलोक मृग सावक नैनी । जनु तहँ बरिस कमल सित श्रेनी ।।"

इस कथन मे भी सस्कृत तथा अपभ्रंश कवियो के रूढ़ सौन्दर्य-वर्णन का गंध स्फुट है । सीता के चमकीले मुख की उपमा के लिए "जनम सिंधु पुनि बंधु बिषु" वाले प्रसिद्ध दोहे मे चन्द्रमा को जो अयोग्य ठहराया गया है, उसमे भी पूर्ववर्ती कवियो के रूढ़ कथनो की छाप दिखाई, पड़ती है ।[४] एक अन्य स्थल पर सीता के उत्कृष्ट रूप सौन्दर्य की व्यजना के लिए तुलसी ने पौराणि-

---

१. **"सर्वोपमद्रव्यसमुच्चयेन यथाप्रदेशं विनिवेशितेन ।**
सा निर्मिता विश्वसृजा प्रयत्नादेकस्थसौन्दर्यदिदृक्षयेव ।।"
('कुमार', १।४९)

२. **'रघुवश', ६।६७**

३. **उदाहरणतः, हरिभद्र रचित 'सनत्कुमार चरित' में नारी-कान्ति की उपमा दीप-शिखा से दी गई है ।**
"जीए रयणिहि तणु किरण-मालच्चिय दीव सिव सोह मेतु मंगल पर्डवय ।"
---अर्थात्, 'वह नारी अपने किरणमालार्चित शरीर से रात में मंगलमय दीप-शिखा के समान शोभा दे रही थी ।'

४. **दे० 'महापुराण', ५४।१।१४-१५ (पहले उद्धृत हुआ है ।)**

कता का अंचल पकड़ कर कहा है—

"जौं छबि सुधा पयोनिधि होई । परम रूपमय कच्छप सोई ॥
सोभा रजु मंदरु सिंगारू । मथै पानि पंकज निज मारू ॥
एहि बिधि उपजै लच्छि जब, सुन्दरता सुख मूल ।
तदपि सकोच समेत सब, कहहिं सीय समतूल ॥"

इन पंक्तियों में, भक्त-प्रवर तुलसी सीता के सौन्दर्य की भावना कराने के लिए एक नयी लक्ष्मी के प्रादुर्भाव का विधान प्रस्तुत करते हैं जिसके सौन्दर्य–घटक 'तत्त्व' होंगे- छवि-सुधा का समुद्र, परम रूपवान् कच्छप, शोभा की रज्जु तथा शृंगार का मंदराचल और क्रिय त्मक भूमिका होगी कमल-कोमल हाथों वाले कामदेव की। वही नयी लक्ष्मी कदाचित् सीता के सौन्दर्य की समता करने में समर्थ हो सके। इस चित्र में कालिदास के उर्वशी के तथा भवभूति के मालती के सौन्दर्य-चित्रण का सौरभ (यद्यपि दृष्टिभेद स्वीकारा जायेगा) सुवासित है जिसमें इन सुन्दरियों को शृंगार–देवता कामदेव की सृष्टि बताया गया है।[1] अरण्यकाण्ड में तुलसी ने प्रतीकों के व्याज से सीता का नखशिख भी वर्णन किया है, किन्तु उनके अपहरण के बाद राम के विलाप-रूप में। पूरा प्रसंग उद्धृत करना वांछनीय है—

"हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी । तुम्ह देखी सीता मृगनैनी ॥
खंजन सुक कपोत मृग मीना । मधुप निकर कोकिला प्रबीना ॥
कुन्द कली दाड़िम दामिनी । कमल सरद ससि अहिभामिनी ॥
बरुन पास मनोज धनु हंसा । गज केहरि निज सुनत प्रशंसा ॥
श्रीफल कनक कदलि हरषाहीं । नेकु न संक सकुच मन माहीं ॥
सुनु जानकी तोहि बिनु आजू । हरषे सकल पाइ जनु राजू ॥"

प्रतीक स्पष्ट है : खंजन (नेत्र), शुक (नासिका), कपोत (ग्रीवा), मृग-मीन (चितवन), मधुप-निकर (केश-राजि), कोकिला (मधुर बोली), कुन्द-कली तथा दाड़िम-दामिनी (दाँत), कमल तथा शरदर्तु का चन्द्रमा (मुख), सर्पिणी (वेणी), वरुण-पाश तथा मनोज-धनुष (भृकुटी), हंस-गज (गति अथवा चाल), केहरि (कटि), श्रीफल (स्तन), कनक-कदली (जाँघें)। ये सभी नारी-अंगों के लिए परम्परामुक्त रूढ़ उपमान हैं और रूपकातिशयोक्ति के माध्यम से भक्त-कवि ने इनका विनियोग ऐसे संदर्भ में तथा इस ढंग से चित्रित किया है कि इससे राम के वियोग की धार तेज हो जाती है। इस कथन में कालिदास के "श्यामस्वंगं चकित हरिणीप्रेक्षणे × × इत्यादि" तथा "स्त्रीणां

---

१. 'विक्रमो०', १।१०

विहाय वदनेषु × × ×" इत्यादि[1] की परोक्ष छाया और 'सूर-सागर' में वर्णित "चतुर्थ मान" शीर्षक छन्द की प्रत्यक्ष छाया दिखाई पड़ती है।[2] 'कवितावली', 'गीतावली', 'बरवै रामायण' इत्यादि में तुलसी का माधुर्य-भाव पूर्ण सौरभ के साथ प्रस्फुटित हो उठा है जो हमारी शृंगार-परम्परा की अमूल्य-निधि है।

रीति-काव्य के सौन्दर्य-वर्णन मे कल्पना के मोहक चमत्कार एवं भाव-सौन्दर्य की रश्मियों के सुन्दर वितान दिखाई देते हैं। रीतिकाल के शृंगार-काव्य में नखशिख की रूढ परिपाटी अंगीकृत हुई है, किन्तु बिहारी इत्यादि की कृतियों में नारी-सौन्दर्य के अभिराम चित्रों की जो गैलरी अवतीर्ण हुई है, वह सर्वथा स्तुत्य एवं हृदयावर्जक है।

मतिराम ने जहाँ माघ के "क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति" का अधिक लोक-ग्राह्य संस्कार "जेते निहारियै नेरी ह्वै नैननि, तेते खरी निखरै-सी निकाई" के रूप में किया, वही शृंगार-भूषण बिहारीलाल ने सौन्दर्य के आत्मनिष्ठ अथवा विषयि-प्रधान होने का निर्णय भी घोषित किया—

"समै समै सुन्दर सबै, रूप कुरूप न कोइ।
मन की रुचि जेती जितै, तित तेती रुचि होइ।"

इस कथन में संस्कृत कवि की निम्न उक्ति का ही नव-संस्कार हुआ है—

"दधि मधुरं मधु मधुरं द्राक्षा मधुरासितापि मधुरैव।
तस्य तदेव हि मधुरं यस्य मनो यत्र संलग्नम्॥"

पंडितराज जगन्नाथ (१६४० ई०) ने आँखों का आकर्षण यह कह कर व्यक्त किया कि उस सुलोचना की आँखों का रूप श्याम तथा श्वेत नहीं, अपितु वह स्पष्ट ही गरल अथवा अमृत है—

"श्यामं सितं च सुदृशो न दृशोः स्वरूपं,
किंतु स्फुटं गरलमेतदथामृतं च।
नो चेत्कथं निपतनावनयोस्तदैव,
मोहं मुदं च नितरां दधते युवानः।"

(भामिनी विलास)

रसलीन ने, जैसे पंडितराज से स्पर्धा करते हुए, सुन्दरी के नयनाकर्षण का अन्तिम समाधान प्रस्तुत कर दिया है—

"अमिय हलाहल मद भरे, स्वेत स्याम रतनार।
जियत मरत झुकि झुकि परत, जिहि चितवत इक बार॥"

---

१. 'ऋतुसंहार', ३।२७

२. 'सूर का शृङ्गार-वर्णन' (द्वितीय खण्ड), पृ० २०२-०३

ज. प्रसाद की सौन्दर्य-चेतना

पिछले खण्ड में हमने भारतीय साहित्य में सौन्दर्य-वर्णन की परम्परा का सिंहावलोकन किया है। उससे ज्ञात होता है कि सौन्दर्य का आकर्षण, दृष्टि-भेद से, हमारी सहस्राब्दियों की रचनात्मक एवं कलात्मक अभिव्यक्तियों में नानाभाव से व्यंजित हुआ है। रीति काव्य तक आते-आते हिन्दी कवियों की सौन्दर्य-दृष्टि विरले अपवादों को छोड़कर, प्रायः स्थूल बन गई थी और नख-शिख प्रणाली के आश्रय में नारी-शरीर के गठनात्मक सौष्ठव पर ही अधिक केन्द्रित हो गई थी। युग-प्रवक्ता कवि ने निर्भ्रान्ति रीति से "रति-रंग" तथा "कवित्व-रस" का समीकरण कर दिया था।[1] अतएव, 'रति-रंग' में सहायक सिद्ध होकर ही, 'कवित्व' अपनी इयत्ता का औचित्य प्रदर्शित कर सकता था।

द्विवेदी-युग की सुधारवादी एवं नैतिकता-निष्ठ मनोदृष्टि सौन्दर्य की खोज एवं प्रतिष्ठा के लिए अनुकूल नहीं थी। अतएव, हमारे काव्य की सौन्दर्य-स्रोतस्विनी का प्रवाह प्रायः गतिरुद्ध रहा। रीतिकाव्य के विरोध का स्वर प्रमुख बन जाने से सौन्दर्य-वर्णन में कोई नये आयाम तो जुड़े नहीं, उलटे, सौन्दर्य-विषयक हमारी पुरानी उपलब्धियाँ भी विभाजित होने लगीं। लेकिन, यह जड़ता एवं अनुर्वरता की स्थिति थी, मानव-चेतना की नैसर्गिक भूख का अनुचित अवदमन एवं तिरस्करण था। छायावाद में, स्वभावतः, उस लोक-निष्ठता एवं कृत्रिम मर्यादावाद की विरोध-भावना पल्लवित हुई जो कविता एवं कला में 'व्यक्ति-तत्त्व' पर कठोर शासन रखने का हिमायती था। कुछ गाँधीवाद के प्रभाव से, कुछ रवीन्द्र के प्रभाव से, कुछ विदेशी रोमांटिक कविता के प्रभाव से और कुछ अद्वैतवादी ब्रह्म-दृष्टि के प्रभाव से, छायावादी कवियों की नवीन पीढ़ी अंतर्मुख हुई और तब यह असम्भव बन गया कि "आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति" की एकता में विश्वास करने वाले ये कवि सौन्दर्य से चमत्कृत एवं विस्मित न होते और उनकी विषयि-प्रधान कविता में सौन्दर्य की व्यंजना न होती। क्या मानव-सौन्दर्य और क्या प्रकृति-सौन्दर्य, दोनों क्षेत्रों में "मनोरागों की पवित्रता"[2] में आस्था रखने वाले ये नये कवि सौन्दर्य की खोज तथा चित्रांकण करने लगे। स्थूल नखशिख से ऊबकर, इन्होंने नारी-सौन्दर्य को अन्तर्मुखी आयामों से मंडित किया है। यह नारी का अभिनव संस्करण है जो हमारी कामुकता को नहीं, प्रत्युत हमारे मानसिक चैतन्य को जाग्रत करता है।

---

१. "तन्त्री-नाद, कबित्त-रस, सरस राग, रति-रंग।
अनबूड़े बूड़े, तिरे जे बूड़े सब अंग॥" (बिहारी)

२. "Holiness of heart's affections." (कीट्स)

प्रसाद सामाजिक दृष्टि से प्रवृत्तिवादी, साहित्यिक दृष्टि से रसवादी और दार्शनिक दृष्टि से आनन्दवादी रहे हैं।[1] तीनों ही दृष्टियों में तात्त्विक मेल तथा अन्विति होने के कारण, उनकी सौन्दर्य-भावना नितान्त उद्‌बुद्ध, प्रसन्न, प्रफुल्ल एवं अभेद-भाव से अनुप्राणित रही है। रसैषणा से युक्त, जीवन तथा संसार को प्यार करने वाले प्रसाद कश्मीरी शैववाद की आनन्दवादी दार्शनिक भूमि की ओर झुके, यह सर्वथा स्वाभाविक है। 'आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति' को स्वीकारने के कारण, रूप, रस, गंध, इत्यादि किसी के आकर्षण को झुठलाना प्रसाद के लिये सम्भव नहीं है और इसी कारण, उनकी सौन्दर्य-भावना में दार्शनिक आस्था के प्रायः समानान्तर, उनकी ऐन्द्रिय वासनाओं का भी मनोरम संनिवेश है। और, सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि प्रसाद अपने सौन्दर्य-विषयक सम्पूर्ण उत्तराधिकार की सतर्क अभिज्ञता रखते हैं, यद्यपि वैदिक वाङ्मय तथा कालिदास में अवतीर्ण सौन्दर्य-दृष्टि को उन्होंने अधिक आत्मसात् किया है। इस प्रकार, उनकी सौन्दर्य-भावना के संघटन में उनकी दार्शनिक मान्यता, ऐन्द्रिय वासनाओं की स्वीकृति, रसान्वेषिणी काव्य-चेतना और सौन्दर्य-वर्णन की सुदीर्घ परम्परा का समन्वित सहयोग प्रतिफलित हुआ है। इसी कारण, प्रसाद का सौन्दर्य-दर्शन ह्लादोन्मुख होते हुए, समंजस एवं सम्पूर्ण है, कालिदास के शब्दों में "चतुरस्रशोभि" है।[2]

---

१. डॉ० रामेश्वरलाल खण्डेलवाल : 'जयशंकर प्रसाद : वस्तु और कला', पृ० ३०३।

२. 'चतुरस्रशोभि'=चारों तरफ से शोभा देने वाला।

११ | कामायनी की सौन्दर्य-भावना

क. सौन्दर्य-निरूपण

'कामायनी' का मूलभूत दार्शनिक भूमि शैवों का प्रत्यभिज्ञादर्शन है। वैसे-ही, उसकी सौन्दर्य-भावना भी इसी दर्शन से अनुरंजित है। प्रसाद जी की स्थिर मान्यता है, कि यह मूर्त्त, सचराचर विश्व अखण्ड चेतन का मंगलमय विराट् शरीर है जो सत्य, सुन्दर एवं अविनश्वर है। "चेतन-समुद्र" में विश्व का जीवन लहरों के समान बिखरा पड़ा है, यह चैतन्य ही सौन्दर्य का उत्स एवं आधार है और इसी कारण, सौन्दर्य चिरंतन एवं शाश्वत है, यह कथमपि क्षयग्रस्त नहीं होता।[१] चैतन्य का स्वरूप जगत् नित्य, अक्षर तथा अनश्वर है, यद्यपि वह भौतिक दृष्टि से असंख्य रूप धारण करता रहता है।[२] विभिन्न परिवर्तनों में भी उल्लसपूर्ण आनन्द का सातत्य उसका धर्म है और उसमें एक ही राग की झनकार निरंतर उठती रहती है—"तल्लीन पूर्ण है एक राग, झंकृत है केवल 'जाग-जाग' !"

अर्थात् सौन्दर्य चेतन-स्वरूप होने के कारण जागरण तथा जीवन का प्रतीक है और उल्लास तथा आनन्द का सहचर है। श्रद्धा के निम्न कथन में जीवन, सौन्दर्य, सातत्य एवं आनंद का समीकरण ही प्रतिध्वनित हुआ है—

"जीवन-धारा सुन्दर प्रवाह,
सत, सतत, प्रकाश सुखद अथाह।" (दर्शन)

---

१. "चेतन-समुद्र में जीवन, लहरों-सा बिखर पड़ा है।"
"यह मूर्त विश्व सचराचर;
चिति का विराट वपु मंगल
यह सतत, सत्य, चिर-सुन्दर।" ('आनन्द' सर्ग)

२. "चिति का स्वरूप यह नित्य जगत,
वह रूप बदलता है शत शत;
कण विरह-मिलनमय नृत्य निरत,
उल्लासपूर्ण आनन्द सतत।" ('दर्शन' सर्ग)

प्रसाद जी की सौन्दर्य-भावना में 'सजीव उल्लास' का अपरिहार्य महत्त्व है ।[1] उनकी यह दार्शनिक मान्यता भी है कि 'महाचिति' ही, 'लीलामय आनंद' का भोग करती हुई, गोचर विश्व के रूप में प्रकट होती है, विश्व का 'अभिराम उन्मीलन' लीलाधर्मी महाचिति का ही सजग प्रकाश है--

"कर रही लीलामय आनंद,
महाचिति सजग हुई सी व्यक्त,
विश्व का उन्मीलन अभिराम,
इसी में सब होते अनुरक्त ।" (श्रद्धा)

काम की निम्न वाणी में विश्व को उसी 'महाचिति' की विकसित लीला बताया गया है----

"यह लीला जिसकी विकस चली,
वह मूल शक्ति थी प्रेम कला ।" (काम)

महाचिति ही यहाँ 'प्रेम-कला' है जिसे शैव दर्शन में 'कामकला' कहा गया है । काम किंवा प्रेम मे उल्लास अनिवार्यतया विद्यमान रहता है । अतः, सौन्दर्य में उल्लास की वर्तमानता सिद्ध है क्योंकि सौन्दर्य अखण्ड चेतना का ही विलास है । प्रसाद विश्व को तत्त्वतः सौन्दर्य का सजीव प्रतिरूप मानते है जिसकी सुषमा इन्द्रधनुषीय न्याय से अपनी बाह्याकृति बदलती रहती है ।[2] रंगों के इस परिवर्तन में सौन्दर्य विनष्ट नही होता, अपितु उसकी चटक एवं आनंद-प्राणता में निरंतर उपचय हुआ करता है । श्रद्धा ने मनु को उद्बोधन देते हुए 'नित्य नूतनता' के आनंद की बात कही है ।[3]

'कर्म' सर्ग में सौन्दर्य की "क्षणे क्षणे नवता"[4] का स्पष्ट संकेत किया गया है----

"क्षण क्षण होती प्रकट नवीना
बन कर उसकी काया ।" (कर्म)

---

१. "अविराम नाचता कंपन है,
उल्लास सजीव हुआ कितना ।" ('काम')

२. "जग, जगता आँखें किये लाल,
सोता ओढ़े तम-नीद-जाल;
+ + +
अवकाश---सरोवर का मराल,
कितना सुन्दर, कितना विशाल ।" ('दर्शन')

३. "नित्य नूतनता का आनंद किये है परिवर्तन में टेक ।" ('श्रद्धा')

४. "क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः ।" (माघ)

सौन्दर्य में चेतना एवं सजीवता की सहज स्थिति को 'कामायनी' में बार-बार रेखांकित किया गया है। मानवीय अस्थिपंजर में बन्दी होने पर भी, सौंदर्य चेतना (चिति) का ही 'उज्ज्वल वरदान' है----

"उज्ज्वल वरदान चेतना का
सौन्दर्य जिसे सब कहते हैं।" (लज्जा)

इड़ा के 'प्रतिभा-प्रसन्न मुख' का रहस्य भी 'आलोक-मयी चेतनता' है।[१] प्रसाद आलोक को सौन्दर्य का अन्तर्निहित तत्त्व मानते हैं। सुन्दर के प्रत्येक प्रसंग में प्रकाश अथवा आलोक का किसी-न-किसी प्रकार उल्लेख हुआ है। कहीं वह 'नव कोमल आलोक' है;[२] कही वह 'ज्योत्स्ना-निर्झर' है;[३] कहीं 'बिजली का फूल' है;[४] कही वह उज्ज्वल' है।[५] सौन्दर्य चाहे मानव का हो, चाहे प्रकृति का हो, चाहे विराट् सत्ता का हो, वह प्रकाश अथवा आलोक का पुंजीभूत मूर्त्तित स्वरूप है। प्रसाद की कल्पना में जो सौन्दर्य मूर्तिमान् है, वह एक-साथ ही मधुर एवं उदात्त है, वह भावक के अन्तःकरण को युगपत् दीप्त, द्रुत एवं विस्फारित करता है। इसी कारण उसमें आलोक के विभिन्न आयामों का पृथक्करण साधारणतः कठिन प्रतीत होता है। प्रकाश का माधुर्य तथा उसका औज्ज्वल्य----एक जो चित्त को मोम के समान द्रवित कर देता है और दूसरा जो चित्त का विस्फार कर, उसमें किञ्चित् धरती की सामान्य सुगंध से विलक्षण सौरभ का सन्निवेश कर देता है----दोनों की सीमायें परस्पर रसमस हो गई हैं। निम्न छन्दों में सौन्दर्यालोक की स्निग्ध माधुरी तथा उसकी चित्त-विस्फारक उज्ज्वलिमा की एकरसता का स्पष्ट आख्यान हुआ है----

"जागृत था सौन्दर्य, यद्यपि वह
सोती थी सुकुमारी;
रूप-चन्द्रिका में उज्ज्वल थी
आज निशा-सी नारी।" (कर्म)

---

१. "आलोकमयी स्मिति चेतनता आयी वह हेमवती छाया।" (इड़ा)
२. "नव कोमल आलोक बिखरता हिम-संसृति पर भर अनुराग।" (आशा)
३. "ज्योत्स्ना-निर्झर ! ठहरती ही नहीं यह आँख।" (वासना)
४. "खिला हो ज्यों बिजली का फूल मेघ-वन-बीच गुलाबी रंग।" (श्रद्धा)
५. "रूप-चन्द्रिका में उज्ज्वल थी आज निशा-सी नारी।" (कर्म)

"तम-जलनिधि का बन मधु मंथन,
ज्योत्स्ना-सरिता का आलिंगन;
वह रजत गौर, उज्ज्वल जीवन,
आलोक-पुरुष ! मंगल-चेतन !
केवल प्रकाश का था कलोल,
मधु-किरनों की थी लहर लोल ।" (दर्शन)

"बन गया तमस था अलक जाल,
सर्वांग ज्योतिमय था विशाल।" (दर्शन)

"ऊस शक्ति-शरीरी का प्रकाश
सब शाप-पाप का कर विनाश–
नर्तन में निरत प्रकृति गल कर,
उस कान्ति-सिन्धु में घुलमिल कर;
अपना स्वरूप धरती सुन्दर,
कमनीय बना था भीषणतर;
हीरक-गिरि पर विद्युत-विलास
उल्लसित महा हिम-धवल हास " (दर्शन)

सौन्दर्य निरंतर 'जागता' रहता है और उसमें 'ज्योति' एवं 'प्रकाश', माधुर्य एवं औज्ज्वल्य, कौमल्य एवं वैशद्य, चन्द्रिका एवं विद्युत, दोनों घुलमिल कर, तत्त्वत: एवं वस्तुत:, ऐसा रसायन बनाते है जिसमें द्वैत के सूक्ष्म तत्त्वों की शोध कठिन बन गई है ।

आलोक के घुले-मिले स्वरूप के समान ही, सौन्दर्य मे मधुरता एवं उदात्तता के तत्त्व अविच्छेद्य भाव से परस्पर गुंफित हुए हैं । उपर्युद्धृत पंक्तियों में 'शक्ति-शरीरी' के प्रकाश के साथ 'मधु-किरनों' तथा 'कान्ति-सिन्धु' का उपनिवेश इस तथ्य की व्यंजना करता है । जो सुन्दर है, वह मधुर भी है, मन-स्कलिकाओं को उन्मीलित भी करता है और भाव-धाराओं को उन्नमित भी करता है । 'कामायनी' की सौन्दर्य-भावना सौन्दर्य के इस द्वैध स्वरूप का संश्लिष्ट अवतरण हुआ है । श्रद्धा 'रूप-चन्द्रिका में उज्ज्वल' थी----इस कथन में सौन्दर्य का यही श्लिष्ट स्वरूप व्यंजित हुआ है । 'विश्व-कल्पना' के समान ऊँचे, 'अचल हिमालय' का 'लता-कलित शुचि' शरीर 'शोभनतम' है और साथ-ही, नींद में किसी ऐसे मधुर स्वप्न का दर्शन कर रहा है जिससे उसके अंग अधीर तथा रोमांचित हो गये हैं । जीवन की अनुभूति बिखराने वाले झरने क्या हैं, मानो असीम नीले अंचल में किसी अव्यक्त सत्ता की मृदु मुसकान से अनुप्रेरित

हिमालय की 'हँसी', कल-कल गान करती हुई, फूट चली हो ।[1] शोभनतम, 'अचल' नगाधिराज में सुखस्वप्न-जन्य पुलक तथा किसी की मृदुल मुस्क्यान के प्रत्युत्तर में शत-शत धाराओं में फूट चलने वाली हँसी का अनुभावन सौन्दर्य के संश्लिष्ट माधुर्य एवं वैराट्य की व्यंजना करता है। कतिपय अन्य प्रसंगों में भी मुस्कान, हँसी तथा 'मधुमयता' का सन्निवेश सौन्दर्य के अनुषंगों में हुआ है।

सौन्दर्य के पर्याय-रूप मे 'रमणीय' शब्द का विनियोग भी कवि की इसी उपस्थाप्य मान्यता का पोषण करता है। यह आरंभ में ही कहा जा चुका है कि विश्व का 'उन्मीलन' इसी कारण 'अभिराम' बना है क्योंकि यह 'महाचिति' का 'लीलामय विलास' है। प्रकारान्तर से यह कहा जा सकता है कि अपार्थिव, अगोचर सौन्दर्य-सत्ता ही विश्व के गोचर सौन्दर्य का उत्स एवं स्रोत है। यही हमारी साहित्यिक तथा चिन्तनात्मक परम्परा की भी स्वीकृति है। कवि ने रहस्यवादी मनोमुद्रा में उस अव्यक्त सत्ता को 'विराट्' कहा है जो अपनी विशाल, व्यापक सत्ता में भी 'हेम घोलता है' क्योंकि वह 'नया रंग' भरने को मचल उठा है।[2] नवीन रंगों का कामी यह 'विराट्' निश्चिततया भीतर तथा बाहर से मधुर है। इसी विराट् को आगे चलकर "अनन्त रमणीय" की अभिधा से संबोधित किया गया है।[3]

रमण करने की अभिलाषा से ही एकाकी ब्रह्म ने अपने को दो भागों में विभक्त किया।[4] ऋग्वेद में "रण्व" के रूप में 'रमणीय' का प्रयोग उषा

---

१. "अचल हिमालय का शोभनतम
लता-कलित शुचि सानु शरीर,
निद्रा में सुख-स्वप्न देखता
जैसे पुलकित हुआ अधीर।
\+ + +
उस असीम नीले अंचल में
देख किसी की मृदु मुस्क्यान,
मानो हँसी हिमालय की है
फूट चली करती कल गान।" (आशा)

२. "वह विराट् था हेम घोलता, नया रंग भरने को आज।" (आशा)

३. "हे अनन्त रमणीय कौन तुम, यह मैं कैसे कह सकता।" (आशा)

४. "× × × × + तस्माद्वेकाकी न रमते।
स द्वितीयमैच्छत् + + + + × ।" (शतपथ ब्राह्मण)

एवं अग्नि के संदर्भ मे[1] हुआ है । उषा के लिए "रण्व-संदृक्" अर्थात् 'रमणीय-दर्शना' पद नियोजित है (३।६१-५)। प्राचीन कवियों ने सुंदर के अर्थ में 'रम्य' वा 'रमणीय' शब्द का प्रयोग किया है ।[2] माघ ने रमणीयता का परिभाषण ही कर दिया है—"क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः ।" अर्थात् जो वस्तु प्रतिक्षण नवीनता ग्रहण करे, वही रमणीय है ।[3] 'मालतीमाधव' में, भवभूति ने 'रमणीय' शब्द का प्रयोग बार-बार किया है और उसे कदाचित् 'सुन्दर' से कुछ अधिक मोहक व्यंजना मे गर्भित किया है । 'मालती रामणीयक (रमणीयता) की निधि की अधिष्ठात्री देवता है; सौन्दर्य-सार-समुदाय का निकेतन है; उसके रूप-निर्माण की सामग्री चंद्रकला, कमलनाल, ज्योत्स्ना इत्यादि रही है और उसके स्रष्टा कामदेव है ।' रूप-मुग्ध माधव का कथन है—

'सा रामणीयकनिधेरधि देवता वा,
सौन्दर्यसारसमुदायनिकेतनं वा,
तस्याः सखे नियतमिन्दुकलामृणाल–
ज्योत्स्नादि कारणमभून्मदनश्च वेधाः " (१-२४)

यहाँ 'रामणीयक' तथा 'सौन्दर्य', दोनों के एकत्र प्रयोग से 'रमणीय' को अधिक मोहन मानने की कवि-विवक्षा स्पष्ट है । रमणीयता में सरसता एवं मधुरिमा का सविशेष सन्निवेश अभीष्ट है । कलहंस ने स्त्री-संबन्धी कथा को "सरस, रमणीय" बताया है ।[4] मालती की एक सखी ने कुसुममाला को रमणीय कहते हुए उसमें अभिनव विलक्षण पुष्पबाण का धर्म स्थापित किया है ।[5]

साहित्याचार्यों द्वारा भी रमणीय सुन्दर से किंचित अधिक रसपेशल अर्थ

१. डॉ० देवप्रकाश पातंजल शास्त्री 'A critical stuby Gf Rigveda' (1963)— पृष्ठ १९६

२. "रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान् ।" (शाकुंतल)
"किं दिवस एषः, किं निशेयम्, कानि रम्याणि, कान्यरम्याणीति सर्वं नावागच्छम् ।" (कादम्बरी, पूर्व भाग)

३. "दृष्टोऽपि शैलः से मुहुर्मुरारेरपूर्ववद्विस्मयमाततान ।
क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः ।।" (शिशु०, ४।१७)

४. कलहंसः (स्वगत) —
"अनयो. सरसरमणीयानुबन्धिनी स्त्रीकथा ।" (अंक १)

५. "महाभाग, सुश्लिष्ठगुणतया रमणीय एव संनिवेशः । +++
तस्यामाभिनवो विचित्रः कुसुमेषु व्यापारः । तद् भवतु कृतार्थता वैदग्ध्यस्य । फलतु निर्माणरमणीयता ।।" वही

में प्रयुक्त हुआ है । पंडितराज ने काव्य को रमणीय अर्थ का प्रतिपादक कहा है और उसमें 'लोकोत्तर आह्लाद' एवं 'चमत्कार' की स्थिति बताई है ।[1] इस प्रकार, भारतीय काव्यशास्त्र में रमणीय लोकोत्तर आनंद का संवाहक बन गया है । उद्‌भट ने 'काव्यालङ्कार' में अर्थ समूह को "विचारितसुस्थ" एवं "अविचारितरमणीय", दो वर्गों में विभाजित किया है और काव्य को "अविचारित रमणीय" बताया है क्योंकि वह आपातमनोहर होता है ।[2] विश्वनाथ ने अवस्थानिरपेक्ष 'रमणीयता' को ही 'माधुर्य' की आख्या दी है ।[3] अविचारितरमणीय के पोषक भारवि ने रमणीयता में विकृति आने पर भी उसकी शोभा के प्रसारित होने का उल्लेख किया है, अर्थात्, रमणीयता सामान्य सौन्दर्य से कुछ आगे बढ़ी हुई वस्तु है ।[4]

इस प्रकार-हमारी भावयित्री एव भक्षयित्री परम्परा में 'सुन्दर''रमणीय' बन कर, मधुरिमा से मंडित हो गया है और केवल चाक्षुष न रहकर मनोग्राह्य एवं चिरन्तन आकर्षण का वस्तु बन गया है । प्रसाद ने जब सुन्दर तथा रमणीय का समीकरण किया, तब उनके सम्मुख यह समस्त ललित एवं शास्त्रीय परम्परा रही है । एक अन्य उल्लेखनीय तथ्य इस संदर्भ में यह भी है कि सुन्दर अथवा कल्याणप्रद को 'मधु' या 'मधुमय' से जोड़ने की परम्परा भी बहुत पुरानी है । ऋग्वेद में चाहें अग्नि, चाहे पर्जन्य, चाहे सोम, चाहे नदियाँ, सभी के लिए 'मधु' अथवा 'मधुमय' अथवा 'मधुमन्त' शब्द का प्रयोग हुआ है । अग्नि को "मधुजिह्व", नदी को "मधुमन्त", किबंहुना, कशा (चाबुक) को भी "मधु-

---

१. "रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनक ज्ञानगोचरता ।
लोकोत्तरत्वं चाह्लादगतश्चमत्कारत्वापरपर्यायोऽनुभव साक्षिको जाति विशेषः ।" (रसगंगाधर)

२. "सोऽयमित्थंकारमुल्लिख्योपजीव्यमानो निःसीमार्थसार्थः सम्पद्यते । अस्तु नाम निःसीमार्थ सार्थः । किन्तु द्विरूप एवासौ विचारितसुस्थोऽविचारितरमणीयश्च । तयोः पूर्वमाश्रितानि शास्त्राणि तदुत्तरं काव्यानि ।" इत्यौद्‌भटाः । (काव्यमीमांसा, अध्याय ९)

३. "सर्वावस्था विशेषेषु माधुर्यं रमणीयता ।" (सा० द०, ३।९७)

४. "कान्तां कृत पुलकः स्तनांगरागे
वक्षेषु च्युततिलकेषु मौक्तिकामः ।
संपेदे श्रमसलिलोद्‌गमो विभूषां
रम्याणां विकृतरपिश्रियं तनोति ।" (किराता०, ७।५)

मती" विशेषण से भूषित किया गया है ।' कामायनी के प्रायः प्रत्येक संदर्भ में 'मधु', 'मधुर', 'मधुमय' शब्दों का प्राचुर्य उपलब्ध है । उसके मूल में "महाचित्ति की लीलामयता" (जो कवि की दार्शनिक आस्था है) और हमारी साहित्यिक एवं समीक्षात्मक परम्परा (जो कवि का गौरवमय उत्तराधिकार है) और ऐन्द्रिय संवेदनाओं की स्वीकृति (जो कवि के जीवनानुराग का परिणाम है) तीनों का संयुक्त अभिनिवेश माना जाना चाहिए । प्रसाद की छायावादी जीवन-दृष्टि में भी 'माधुर्य' का सविशेष संनिवेश रहा है । 'छवि', 'कान्ति', 'छाया', 'सुषमा' प्रभृति स्त्रीलिंग प्रयोगों की बहुलता की व्याख्या भी इसी प्रकार की जा सकती है ।

'कामायनी' को सौन्दर्यानुभूति मे 'काम' को कवि ने अपरिहार्य महत्त्व दिया है । हमारी अनुभूति का विषय कलात्मक एवं सर्जनात्मक परम्परा में सौन्दर्य तथा काम परस्पर जुड़े हुए हैं । शृगार के देवता कामदेव, इसी कारण, अतिशय रूपवान अभिराम तथा आकर्षक बताये गये है । प्रचीन यूनानी तथा रोमन परम्परा में भी यही स्थिति उपलभ्य है । आधुनिक प्राणिविज्ञान में डारविन जैसे वैज्ञानिकों ने सौन्दर्य में काम-शक्ति को उद्दीपित करने का तथ्य रेखांकित किया है । अतएव, सौन्दर्य का घनिष्ठ संबंध काम की प्रेरणात्मक एवं सृष्ट्यात्मक अभिव्यक्तियों से है । 'कामायनी' में काम (पात्र) ने प्रेमकला (कामकला) को मूलशक्ति बताकर, उससे सृष्टि के विकास का कथन किया है । (सांख्य दर्शन की) "अव्यक्त प्रकृति" के भीतर रति भाव रूप में वर्तमान थी और उसी की प्रेरणा से "अव्यक्त प्रकृति" का व्यक्तीकरण अथवा उन्मीलन हुआ है । काम अपने तथा अपनी पत्नी रति के आविर्भाव का यों कथन करता है

"उस प्रकृति-लता के यौवन में
उस पुष्पवती के माधव का
मधु-हास हुआ था वह पहला,
दो रूप मधुर जो ढाल सका ।" **(काम)**

लता वसन्त में यौवनमयी बन जाती तथा फूलों से लद जाती और मधुर प्रफुल्लता में 'मधुहास, की माया फैलाती है । वैसे ही, प्रकृति भी ('पुरुष' के संसर्ग से) यौवन की उत्फुल्लता में, मधुर हास से भर कर, 'पुष्पवती' हुई है और उससे काम एवं रति के दो "मधुर रूप" ढले हैं । फिर-तो, सृष्टि का जो

---

१. **ऋग्वेद** : १।१३।३, १।४४।६, १।६०।३, १।१२।९, १।२२।३, १।१५४।४ **इत्यादि** ।

क्रम चला है, उसमें कुंकुम का चूर्ण उड़ा है, 'माधुरी छाया' में द्वैत का मिलन हुआ है, सृष्टि अपनी ही माया में मतवाली बन गई है, सरिताओं की भुज-लताएँ शैलों के गले पड़ी हैं, ऋतुपति वसन्त के घर में कुसुमोत्सव मनाया गया है और काम एवं रति का युग्म उस "नवल सर्ग के कानन मे" मृदुलमलय-समीर के संस्पर्श से फूले-फूले हो गये हैं।

वस्तुतः, सृष्टि-विकास के प्रस्तुत वर्णन में सौन्दर्य की ही मादक-मोहक शक्ति का प्रकारान्तर से व्याख्यान हुआ है। यौवन सौन्दर्य का उत्फुल्ल स्वरूप है। उसके सहचारी धर्म हैं आकर्षण, चाह, मधुर हास, अनुराग, मिलने की ललक, मतवाली माधुरी और वसन्त के साथ सहज आत्मीयता। इन समस्त तत्त्वों का गुंफन प्रसाद ने इस संदर्भ में किया है। हमने पहले दिखाया है कि वे 'मधुर' को सौन्दर्य का आवश्यक गुण मानते हैं। यह 'माधुर्य' काम से वैसे ही जुड़ा है जैसे कंचन से उसकी दीप्ति। अतएव, प्रसाद की सौन्दर्य-भावना में सर्जनात्मक काम अथवा 'रति',[1] परोक्षभाव से ही सही अवश्य संश्लिष्ट है और वसन्त के मधुर हास्य से उसे नव-प्राणों का रस मिलता रहता है। 'आनन्द' सर्ग में इस तथ्य की पुष्टियाँ हुई है—

"सिकुड़न कौशेय–वसन की
थी विश्व-सुन्दरी–तन पर;
या मादन मृदुतम कंपन
छायी सम्पूर्ण सृजन पर।"

—वसंत के नवोदय से विश्व-प्रकृति-रूपी सुंदरी के शरीर में मदन-प्रेरित, अत्यन्त सुकुमार कंपन उत्पन्न हो गया है। कालिदास ने वसंत को "शृंगार-दीक्षागुरु" तथा 'मदन का प्रिय मित्र' कहा है।[2] "जीवन-वन के मधुमय वसन्त" की स्मृतियों के उद्रेक में, मनु "लीला" से पूर्ण कौतुक-विनोद, "शिथिल सुरभि" से उत्पन्न बिछलन, "फूलों के अंचल" में खिलने वाली, "सरस हँसी" लतिका के घूँघट से निकलने वाली चितवन की "मधु-धारा" इत्यादि का

---

१. "रतिर्मनोनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम्।" (सा० द०, ३।१७६)
"स्मरकरम्बितान्तःकरणयो स्त्रीपुंसोः परस्परं रिरंसा रतिः स्मृता।"
(सुधासागर)

२. "चूतामोदसुगन्धिमन्दपवनः शृंगारदीक्षागुरुः।
कल्पान्तं मदनप्रियो दिशतु वः पुष्पागमो मङ्गलम्।"
('ऋतुसंहार', ६ ३६)

वदनापूर्ण कथन करते हैं[१] और जिजीविषा के उद्रेक में स्पर्श, रूप, रस, गंध तथा ध्वनि के 'पीने' की स्वीकारोक्ति करते हैं।[२] यह प्रतिक्रिया सौन्दर्य के कोमल कौशल' के अनुभव से जाग्रत हुई है।

"इन्द्रियाणि प्रमाथीन हरन्ति प्रसभं मनः" में [illegible] गले स्वभाव से युक्त तथा मन को बलात् हरने वाली बताई गई हैं। कामदेव को 'मन्मथ' संज्ञा भी इसी कारण मिली है। अतएव, 'कामायनी' की सौन्दर्य-भावना में काम-तत्त्व का, उसके रचनात्मक उल्लासमूलक स्वरूप का, संश्लेष वर्तमान है।

इस संदर्भ मे यह कह देना भी आवश्यक प्रतीत होता है कि 'रमणीय' और सौन्दर्य' में प्रसाद ने कोई तात्त्विक अथवा वस्तुगत भेद नही किया है। यह समझना सही नही है कि पहले मे मूलशक्ति की तथा दूसरे मे काम की मादकता की अन्विति है और यह कि रमणीयता अनन्त, अनिर्वचनीय एव अंतर्मुखी है जबकि सौन्दर्य कृतिमय, सर्ववचनीय एवं चेतनाग्राह्य है।[३] 'आशा' सर्ग मे जिस गुहा में मनु ने अपना निवास बनाया है, वह 'रमणीय' है जो कृतिमय, सर्ववचनीय तथा चेतनाग्राह्य ही है।[४] जिस चाँदनी रात मे मनु के भीतर मधुर भूख के समान अनादि वासना जगी है, वह दृश्य भी 'रमणीय' है[५] जो अनिर्वाच्य नही कहा जा सकता। वासना-दीप्त मनु को श्रद्धा की नारी-मूर्ति 'रम्य' दिखाई पड़ रही है।[६] इतना ही नही, लज्जा नवयुवती श्रद्धा को मानसिक बिछलन से सावधान करती हुई, सौन्दर्य की मूल सत्ता तथा रमणीय को नयन-ग्राह्य 'रूप' बताती है।[७] इड़ा ने भी मनु को बुद्धिवाद का उपदेश देते हुए व्यक्त प्रकृति को 'परम रमणीय' बताया है।[८] यहाँ भी

१. देखिये, 'काम' सर्ग के आरंभिक छन्द ।
२. "पीता हूँ, हाँ, मैं पीता हूँ
यह स्पर्श-रूप-रस-गंध-भरा
मधु-लहरों के टकराने से
ध्वनि में है क्या गुंजार भरा ?" (काम)
३. 'कामायनी की मनस्सौन्दर्यसामाजिक भूमिका', पृष्ठ ४८-४९, ५९.
४. "विस्तृत गुहा वहाँ रमणीय ।" (आशा)
५. "खुली उसी रमणीय दृश्य में अलस चेतना की आँखें ।" (आशा)
६. "दृढ़ सकल सुकुमारता में रम्य नारी मूर्ति ।" (वासना)
७. 'आँखों के साँचे में आकर रमणीय रूप बन ढलता-सा ।" (लज्जा)
८. "यह प्रकृति परम रमणीय अखिल ऐश्वर्य-भरी शोधक-विहीन ।" (इड़ा)

रमणीय, अनिर्वचनीय तथा अंतर्मुखी न होकर, वस्तुनिष्ठ एवं चेतनाग्राह्य है। इन्हीं उदाहरणों से सौन्दर्य की मूलभूत 'मादकता' की स्थापना का प्रत्याख्यान हो जाता है। अपनी बात को अधिक स्पष्ट करने के लिए चाहूँगा कि सौन्दर्य अथवा रमणीयत्व में स्थिति भेद से मादकता अथवा माधुर्य रहता भी है, नहीं भी रहता है, दोनो मूलशक्ति की एक ही विभूति हैं और दोनों-ही युगपत् कृतिमय एवं अतीन्द्रिय तथा मनोग्राह्य है क्योकि दोनो में प्रसाद ने कोई भेद नही किया है। "सौन्दर्यमयी चंचल कृतियाँ", "सुन्दरता का परदा" इत्यादि का कथन कर, रहस्यानुभूति के क्षणों में मनु ने "मेरी अक्षय निधि" की खोज का जो कथन किया है, उससे यह निष्कर्ष निकालना युक्तिसंगत नही है कि 'रमणीय' में मूलशक्ति की ही अन्विति है। उलटे,मूलशक्ति को तो कवि ने 'काम-कला' ('प्रेम-कला') बताया है।[1] अतएव, यदि रमणीय मूलशक्ति है, तो उसी मे काम की अन्विति है। तब, उसे सौन्दर्य से श्रेष्ठ, उससे 'सुपीरियर' सत्ता क्योंकर कहा जा सकता है ? 'कामायनी' के अंतिम छन्द में सौन्दर्य को, रमणीय की तुलना में, कृतिमय एवं चेतनाग्राह्य समझने की धारणा का निर्भ्रान्त अपलाप मिलता है, यथा—

"समरस थे जड़ या चेतन,
सुन्दर साकार बना था,
चेतनता एक विलसती,
आनंद अखंड घना था।" (आनंद)

यहाँ मूलशक्ति को ही 'सुन्दर' बताया गया है और वही रूपयुक्त होकर तथा अपनी 'चेतनता' को जंगम-स्थावर सृष्टि में समभाव मे प्रतिबिम्बित कर, अखण्ड आनन्द का प्रसार किये हुई है। अतएव, कवि की कल्पना एवं विचारणा में 'रमणीय' तथा 'सुन्दर' (सौन्दर्य) में कोई भेद नही। अस्तु।

सौन्दर्य का, जिसे मूलतः चेतन एवं आनंदधर्मी बताया गया है, अंतिम महत्त्वपूर्ण गुण है 'लयमयता' ('रिद्म')। यह लयमयता विश्व के मूल में सन्निहित अद्वैत अथवा अभेद भाव का परिणाम है। "अनन्त चेतन" उन्मद गति से निरंतर नाचता रहता है। इड़ा ने मनु को परामर्श दिया है कि वह विश्व की तात्त्विक लय में लय मिला कर चलें जिससे उसका कोलाहलपूर्ण किन्तु शान्तिमय संगीत[2] विघ्नित न होने पाये।

---

१ **"यह लीला जिसकी विकस चली,**
वह मूल शक्ति थी प्रेम-कला।" (काम)

२. **"इसके स्तर-स्तर में मौन शान्ति,**
शीतल अगाध है, ताप-भ्रान्ति;

"ताल-ताल पर चलो, नहीं लय छूटे जिसमें,
तुम न विवादी स्वर छेड़ो अनजाने इसमें ।" (संघर्ष)

उल्लास, आलोक, सजीवता, माधुर्य एवं लयमयता के जिन तत्त्वों की खोज अभी की गई है, उन्हें कवि की 'जीवनानुरक्ति' से भी अनुमोदन प्राप्त है—यह भिन्न बात है कि उसने इड़ा की 'जीवन अन्धानुरक्ति" की आलोचना की है। कवि 'आलोक' को प्यार करता है, अतएव, उसमें 'अन्धभाव' की स्वीकृति हो ही नहीं सकती। काव्य के अन्तिम चरणों में उसने जो इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया के समन्वय की अनुशसा की है, वह इसी कारण कि समंजस विधान से विश्व-जीवन में वह 'लयमयता' आविर्भूत हो सकेगी जिसे वेदो में "ऋत" शब्द से व्यंजित किया गया है। यह लयात्मकता ही सौन्दर्य का प्राणभूत धर्म है जिसमें अन्य सभी तत्त्वो का पर्यवसान होता है। 'कामायनी' मे व्यंजित सौन्दर्य, अपनी चरम परिणति मे 'लयमय' है, पार्थिव एव अपार्थिव दोनों आयामों में एकतान तथा लयपूर्ण है श्रद्धा "हृदय-सत्ता का सुन्दर सत्य' खोजने के लिए ही गान्धर्व-लोक से इस वसुधा पर उतरी है। हृदय मे उत्पन्न होने वाली भाव-राजि सत्य है और वही सुन्दर है। 'चेतना का इतिहास' सुन्दर तभी बनता है जब उसमे 'मानव-भावो के सत्य' की प्रतिष्ठा होती है।[1] यहाँ प्रसाद ने आंग्लकवि कीट्स की भाँति, सौन्दर्य एवं सत्य का समीकरण कियाहै।[2] इस अभीष्ट समीकरण में सौन्दर्य की लयमयता ही योग देती है।

'कामायनी' की सौन्दर्य-भावना अतएव, संश्लिष्ट एवं संकुल है जिसमें शरीर तथा आत्मा, व्यक्ति तथा विश्व, मासल परितृप्ति तथा मानसिक औदात्त्य का अभिराम संयोग सम्पन्न हुआ है।

ख. प्रकृति का सौन्दर्य

"अनंत रमणीय" की रमणीयता ही प्रकृति और मनुष्य मे प्रतिबिम्बित

\+ \+ \+

हँसता है इसमें कोलाहल,
उल्लासभरा-सा अन्तस्थल ।" (दर्शन)

१. "चेतना का सुन्दर इतिहास—
अखिल-मानव-भावों का सत्य ।
विश्व के हृदय-पटल पर दिव्य
अक्षरों से अंकित हो नित्य ।" (श्रद्धा)

2. "Beauty is truth, truth beauty—that is all ye Know on earth, and all ye need to know." =Keats.

हुई है । सौन्दर्य के चेतनता, सजीवता, उत्फुल्लता, आलोकमयता इत्यादि समस्त गुण किसी-न-किसी प्रकार प्राकृतिक एवं मानुषीय रूपों में उपलभ्य हैं । 'कामायनी' की सौन्दर्य-भावना की विशेषता यही है कि दार्शनिक, साहित्यिक तथा मनोरागों के संश्लिष्ट आधार पर सौन्दर्य का जो प्रतिपादन हुआ है, उसी की 'मधु-किरणें' उन समस्त रूपों, आकारों तथा पदार्थों में चमकती दिखाई पड़ती हैं जिनमें सौन्दर्य की दृश्यमान सत्ता वर्तमान है ।

प्रकृति के व्यापक राज्य में उसके कठोर एवं भयंकर स्वरूपों के प्रति कवि का कोई आकर्षण नहीं दीखता, शायद 'मधुमय विश्व' की कल्पना करने वाले कवि के लिये यह रुचिकर नहीं । 'चिन्ता' सर्ग में जल-विप्लव का तथा 'संघर्ष' सर्ग में जन-विप्लव का जो चित्रण हुआ है, वह कवि के नियोजित कथ्य की विवशता है, उसकी प्रवृत्तिगत पसन्द नही । आलोच्य कृति में, इसी कारण, प्रकृति के सुखद, हृदयावर्जक रूपों का ही वर्णन हुआ है। 'मधुर' से कवि की चित्तवृत्ति को काट देना प्रायः असम्भव है जिसमें वह वैदिक ऋषियों की परम्परा से जुड़ा हुआ है । प्रकृति के भौमिक, कालिक तथा जलीय रूपों में 'कामायनी' के रचयिता का विशेष लगाव पहले दो रूपों से ही दिखाई पड़ता है ।

भौमिक रूपों में हिमालय का वर्णन 'आशा', 'रहस्य' तथा 'आनन्द' सर्गों में उपलब्ध है । 'आशा' सर्ग वाले वर्णन की प्रकृति कालिदास के 'कुमारसम्भव' वाले वर्णन से मिलती है । कालिदास ने प्रारंभ की दो पंक्तियों में नगाधिराज हिमालय का भव्य, विस्मयकारी चित्र प्रस्तुत करने की प्रतिज्ञा जैसी की[1], लेकिन उनकी पौराणिक तथा प्रमोदमयी आस्था इसमें बाधक बनी और वे कतिपय यथार्थ-मूलक तथ्यों के साथ सिद्धों, किन्नरों, किन्नरियों तथा उनके रमण-प्रसंगों का वर्णन कर सन्तुष्ट हो गये । प्रसाद केवल एक भव्यता-व्यंजक वाक्यांश, "विश्व-कल्पना-सा ऊँचा वह", लिख कर ही छुट्टी पा लेते हैं । "डूबती अचला का अवलम्बन" कहने के साथ-ही, हिमालय का "मणि-रत्न-निधान" तथा "सुख-शीतल-सन्तोष-निदान" वाला स्वरूप उन्हें आकर्षित कर लेता है । कालिदास के "पूर्वापरौ तोयनिधीवगाह्य" की छाया 'डूबती-सी अचला का अवलम्बन' में तथा "पृथिव्या इव मानदण्डः" की छाया 'विश्व-कल्पना-सा ऊँचा' में झलकती भासित होती है। 'मणिरत्न-निधान' तो "अनन्त-रत्न-प्रभवस्य" का अनुवाद ही है । उसके बाद तो कवि हिमालय के शोभनतम

---

१. "अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः ।
पूर्वापरौ तोयनिधीवगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः ।।"
('कुमार०', १।१)

शरीर से आकृष्ट हो गया है—"अचल हिमालय का शोभनतम लता-कलित शुचि सानु-शरीर ।"

शोभन शरीर वाला हिमालय कवि की दृष्टि में मानों निद्रा में सुखमय स्वप्न देखता है जिससे वह अधीर बनता है और उसके शरीर में रोमांच हो जाता है। 'सुख-स्वप्न' तथा 'पुलकित' में काम अथवा शृंगार की व्यंजना स्पष्ट है—यद्यपि इसमें रहस्यवादी ध्वनि भी सुनाई पड़ती है। शीतल झरनों की धाराएँ जीवन की अनुभूति बिखरा रही हैं—ऐसा जान पड़ता है मानों उस असीम नीले नभ में किसी की मृदु मुस्कान देख कर हिमालय भी प्रत्युत्तर में हँस पड़ा है और वह हँसी कल-कल गान करती हुई शतशः धाराओं में फूट चली है। हम यह दुहरा देना चाहेंगे कि हिमालय का भव्य, विराट् स्वरूप हमारे कवि को आकर्षित नही करता, अपितु उसका शोभनतम, सर्वाधिक सुन्दर, लता-कलित स्वरूप ही अपनी ओर उसे खीचता है। यह अवश्य है कि वह स्वरूप 'शुचि', पवित्र है तथा उसके चरणों में 'नीरवता की विमल विभूति' छायी हुई है। यह इस कारण है कि प्रसाद सौन्दर्य में पवित्रता एवं शान्तिमयता को आवश्यक मानते है। श्वेत हिम का किरीट पहने, हिमालय की गगनचुम्बिनी शैल-श्रेणियाँ सान्ध्य मेघों की रंग-बिरंगी मनोहर छीटें ओढ़े हुई हैं। कवि की व्यंजना है कि ये मेघ चोटियों के उपर नही, मध्य भाग तक ही पहुँच पाये हैं और अस्तंगत सूर्य की अनेक रंगों वाली रश्मियाँ इन्हें नाना रंगों से रंजित छीटों की छवि प्रदान कर रही है।[1] इन 'श्रेणियों' में निहित, सजी-धजी तथा शुभ्र-मुकुट-धारिणी राजमहिषियों की व्यंजना स्पष्ट है। 'गगन-चुम्बिनी' मे चुम्बन की व्यंजना भी वैसी ही है। साथ-ही, ये ये शिखर अपनी मौनता में गौरवान्वित हो, जैसे मौन विश्व के प्रतिनिधि-रूप मे एकत्र होकर कोई मौन सभा कर रहे हैं। कवि हमारे संसदीय अधिवेशनों से संकेत लेता प्रतीत हो रहा है। निस्सीम व्योम की अनन्त नीलिमा में जड़ता वाली शान्ति को मानों हिमालय की यह 'सुन्दर उठान' पृथिवी का सुख, हास्य एवं उल्लास दिखा रही है—"मानों तुंग तरंग विश्व की हिमगिरि का वह सुढर उठान ।"

ऊपर के चित्र में, हिमालय का गगनचुम्बी मौन गौरव 'शोभनतम' तथा 'सुढर उठान' (सुन्दर चोटी) के दो विन्दुओं के मध्य घेर दिया गया है और

---

१. मिलाइये—

"आमेखलं संवरतां घनानां छायामधः सानुगतां निषेव्य ।"

(कु० सं०, १।५)

बीच-बीच में मुसकान, हँसी, उल्लास तथा रंग-विरंगी छींटों से उसके स्वरूप का परिभाषण किया गया है। कवि वास्तव में सौंदर्य की विराटता से नहीं, उसके उल्लासमय माधुर्य से प्रभावित है। उसकी जीवन-योजना में अन्ततोगत्वा, हिमवती पाषाणी प्रकृति को तो 'माँसल' बनना है, 'लास्य-रास में विह्वल' होना है। इसी कारण, वह उत्तुग हिमालय को कभी एकान्त विस्मय उत्पन्न करने वाले गौरव से मण्डित नहीं कर सका है। शायद, सौन्दर्य में ऐसे कठोर गौरव का संश्लेष उसे प्रिय नहीं।

'रहस्य' सर्ग के प्रारम्भ में, मनु तथा श्रद्धा की हिमालय की चढ़ाई के संदर्भ में हिमालय का वर्णन किया गया है। पहला छन्द ढलते सूर्य के साथ घिरने वाले 'नील तमस' में उन्नत गरिमा के अभिमान से युक्त गिरिराज का एक छोटा-सा प्रभविष्णु चित्र अंकित करता है—"देख रहा वह गिरि अभिमानी।"

तदनन्तर, पर्वत की सतत बढ़ती ऊँचाई, अम्बर छू लेने की उसकी मचलाहट, उसके अंगों (ढालों) को क्षत-विक्षत करने वाले भीषण गड्ढे तथा भयंकर खाइयाँ सूर्य की सांध्य किरणों के पड़ने से हिमखण्डों का अनेक चन्द्रमा-रूप बन जाना, पवन का तीव्रगति से चक्कर काटकर फिर वहीं लौट आना, निम्नस्थ प्रदेश में जलधरों का दौड़ना, शत-शत शीतल झरनों का बहना, समतलीय प्रान्त में हरियाली का उभरना तथा बड़ी-बड़ी नदियों का द्रुतगति से भागना—इन सभी तथ्यों का सूक्ष्म निरीक्षण से युक्त एवं भौगोलिक ज्ञान-सम्मत सुन्दर वर्णन हुआ है। इस वर्णन में रोमानी रंगीनी का प्रायः अभाव है। इन्द्रधनुषों से अलंकृत तथा बिजली की कौंध से युक्त बादलों के लिए रंगीन मालाएँ तथा चमकते आभूषण पहने हुए इठलाते हाथी के शावकों का उपमान और प्रवहमान निर्झरों के लिए गजराज ऐरावत के मस्तक से स्रवित-क्षरित होने वाली मद-धाराओं का उपमान उपयुक्त एवं प्राञ्जल हैं। पर्वत तथा शिखर के लिए गज का उपमान वाल्मीकि से आते हुए कालिदास द्वारा अंगीकृत होकर प्रसिद्ध बन गया है।[1] 'उत्तरमेघ' में, विरही यक्ष ने मेघ को यह उपदेश दिया है कि यदि तुम्हें मेरे भवन में झटके से पैठना हो, तो तुम हाथी के बच्चे-जैसे छोटा बनकर घर के अन्दर निर्मित क्रीड़ा-शैल की रमणीय चोटी पर जा बैठना और अपनी बिजली की आखें चमका कर घर के भीतर झाँकना।[2]

---

१. "आषाढस्य प्रथम दिवसे मेघमाश्लिष्टसानुं।
वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयं ददर्श॥" (पूर्वमेघ, २)

२. "गत्वा सद्यः कलभतनुतां शीघ्रसपातहेतोः
क्रीडाशैले प्रथमकथिते रम्यसानौ निषण्णः।

प्रसाद के "कुंजर कलभ सदृश इठलाते, चमकाते चपला के गहने" में कालिदास की छाया साफ दिखाई पड़ती है ।

समतलीय प्रान्तों में उभरी हरीतिमा तथा उसके मध्य तेजी से बहने वाले नदों का अभिराम चित्र हमारे कवि ने यों अंकित किया है--"उगी हुई हरियाली से युक्त समतल भूमि चित्रपटी की भाँति शोभनी थी और उसके बीच द्रुतगति से बहने वाली बड़ी-बड़ी नदियाँ ऐसी जान पड़ती थी जैसे उस चित्र-फलक पर चित्र-रचना के निमित्त अंकित स्थिर रेखाएँ हों ।"[1] ऊँचाई से देखने पर तेज दौड़ने वाली नदियाँ भी स्थिर दिखाई देगी । कवि का निरीक्षण सूक्ष्म तथा प्रसन्न है । 'ऊर्ध्व देश' में चढ जाने पर वसुधा की सभी वस्तुएँ अत्यन्त छोटी दिखाई देती है और ऊपर फिर भी, 'महाशून्य का घेरा' तना है—इस कथन के साथ 'रहस्य' सर्ग का वर्तमान संदर्भ समाप्त हो जाता है । जैसा अभी कहा है, यह वर्णन मादक सकेतों से मुक्त है । कल्पना का लालित्य अवश्य वर्तमान है, किन्तु यह इसलिए कि कवि संपूर्ण दृश्य की प्राञ्जल भावना करना चाहता है । वस्तुतः, हमारा कवि अनुभव की उस ऊँचाई तक नहीं पहुँच सका है जहाँ अलंकृत कल्पनाओं का आकर्षण छोड़कर, वह सीधी सादी, भाव-गर्भित पदावली के द्वारा प्रकृति-रूपों का प्रभावशाली चित्र अंकित कर सके । उसकी साहित्यिक परम्परा तथा जीवन-दृष्टि भी इसके उपयुक्त नहीं ।

'आनन्द' सर्ग मे, कवि ने पुनः "विराट धवल नग" को अपनी महिमा से 'विलसित' बताया है । लेकिन, आप 'विराट' की विराटता की व्यजना की अपेक्षा न करें, इसके निमित्त यह ईमानदारी के साथ विलसित' पद का प्रयोग करता है—

"सामने विराट धवल नग
अपनी महिमा से विलसित ।"

'विलसित' में विलास अथवा लास्य का भाव अन्तर्हित है । यदि कवि का अभीष्ट नगाधिराज की विराट महिमा की व्यजना होता, तो निश्चय-ही वह 'विलसित'–जैसे स्निग्ध-सुकुमार पद का प्रयोग नहीं करता । इसके 'कण्ट्रास्ट'

अर्हस्यन्तर्भवनपतितां कर्तुमल्पाल्पभासं
खद्योतालीविलसितनिभां विद्युदुन्मेषदृष्टिम् ।।" (उ० मे०, २१)

१. "हरियाली जिनकी उभरी, वे
समतल चित्रपटी–से लगते;
प्रतिकृतियों के बाह्य रेख–से
स्थिर, नद जो प्रतिपल थे भगते ।" (रहस्य)

में दिनकर की निम्न प्रसिद्ध पंक्तियाँ ली जा सकती हैं—

"मेरे नगपति ! मेरे विशाल !
साकार दिव्य गौरव विराट ! पौरुष के पुंजीभूत ज्वाल !
× × ×
निस्सीम व्योम में तान रहा युग से किस महिमा का वितान ?"

इस अवतरण में भी 'विराट' तथा 'महिमा' शब्दों का प्रयोग हुआ है, लेकिन 'विलसित' की सुकुमारता से चित्र अखिल नहीं होने पाया है। 'कामायनी' के प्रस्तुत संदर्भ में, विराट हिमालय की महिमा को उसकी मनोहर तलहटी, सुन्दर गुहा-गृह, मंजरियों के कानन, हीरे की द्युति वाले मानसरोवर, तारों के फूलों से गुँथी हुई, संध्या तथा किन्नरियों की प्रतिध्वनियों के रूप में व्याख्यायित किया गया है। मै इन चित्रों की अवमानना नहीं करता। मेरा प्रयोजन केवल इतना दिखाना है कि 'कामायनी' का कवि वैसे 'विराट' की कल्पना नहीं कर सकता जो नयनाभिराम एवं हृदयावर्जक न हो। वर्तमान संदर्भ में अंकित एक चित्र अत्यन्त मनोहर है। मानसरोवर का यह चित्र देखिए —

"यात्री-दल ने रुक देखा
मानस का दृश्य निराला;
खग-मृग को अति सुखदायक
छोटा-सा जगत उजाला।
मरकत की वेदी पर ज्यों
रक्खा हीरे का पानी;
छोटा-सा मुकुर प्रकृति का
या सोयी राका-रानी।"

जल-खंड का यह एक मात्र चित्र अपनी मधुरता, प्रसन्नता, प्राञ्जलता, शुभ्रता एवं पवित्रता में अनुपम है। मानसरोवर प्राणियों के लिए सुखदायक होते हुए, अपने में एक छोटा-सा 'प्रकाशमान् संसार' है—इतना-ही कथन पर्याप्त था, इस जल-खंड की शुभ्रता-पावनता की—व्यंजना के लिए। किन्तु, मानसरोवर का सम्यक् सौन्दर्य इससे परिस्फुटित नहीं होता। अतएव, कवि उत्प्रेक्षा करता है कि मानसरोवर का निर्मल जल ऐसा शोभित हो रहा था जैसा मरकत की वेदिका पर हीरे का पानी रखा गया हो। चित्र में कोरी कल्पना का लालित्य नही, प्रत्युत यथार्थ का दर्शन है। सरोवर के पेंदे में हरी घास उगी हुई है और उसके ऊपर निर्मल जल-राशि फैली है। इस यथार्थ के बोध के हेतु हरे रंग के मरकतमणि की वेदिका तथा श्वेत रंग के हीरे का उपमान आवश्यक था। किन्तु, जल-राशि की निर्मलता को प्रत्यक्ष बनाने के लिए शायद यह

उत्प्रेक्षा पूर्णतः सफल न होती । इसलिए, कवि सरोवर को प्रकृति-सुन्दरी का दर्पण बताता है जिसमें वह अपना रम्यानन निहारा करती है । पुनः, दर्पण में केवल स्वच्छता होती है जबकि इस जल-खण्ड की ज्योति शुभ्रता के साथ चमकीली सुषमा भी धारण किये है । इसी कारण, शायद, कवि तीसरी उत्प्रेक्षा करता है—'मानों वहाँ पूर्ण ज्योतिष्मती पूर्णिमा-रानी सो रही हो।' 'सोयी' में जलराशि की निश्चलता की व्यंजना अभीष्ट है ।

हमें तो 'कामायनी' के समस्त प्रकृति-चित्रों में मानसरोवर का प्रस्तुत चित्र सर्वश्रेष्ठ प्रतीत होता है । कारण यहाँ कला की मितव्ययिता है, वास्तविकता का प्रसन्न-प्राञ्जल चित्रण है, कल्पना-लालित्य अथवा वाणी-वैदग्ध्य का विलास नही है, दृष्टि की स्वच्छता एवं विमलता साफ-साफ अनुभूयमान है और प्रकृति-गत सौन्दर्य के एक टुकड़े को बड़ी मोहकता से मूर्तिमान किया गया है ।

अब कालिक स्वरूपों के सौन्दर्य-चित्रण पर दृष्टिपात आवश्यक है ।

प्रभात :—जैसा मैंने अन्य प्रकरण में दिखाया है, कवि की कान्त कल्पना रजनी तथा चन्द्रिका-चर्चित रजनी से जितनी आकृष्ट होती है, उतनी अन्य किसी कालिक रूप से नही । उसकी माधुर्य-कामी जिजीविषा, ज्योत्स्ना के 'मधुर रहस्य' मे उलझ कर ही संतृप्ति लाभ करती है ।[1] तथापि, प्रभात एवं प्रत्यूष के सौन्दर्य ने भी कवि को लुभाया है । जलविप्लव के सर्वनाश के अनन्तर समस्त प्रकृति का विवर्ण मुख जब पहले-पहल हँसने लगता है, तब वह कालविन्दु प्रत्यूष होता है । प्रलय की कालरात्रि के पराजय के संदर्भ में 'जय-लक्ष्मी' की भाँति उषा का उदय लेना आवश्यक था । "हिम-संसृति" के ऊपर "नव कोमल आलोक" के बिखराव के अभाव में नये जीवन का समारम्भ नहीं हो सकता था । कवि की सौन्दर्य-संवित् में प्राणों का स्पन्दन सौवर्ण कान्ति से होता है । इसलिए, उषा सुनहले तीर बरसाने लगी है—

"उषा सुनहले तीर बरसती
जय-लक्ष्मी-सी उदित हुई ।" (आशा)

हिमालय की बर्फीली परतों के ऊपर क्रमशः बिखरने वाले आलोक की भावना को प्राञ्जल बनाने के निमित्त, श्वेत सरोज पर क्रीड़ा करने वाले 'मधुमय पिंग पराग' की योजना कवि की सौन्दर्यानुभूति की प्रकृति की मौलिक सुकुमारता को उद्भासित करती है—

"मित सरोज पर क्रीड़ा करता
जैसे मधुमय पिंग पराग ।" (आशा)

---

१. "एक अतीन्द्रिय स्वप्न-लोक का, मधुर रहस्य उलझता था।" (आशा)

प्रत्यूष के आलोक का सूक्ष्म अन्वीक्षण तो श्लाघ्य है ही, उस आलोक की सुकुमारता एवं मधुमयता का उल्लेख कवि की माधुर्य-भूख को व्यंजित करता है। 'कोमल-आलोक' में कवि हमारी स्पर्शेन्द्रिय तथा चक्षुरिन्द्रिय से आगे बढ़कर, मन के सूक्ष्म तन्तुओं को भी सहलाने की चेष्टा की है। साथ-ही यह आलोक फैलता नही, 'बिखरता' है। ऐसा प्रतीत होता है, जसे प्राची के गर्भ से प्रकाश के छोटे-छोटे कण अथवा टुकड़े टूट-टूट कर क्षितिज पर छितरा रहे हैं कवि की सौन्दर्य-दृष्टि कितनी सूक्ष्म है !

जिस 'विराट' की सत्ता का प्रकाश यह जगत् है, वह 'नया रंग' प्रकृति-प्राची के चित्रपट पर भरने के लिए सुवर्ण का ही घोल तैयार करता है---"वह विराट् था हेम घोलता नया रंग भरने को आज।"

इड़ा जिस प्रत्यूष में प्रकट होती है--उसमें खिलने वाला 'कमल' (बाल-रवि) भी सुनहले पराग से भरा है। उषा का अंचल ज्योति-रश्मियों से बुना हुआ है। जिसमें मधुर पवन नव मकरन्द को चारों तरफ बाँटने के लिए 'आन्दोलन' मचाने लगा है। प्राची में फैला राग 'मधुर' है, जिसकी विभा सुनहली है। प्रभात का पवन भी 'मधुर' है। इस 'रम्य फलक' को इड़ा के प्रकटीकरण के साथ जोड़ दिया गया है। प्रकृति की रमणीयता इस प्रत्यूष में जीवन-रस की खोज का निमंत्रण देती है। इस संदर्भ में, प्रसाद ने मानव-व्यापार में प्रकृति के सोल्लास दिलचस्पी लेने का एक सर्वथा नवीन एवं मौलिक चित्र अंकित किया है---

"हँस पड़ा गगन वह शून्य लोक
जिसके भीतर बस कर उजड़े कितने ही जीवन-मरण-शोक
कितने हृदयों के मधुर मिलन क्रंदन करते बन विरह कोक।
ले लिया भार अपने सिर पर मनु ने अपना यह विषम आज।
हँस पड़ी उषा प्राची नभ में, देखो नर अपना राज्य-काज;
चल पड़ी देखने वह कौतुक चंचल मलयाचल की बाला;
लख लाली प्रकृति-कपोलों में गिरता तारा-दल मतवाला;
उन्निद्र कमल-कानन में होती थी मधुपों की नोंक-झोंक।
वसुधा विस्मृत थी सकल शोक।"

इड़ा ने मनु को उद्‌बोधन दिया कि वह बुद्धि का अवलम्ब लेकर कर्म करें जिससे अखिल लोक मे उनकी कीर्ति फैल जाय। इस प्रेरणादायक वाणी को सुनकर गगन का शून्य लोक हँस पड़ता है जिसकी छाया में जीवन, मृत्यु एवं विषाद के अनेक काण्ड घटित हो चुके हैं। गगन ने यह सब कृत्य देखा है। आज उसे प्रसन्नता हो रही है कि मनु नयी सृष्टि बसाने का विषम दायित्व

स्वीकार कर रहे हैं । पूर्वीय क्षितिज पर उषा भी हँसने लगी है कि अब मनुष्य अपना राज-काज स्वयं चलायेगा । वह विलक्षण कौतुक देखने के लिए मलय-पर्वत की पुत्री मलय-वायु भी मानो अपने गुहा-गृह से बाहर निकल पड़ती है । प्रत्यूष की रक्तिमा ने प्रकृति सुन्दरी के स्निग्ध कपोलो को लाल बना दिया है । इसे अनूठी कान्तिमयी शोभा को देखकर तारो का दल मतवाला हो-होकर दुर्बल (स्त्रैण) भाव से नीचे गिरता जा रहा है । कमलों ने अपनी निद्रा तोड़ दी है और उनके कोशो मे भ्रमरों की नोक-झोंक मच गई है । समस्त वसुन्धरा इस आनन्द के उच्छल प्रवाह मे अपना शोक-विषाद भूल गई है ।

सीधी अभिधा की भाषा मे, उषाकाल की लालिमा आकाश मे व्याप्त हो गई है, मलयानिल बहने लगा है; तारे छिपने लगे है, कमल-कोश खुल गये है; उनका मकरन्द पीने के लिए भ्रमरो के झुड टूट पड है और पृथिवी पर मनोरम प्रकाश फैल गया है । किन्तु, कवि ने अनुपम उपचार-वक्रता से, लाक्षणिक पदावली का विनियोग कर, गगन, उषा, मलयानिल, तारो तथा निखिल प्रकृति का अभिराम मानवीकरण किया है । ऐसा लगता है कि ऊपर के छन्द मे इड़ा ने प्रकृति के 'रमणीय ऐश्वर्य' के अन्वेषण की जो बात कही है, उसी से संकेत ग्रहण कर प्रकृति-सुन्दरी ने अपनी संपूर्ण छवि-सम्पदा तत्काल खोल दी है । उसे गहरी प्रसन्नता है कि मनु अब कर्म-मार्ग पर अग्रसर होंगे तथा विश्व-जीवन को सुखी एव समृद्ध बनायेंगे । सौन्दर्य प्रेरणा देता है, जड़ को भी स्फूर्त बनाता है । उषाकाल का यह सौन्दर्य-संभार जीवन के एक नवीन चरण का उन्मेष करेगा । गगन का हँसना, उषा का हँसना मलय-बाला का वह कौतुक देखने अन्तरंग कक्ष से बाहर निकल आना, प्रकृति सुन्दरी के लोहित कपोलो की शोभा पर तारों का न्योछावर हो जाना--यह समस्त सुखद घटना मनु के गिरे, पंगु मनोबल को जैसे एक ऊर्ध्व-वाहिनी प्रेरणा प्रदान कर रही है । हँसना, कौतुक, कपोलो की लाली, मधु-पान की नोक-झोक--ये सभी तत्त्व जीवन-रस के उपभोग के संकेत हैं । नित्य-यौवना उषा मनु को आश्वस्त कर रही है : "मै प्रकृति के ऐश्वर्य की खोज मे तुम्हारे साथ हूँ, मलय-तनया भी तुम्हारे साथ है; मतवाले तारे भी तुम्हारे साथ है; मधुर्पान के लिए नोक-झोक मचाने वाले मधुप भी तुम्हारी इस नयी साधना में हाथ बँटाने के लिए तैयार है ।" यह वही उषा है जो पहले मनु को अरुण-मदिरा से भरा प्याला लाकर देती थी ।[1] अब, वह नवीन 'रोल' में हमारे सम्मुख उपस्थित हुई है । उषा का ऐसा सजीव ललित

---

१. "उषा अरुण प्याला भर लाती
सुरभित छाया के नीचे ।" (निर्वेद)

चित्र छायावादी कला की उत्कृष्ट उपलब्धि है ।

संध्या :--कतिपय स्थलों पर 'कामायनी' में संध्या-सौन्दर्य का अंकन किया गया है । 'आशा' सर्ग में, उसे सुनहली साड़ी पहने तथा तारा-दीप लेकर सिन्धु-तट आई चित्रित किया गया है । 'निर्वेद' में, मनु संध्या की सुन्दर घुँघराली अलकों के स्मरण से व्यथित हो रहे है जो केवल सुख-ही बिखराती रही है ।[1] एक अन्य प्रसंग में, संध्या को "गैरिक-वसना" (पीले रंग का गेरुआ वस्त्र धारण करने वाली) बताया गया है ।[2] सुनहली साड़ी तथा गैरिक वसन में अस्तोन्मुख सूर्य की रक्तिम आभा के प्रसार की व्यंजना है और घुँघराली अलकों में श्यामल जलद-खडो के पश्चिमी क्षितिज पर घिर आने का बिम्ब है । सन्ध्या-सुन्दरी सजधज कर सागर-तट पर क्यों आ गई है, इसका समाधान अनुमान-सापेक्ष ही है । 'तारा-दीप' साथ लाने में तो सागर-तट पर अनुष्ठित किसी पूजन-कृत्य का ही संकेत है । क्या यह लक्ष्मी-पूजन की तैयारी तो नही है? गुजराती कवयित्री पद्मावती ने एक श्लोक में प्रभात-वेला को सागर-पुत्री लक्ष्मी की आरती उतारने-हेतु आने का कथन किया है--

"प्रभात वेला स्मरराजपुत्री
नीराजनाभाजनमर्कबिम्बम् ।
आयाति नीराजितुमब्धिपुत्री
पाणौ गृहीत्वांऽकुरितांशुमालम् ।:"[3]

--'काम-नृपति की पुत्री प्रभात-बेला अंकुरित किरण-माल वाले सूर्यबिम्ब के आरती-पात्र को लेकर, सागर की बेटी लक्ष्मी की पूजा करने आ रही है ।' सायंकाल दीप अथवा भारती से पूजा करने की कल्पना अधिक लोक-संगत है ।

'आनन्द' सर्ग में मानसरोवर के समीप अवतीर्ण सध्या का चित्रण ऐसी रमणी के रूप में किया गया है जिसने वल्कल का वसन धारण किया है और जिसकी अलकों में ताराओं के चमकीले फूल गुँथे हैं तथा जिसने कदम्ब के कुसुमों की करधनी पहन ली है । यहाँ संध्या-सुन्दरी को शृगार-सज्जित रमणी की सजीव प्रतिमा प्रदान की गई है, लेकिन कथा कहने की मनोभंगी में, ऐसा प्रतिभासित होता है, कवि-चेतना सांध्य सुषमा के अन्तरंग प्राणों की पकड़ से

---

१. **"बिखराती सुख ही, संध्या की**
सुन्दर अलकें घुँघराली ।"
२. **"गैरिक-वसना संध्या-सी**
जिसके चुप थे सब कलरव ।" (आनन्द)
३. **'संस्कृत-काव्यधारा'** (राहुल सांकृत्यायन), पृ० १०५६,

विरत रह गई है ।।'

ज्योत्स्ना-सौन्दर्य :— हमने अन्य संदर्भ में दिखाया है कि 'कामायनी' की कथा-योजना में रजनी, विशेषतया चान्द्रमसी रजनी, का अनुपम महत्त्व है । तपोनिरत मनु की 'अलस-चेतना की आँखें' ज्योत्स्ना के 'रमणीय दृश्य' में ही खुलती है जब कि उनके 'हृदय-कुसुम' की मधु से आर्द्र पाँखें भी अचानक खिल जाती हैं । चाँदनी उनकी कुंठित जिजीविषा को जाग्रत करती है और वह एक अतीन्द्रिय स्वप्न-लोक के मधुर रहस्य की भावना से भर जाते हैं । चाँदनी रमणीय है और वह मनु के भीतर दुहरी प्रतिक्रिया उत्पन्न करती है; पहली, किसी अपार्थिव संसार की रहस्यमयता की प्रतीति और दूसरी, द्वन्द्व-सुख की प्राणि-सुलभ भूख की प्रतीति ।[1] किन्तु ये दोनों प्रतीतियाँ 'मधुर' कही गई हैं । वास्तव में, कवि माधुर्य का भूखा है और चन्द्रिका इस भूख को उद्दीप्त भी करती है तथा संतृप्त भी क्योंकि वह स्वयं मधुर है । भवभूति ने मधुर की परिभाषा में कहा है कि वे ही वस्तुएँ मधुर है जो मन को मतवाला बना देती हैं—"प्रकृतिमधुरा सन्त्येवान्ये मनो मदयन्ति ये ।" (मा० मा०)

१. **"एक अतीन्द्रिय स्वप्नलोक था**
मधुर रहस्य उलझाता था ।"
"तब हो जगी अनादि वासना
मधुर प्राकृतिक भूख-समान;
चिर परिचित-सा चाह रहा था
द्वन्द्व सुखद करके अनुमान ।" (आशा)

रजनी सामान्यतः "विश्व-कमल" को आ-आ कर 'चूमने' वाली 'मृदुल मधुकरी" है । यह कोमल, सुकुमार भ्रमरी विश्व-कमल को इसलिए नहीं चूमती कि वह 'मूर्च्छित' हो जाय । भ्रमरी कमल की शोभा से आकृष्ट हो, उसके प्रति अपना दुलार प्रदर्शित करने-हेतु, आती तथा उसे चुम्बनों का उपहार देती है । रजनी वही कोमल भ्रमरी है जो विश्व-कमल की प्रफुल्ल छवि से आकर्षित होकर उसके समीप नित्य आती और उसे सुकुमार चुम्बनों से लाद देती है । इसमें विश्व के मूर्च्छित होने की व्यंजना नहीं, अपितु उसके कोलाहलपूर्ण पार्थिव जीवन में सुखद विश्राम एवं माधुर्य के अल्पकालिक सन्निवेश

---

१. **"संध्या समीप आयी थी**
उस सर के, बल्कलवसना;
तारों से अलक गुँथी थी
पहने कदंब की रसना ।" (आनन्द)

की व्यंजना गर्भित है ।' यह कोमल मधुकरी चन्द्रमा-चर्चित विभावरी ही है जो 'मृदु हास' करती, संध्या की सुनहली साड़ी फाड़कर आ पहुँची है । जादू टोना वह जानती है क्योंकि वह रहस्योपजीवी है, किन्तु उसका आगमन एवं कान्ति-प्रसार सुख एवं शान्ति का आधायक है । 'कामायनी' की सौन्दर्य-योजना में सुषमा अथवा रमणीयता सदैव शान्त-स्निग्ध आनन्द की संवाहिका प्रदर्शित की गई है ।

ज्योत्स्ना-स्नात विभावरी, कवि की अन्तरंग माधुर्य-भूख को प्रज्वलित करती हुई, शुक्लाभि सारिका नायिका का शील ग्रहण कर लेती है । वह उसे अपने प्रियतम-मिलन के हेतु जाती हुई हाँफती, सी दिखाई पड़ रही है ।[१] चाँदनी के सघन, उज्ज्वल प्रसार में वह उसकी खिलखिलाहट-भरी हँसी का अनुभव करता है । शायद, खिलखिलाकर हँसने में अभिसारिका का शील-सौन्दर्य किंचित प्रतिहत होता है, इस कारण, कवि चान्द्रमसी रजनी को, तत्काल बाद, अवगुंठनवती नायिका के रूप देखता है जो मार्ग में किसी को देख ठिठकती एवं मुसक्याती चली आ रही है । लेकिन, अभिसारिणी रजनी को इतनी संयमशीला बनाने से कवि की माधुर्य-पिपासा की संतृप्ति नहीं होती । अतएव वह पुनः अपनी आरम्भिक मनोभंगी को पकड लेता है और तब वह रजनी 'बावली' 'पगली' तथा 'मतवाली' बन गई है, यथा–

"रजत-कुसुम के नव पराग-सी
उड़ा न दे तू इतनी धूल
इस ज्योत्स्ना की, अरी बावली !
तू इसमें जावेगी भूल !
पगली ! हाँ, सम्हाल ले, कैसे
छूट पड़ा तेरा अंचल ?
देख, बिखरती है मणिराजी
अरी, उठा बेसुध चंचल ।
फटा हुआ था नील वसन क्या ?

---

१. 'कामायनी-भाष्य' (डा० द्वारिका प्रसाद सक्सेना) में मूर्च्छित होने का अभिप्राय गृहीत किया गया है जो उचित एव युक्तिसंगत नहीं ।

२. + +"सुरत भर परिश्रम खिन्न पुलिन्द राज-सुन्दरीस्वेदजल कपिकाप हारिण प्रवाति सायन्तने तनीयसि निशा निश्वासनिभे नभस्वति + + ।" --परिश्रम से खिन्न शबर राज सुन्दरी के स्वेद-कणों को हटाना, सायकाल का वायु राशि के अति क्षीण श्वास की तरह बह रहा था । (सुबंधु वासवदत्ता)

ओ यौवन की मतवाली !
देख, अंकिंचन जगत लूटता
तेरी छवि भोली-भाली !" (आशा)

मानवी में जब सौन्दर्य का अनुसंधान होगा, तब यौवन का छूट जाना असंभव है। रजनी यहाँ नवलअनंगा मानवी का शील ग्रहण कर प्रिय-मिलन का अभिसार कर रही है। इसलिये, उसे यौवन-सुलभ बेसुधी, एवं बावलपने से विभूषित कर कवि को अन्तस्तृप्ति मिली है। "अनन्त रमणीय" भी, जिसका रामणीयक ही व्यक्त विश्व में उन्मीलित हुआ है, रमण की अभिलाषा से चंचल बना रहता है (महाचिति की लीलामयता का उल्लेख पहले हो चुका है)। अतएव, ज्योत्स्नामयी रजनी, यौवन के उद्भाव में, प्रिय-रमणकी अभिलाषा से उद्दीपित होकर इतनी बावली बन गई कि अंचल के खुल जाने तथा उसमें छिपी मणिराजी के बिखर जाने और नीली साड़ी के फटने से अपनी मौग्ध्य-गर्भित अंगच्छवि की जगत द्वारा लूट का उसे कोई भान ही नही हो रहा है। कवि वास्तव में सौन्दर्य के मादक माधुर्य का उपासक है। रजनी के इस चित्र में कवि का सौन्दर्य-बोध कामशास्त्रीय छटाओं से कान्तिमान हो उठा है।

"इन्द्रजाल जननी ! रजनी तू
क्यों अब इतनी मधुर हुई ?"

—सौन्दर्य की अतिशय अभिव्यक्ति, जिसमें उत्फुल्लता है, एक प्रकार का 'पागलपन' है कवि के बाह्य तथा अभ्यान्तर चक्षुओं के लिये अनिर्वचनीय इन्द्रजाल है। सौन्दर्य में 'जादू-टोने' वाला यह तत्त्व उसे रहस्यमय बना देता है—आखिर, अखिलरामणीयक-निधि अव्यक्त विराट भी तो रहस्यपुंज ही है। अभिसारिका के रूप मे चन्द्रिका-चर्चित रजनी का जो माधुर्यपूर्ण चित्र अंकित हुआ है, उसमें ऐश्वर्य-भोगी मनु की समस्त लालसाएँ, मानों ज्योत्स्ना के मोहक अवगुंठन में बेनकाब हो गई हैं। कवि की व्यक्तिगत जीवनासक्ति, जिसमें चुंबन, मिलन, सिसकी, श्वासोच्छवास, घूँघट, मुसकान, खिलखिलाहट, कुसुमोपम यौवन, अल्हड़ता, आत्मविभोरता, मदमयता मणिसंभार एवं 'भोली-भाली छवि' की ललक के तत्त्व अनुस्यूत हैं, इस परम रमणीय चित्रण में मोहक रीति से व्यंजित हुई है। इस चित्रण की

मिलाइये-१. ऋग्वेद में नवविवाहिता सूर्या के वस्त्र को कहीं आगे, कहीं बीच में कहीं सब ओर से कटा-फटा बताया गया है—

"आशसनं विशसनमथो अधिविकर्तनं ।
सूर्यायाः पश्य रूपाणि तानि ब्रह्मा तु शुंधति ॥"
(१०।८५।३५)

विशेषता यह कि कवि ने रजनी के मधुर स्वरूप को चतुष्कोणात्मक आयाम प्रदान किये हैं। पहले आयाम में वह ज्योत्स्ना-स्नात रजनी है, प्रकृति का एक रमणीय कालिक स्वरूप है जो अपने में ही मधुर एवं मोहक है। दूसरा आयाम रहस्यवादी है जिसमें वह 'हाँफती-सिसकती' किसी अदृश्य प्रियतम से मिलने जा रही है—"चली जा रही किसके पास ?" तीसरे आयाम में, वह मनु के समस्त भोगों एवं भग्नताओं का प्रतीक बन गई है—"या भूल-सी खोज रही कुछ जीवन की छाती के दाग ? मैं भी भूल गया हूँ कुछ, हाँ, स्मरण नहीं होता क्या था ?" चौथा आयाम प्रकरण के अन्त में निर्मित होता है जब मनु पुराने भोग की वेदनाजनक स्मृतियों से भर जाते और रजनी को एक मधुर भार सौंपते हैं-

> 'मिले कहीं वह पड़ा अचानक,
> उसको भी न लुटा देना;
> देख, तुझे भी दूँगा तेरा
> भाग, न उसे भुला देना!"

मनु उस वस्तु की खोज कर रहे हैं—"प्रेम, वेदना भ्रान्ति"—जिसमें उनका मन सुखपूर्वक विश्राम करता था। यदि वह वस्तु रजनी-नायिका को मार्ग में कहीं अचानक मिल जाय, तो वह उसे यत्नपूर्वक संचित कर मनु को लौटा देगी ! वह उसमें से उसका हिस्सा भी रजनी को देगे ! मनु को भय यही है कि वह 'पगली' अपनी मणि-राजी भी लुटाती चलती है, कहीं मनु की प्रकाम्य वस्तु भी पाकर उसे न लुटा दे। मनु ने अब तक मधुर रजनी को अपनी निजी आसक्तियों से शबलित किया है, उसे अपनी-ही किसी प्रेयसी की प्रतिकृति के रूप में बहुत कुछ समझा-सोचा है। यहाँ आते-आते, मनु की उसके प्रति निजी आसक्तियों के तार टूट जाते हैं और वह स्वतन्त्र व्यक्तित्व ग्रहण कर लेती है जो शायद उनकी समस्या के समाधान में सहायक सिद्ध हो सके।

चान्द्रमसी रजनी का यह चित्र किसी पूर्व-निर्धारित चौखटे में नहीं रखा जा सकता। न यह परम्परित अर्थ में चाँदनी रात का आलंबनवत् चित्र है, न उद्दीपनवत् चित्र है, न यही कहा जा सकता है कि मनु के मनोभावों की छाया ही यहाँ चित्रित हुई है और न यही कि रजनी मनु के प्रति अनुकूल अथवा प्रतिकूल शील वाली प्रदर्शित की गई है। कवि का 'कोमल कौशल' इन सभी विन्दुओं को एक-साथ इतनी निपुणता से समेट लेता है कि सहृदय भावक की वाणी मूक बन जाती है।

'वासना' सर्ग में चाँदनी का चित्रण और भी मोहक एवं सुकुमार बना है। 'आशा' सर्ग में मनु की प्रेयसी अज्ञात एवं भूली हुई थी। यहाँ वह अतिथि-रूप में कुछ काल से उनके साथ रह रही है। वह स्वयं "ज्योत्स्ना-निर्झर" है

जो पशु अथवा पाषाण में "नृत्य का नव छन्द" भर रहा है । मनु अपने "भूले हृदय की चिर खोज" में कदाचित् सफल हो गये हैं । सांध्यकालीन अरुण घन की सजल छाया में 'लतिका का ललित लास्य' देखते-देखते, प्रकृति के प्रांगण में माधवी यामिनी 'विलास' के साथ, धीरे-से चरण रखती आ जाती है । यह मादक वातावरण, जिसमें श्रद्धा की रूप-ज्योत्स्ना के निर्झर से क्षरित-स्रवित अज्ञात क्षीण धाराएँ भी मिश्रित हो गई हैं, मनु के हृदय में वासना का उद्रेक करती है और वह चाँदनी के हिम-धवल रास में "छवि-धाम", उस अतिथि का पूर्ण परिचय पाने के लिए विकल हो उठते है । 'आशा' सर्ग में उन्होंने रजनी से जो अनुनय-विनय किया है, शायद रजनी ने यहाँ उसी का पालन कर उनकी अभीष्ट वस्तु प्रस्तुत कर दी है । इस सन्दर्भ में चाँदनी का दर्शन एवं वर्णन करने वाले तीन व्यक्ति कहे गये हैं : मनु, श्रद्धा तथा स्वयं कवि । अतएव, इस मधु-यामिनी के माधुर्य-स्वरूप के यहाँ त्रिकोणात्मक आयाम चित्रित हुए है । मनु के लिए यह मधु-रजनी पुनः यौवन-मद में मतवाली नायिका है जो 'सहज विलास' के साथ अर्थात्, विलक्षण रीति से पद-विन्यास करती हुई पहुँच गई है जैसे उसने अपने प्रियतम के दर्शन कर लिये हो ।[1] विधु-किरणे सुकुमार 'कंपन' करती हुई, मधु की वृष्टि कर रही हैं; पवन मे 'पुलक' अथवा रोमांच हो आया है और वह मधु के भार से दबा, मंथर गति से बह रहा है । कंपन तथा पुलक सात्त्विक अनुभाव है जो प्रेमास्पद के संनिकर्ष में घटित होते है । अतएव, मनु सम्पूर्ण वातावरण में काम का आवेग देखते है । यह इस कारण है कि उस धवलित ज्योति-माया में उनके अन्तस्प्राणों में 'कन्दर्प-समीर' चक्राकार घूमता हुआ उनकी समग्र चेतना को परिव्याप्त कर लिये है जिसके फलस्वरूप उस मोहन वातावरण में भी काम का क्षोभ उत्पन्न दिखाई पड़ रहा है । लेकिन, मधु-यामिनी का वह रूप-माधुर्य मनु की वर्तमान मनःस्थिति को प्रगाढ़ भी बनाता है । इसी कारण, वह श्रद्धा का उन्मत्तभाव से हाथ पकड़ लेते और कहते हैं —"आज, देखता हूँ दूसरा कुछ मधुरिमामय साज ।" इस प्रकार, यहाँ चाँदनी, मनु की मनः छाया से आविल होते हुए भी उनकी काम-क्षुधा को और भी दर्पित करती है । चाँदनी की मधुरिमा मनु के लिए कदाचित् श्रद्धा की रूप-ज्योत्स्ना को गाढ़ बनाती है । साथ-ही, मनु की सोई हुई

---

१. प्रिय वस्तु के दर्शनादि से गति, स्थिति, आसन इत्यादि की तथा मुख-नेत्रादि के व्यापारों की विलक्षणता को 'विलास' कहते हैं—
"यानस्थानासनादीनां मुखनेत्रादिकर्मणाम् ।
विशेषस्तु विलासः स्यादिष्टसंदर्शनादिना ।।" (सा० द०)

स्मृति को शनैः शनैः जाग्रत करती है और वह "जन्मसंगिनि" काम-बाला को पहचान लेते हैं। तब, श्रद्धा एवं ज्योत्स्ना का समीकरण हो जाता है और आकाश में स्थित चन्द्रमा अपनी भौतिक सत्ता का विसर्जन कर 'प्रणय-विधु' बन जाता है—

"ज्योत्स्ना-सी निकल आई ! पार कर नीहार,
प्रणय-विधु है खड़ा नभ में लिये तारक-हार।"

यहाँ ध्यातव्य यह है कि ज्योत्स्ना के माधुर्य के संघात से मनु की स्मृति के ऊपर पड़ा हुआ पर्दा हट गया है और उन्होंने अपनी 'बाल-संगिनी' को पहचान लिया है; और तब, प्रकृत ज्योत्स्ना एवं चन्द्रमा मानों नेपथ्य में चले गये हैं तब श्रद्धा एवं मनु-श्रद्धा का पुराना प्रणय क्रमशः ज्योत्स्ना एवं चन्द्रमा बन गए हैं। कवि का यह चित्रण सर्वथा नवीन एवं नैसर्गिकता के सौरभ से सुवासित है। कवि की जिस सुकुमार कला ने श्रद्धा को ज्योत्स्ना की सेज पर तथा मनु-श्रद्धा के प्रणय को रजनीश की गद्दी पर आसीन कर दिया है, वह निश्चितही स्तुत्य है।

इस संदर्भ में कालिदास के 'पर्युत्सुकीभवति" तथा "नूनंबोधपूर्वं" की छाया पड़ी है।[1] शकुन्तला के प्रसंग में दुष्यन्त की स्मृति को "रागपरिवाहिनी गीतिः" के सुनने से एक हलका झटका लगा था और शकुन्तला के साक्षात्कार की अल्पावधि में ही, उसकी विस्मृति का पर्दा झीना हो जाता था[2] और अंगूठी पाने के साथ यह पर्दा बिलकुल फट गया। मनु की स्मृति को जगाने में चन्द्रिका-रंजित रजनी का वही कर्तृत्व चित्रित हुआ है।[3]

मनु ने ज्योत्स्नामयी विभावरी को उपरि-वर्णित रूप में देखा है जिसमें वह मनु की वासनामयी रागस्थिति से परिभाषित एवं रूपायित होती हुई,

---

१. "रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुकीभवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावास्थिराणि जननान्तरसौहृदानि॥" (अभिज्ञान०, ५।२०)

२. "कामं प्रत्यादिष्टां स्मरामि न परिग्रहं मुनेस्तनयाम्।
बलवत्तु दूयमानं प्रत्याययतीव मे हृदयम्॥" (वही, ५।३१)

३ कालिदास ने शकुन्तला-विषयक दुष्यन्त की स्मृति को जगाने में बड़ी कोमल कला का परिचय दिया है। जानकारी के लिए देखिये हमारा ग्रन्थ 'महाकवि कालिदास' (प्रथम संस्करण), पृ० १६०-६२।

उनके सहजस्फूर्त राग को उद्दीप्त भी करती है और अन्ततः 'विस्मृति के सिन्धु' में से उनकी 'स्मृति-नाव' को बाहर खीच भी लाती है। यह उसका एक महत्त्व-पूर्ण आयाम है।

श्रद्धा उसे कैसे देखती है, यह जानना भी आवश्यक है। यद्यपि मनु के मनोवेगों को समझ कर श्रद्धा व्रीड़ा से तनिक दबी है, तथापि चाँदनी के प्रति उसका मनोभाव वासना-विगलित नही है। वह उस सम्पूर्ण लुभावने दृश्य को 'प्रायः' तटस्थ भाव से देखती है। मेघ के लघु-खण्डों की सवारी साज कर सरल हुँसमुख चन्द्रमा मानों उन्हे बुलाने आता है; संध्या की कालिमा 'घुलने' लगती है; आलोक 'घुलने' लगता है; नभ के प्रशान्त 'अनन्त' में एक अन्य भव्य लोक बसने लगता है और मयंक की मनोहर सुधामय मुसकान प्राणिमात्र के दुःखों को मिटाने लगती है। श्रद्धा प्रकृति के इस 'स्वप्न-शासन' से अभिभूत है और उसे उसमें किसी 'साधना का राज्य' दिखाई पड़ रहा है। श्रद्धा के लिए प्रकृति का सौन्दर्य-माधुर्य नयनों का विषय होने के साथ-ही, किसी मूल्य-वान् संदेश का वाहक भी है जिसे देखने-समझने के हेतु उसने मनु को आम-न्त्रण दिया है। वह उनका ध्यान निर्मल पूर्णिमा की शुभ्र मूर्ति, राका मूर्ति चन्द्रमा की ओर आकर्षित करती है जो मौन, शान्त भाव से अपने आसन पर बैठा हुआ है। इससे यह व्यंजना अभीष्ट है कि मनु के "क्षोभयुत उन्माद" का उस रमणीय, पवित्र क्षण में कोई औचित्य नही है। श्रद्धा तब उस सम्पूर्ण 'स्वप्न-शासन' तथा 'साधना के राज' की यों व्याख्या करती है—

"विभव मतवाली प्रकृति का आवरण वह नील–
शिथिल है, जिस पर बिखरता प्रचुर मङ्गल-खील;
राशि–राशि नखत-कुसुम की अर्चना अश्रान्त–
बिखरती है तामरस-सुन्दर-चरण के प्रान्त।" (वासना)

—'चाँदनी के संयोग से प्रकृति मतवाली एवं विभवशालिनी बनी हुई है। उसका नीला आवरण (खोल, अर्थात्, आकाश) ढीला-ढाला हो गया है। उसके ऊपर ज्योत्स्ना-ज्योति के रूप में धान के मांगलिक लावे बिखर रहे हैं और प्रकति के कमल-सदृश सुन्दर चरणों के समीप नक्षत्र-कुसुमों की राशियाँ पुजापा के रूप मे बिखरी हुई हैं।'

इस चित्र पर थोड़ा ध्यान दें। प्रकृति के मतवाली होने तथा उसके आव-रण के शिथिल होने में काम की स्फुरणाएँ व्यंग्य हैं। मंगल खील के बिखरने से ये स्फुरणाएँ सुखद एवं मांगल्य-सूचक हैं। नक्षत्र-रूपी फूलों से जो अनवरत अर्चना की जा रही है, उससे विभवशालिनी प्रकृति के पूज्य, पूजास्पद होने का संकेत किया गया है। भरत ने कहा है कि संसार में जो कुछ शुचि, मेध्य तथा

पवित्र है, वही शृंगार है ।[1] यहाँ प्रकृति का अनुपम शृंगार उस मधु-यामिनी में सम्पन्न हुआ है जो मंगलदायी सिद्ध होगा । यही प्रकृति का 'स्वप्न-शासन' है और यही उसमें चलने वाली मंगलमयी 'साधना' का स्वरूप है । इस साधना से मन की अतृप्ति एवं उन्माद के लिए कोई अवकाश नहीं । काम का मांगलिक स्वरूप ही अर्चनीय है । अतएव, ज्योत्स्ना यहाँ मंगल-जननी जीवनासक्ति की संदेश-वाहिका बन गई है। यह उसका दूसरा आयाम है ।

तीसरा आयाम स्वयं कवि के निजी कथनों से प्रस्फुटित होता है । वह पाता है कि उस मोहक यामिनी में सृष्टि हँसने लगी है, उसकी आँखों में अनुराग का फूल खिल उठा है, चन्द्रिका राग (मोहक रंग तथा स्नेह) से रंजित हो गई है और सुमन-पराग उड़ने लगा है । नभ से गिरने वाली पीयूष-सरिता में देवदारुओं के कुंज स्नान कर, झूमते हुए, वसन्त का उत्सव मना रहे और इसी से रात-भर जागने की योजना क्रियान्वित कर रहे है । माधवी लता की मदिर सुगन्ध से भरकर पवन अन्धभाव से बह रहा है। रजनी की कान्तिमयी छाया तुहिन-कणों की सुकुमार सेज पर शिथिल-भाव से अलसाई हुई सो रही है । यहाँ तक कवि ने मधुयामिनी का वर्णन किया है ।

इस वर्णन में, सृष्टि की उत्फुल्लता एवं अनुराग-पूर्णता की, तथा देवदारुओं के उत्सव-जागरण का कथन कर, उसकी प्रमोद-निष्ठा एवं आनन्द-प्रियता की व्यंजना की गई है । इस प्रकार, चन्द्रिका-स्नात रजनी का सौन्दर्य जीवन एवं हर्षोल्लास का आधायक बन गया है। किन्तु, निशा की कान्त छाया के अलसाकर सोने के कथन से, उसके रति-भोग का ध्वनन भी हुआ है । इस प्रकार, यह रजनी कन्दर्प-संकेतो से भी गर्भित बन गई है । 'कान्त', 'विश्रान्त', 'शिथिल' जैसे पदों से रति-श्रमिता वा रति-मर्दिता रमणी की स्पष्ट ध्वनि निकलती है । कवि यहाँ प्रत्यक्षशः चाँदनी को 'उद्दीपन' मानता है ।

अब, सम्पूर्ण सन्दर्भ पर विचार करने से ज्ञात होता है कि चाँदनी रात का यह दूसरा चित्रण भी उद्दीपन-रूप को लाँघकर अन्य सूक्ष्म विन्दुओं को भी समेटता है : श्रद्धा के कथनों से ज्योत्स्ना, जैसा अभी कहा गया है, मंगलमयी जीवनासक्ति की प्रवृत्ति-वाहिका बन गई है ।

'आनन्द' सर्ग के अन्त में, चन्द्रिका-चर्चित मधु-यामिनी का एक तीसरा अत्यन्त प्रसन्न, प्राञ्जल एवं विस्तीर्ण चित्र अंकित हुआ है । तनिक खटकने वाला विन्दु यह है कि यह सम्पूर्ण माधुर्य प्रवाह श्रद्धा के 'विहँसने' का प्रतिफल

---

१. "यत्किञ्चिल्लोके शुचि मेध्यं दर्शनीयं वा तच्छृङ्गारेणानुमीयते ।"
(नाट्यशास्त्र)

प्रतीत होता है जिससे स्वाभाविकता का तत्त्व तनिक क्षतिग्रस्त बन जाता है। तो भी, यदि इस तथ्य को भुला दिया जाय, तो वर्तमान प्रसंग वासन्ती रजनी का संश्लिष्ट एवं स्वतन्त्र, बिना किन्हीं अवान्तर संकेतों अथवा ध्वनियों से संलिप्त, पूर्ण चित्र समझा जायेगा। परिमल-बूँदों से सिंचित मधुर गंधवाह का बहना, असंख्य मुकुलों का खिल जाना, वनलक्ष्मी का केसर-रज बिखराना, वल्लरियों का नाचना, मदमाते मधुकरों का मधुर गुंजन, कोयल की मोहक काकली, रसभरित सुमनों का झड़ना, हिमखण्डों का चन्द्रकिरणों से दीपित होना, रश्मियों का अप्सरियाँ बन कर नाचना इत्यादि अनेक तथ्यों का इस चित्रण में एकत्र संगुंफन हुआ है। चाँदनी से कवि को जो-जो अपेक्षाएँ अथवा उम्मीदें रही हैं, वे सभी पूरी हो गई हैं। इस कारण, वह प्रसन्न भाव से प्रस्तुत चित्र अंकित करता है। अब तक प्रकृति, मानवी का शील धारण करते हुए भी, काम के स्फुरणों से गर्भित होते हुए भी, आनन्द एवं उल्लास का सन्देश देते हुए भी, कवि का विश्वास शायद नहीं प्राप्त कर सकी थी। अब, स्थिति बदल गई है। कवि की आस्था निम्न छन्द में द्रष्टव्य है--

"मांसल-सी आज हुई थी
हिमवती प्रकृति पाषाणी,
उस लास-रास में विह्वल
थी हँसती-सी कल्याणी।"

'चिन्ता' सर्ग की "दुर्जेय प्रकृति" अब 'मांसल' बन गई है और 'कल्याणी' बन कर, मधुयामिनी के प्रमुदित लास्य-रास में विह्वल भाव से हँसने लगी है।[1]

प्रसाद को अन्धी रात से कोई लगाव नहीं। अन्धकार के आवरण को चीर कर निकलने वाले तारे, उनकी सहज मनोभंगिमा के फलस्वरूप, तम के सुन्दरतम "रहस्य" हैं, किन्तु कान्ति के किरणों से रंजित होकर व्यथित विश्व को 'नव रस' से स्पर्श करते हैं। वे "अनन्त की गणना" हैं क्योंकि कवि 'अनंत रमणीय' की ही छवि का प्रतिबिम्ब व्यक्त विश्व में देखता है। परन्तु, सबसे बढ़ कर, ये तारे 'मधुमय संदेश' देने वाले हैं-"देते तुम कितना मधुमय संदेश।" 'कामायनी'

१. 'कर्म' सर्ग में कहा गया है कि (चाँदनी) रात अपना ज्योत्स्नाशाली अंचल पृथिवी पर लटका देती है जिसकी छाया में वेदना से भरी सृष्टि सुख पा सके--
"अंचल लटकाती निशीथिनी
अपना ज्योत्स्नाशाली,
जिसकी छाया में सुख पावे
सृष्टि वेदना वाली।"

कार के लिए रामणीयक का रहस्य मधुर से काट कर पृथक् नहीं किया जा सकता। आकाश में नाचने वाले तारिकाओं के गुल्म झूम-झूम कर अपने कामनीयक की कथा कहते हैं और नीलिमा-स्नात आकाश से ज्योति की जिन रश्मियों का क्षरण होता है, वे "मधु की धारा" बरसाती हैं जिसकी मोहिनी में कवि का "मन-मधुकर" बन्दी बन जाता है।[1] सौन्दर्य के सम्मोहन की व्यंजना 'कामायनी' के प्रत्येक संदर्भ में हुई है।

प्रसाद तारों को प्रायः फूल के रूप में देखते हैं। नक्षत्रों की ज्योतिष्मती परिषद् के घटक, इन चमकते तारों को विकच कुसुमों के कुंज-रूप में देखना,[2] सौन्दर्य के इन छोटे-छोटे प्रतिनिधियों के प्रति कवि की प्रसन्न-दृष्टि का परिचायक है यह भिन्न बात है कि अपनी निजी असफलता की छाया से मनु इस नक्षत्र-परिषद् को भी ढक देते हैं—

"चल चक्र वरुण का ज्योति-भरा
व्याकुल तू क्यों देता फेरी?
तारों के फूल बिखरते हैं
लुटती है असफलता तेरी।" (काम)

'दर्शन' सर्ग में, प्रसाद तारक-खचित आकाश में वसन्त की वैभव-शोभा का दर्शन करते हैं जिसमें अगणित तारों के रूप में 'फूलों का गुच्छा' खिला हुआ है; ऊपरी आकाश का हृदय हलके प्रकाश से पूर्ण है क्योंकि वह मधुर हँसी हँस रहा है; लुभावनी आकाश-गंगा में मृदुल आलोक की 'माया-सरिता' प्रवाहित है जिसमें तारों से निकलने वाली कान्ति-किरणों की चंचल लहरियाँ उठ रही हैं, यथा—

'शत-शत तारा-मण्डित अनन्त,
कुसुमों का स्तवक खिला वसंत;
हँसता ऊपर का विश्व मधुर,
हलके प्रकाश से पूरित उर;

---

१. "इस इंदीवर से गंधभरी
बुनती जाली मधु की धारा;
मन-मधुकर की अनुराग मयी
बन रही मोहिनी-सी कारा।" (काम)

२. "नवनील कुंज हैं झीम रहे,
कुसुमों की कथा न बन्द हुई।" (काम)

बहती माया–सरिता ऊपर,
उठती किरणों की लोल लहर ।"

इस चित्र में, तारे तो 'कुसुमों का स्तवक' है ही; दूसरे, उनका कान्त आलोक ऊपरी 'विश्व' की मधुर हँसी भी है। हँसने पर जैसे द्युतिमान् दन्त-पंक्ति की ज्योति प्रसारित हो जाती है, वैसे-ही हँसने वाले इस ऊर्ध्वलोक की मधुर दन्तदीप्ति तारों की कान्ति के रूप में विच्छुरित हुई है। आकाश-गंगा में तारों की कान्ति को लोल लहरियों के रूप में देखना तारों की मोहकता में एक तीसरा आयाम भी जोड़ देता है। 'कुसुमों के गुच्छे' में प्रफुल्लता है, 'ऊपरी विश्व की हँसी' में ज्योतिष्मान् माधुर्य है और 'किरणों की लहरों' में मन को ऊर्मिल बना देने वाली स्निग्ध कान्ति का कल्लोल है। 'माया-सरिता' की व्यंजना तो अकथनीय है। इस प्रकार, कवि ने प्रस्तुत चित्र में इतनी रमणीयता भर दी है कि देर तक सहृदय भावक का मन इस सौन्दर्य-माया में बन्दी बना रह जाता है।

ताराओं को फूल से उपमित करने की परम्परा संस्कृत सूरियों में उपलब्ध है। कालिदास ने पत्तों से छन-छन कर, धरती पर पड़ने वाली शशि-प्रभा को वृक्षों से झड़े हुए फूलों से उपमित किया है।[1] श्रीहर्ष ने चाँदनी के वर्णन में तारों को पुष्पों से उपमित किया है—

"स्मरस्य कम्बुः किमयं चकास्ति विवि त्रिलोकीजयवादनीयः ।
कस्यापरस्योडुमयैः प्रसूनैर्वादित्र शक्तिर्घटते भटस्य ।।"
"एणः स्मरेणांकमयः स पत्राकृतो भवद्भ्रू युगधन्वना यः ।
मुखे तन्वेदौ लसता स तारा-पुष्पालिबाणानुगतो गतोऽयम् ।।"

(नैषध, २२।२२, २५)

—'त्रिलोक-विजय के उपलक्ष में बजाया जाने वाला क्या यह कामदेव का शंख आकाश में चमक रहा है ? किस अन्य योद्धा के बाजे की शक्ति तारामयं फूलों द्वारा बनती है ?'

'तेरे मुखचन्द्र में प्रकाशमान दोनों भौंहों–रूपी धनुष वाले कामदेव ने जो कलकमय मृग बनाया, वह तारा–रूपी पुष्पों की बाणमयी पंक्ति बन गया।'

स्पष्ट है कि श्रीहर्ष तारों के सौन्दर्य–माधुर्य का वह चित्र अंकित नहीं कर सके जो हमारे कवि ने ऊपर की पंक्तियों में किया है।

---

१. "शक्यमंगुलिभिरुत्थितैरधः शाखिना पतितपुष्पपेशलैः ।
पत्रजर्जरशशिप्रभालवैरभिरुत्कचयितुं तवालकान् ।।"

(कुमार०, ८।७२)

ग. नर्तित नटेश का सौन्दर्य

प्रस्तुत सन्दर्भ में, नर्तित नटेश के स्वरूप का उल्लेख भी वांछनीय है। जैसा हमने अन्यत्र दिखाया है, शिव-ताण्डव के भयंकर तथा आनन्दमय, दोनों स्वरूपों का वर्णन भारतीय वाङ्मय मे उपलब्ध होता है। 'कामायनी' में भी इन दोनों का वर्णन हुआ है। लेकिन, 'दर्शन' सर्ग में 'मंगल-चेतन', शिव के प्रमोद पूर्ण ताण्डव का जो प्रसन्न एवं प्रभावशाली चित्रण उपलब्ध है, वह हिन्दी साहित्य में सर्वथैव बेजोड़ है। तमस के आवरण में से सत्ता का स्पन्दन डोल जाता है; ज्योत्स्ना की सरिता प्रवाहित करते हुये रजत-गौर, आलोक-पुरुष प्रकट होते है; प्रकाश का कल्लोल जिसमें मधु-किरणों की लाल लहरें क्रीडा करती हैं, चतुर्दिक फैल जाता है; शून्य का भेदन करने वाली चैतन्य सत्ता अन्तर्निनाद से पूरित हो जाती है; नटराज लय-स्वर के साथ नृत्य कर रहे हैं; अन्तरिक्ष मानों मुखर होकर हँसने लगा है; शिव की लीला का आह्लाद अंतरिक्ष में व्याप्त हो रहा है; आनन्दपूर्ण ताण्डव मे वे इतने तन्मय हैं कि उनके शरीर से पसीने की बूँदे टपक रही है जिनसे अगणित दिनकर, हिमकर तथा नक्षत्र बनते जा रहे है; दोनों चरण संहार तथा सर्जन की भूमिका साथ-साथ सम्पन्न कर रहे हैं; असंख्य ब्रह्माण्ड बिखरते जा रहे है; लीला-पुरुष का बिजली की कान्ति वाला कटाक्ष जिधर ही चला जाता है, उधर-ही सृष्टि काँपने लगती है; अनन्त चेतन परमाणु विलीन एव निर्मित होते जा रहे हैं; शक्ति-शरीरी शंकर की प्रभा का प्रकाश दिग्-दिगन्त मे व्याप्त हो गया है; और उसी लीलापूर्ण शक्ति-शाली नर्तन-क्रम मे प्रकृति सुन्दर स्वरूप ग्रहण करती जा रही है—

> **"नर्तन में निरत प्रकृति गल कर,**
> **उस कान्ति-सिन्धु में घुल-मिल कर;**
> **अपना स्वरूप धरती सुन्दर,**
> **कमनीय बना था भीषणतर;**
> **हीरक-गिरि पर विद्युत-विलास**
> **उल्लसित महा हिम-धवल हास।"**

प्रस्तुत चित्र में नाट्यशास्त्र, कूर्मपुराण, शिव-ताण्डवस्तोत्र, बोधसार इत्यादि अनेक ग्रंथों में वर्णित ताण्डव की छायाएँ खोजी जा सकती हैं, परन्तु प्रसाद ने उन समस्त सूत्रों को ग्रहण कर, शिव-ताण्डव का एक सर्वथा नवीन, अभिराम तथा हमारी चित्तवृत्तियों को एक साथ मुग्ध, स्तब्ध एवं विस्फारित करने वाला स्वरूप प्रस्तुत किया है। शक्ति, प्रकाश, माधुर्य, चैतन्य, अन्तर्निनाद, उल्लास, आनन्द लीलाह्लाद, रचना-निर्माण, कमनीय तथा भीषण का विलक्षण संयोग

और सबके ऊपर, उस शक्ति-पुंज नटेश का 'हिमधवल हास'—ये समस्त विन्दु परस्पर अनुस्यूत होकर, सर्जनात्मक एवं मंगलमूलक लोकातीत सौन्दर्य का वह भव्य स्वरूप प्रत्यक्ष करते हैं जो हमारी मनोवृत्तियों का उत्कर्षण एवं उन्नयन करता है ।

'अव्यक्त' प्रकृति के व्यक्त होकर सुन्दर स्वरूप धारण करने की कवि-कल्पना कितनी मौलिक एवं अभिराम है ! देखिये—'शक्ति-पुरुष नर्तन कर रहा है । उसके शरीर से चमकती कान्ति का समुद्र उमड़ा जा रहा है । प्रकृति उस कान्ति-सागर में घुलमिल जाती और अपना सुन्दर स्वरूप ग्रहण कर लेती है ।' लगता है, जैसे कोई रसायन-प्रक्रिया हो जिसमें से प्रकृति का सौन्दर्य निखरता एवं रूपायित होता जा रहा है । शिव के नृत्य से सृष्टि अथवा प्रकृति का उद्भव कैसे हुआ होगा, इसका दार्शनिक अथवा आध्यात्मिक पचड़े में न पड़कर, प्रसाद ने यहाँ कल्पना-रमणीय तथा विश्वसनीय चित्र अंकित किया है । शंकर के "धवल हास" की व्यंजना पर तनिक रुकिये । नर्तित नटेश का शरीर रजत-गौर है । इस कारण, प्रतीत होता है, मानों वह हीरे का पर्वत हो । हीरे का शुभ्र वर्ण तथा पर्वत का विशाल आकार शिव-शरीर की उज्ज्वल प्रभा तथा उसके शक्ति गर्भ विराट् आकार के सन्दर्भ में समझे जा सकते हैं । इस प्रभामयी आकृति में उल्लास-प्रेरित हँसी फूट जाती है, जैसे हीरे के पहाड़ पर बिजली चमक गई है । कवि की कल्पना मे उस शक्ति-पुरुष के उल्लास का जो बिम्ब है, उसे सम्प्रेष्य बनाने के लिए अन्य कोई उत्प्रेक्षा हो नहीं सकती थी, हो नहीं सकती है । प्रत्यभिज्ञा के अरूप 'शिव-तत्त्व' का यह सगुण-संस्करण कवि की अभिराम उपलब्धि है । पुनः नटेश्वर शिव उस 'असत् शून्य में 'सत्ता' के इतने ब्राह्मणों की रचना करते हुये तथा प्रकृति को सुन्दर स्वरूप प्रदान करते हुये भी, पूर्णतः अनासक्त है । इसी कारण, उल्लासपूर्ण हँसी हँस रहे हैं, जैसे उन्हें अपनी सृष्टियों के विषय में तनिक-भी चिन्ता नहीं, तनिक भी लगाव नहीं, उनका प्रयोजन केवल लीला है, केवल आनन्द है !

हमारे कवि की सबसे बड़ी उपलब्धि यहाँ है, शिव के सामान्यतः भीषण स्वरूप का सुन्दरीकरण । जिन पुराणों में शिव ताण्डव के आनन्दमय रूप का वर्णन हुआ है, वहाँ भी उनके भयोत्पादक, विकराल रूप को प्रधानता मिली है, उनके पाँच शिरों के सर्पों के मुकुटों से शोभित होने का कथन हुआ है ।[1] 'कामायनी' के ताण्डव की विशेषता यह है कि उसमें अनस्तित्व पर अस्तित्व

---

१. द्रष्टव्य : 'कूर्मपुराण', ५।८-११; 'स्कन्दपुराण', ब्रह्मखण्ड, २।२२।५४-५६ इत्यादि

की विजय के साथ ज्योत्सना की सरिता, प्रकाश का कल्लोल, मधु-किरणों का लोल लास्य, स्वर-लय का आरोह–अवरोह, लीला का आह्लाद, विद्युत कटाक्ष, कान्ति–सिन्धु की उमड़न और हिम-धवल हास—इन सभी विन्दुओं के संग्रथन से कामनीयक का एक ऐसा दिव्योदात्त पटल खुल गया है जिसमें शक्ति एवं माधुर्य का घोल तैयार हो गया है : "कमनीय बना था भीषणतर।" वास्तव में, सुन्दर की जो सरणी, 'प्रेटी' (Pretty) से 'उदात्त' (Sublime) की ओर उत्कर्षित होती है,[१] 'कामायनी' के सौन्दर्य–बोध में उसी के अनुरूप यह उदात्त की उपलब्धि है। 'लीला', 'मधु–मन्थन', 'आलिंगन', 'कलोल', 'कटाक्ष' तथा 'हास' जैसे पदों का विनियोग इसलिये हुआ है कि आप इस सौन्दर्य-विग्रह को एकान्त कठोर अपार्थिवता से संयुक्त न कर लें जिससे सौन्दर्य का मृदु एवं ह्लादमय स्वभाव तिरोहित हो जाय। प्रस्तुत बिम्ब विस्मयोत्पादक है और सभी धरातलों पर हमारी चेतना का उत्कर्षण करता है।

घ. मनुष्य का सौन्दर्य

मानवीय सौन्दर्य में पुरुष और नारी, दोनों का सौन्दर्य समाहित है। भारतीय साहित्य में दोनों के रूप-सौन्दर्य की पृथुल परम्परा उपलब्ध है। भक्ति-साहित्य में ही नहीं, प्रत्युत प्राचीन एवं मध्य कालीन संस्कृत साहित्य में भी, नारी-सौन्दर्य के प्रायः समानान्तर ही, शृंगार-प्रिय कवियों ने पुरुष-सौन्दर्य के ललित एवं उद्दीपक चित्र अंकित किये हैं।[२] ब्रजभाषा-साहित्य में पौरुषेय सौन्दर्य का अंकन पृष्ठभूमि में चला गया और स्त्रैण सौन्दर्य की ही मनो-निवेशपूर्ण आरती उतारी जाने लगी। 'कामायनी' में यही पिछली परम्परा अपनायी गई है। उसके नायक मनु का तेजस्वत् एवं ओजस्वत् स्वरूप आरम्भ में चित्रित हुआ है जिसमें उनकी स्फीत शिराओं, दृढ़ मांसपेशियों, स्वस्थ रक्त एवं अपार वीर्य की उपस्थिति को ही रेखांकित किया गया है। वह चित्र 'रघुवंश' में अंकित दिलीप के रूपचित्र की छाया से मण्डित समझा

---

१. ब्रैडले ने सौन्दर्य-विषयक पाँच सरणियाँ बतायी हैं; यथा–Pretty, graceful, beautiful, grand, sublime जो उत्तरोत्तर उत्कर्ष प्राप्त करती हैं।
—A. C. Bradley 'Oxford Lectures On Poetry' (1950) पृ० ४०

२. रामायण, सौन्दरनन्द, बुद्धचरित, कादम्बरी, नलचम्पू, नैषधीय इत्यादि ग्रन्थ अवलोक्य।

जा सकता है ।[1] श्रद्धा ने मनु के ऊर्जस्वित् शरीर से "प्रभा की धारा" के निकलने का जो कथन किया है,[2] वह केवल इस कारण कि प्रसाद आलोक को सौन्दर्य का अविच्छेद्य गुण मानते हैं ।[3]

तथापि, माधुर्य-धर्मी सौन्दर्य जब मानुषीय अस्थिमज्जा में अवतीर्ण होता है, तब वह मानवी की ही माया-मूर्ति को वरण करता है । नारी अर्धांश में स्वप्न और अर्धांश में ही यथार्थ होती है जिस कारण वह अखण्ड मार्दव-माधुर्य की अधिष्ठात्री बन गई है । कवीन्द्र रवीन्द्र ने एक प्रसिद्ध कविता में नारी-सौन्दर्य की यों अर्चना की है—

"शुधु विधातार सृष्टि नह तुमि नारी !
पुरुष गेढ़छे तोरे सौन्दर्य संचारि
आपन अन्तर हते ! बसि कविगण
सोनार उपमासूत्रे बुनिछे बसन ।
सपिया तोमार परे नूतन महिमा
अमर करेछे शिल्पी तोमार प्रतिमा ।
× + ×
पड़ेछे तोमार परे प्रदीप्त वासना ।
अर्धेक मानवी तुमि अर्धेक कल्पना ।।" ('मानसी

—'हे नारी ! तुम केवल विधाता की ही सृष्टि नही हो; पुरुष ने अपन अन्तर से सौन्दर्य-संचार कर तुम्हें गढ़ा है । कवियों ने सोने के उपमा-सूत्रों से तुम्हारा वस्त्र बुना है । कलाकार ने तुम्हें नूतन महिमा प्रदान कर तुम्हारी प्रतिमा को अमर बनाया है । तुम्हारे ऊपर प्रदीप्त वासना की छाया पड़ी है । तुम आधी मानवी हो, आधी कल्पना हो ।'

पुरुष ने, कवि तथा कलाकार के रूप मे, जन्म-जन्मान्तरीण 'वासना' की प्रदीप्ति से[4] विधाता की सृष्टि नारी की पुनः सृष्टि की है और इस कारण,

---

१. "व्यूढोरस्का वृषस्कन्धः शालप्रांशुर्महाभुजः ।
आत्मकर्मक्षमं देहं क्षात्रो धर्म इवाश्रितः ।।" (१।१३)

२. "कर रहे निर्जन का चुपचाप,
प्रभा की धारा से अभिषेक ।" (श्रद्धा)

३. 'दर्शन' सर्ग में, मनु के खुले नयनों को "शिलालग्न अनगढ़े रतन" कहा गया है जो उनके स्वस्थ, ऊर्जस्वित् शरीर के सर्वथा अनुकूल ही है ।

४. "रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्"
पर्युत्सुको भवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः ।

सौन्दर्य-लक्ष्मी का वह जैसा स्वप्न कल्पना में देखता है, उसी के अनुरूप सूत्रों एवं वर्णों से वह नारी-मूर्ति की नवीन रचना करता है। प्रकृति के अतिरिक्त, जब मानव-रूपों में सौन्दर्य की खोज एवं प्रतिष्ठा होती है, तब प्रायः नारी सहज भाव से सत्कार की पात्र बन जाती है। इसी कारण, कालिदास नव-यौवना शकुंतला में स्वभावतः "प्रभातरत्न ज्योति" की खोज करते तथा उसके "वसुधातलीय" संसर्ग का निषेध करते हैं[1] और भवभूति मालती को "रामणीयक निधि का अधिदेवता" बताते हैं।[2]

'कामायनी' की धुरी कामगोत्रजा श्रद्धा है जिसमें कवि की आदर्श नारी-सुषमा मूर्तिमती हुई है। जैसे चान्द्रमसी रजनी इन्द्रजाल की जननी है, वैसे-ही श्रद्धा भी "नयन का अभिराम इन्द्रजाल" है।[3] व्यक्त विश्व में विच्छुरित सौन्दर्य मूलतः नयनग्राह्य है। 'करुणामय मौन' साधे मनु की आँखें जब श्रद्धा की ओर ऊपर उठती हैं, तब वह उन्हें एक "सुन्दर दृश्य" के रूप में दिखाई पड़ती है।[4] कवि ने श्रद्धा के रूप-सौन्दर्य की भावना कराने के लिए उसे प्रथमतः एक स्थिर प्रतिमा का शील प्रदान किया है जो केवल मुसक्याती है। इसी कारण, उसे किंचित् देर तक नेत्रों का विषय बनाया गया है जिससे कवि को उस रूप-माया की विवृति के हेतु थोड़ा अवकाश मिल सके।

तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावास्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥"
(शाकुं०, ५।२)

१. "मानषीषु कथं वा स्यादस्य रूप संभवः।
न प्रभातरत्नं ज्योतिरुदेति वसुधातलात् ॥" (वही, १।२४)

२. "सा रामणीयकनिधेरधि देवता वा।
सौन्दर्यसार समुदाय निकेतन वा ॥" (मा० मा०, १।२१)

३. "महामोहमयेनेन्द्रजालेन प्रकाशशीलं सत्त्वमावृत्य तदेवाकार्ये नियुङ्क्ते।" (सांख्यसूत्र)—यहाँ महोमोह को इन्द्रजाल बताया गया है जिससे आच्छन्न होकर प्रकाशशील चित्त अकार्य में निरत होता है। प्रसाद के 'इन्द्रजाल' में अकार्य का एकान्त अभाव है।

४. योगदर्शन में 'दृश्य' वह है जिसका स्वभाव प्रकाश, क्रिया एवं स्थिति है, इन्द्रियाँ जिसकी प्रकट स्वरूप हैं और भोग एवं मुक्ति जिसका प्रयोजन है—
"प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भुतेन्द्रियात्मक भोगापवर्गार्थं दृश्यम्।"

श्रद्धा यौवन के प्रथम उभार में तन्वंगी नारी है। कवि ने परम्पराभुक्त नखशिख-पद्धति की स्थूलता का परित्याग कर, उसके प्रफुल्ल सौन्दर्य का चित्रण किया है जिसमें उसकी शरीर-यष्टि, नवल यौवन से स्फीत अंग, शारीरी कान्ति, मुख-प्रान्त, अलक-भार तथा मुसकान का मनोहर चित्रण किया गया है। यह प्रसिद्ध सौन्दर्य-बिम्ब परम्परा की ही भाँति यद्यपि मुख्यतः चाक्षुष है, तथापि भावना के नेत्रों के अभ्यास के लिए भी प्रचुर अवकाश है, वस्तुतः उसके अभाव में यह रूप-सौन्दर्य सम्पूर्णतः प्रत्यक्ष हो ही नहीं सकता।

"कुसुम-वैभव में लता समान, चन्द्रिका से लिपटा घनश्याम"

रूपसियों की सुकुमार काया के लिए 'लता' का प्रतीक बहुत पुराना है, उतना जितना ऋग्वेद।[1] नवविकसित यौवन के लिए विकच कुसुम का प्रतीक भी बहुत पुराना है।[2] चन्द्रिका भी रूप-द्युति का प्रतीकत्व दीर्घकाल से करती आई है। संस्कृत के कवियों ने तो अपनी नायिकाओं की रूप-सृष्टि के लिए, विधाता के विकल्प में, कामदेव एवं वसन्त के साथ-साथ चन्द्रमा को भी संश्रेय प्रदान किया है।[3] प्रसाद ने इन परम्परा-प्रसिद्ध प्रतीकों की आरभ में ही नियोजना कर श्रद्धा की रूप-द्युति, शरीर-यष्टि की सुकुमारता एवं उत्फुल्ल यौवन-

---

१. "अन्यमूषुत्वं यम्यन्य उ त्वां
परिष्वजाते लिबुजेव वृक्षम्।" (ऋग्वेद, १०।१०।१४)
—यम-यमी संवाद में यम कहता है----
'हे यमी ! तू अन्य पुरुष का आलिंगन कर
जैसे लता वृक्ष का आलिंगन करती है।'

२. "अधरः किसलयरागः कोमलविटपानु कारिणौ बाहू।
कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु सनद्धम्॥" (अभिज्ञान०,१।२०)

३. "अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः,
शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः।
वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्त कौतूहलो,
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः॥"---
"राकामहं सुहवां सुष्टुती हुवे शृणोतु नः सुभगा बोधतूत्मना।
(विक्रमो०, १।१०)
सीव्यत्वपः सूच्याच्छिद्यमानया ददातु वीरं शतदायमुक्थ्यम॥"
(ऋग्०, २।३२।४)
—यहाँ सुन्दरी स्त्री को 'राका' (पूर्णिमा की रात) से अभिहित किया गया है।

श्री की व्यंजना कर दी है । शास्त्रीय भाषा में, यहाँ श्रद्धा के रूपयौवन-लालित्य से जन्य 'शोभा' नामक 'अयत्नज अलंकार' की व्यंजना हुई है ।[1]

"मधु-पवन-क्रीड़ित ज्यों शिशु-शाल"

शाल का छोटा, नया वृक्ष वसन्त के पवन से जैसे हिलता-झूमता है, वैसे-ही श्रद्धा की शरीर-वल्लरी, यौवन-कुसुम के वैभव-भार से दबी हुई, ईषत् काँपती-झूलती-सी प्रतीत होती है । यह सौन्दर्य-दृश्य 'स्थित' होते हुए भी इस प्रकार 'क्रियाशील' बन गया है—"प्रकाशक्रियास्थितिशीलं + + + + दृश्यम् ।"

"सौरभ-संयुक्त" बताकर, श्रद्धा को सामुद्रिक शास्त्रों में वर्णित 'पद्मिनी नारी' संकेतित किया गया है ।

"नील परिधान बीच सुकुमार, खुल रहा मृदुल अधखुला अंग,
खिला हो ज्यों बिजली का फूल, मेघ-वन-बीच गुलाबी रंग"

---

१. साहित्याचार्यों ने शृंगाररस के संदर्भ में नायिकाओं के अट्ठाइस 'सात्त्विक अलंकारों' का कथन किया है, यथा—

"यौवने सत्त्वजास्तासामष्टाविंशति संख्यकाः ।
अलंकारास्तत्र भावहावहेलास्त्र्यो ऽङ्गजाः ।।
शोभा कान्तिश्च दीप्तिश्च माधुर्यं च प्रगल्भता ।
औदार्यं धैर्यमित्येते सप्तैव स्युरयत्नजाः ।।
लीला विलासो विच्छित्तिर्विब्बोकः किलकिञ्चितम्
मोट्टायितं कुट्टमितं विभ्रमो ललितं मदः ।।
विहृत तपनं मौग्ध्यं विक्षेपश्च कुतूहलम् ।
हसितं चकितं केलिरित्यष्टावश संख्यकाः ।।
स्वभावजाश्च भावाद्या दश पुंसां भवन्त्यपि ।"

(साहित्यदर्पण, ३।८९-९३)

—इनमें भाव, हाव तथा हेला, तीन 'अंगज' कहलाते हैं; शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य तथा धैर्य, ये सात 'अयत्नज' कहे गये हैं क्योंकि ये यत्न अथवा कृति से साध्य नहीं होते । शेष लीला, विलास, विच्छित्ति, बिब्बोक, किलकिञ्चित, मोट्टायित, कुट्टमित, विभ्रम, ललित, मद, विहृत, तपन, मौग्ध्य, विक्षेप, कुतूहल, हसित, चकित, तथा केलि, ये अठारह 'स्वभावज' हैं किन्तु इनके लिए यत्न करना पड़ता है । इनमें से प्रथम दस पुरुषों में भी हो सकते हैं ।

यहाँ श्रद्धा, के उरोजों का वर्णन किया गया है । गांधारदेशीय भेड़ों की नीली रोम-राजि से परिधानित श्रद्धा के सुकुमार, अधखुले उरोज[1] इस प्रकार शोभित हो रहे थे जैसे बिजली का फूल श्यामल मेघों के बीच गुलाबी रंग धारण कर चमक रहा हो । सौन्दर्य में प्रकाश की चमक की अवस्थिति है। कवि श्रद्धा के उरस्यों की दीप्ति को भावित कराने के लिए "बिजली के फूल" की कल्पना करता है जो नीले मेघों के आवेष्टन में खिला हो । इस कल्पना के लिए प्रसाद शायद अथर्ववेद के कवि-ऋषि के ऋणी हों जिसने सहस्राब्दियों पूर्व लिखा था—"सिन्धोर्गर्भोऽसि विद्युतां पुष्पम्", अर्थात् "तू समुद्रों का सार है, तू बिजलियों का फूल है ।"[2] पुनः प्रसाद अधुनातन युग के सौन्दर्य-द्रष्टा हैं और संभव है, सुन्दर चमकीले बल्बों के रूप में उन्हें 'बिजली के फूल' की कल्पना सूझी हो । किन्तु साधारण बल्बों की ज्योति की प्रखरता नेत्रों के लिए एक चुनौती बन जाती है । इसी कारण, यहाँ कवि न बिजली के फूल को स्निग्ध बनाने के लिए उसे गुलाबी रंग से भूषित कर दिया है । "अधखुले अंग" में उपादान लक्षणा से उरोजों की ही व्यंजना हुई है ।

शास्त्रीय अभिधा में, यहाँ सात 'अयत्नज सात्त्विक अलकारों' में 'दीप्ति' नामक अलंकार की व्यंजना हुई है । रूपयौवन लालित्यादि से उत्पन्न 'शोभा' कुछ वृद्धिगत हो जाने पर 'कान्ति' कहलाती है और यही 'कान्ति' अति-विस्तीर्ण हो जाने पर 'दीप्ति' की संज्ञा प्राप्त करती है ।[3] पिछले छन्द में कवि ने श्रद्धा के "कान्त वपु" का उल्लेख कर उसके 'कान्ति' नामक सत्त्वज की ओर इंगित

---

१. "अधि पेशांसि वपते नृतूरिवापोर्णुते वक्ष उस्तेव बर्जहम् ।
ज्योतिर्विश्वस्मै भुवनाय कृण्वती गावो न व्रजं व्युषा आवर्तम. ।।"
(ऋग्वेद, १।९२।४)
—उषा यहाँ नर्त्तकी के समान अपने अधखुले लावण्य को प्रदर्शित करती है और दुही जाने वाली गाय के समान अपने वक्ष का खोल देती है ।

२. अथर्ववेद की इस उक्ति की तरफ मेरा ध्यान मेरी कनिष्ठ पुत्री कुमारी मुकुल ने आकर्षित किया है जो सम्प्रति बी० ए० प्रथम वर्ष की छात्रा है । मैं उसकी मंगल कामना करता हूँ ।

३. "रूपयौवनलालित्यभोगाढ्यं रङ्गभूषणम् ।।
शोभा प्रोक्ता, सैव कान्तिर्मन्मथाप्यायितद्युतिः ।
कान्तिरेवातिविस्तीर्णा दीप्तिरित्यभीधीयते ।।"
(साहित्यदर्पण, ३।९५।९६)

किया है और इस छन्द में अधखुले अंगों की माया से अभिभूत होकर, 'दीप्ति' का मोहक चित्रण किया है।

बाद के दो छन्दों में, प्रसाद श्रद्धा की अभिराम मुख-द्युति का चित्र खींचते हैं। मौखिक प्रकाश की चमक को वे कल्पना द्वारा सही-सही पकड़ नहीं पाते। "आह ! वह मुख !" में 'आह' अव्यय पद से, पहले ही, अपनी विस्मय-भावना का ध्वनन करते हैं। पुनः, जब वे उस मुख-श्री को पाठकों के ग्रहणार्थ उपमाओं मे बाँधना चाहते हैं, तब वह उन्हीं की मानसिक पकड़ से फिसल जाती है। यही कारण है जिससे वह दीप्तिमत् मुख कभी पश्चिम के सांध्य व्योम में घिरने वाले श्याम घनखण्डों के बीच "छविधाम अरुण रवि-मंडल" की प्रभा ग्रहण करता है, तो कभी नव इन्द्रनील के लघु शृंग को फोड़कर माधवी रजनी में प्रकट होने वाले धधकते ज्वालामुखी की उर्मिल कान्ति ग्रहण कर लेता है—

"आह ! वह मुख ! पश्चिम के व्योम-
बीच जब घिरते हों घन श्याम;
अरुण रवि-मंडल उनको भेद
दिखाई देता हो छविधाम।
या कि, नव-इन्द्रनील-लघुशृंग
फोड़कर धधक रही हो कान्त
एक लघु ज्वालामुखी अचेत
माधवी रजनी में अश्रान्त।" (श्रद्धा)

'घनश्याम' तथा 'नवइन्द्रनील,' स्पष्ट-ही, 'नील परिधान' का प्रतीकत्व करते हैं। स्मरणीय है कि श्रद्धा ने नीले रोमवाले मेषों के चर्म-खण्ड ही पहने हैं, कोई कटी-छँटी वस्त्र-भूषा नहीं। सांध्य प्रतीची में जो श्याम, सुकुमार, धुनी हुई रुई के स्निग्ध फुहारों के समान, मेघ-खंड तैरते एकत्र हो जाते हैं, उनका कितना घनिष्ठ साम्य इन चर्मखंडों से होगा जिनके ऊपर नीली-नीली, स्निग्ध-मृदुल रोम-राजियाँ उगी हैं ! और, उन सुकुमार मेघ-खंडों के बीच अरुण विभा से चमकने वाला रवि-बिम्ब अवश्य-ही 'छविधाम' होता है। नीले परिधान में चमकने वाला वह मुख, अरुण प्रभा से स्नात होकर, वैसा-ही 'छविधाम' है। सांध्य सूर्य-बिम्ब का उपमान यहाँ कथमपि अनुचित नहीं। रंग-सादृश्य तो कवि को यों ही, अनायास मिल गया है। उसकी प्रकृत विवक्षा है, श्रद्धा की मोहक मुख-कान्ति की विशिष्ट जाति की व्यंजना जिसकी विवृति के हेतु प्रकृति के रमणीय राज्य में सांध्य रवि-बिम्ब के अतिरिक्त उसे अन्य कोई पदार्थ दिखाई नहीं पड़ा।

'ज्वालामुखी की धधकती कान्ति' का प्रतीक भी इसी मुख-द्युति की अमन्द प्रकृति की विवृति के हेतु ही नियोजित हुआ है। रमणियों, विशेषतया अप्रतिहत यौवन वाली कुमारियों, की मौखिक चमक का शील ज्वालामुखी की चमक का समधर्मा हो सकता है - इस यथार्थ में सन्देह का अवकाश नहीं होना चाहिए। स्मरण यह रखना है कि यह ज्वालामुखी केवल 'लघु' है, नवजात है। इसकी धधकती कान्ति अग्नि की लपलपाती लहरियों से पूर्ण है। श्रद्धा की मुख प्रभा से भी कान्ति की उर्मियाँ उठती हैं। इनकी भावना कराने के लिए 'धधकते ज्वालामुखी' का उपमान कवि-कल्पना में स्वतः आ गया। 'जलते दीपक की लौ' की योजना भारतीय कवियों ने नृत्यशील चमक के द्योतनार्थ प्रायः की है।[1] प्रसाद की सुन्दरी तो "नयन का इन्द्रजाल" है जिसके लिए बिजली का फूल सांध्य रवि-बिम्ब तथा लघु ज्वालामुखी सबका सहयोग आवश्यक है। ज्वालामुखी की प्रखर कान्ति को कोमल बनाने के निमित्त ही, उसे लघु, सद्यःस्फुटित बताकर, 'माधवी रजनी', वसन्त की मोहक रात्रि, के पर्यावरण में उपन्यस्त किया गया है। अतएव, यह समझना कि इस उपमान से "क्रोध एवं उग्रता से भरे हुए मुख का चित्र" सामने उपस्थित होता है, युक्तिसंगत नहीं। "अचेत" विशेषण (अथवा अव्यय) के प्रयोग से श्रद्धा के मौग्ध्यपूर्ण सौन्दर्य की व्यंजना अभीष्ट है--यद्यपि उसका यह आभासित 'मुग्धत्व' (मुग्धा नायिका का शील) इसी सर्ग में आगे चल कर खंडित हो गया है जब वह मनु को उद्बोधन देती हुई अत्यधिक मुखर बन गई है। मूल तथ्य यह है कि प्रसाद सौन्दर्य मे आलोक की स्थिति परमावश्यक मानते हैं, और आलोक का स्वरूप एव स्वभाव, पात्र-भेद से थोड़ा-बहुत बदलता रह सकता है। आदिकवि ने रामायण मे राम के तपोबल से प्रदीप्त, किन्तु सुर, असुर एवं जनसाधारण के लिए कठिनाई से दीख पड़ने वाली शापग्रस्त अहल्या के रूपांकन में उसे प्रज्वलित, अग्नि-शिखा के समान प्रदर्शित किया है, यथा—

---

१. "संचारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः॥"
(रघुवंश, ६।६७)

"सुंदरता कहुँ सुंदर करई। छबिगृहँ दीपसिखा जनु बरई॥"
(राम०, बालकाण्ड)

"सघन कुंज, घनघन-तिमिर, अधिक अँधेरी राति।
तऊ न दुरिहै, स्याम, वह दीपसिखा सी जाति॥"
(बिहारी-रत्नाकर, २९९)

"प्रयत्नान्निर्मितां धात्रा दिव्यां मायामयीमिव ।
सतुषारावृतां साभ्रां पूर्णचन्द्रप्रभामिव ॥
धूमेनापि परीताङ्गीं दीप्तामग्निशिखामिव ।
मध्येऽम्भसो दुराधर्षां दीप्तां सूर्यप्रभामिव ॥"

(बालकाण्ड, ४९।१६-१७)

—'राम ने विधाता के द्वारा प्रयत्नपूर्वक निर्मित, दिव्य मायामूर्ति के समान, तुषार से ढकी मेघयुक्त पूर्णचन्द्र की प्रभा के समान, धूम से आच्छादित प्रज्वलित अग्नि-शिखा के समान तथा जल-मध्य चमकने वाली दुर्धर्ष सूर्य-प्रभा के समान उस अहल्या को देखा ।'

'जलती हुई आग की लपट' से आदिकवि को जो व्यंजना[1] अभीष्ट है, वही प्रसाद को 'धधकते ज्वालामुखी' से है । कादंबरी में, शिव-पूजती महाश्वेता को बालरवि की रश्मियों की प्रभाओं से, निर्मित होने के साथ-साथ, 'उठती हुई बिजली के तरल तेज' के समान बताया गया है —

"उन्मिषत्तडित रत्नतेजस्वाभ्रामि-+++++× ।"

(कादं०, पूर्वभाग)

अतः, सौन्दर्यव्यसनी 'पूर्वसूरियों' की अनुभूतियों के प्रकाश में 'अचेत ज्वाला मुखी' का उपमान अनुचित नहीं है जैसा कुछ भाष्यकारों ने समझा है ।[2]

घुँघराली अलकों का चलता वर्णन कर कवि ने श्रद्धा की मुसकान-माधुरी के रमणीय चित्र अंकित किये हैं इन्हे पूरा का पूरा देखें—

"और उस मुख पर वह मुसक्यान !
रक्त किसलय पर ले विश्राम
अरुण की एक किरण अम्लान
अधिक अलसाई हो अभिराम ।
नित्य-यौवन-छवि से ही दीप्त
विश्व की करुण-कामना-मूर्ति;
स्पर्श के आकर्षण से पूर्ण
प्रकट करती ज्यों जड़ में स्फूर्ति ।
उषा की पहिली लेखा कान्त,
माधुरी से भीगी भर मोद;

---

१. ऋग्वेद में दीप्ति की व्यंजना के लिए 'अग्नि-शिखा' का प्रयोग हुआ है । (६।६६।१०)

२. 'कामायनी-भाष्य' (डॉ० द्वा० प्र० सक्सेना), पृ० १२५.

मद-भरी जैसे उठ सलज्ज
भोर की तारक-द्युति की गोद"

—लाल रंग वाले कोमल पल्लवो पर बालरवि की एक अम्लान अरुण किरण पड़ी हो, किन्तु उसमे चाचल्य न हो प्रत्युत वह अलसाई हो—ऐसी ही वह मधुर मुसकान थी जो श्रद्धा के रक्तिम, सुकुमार अधरों पर शिथिल भाव से अपनी लालिमा फैलाये थी। श्रद्धा यौवन की नवविकसित छवि से दीप्तिमयी बनती हुई, सकल कामनाओं की सजीव मूर्ति है जिसमें विश्व-प्राणियों के प्रति असीम करुणा भरी है। वह मृदु मुसकान ऐसी थी जो जड़ पदार्थ में भी नवीन प्राणों (स्फूर्ति) का संचार करती थी और दर्शकों के मन में उस ललितांगना को स्पर्श करने का आमंत्रण देती थी। भानुसार की पूर्व बेला में टिमटिमाने वाले तारों के मन्द प्रकाश की गोद मे माधुरी एवं अमोद से भरी हुई उषा की पहली क्षीण रेखा का शील ग्रहण किये थी वह मुसकान, जिसमें यौवन की लजीली, प्रमोदपूर्ण मदविह्वलता भरी हुई थी।

नवोदित यौवन की अलसाई मुसकान—वह यौवन जो लालित्य भोगादि से उत्पन्न 'शोभा' तथा मदनोद्रेक से आप्यायित द्युति वाली शोभाधर्मिणी 'कान्ति' की सीमा का अतिक्रमण कर, अतिविस्तीर्ण कान्ति वाली 'दीप्ति' का आधायक बन गया है, उसकी सहचारिणी मुसकान—कितनी चित्ताकर्षक होगी इसका अनुभव रसज्ञ सहृदय-जन आसानी से कर सकते है। उस मुसकान में यौवन-सुलभ मद[1] एवं सलोनी लज्जा की रेखाएँ झलकती हैं और उसमें शीतल-स्निग्ध ज्योति का माधुर्य छलकता है। ऐसी सरस, विलक्षण मुसकान उस नव-लअनंगा के अंगस्पर्श का आकर्षण देती हो तो इसमें सन्देह का क्या अवकाश शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध का समुच्चय ही तो नारी है—"शब्दस्पर्शरूप-रसगन्धानां स्त्यानं स्त्री।"

उस मद-विह्वल मुसकान का अन्तिम बिम्ब, श्रद्धा के उत्फुल्ल यौवन-सौन्दर्य का नये सिरे से भावन कराते हुए, कवि अंकित करता है, निम्न पंक्तियों में

"कुसुम-कानन-अंचल में मन्द—
पवन-प्रेरित सौरभ साकार,
रचित-परमाणु पराग शरीर
खड़ा हो, ले मधु का आधार!

---

१. "मनो विकारः सौभाग्ययौवनाद्यवलेपजः।"
(साहित्यदर्पण, ३।१०५)

और, पड़ती हो उस पर शुभ्र
नवल मधु-राका मन की साध;
हँसी का मद-विह्वल प्रतिबिम्ब
मधुरिमा-खेला सदृश्य अबाध ।"

—'फूलों से लदी वनस्थली में सौरभ मूर्तिमान होकर खड़ा है । मन्द-गति से बहता पवन उसे हिला रहा है । उस साकार सौरभ का शरीर पराग के परमाणुओं से निर्मित है जो मधु (पुष्प-रस) से सने हुए हैं । उस पर मन को प्यारी लगने वाली वसंत की नवीन पूर्णिमा का शुभ्र आलोक पड़ रहा है । श्रद्धा की मद-गर्भित हँसी की, जो निरन्तर माधुर्य के साथ क्रीड़ा किया करती है, छाया ऐसी-ही मोहक प्रतीत हो रही है जैसी यह माधवी राका की सरस ज्योति ।[1] व्यंजना यह है—

श्रद्धा की यौवन-सम्पदा विकच कुसुमों के कानन की प्रतिस्पर्धी है । उसका शरीर मधु से लथपथ पराग के परमाणुओं से रचित है । उसमें से मादक सुगंध निकल रही है । उसमें किञ्चित् कम्पन भी हो रहा है जो मनु के सान्निध्य से उत्पन्न भावोद्रेक का सूचक है । उसकी मुख-द्युति चन्द्रमा की कान्ति से होड़ करती है जैसा कवि पहले-ही कह चुका है । उसकी मुसकान में माधुरी गर्भित है । जब वह मदिर भाव से हँसती है, तब उस हँसी की मधुर छाया चारों ओर फैल जाती है जिसमें वसंती राका का मधुमय आलोक तथा पुष्प-मधु का गीलापन ओत-प्रोत है । तब, वह हँसी कितनी मादक होगी—यह अनुमेय है ।

रूप को निर्मित करने वाले परमाणुओं का कथन संस्कृत-साहित्य में उपलब्ध है । सुबंधु के 'वासवदत्ता' में वासवदत्ता को "वनराजिरिव नवमालिकोद्भासिता" (नवमालिका से आलोकित वनस्थली की भाँति) बताया गया है और उसके प्रेमास्पद कन्दर्प केतु के विषय में कहा गया है कि "अपनी रूप-रचना की निपुणता को एक जगह प्रदर्शित करने के हेतु, ब्रह्मा ने तीनों लोकों के रूप-परमाणुओं को लेकर उसका सुन्दर शरीर बनाया है, नहीं तो इसमें कैसे इतनी अनुपम कान्ति फूट पड़ती ?"[2] इसी प्रकार, 'कादंबरी' में कादंबरी के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए, चन्द्रापीड कहता है—"अहो ! विधाता ने इसके रूप में

---

१. भागवत में स्त्री को सुमनरस के गुण वाली कहा गया है—
"सुमनरसधर्माणां स्त्रीणां+++" (४।२९।५४)

२. "अहो ! प्रजापते रूपनिर्माण कौशलम् ! मन्ये, स्वस्यैव नैपुण्यस्यैकत्र दर्शनोत्सुकमनसा वेधसा जगत्त्रयसंभवायिरूपपरमाणुनादाय विरचितोऽयमिति अन्यथा कथमिवास्य कान्ति विशेष ईदृशो भवति ।" ('वासवदत्ता')

समस्त रमणीय गुणों का एक विचित्र धाम उत्पन्न किया है । उसने कहाँ से इन अत्यन्त सुंदर परमाणुओं को पाया ?[१]

प्रसाद जैसा पहले ही कहा जा चुका है, सौन्दर्य-वर्णन की अपनी पूर्ववर्ती समृद्ध परम्परा के सतर्क उत्तराधिकारी हैं और श्रद्धा के सौन्दर्य-चित्रण में उससे भरपूर प्रेरणाएँ ग्रहण की हैं । प्रस्तुत हृदय ग्राही रूप-बिम्ब में लाल, नीले तथा श्वेत रंगों का विनियोग कवि की सौन्दर्य-भावना की समृद्धि को उद्योतित करता है । सौन्दर्य-वर्णन के प्रसंगों में भारतीय कवियों ने इन्हीं रंगों का चयन एवं अंगीकरण किया है । परम्परा तथा निजी प्रवृत्ति के अनुकूल ही, प्रसाद ने श्रद्धा के वर्तमान सौन्दर्य-बिम्ब में पवित्रता, मधुरता, सुकुमारता, शालीनता, मनोग्राह्यता एवं इन्द्रिय-क्षोभ की मौन क्षमता का विलक्षण रसायन प्रस्तुत किया है । चन्द्रापीड के शब्दों में कहने की प्रेरणा होती है—"यह कामबाला श्रद्धा विधाता से उत्पन्न, सर्व-रमणीय गुणों की संकलित धाम है !"

प्रसाद की अभिव्यंजना अवश्य, युग-धर्म का पालन करती हुई, पुराने कवियों की प्रत्यक्ष, अभिधानिष्ठ वर्णन-शैली का परित्याग करती है, यद्यपि प्रतीक एवं उपमान सभी पुराने एवं परिचित हैं, और कोमल-कान्त-ललित पदविन्यास तथा ध्यानाकर्षण की अभिनव, विस्मय-जनक भंगिमा का आश्रय लेती हुई, सचमुच नयन का ही नहीं, प्रत्युत मन का भी अभिराम इन्द्रजाल प्रस्तुत करती है ।

श्रद्धा के सौन्दर्य का मुख्य वर्णन तो यहीं उपलब्ध है, लेकिन अन्य सन्दर्भों में भी उसके रूप-वैभव की संक्षिप्त झाँकियाँ प्रस्तुत की गई हैं । 'काम' सर्ग में, काम उसकी सौन्दर्य-सम्पदा का बखान करते हुए कहता है—"वह कितनी सुन्दर तथा भोली-भाली है ! वह ऐसे फूलों की डाली है जिनसे रंगों ने खेल खेला हो ।" 'फूलों की डाली' से वही व्यंजना अभिप्रेत है जो "कुसुम-कानन-अंचल" तथा "कुसुम-वैभव में लता-समान" जैसी पदयोजना से है । रंगों के खेलने में श्रद्धा की देह-कान्ति की लोभनीयता व्यंग्य है । 'वासना' सर्ग में, इसी कान्ति की स्निग्धता एवं समृद्धता की व्यंजना के लिए उसे "ज्योत्स्ना-निर्झर" कहा गया है : ऐसा निर्झर जिसमें से निसर्गतः चाँदनी का आलोक फूटकर झरता जा रहा हो । तथ्य यह है कि कवि श्रद्धा को रूप-कान्ति की भावना से अभिभूत है जिस कारण, वह उसे गुलाबी रंग वाला बिजली का फूल, लघु ज्वालामुखी और यहाँ चाँदनी का झरना जैसे उपमानों एवं प्रतीकों से आख्या-

---

१. अहो ! चित्रमेतदुत्पादितं वेधसा सर्वरमणीयानामेकं ।
धाम ! कुत एते रूपातिशयपरमाणवः ?" ('कादम्बरी' पूर्वभाग)

पित करता है । शयितावस्था में भी, श्रद्धा की यह चन्द्रिकोज्ज्वल कान्ति उसके सौन्दर्य को जागृत रखती है–

"जागृत था सौन्दर्य, यदपि वह
सोती थी सुकुमारी;
रूप चन्द्रिका में उज्ज्वल थी
आज निशा-सी नारी।" (कर्म)

आंग्ल कवि बायरन की नायिका सौन्दर्य-संसार में विचरण करने वाली ऐसी ही रजनी है–

"She walks in beauty like the night
Of cloudless climes and starry Skies."

श्रद्धा के सुकुमार अंग 'मांसल' भी हैं क्योंकि उसका 'कुसुम-वैभव' पूर्णत: उत्फुल्ल हो चुका है । उसके पुष्ट, मांसल अंगों के परमाणुओं से प्रकाश की किरणें फूटती थी जिनमे बिजली के प्रकाश की प्रखरता थी । यह सौन्दर्य-दर्शन तरल वासना से उद्वेजित मनु कर रहे हैं जिनके भीतर वह मादक रूप-वैभव बिजली की किरणें दौड़ाता-सा प्रतीत हो रहा है । ऐन्द्रिय क्षोभ की यह क्षमता नारी-सौन्दर्य की कसौटी है । 'श्रद्धा' सर्ग में, श्रद्धा के सौन्दर्य-बिम्बन में कवि की रसचेतना प्रच्छन्न आयामों से संयुक्त है । 'कर्म' सर्ग में, उस कामबाला को बुलाकर, तनिक अधिक समीपी, अधिक 'इंडिमेट' ढंग से उसके 'कुसुम-वैभव' का चित्रण करने का सुयोग कवि को प्राप्त हो गया है । इसलिए, वह मनु के माध्यम से श्रद्धा की स्निग्ध अलकों की डोरी में अपने जीवन का कण–कण उलझा लेता है,[1] उसके खुले चिकने भुज-मूलों से मिलने वाले 'आमन्त्रण' की भावना से विभोर हो उठता है तथा 'उन्नत' उरोजों के आलिंगन-सुख की कल्पना-तरंगों पर तैरने लगता है[2] और निश्वासों के कारण उठने तथा गिरने वाले उरस्यों में जीवन के उठते ज्वार की भावना से भर जाता है ।[3]

---

१. "अलकों की डोरी में जीवन
कण-कण उलझे जाते।" (कर्म)

२. "खुले मसृण भुज-मूलों से
वह आमन्त्रण था मिलता;
उन्नत वक्षों से आलिंगन—
सुख लहरों-सा तिरता।" (वही)

३ "नीचे हो उठता जो धीमे—
धीमे निश्वासों में;

शयित श्रद्धा के मादक सौन्दर्य का चित्रण करते हुए, प्रसाद 'स्पर्श-संयोग-शृंगार' का एक ऐसा चित्र प्रस्तुत करते है जो सरस एवं स्निग्ध होने के साथ-ही, भावक की अन्तस्संज्ञा को व्यथा से भी विकल कर देता है—

"छूते थे मनु और कंटकित
होती थी वह बेली;
स्वस्थ व्यथा की लहरों-सी
जो अंग-लता थी फैली।"

मनु की हिंसा के तीव्र बोध से श्रद्धा स्वस्थ होने पर भी व्यथित है, पीड़ित है। उसकी अंग-लता पृथ्वी पर फैली हुई है। लता में सुकुमारता की जो व्यंजना है, वह आसानी से समझी जा सकती है। इस भूमि-लग्न लता का मादक वैभव थोड़ी देर के लिए हमारे मानसिक क्षितिज से तिरोहित हो जाता है। श्रद्धा का अन्तस्तल व्यथा एवं मार्मिक वेदना से ओत-प्रोत है। जैसे सिन्धु में लहरें उठती हैं, वैसे-ही उसके अन्तस्तल में वेदना की लहरें उठ रही हैं। वे व्यथा-लहरियाँ श्रद्धा की अंग-वल्लरी में दृष्टिगोचर हो रही हैं। चित्र का एक मर्मस्पर्शी आयाम यह है। दूसरा रसान्वेषी आयाम वासना-विगलित मनु से प्राप्त होता है। मनु श्रद्धा के कोमल शरीर को स्पर्श करते हैं। इससे उसके शरीर में रोमांच हो जाता है। 'उस बेली में कांटे उत्पन्न हो जाते हैं'—यह कथन लक्ष्यार्थ को लाँघकर इस प्रतीयमान अर्थ की व्यंजना करता है कि श्रद्धा के अंगों में उत्पन्न पुलक अथवा रोमांच इतना उग्र एवं घनीभूत है कि वह प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। यह संयोग-शृंगार के 'सत्त्व-संभूत' सौन्दर्य का एक विशिष्ट द्वितीय आयाम है। इस प्रकार प्रस्तुत चित्र में रति एवं वेदना की विलक्षण 'संधि' उतर आई है। रति सम्भवतः श्रद्धा में भी है क्योंकि 'अनुकूल अर्थ में मन के प्रवणायित' हुए बिना पुलक सात्त्विक का उदय कठिन होगा। प्रसाद के इस सौन्दर्य-चित्र की बिरादरी साहित्य में कदाचित् ही उपलब्ध होगी।

श्रद्धा के रूप-सौन्दर्य का जो पटल अब तक हमारे सामने खुला है, "अधखुले अंग" से लेकर "खुले मसृण भुज-मूलों" तक, उसमें रति-भाव की प्रधानता रही है। प्रसाद, किन्तु, सौन्दर्य को रति-छाया में ही सीमित रखना नहीं चाहते। उससे आगे बढ़कर, उन्होंने गर्भधारिणी श्रद्धा का सौन्दर्य भी देखा है। 'सौन्दर्य' शब्द का प्रयोग जान-बूझकर कर रहा हूँ क्योंकि भावी मातृ-मूर्ति का

जीवन का ज्यों ज्वार उठ रहा
हिमकर के हासों में!" (वही)

कोरा 'विवरण' नहीं दिया गया है, अपितु उसे सौन्दर्य की 'दृष्टि' से आकलित किया गया है। यह चित्र "नयन का इन्द्रजाल अभिराम" वाले पहले चित्र से किसी प्रकार न्यून मूल्य का चित्र नहीं है। नीचे के छन्द ध्यान से पढ़ें—

"केतकी-गर्भ-सा पीला मुँह,
आँखों में आलस-भरा स्नेह;
कुछ कृशता नई लजीली थी
कंपित लतिका-सी लिये देह!
मातृत्व-बोझ से झुके हुए
बँध रहे पयोधर पीन आज;
कोमल काले ऊनों की नव
पट्टिका बनाती रुचिर साज।
सोने की सिकता में मानो
कालिन्दी बहती भर उसास;
स्वर्गंगा में इन्दीवर की
या एक पंक्ति कर रही हास!
कटि में लिपटा था नवल वसन
वैसा ही हलका बुना नील;
दुर्भर थी गर्भ-मधुर-पीड़ा
झेलती जिसे जननी सलील।
श्रम-बिन्दु बना-सा झलक रहा
भावी जननी का सरस गर्व;
बन कुसुम बिखरते थे भू पर
आया समीप था महापर्व।" (ईर्ष्या)

'श्रद्धा का मुँह केवड़े के मध्य-भाग में स्थित पराग-कोश के समान पीला पड़ गया है। आँखों में आलस्यपूर्ण स्नेह (भावी शिशु के लिए) छलक रहा है। शरीर कुछ दुबला हो गया है। उसमें नवीन लज्जा का भाव दिखाई पड़ता है। देह लता की नाईं काँपती रहती है। पयोधर पयस्-भार से झुक गये हैं। अतः, उन्हें कोमल काले ऊन की नई पट्टी से श्रद्धा ने बाँध रखा है। यह बड़ा अभिराम शृंगार हो गया है। पीले पड़े शरीर में वह नीली पट्टी ऐसी शोभती है जैसे स्वर्ण की रेत में काले जल वाली यमुना बह रही हो; अथवा, जैसे आकाश-गंगा में नीले कमल की एक अटूट पंक्ति हँस रही हो। कटि में भी वैसा ही नवल वसन लिपटा हुआ है। भावी माता का स्नेह-स्निग्ध अभिमान पसीने की बूँदों के रूप में झलक रहा है। ये बूँदें जमीन पर ढुलक

जाती हैं जैसे लता से फूल झड़ रहे हों । महापर्व अब समीप आ गया है ।'

प्रस्तुत चित्र में कवि का हार्दिक उल्लास छलक पड़ा है। जितनी तन्मयता से पहले के रूप-बिम्ब अंकित हुए है, उतनी-ही तन्मयता सहृदयों को यहाँ भी प्रतीत होगी । यहाँ 'चन्द्रिका से लिपटा घन-श्याम' नहीं है और न है 'बिजली का फूल' । रमणी का सौन्दर्य यहाँ भावी जननी के सौन्दर्य में परिवर्तित, संस्कारित हो गया है । "उन्नत वक्षों का आलिंगन" कपूर की भाँति उड़ गया है और उसकी जगह मातृत्व-बोझ से झुके 'पयोधरों' ने ले ली है । 'पयोधर' सार्थक हैं, उनमें अब 'आँचल का दूध' भर गया है। शरीर पीला पड़ गया है, लेकिन उसकी कान्ति फिर भी सुवर्णाभ है । इसी कारण, सोने की रेत में नीली पट्टी वाली कालिन्दी प्रवाहित हो रही है अथवा शुभ्र आकाश-गंगा मे नीले कमल की मधुर पंक्ति उग आई है । कालिदास ने अलकापुरी की मन्दाकिनी की रेत को स्वर्णाभ बताया है, शब्दावली वही जो प्रसाद की है—"कनक-सिकतामुष्टिनिक्षेपगूढ़ै ।"[1] 'महापर्व' की व्यंजना तो बिलकुल प्रसन्न एवं निराली है। आकुलि ने श्रद्धा के लिए कहा था कि वह "मृदुलता की, ममता की छाया" है । मृदुलता-ममता की वही छाया और भी प्रस्फुट एवं विकसित होकर "सलील जजनी" का शील धारण कर चुकी है । "फलभरता के डर मे" जिसकी "मन की डाली" झुक जाती थी,[2] वह केवल प्रेमिका थी । तब, वह पत्नी बनी और हाथों में तकली लेकर कुछ अनमने भाव से मृगयाविहारी मनु के लौटने की प्रतीक्षा करती रही। उस संदर्भ में कवि उसकी घुँघराली अलकों की छवि-मात्र अंकित करता है जो पैर की एड़ी को चूम लेती हैं—"अलकें लेती थीं गुल्फ चूम ।"

पत्नि-सौन्दर्य के इतने अति-संक्षिप्त सकेत के अनन्तर, कवि ने मातृत्व-सौन्दर्य का अतीव तन्मयतापूर्ण चित्रण किया है । 'रघुवंश' के तृतीय सर्ग में सुदक्षिणा के गर्भ धारण करने का जो वर्णन हुआ है, उसकी छाया प्रसाद के वर्तमान चित्रण में देखी जा सकती है । लेकिन, 'महापर्व' वाला सौन्दर्य-संकेत तथा उसकी मधुर-मृदुल व्यंजना वहाँ उपलब्ध नही ।

'निर्वेद' सर्ग में मनु ने श्रद्धा को प्रभात की "स्वर्ण-किरण की चंचल-सी

---

१. उत्तरमेघ, ६

२. "पुलकित कदंब की माला-सी
पहना देती हो अन्तर में;
झुक जाती है मन की डाली
अपनी फलभरता के डर में ।" (लज्जा)

झिलमिल छाया" के रूप मे देखा है और 'दर्शन' में वह लोकानुभव की अग्नि में तप–गल कर "स्वर्ण-प्रतिमा" बन गई है। तब, वह उदार, निर्विकार एवं विश्व-मात्र से मैत्री करने वाली "मातृ-मूर्ति" का आयाम ग्रहण कर चुकी है।

यही है, आलोच्य काव्य में कामायनी के सौन्दर्य का चित्रण जिसमें प्रेमिका से लेकर उदारहृदया माता तक की उसकी दैहिक कान्तिमयी छवियों का समावेश हुआ है। श्रद्धा काम तथा रति की पुत्री है। इसलिए, उसके सौन्दर्य–वर्णन में स्वभावतः कामशास्त्रीय प्रेरणाएँ क्रियान्वित हुई हैं। स्वर्ण, संध्या, उषा, राका, मधुराका, कुसुम, वल्लरी, पल्लव, पारिजात, कमल, विद्युत, कदंब, निशा, निशाकर, ज्योत्स्ना, मलय-पवन, पराग, मकरन्द, शिशु-शाल, जलधर, सुधा, वनस्थली, केतकी, कालिन्दी, आकाश–गंगा, हिमकण, नीहार, मदिरा, कुन्द, फूलों की डाली, भ्रमरी इत्यादि प्रतीकों एवं उपमानों का विनियोग कर, कवि ने अपनी प्राचीन साहित्यिक परम्परा के प्रति गाढ़ी आसक्ति प्रदर्शित की है। पुनश्च, नारी-रूप की जो मूर्ति हमारे काव्य में चिरकाल से अंकित हुई है, उसी की पूर्ण प्रतिकृति श्रद्धा है। यह भिन्न बात है कि नखशिख का समारोह उसमें उपलब्ध नहीं, किन्तु चित्रण की रेखाएँ वही हैं। एक बात अवश्य आश्चर्यजनक है, यह कि प्रसाद ने इस सौन्दर्य–वर्णन में 'लावण्य' की चर्चा नहीं की है।[1] शायद मधुराका तथा स्वर्ण–कान्ति की विपुल माया में वह इस तरल तत्त्व को एकदम भूल ही गये। जिसकी श्वासों की सुगन्ध से पारिजात का उपवन खिल जाता हो,[2] उसमें लावण्य का स्पष्ट निवास न हो, यह विचित्र अभाव समझा जायेगा।

एक–दो अन्य विन्दुओं की ओर ध्यानाकर्षण करना आवश्यक प्रतीत होता है। पूर्ण यौवन की अधीश्वरी, 'विश्व–रानी' श्रद्धा स्वतः सौन्दर्य को कोरा चाक्षुष आकर्षण वाला, वासना का उभारने वाला पदार्थ नही मानती। इसीलिए, नग्न अथवा अर्ध-नग्न सौन्दर्य को 'कांतिमान आवरण' से ढक देना चाहती है, क्योंकि तभी उसकी दृष्टि में सच्चा सौन्दर्य निखरता है और तभी

---

१. "मुक्ताफलेषुच्छायायास्तरलत्वमिवान्तरा।
प्रतिभाति यदंगेषु लावण्यं तद्विदोच्यते ॥" (उज्ज्वलनीलमणि)

२. "स्मिति मधुराका की, श्वासों से
पारिजात-कानन खिलता।" (निर्वेद)

आँखों की वासना भी कुछ दब जाती है।[1] दूसरा विन्दु यह उल्लेखनीय है कि श्रद्धा के रूपसौन्दर्य में करुणा' का तत्त्व भी विद्यमान है। उसका हृदय विश्वमात्र की कल्याण–कामना से भरा है। इसी कारण, वह उसके दु.ख-संताप से द्रवित है और उसका हृदय करुणा से ओतप्रोत है। करुणा का यह तत्त्व उसके बहि-रंग सौन्दर्य में भी प्रतिच्छायित है। करुणा की इसी दृश्यमान, झलक के कारण, श्रद्धा आकुलि को 'मृदुलता एवं ममता की छाया' के रूप में दिखाई पड़ी थी। प्रसाद का यह नैतिक साहस श्लाघनीय कहा जायेगा कि उन्होने 'वासना की मधुर छाया', 'छवि-धाम' कामायनी के सौन्दर्य को 'विश्व की करुण कामना–मूर्ति' के रंगों में भी रंजित कर दिया है।[2]

प्रसाद के सौन्दर्य-बोध की जटिलता एवं संकुलता की प्रतीति के लिए इड़ा के रूप-सौन्दर्य पर भी दृष्टिपात करना आवश्यक है। श्रद्धा, जैसा हम अभी दिखा चुके है, उनकी सौन्दर्य-भावना के एक मुख्य आयाम का प्रतिनिधित्व करती है जो अपने मे स्वय सश्लिष्ट है। इड़ा के सौन्दर्य-दर्शन में कवि की दृष्टि तो वही है, नखशिख की माया मे लिपटी हुई। लेकिन, इस चित्रण में वह समारोह नही, कल्पना तथा अनुभूति का वह विलास नही जो श्रद्धा–सौन्दर्य के चित्रण की विशेषता है। प्रत्यूष के मधुर राग से पूर्ण पलक पर वह सुन्दर बाला प्रकट होती है, जैसे चित्रपट पर कोई नवीन चित्र प्रत्यक्ष हो जाय। वह शुभ्र कमलों की नई माला के समान सुन्दर है और "नयन–महो-त्सव की प्रतीक" है। उसके सुषमापूर्ण मुख पर मुसकान की रेखाएँ है जो संसार मे अनुरक्त होने का मौन आमन्त्रण दे रही है। 'मालतीमाधव' में मालती को भवभूति ने "नेत्र-चन्द्रिका" कहने के साथ, उसके दर्शन को एकमात्र 'महोत्सव' बताया है।[3] तथापि, इड़ा मालती की पंक्ति में नही बिठाई जा

---

१. "वासना-भरी उन आँखों पर, आवरण डाल दे कान्तिमान;
जिसमे सौन्दर्य निखर आवे, लतिका मे फुल्ल-कुसुम-समान।"
(ईर्ष्या)

२. "नित्य यौवन-छवि से ही दीप्त
विश्व की करुण-कामना-मूर्ति।" (श्रद्धा)
"कौन करुण रहस्य है तुममें छिपा छविमान।" (वासना)
"मुख मण्डल पर करुण कल्पना उनको रही पिरोती।" (कर्म)

३. "जगति जयिनस्ते भावा नवेन्दुकलादयः
प्रकृतिमधुराः सन्त्येवान्ये मनो मदयन्ति ये।
मम तु यदियं याता लोके विलोचन चन्द्रिका
नयनविषयं जन्मन्येकः स एव महोत्सवः॥" (१।३०)

सकती है। उसका प्रभाव मनु के अवसाद-ग्रस्त मन पर वैसा-ही पड़ता है जैसा श्रद्धा के रूप-साक्षात्कार से पड़ा था। मनु का वैराग्य नष्ट हो जाता है और उनकी पुरानी जीवनासक्ति पुनः लौट आती है। इड़ा की मुसकान आलोक-मयी है। उसकी रूप–द्युति सुनहली, 'हेमवती', है। उसके प्रकट होने से चतु-र्दिक 'उजली माया' फैल गई है। मनु के हृदय में मधुर प्यार से पूर्ण अतीत की स्मृतियाँ छोटी-छोटी जल–लहरियों की भाँति नाच उठती हैं। पाठक सद्यः स्मरण करेंगे कि श्रद्धा के दर्शन से भी इसी प्रकार की भावनाएँ मनु अथवा कवि के हृदय में उठी थीं। अन्तर केवल माप अथवा पैमाने का है। कवि ने श्रद्धा के संदर्भ में अधिक जगह घेरी है जबकि इड़ा के विषय में उसने वाणी एवं कल्पना की कंजूसी की है।

लेकिन, ऐसा करते समय, कवि का विशिष्ट उद्देश्य रहा है—इड़ा को सौन्दर्यशालिनी बताते हुए भी श्रद्धा की जाति से पृथक् रखना। जीवन का अनुराग मनु को वह भी सिखायेगी जैसे श्रद्धा ने सिखाया था, किन्तु जहाँ वह 'कामबाला' भाव तथा ममत्व का मार्ग दिखाती है, वहाँ इड़ा बुद्धि तथा तर्क की सरणी उद्घाटित करती है। इड़ा का नखशिख-वर्णन उस 'प्रतिभा-प्रसन्न' मुख वाली नारी की क्षमता एवं सामर्थ्य का ही उद्योतन अधिक करता है, उसकी सौन्दर्य–माधुरी की विवृति कम, शायद बिलकुल नहीं। देखिये, यह 'नयनमहोत्सव' वाली 'सुन्दर बाला' का चित्र—

"उसकी अलकें तर्क-जाल की भाँति बिखरी हुई हैं। उसका ललाट विश्व के मुकुट के समान सुन्दर तथा चन्द्रमा के टुकड़े के समान कान्तिमान् है। उसके दोनों नेत्र कमल-पत्र की बनी कटोरियों के समान प्रतीत होते हैं जिनसे अनुराग तथा विराग दोनों के भाव एक-साथ ढल रहे हैं। उसका मुख अध-खिले कुसुम के समान सुन्दर दिखाई पड़ता है जिसमें भ्रमरों की मधुर गुंजार से स्पर्धा करने वाला गान भरा हुआ है। उसके उन्नत उरोज ऐसे दीखते है जैसे विश्व का सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान उन्हीं में संकलित हो गया हो। उसके एक हाथ में मानों कर्म का कलश है जिसमें पार्थिव जीवन का आनन्द-रस भरा हुआ है और दूसरा मानों मधुर एवं निर्भय अवलम्ब देकर विचारों के आकाश को टिकाये हुए है। उसकी त्रिबली में सत्त्व, रजस् एवं तमस् की तरंगें उठ रही हैं। शुभ्र, उज्ज्वल वस्त्र कुछ तिरछे ढंग से उसकी देह में लिपटा हुआ है। चरणों में ऐसी गति है जिसमें ताल भरा हुआ हो।"

इस नखशिख से क्या रूप आपके मनोनेत्रों के सम्मुख उतरता है, तनिक विचार करें। "बिखरी अलकें ज्यों तर्क जाल" से विस्मय का भाव उत्पन्न होता है जो न आकर्षण है, न विकर्षण। 'विश्व-मुकुट' तथा 'शशि-खंड' से

प्रशस्त, चमकीले ललाट का बिम्ब बनता है और यह भी हमें, किंचित् आकर्षित करते हुए, विस्मय से ही भर देता है। अनुराग-विराग एकसाथ ढालने वाले मदिरा के प्याले जैसे नेत्रों से जीवन-मदिरा के पान में छके मनु अथवा किसी भी ऐसे व्यक्ति के लिए गाढ़ आकर्षण है। 'गुंजरित मधुप से संयुक्त मुकुल' भी रसज्ञ को लुभाता है। वक्षस्थल पर जब सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान एकत्र होता है, तब भय अथवा आशंका का ही जनन होता है। एक हाथ में कर्म-कलश देख कर, कर्म करने की प्रेरणा होती है और दूसरे हाथ को विचारों का नभ टिकाये देख कर, जीवन-रस की सुखद प्राप्ति में कुछ खटका अथवा सन्देह-सा होने लगता है : 'मधुर अवलम्ब' में 'मधुर' का प्रयोग तो कवि की आदत का नमूना है। त्रिगुण तरंगों वाली त्रिबली भी आकर्षण नहीं करती, अपितु भय-मिश्रित विस्मय का ही प्रादुर्भाव करती है। और, 'तिरछे लिपटे आलोक-वसन' तथा 'ताल-भरी' चरणों की चाल से तो वह नारी चतुर नर्तिनी अथवा नर्तिका बन गई है। सभी अंगों को मिला कर इड़ा की जो समन्वित प्रतिमा बनती है, उसमें प्रतिभा, बुद्धि, साहस, कर्म-प्रेरणा, विस्मय, आशंका तथा इस भावना का कि यह विलक्षण नारी पूर्ण विश्वास की आस्पद नहीं है, एक विचित्र संमिश्रण अभिव्यक्त होता है। ऐसी 'सुन्दरी' के प्रति मनु-जैसा साहसी एवं भोग का भूखा व्यक्ति ही आकर्षित हो सकता है। शायद, उसके सुषम मुख-मंडल पर खेलने वाली मुसकान एवं उसकी हैमनी कान्ति ने ही उसे नयन-महोत्सव का प्रतीक बना दिया है।

किन्तु, इड़ा के रूप-सौन्दर्य को अनन्य प्रतिभा से संश्लिष्ट कर, प्रसाद ने अपने अभीष्ट उद्देश्य की सिद्धि में एक अगला, आवश्यक कदम बढ़ाया है। स्मरणीय है कि श्रद्धा के विषय में कवि ने कहीं 'प्रतिभा' शब्द का प्रयोग नहीं किया है। वह 'ऐसे फूलों की डाली' है जिनसे रंगों ने होली खेली है। 'जड़-चेतनता की गाँठ' भी वह खोल सकती है, किन्तु 'ऋतुपति' के साथ उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। इड़ा में मधुराका की मदिर माया विद्यमान नहीं। उसकी 'नुकीली नासिका के फरकने वाले पतले पुट' भी किसी ऐसी मधुमयी धारणा का प्रतिवाद करते हैं।[1] वह भी 'जड़ता को चैतन्य' बनाने का उद्‌बोधन देती है और इसके निमित्त, 'परम रमणीय' तथा 'अखिल ऐश्वर्य-भरी' प्रकृति के निर्मम 'शोध के लिए बुद्धि का अवलंब लेने की प्रेरणा मनु को देती है। प्रसाद द्वारा अंकित इड़ा का रूप-बिम्ब प्रयोजन-पुरस्सर है। उपनिषद् के शब्दों में,

---

१. "नासिका नुकीली के पतले पुट फरक रहे स्मित अमोल।" (इड़ा)

श्रद्धा जहाँ 'पुत्रैषणा' से भी अनुप्राणित है,[१] वहाँ इड़ा 'लोकैषणा' से अनुप्रेरित है।[२] अतएव, इड़ा का प्रस्तुत रूप-चित्रण सर्वथा उचित एवं निमित्तपूर्ण है। प्रसाद का यह बिम्ब निश्चित-ही बिलकुल मौलिक है और मानव-सौन्दर्य की कल्पना एवं चित्रण मे एक अभिनव साहसपूर्ण प्रयोग है। काश, कोई चतुर चितेरा इड़ा के इस रूप को, उसकी पूर्ण व्यंजना के साथ, अपनी कुशल तूलिका में बन्दी बना लेता !

ङ. सामान्य टिप्पणी

'कामायनी' की सौन्दर्य-भावना का विवेचन समाप्त करने के साथ, कतिपय बिन्दुओं की ओर ध्यानाकर्षण आवश्यक प्रतीत होता है। सौन्दर्य का जैसा क्रमपूर्ण एवं सुसंगत निरूपण यहाँ उपलब्ध होता है, वैसा संस्कृत अथवा हिन्दी साहित्य में अन्यत्र दृष्टिगोचर नही। प्रकृति का सौन्दर्यांकन हो चाहे मानवी का सौन्दर्य-चित्रण हो, प्रसाद नारी-भाव को सतह के नीचे और सतह के ऊपर सतर्कता से पकड़े रहते हैं। इसी कारण, प्रकृति का वर्णन करते मानवी उपमान बनती है और मानवी का सौन्दर्य-चित्र खींचते समय प्रकृति उन्हें उपमान एवं प्रतीक प्रदान करती है। जैसा बीच-बीच में कहा गया है, प्रकृति एवं मानवी का यह अन्योन्याश्रय संबंध भारतीय रस-चेतना में बहुत पुराना है। प्रसाद क्या, कोई भी भारतीय कवि अपने को इस परम्परा से पूर्णतः काट नहीं सकता, नहीं सका है। प्रसाद अन्य छायावादी कवियों की भाँति अन्तर्निष्ठ अधिक हैं। इस कारण, उनके सौन्दर्य-बिम्बों में मर्मस्पर्शी मोहकता है। सौंदर्य-विषयक जो निरूपण कामशास्त्रीय एवं साहित्य शास्त्रीय ग्रन्थों में बिखरा पड़ा है, उसकी रेखाएँ तथा किरणे 'कामायनी' के चित्रों में भरपूर मिलेंगी जिधर यथास्थल ध्यान आकर्षित किया गया है। इन चित्रणों में फ्रायड के 'अवचेतन' अथवा 'अचेतन' की छाया देखना बिलकुल सहज ढंग से एक ऐसी स्थापना को मान लेता है जिसका विरोध फ्रायड के सहयोगियों एवं अनुयायियों द्वारा ही हो चुका है। अवदमित काम-वासना की प्रच्छन्न अभिव्यक्ति काव्य में खोजना मनुष्य की सबसे मधुर भूख, प्रेम एवं सौन्दर्य, की कदर्थना करना है। 'मेघदूत'

---

१. "झूले पर उसे झुलाऊँगी
दुलरा कर लूँगी बदन चूम;
मेरी छाती से लिपटा इस
घाटी में लेगा सहज घूम।" इत्यादि (ईर्ष्या)

२. "तुम जड़ता को चैतन्य करो विज्ञान सहज साधन उपाय,
यश अखिल लोक में रहे छाय।" (इड़ा)

में इसी प्रेम का निर्व्याज, ममारोहपूर्ण वर्णन हुआ है । सूर ने भक्ति के धरातल पर इसी प्रेम एवं सौन्दर्य की मादकता का तन्मयतापूर्ण गान किया है । मुख्य बिन्दु है, वर्ण्य विषय में तन्मय होने का । यह तन्मयी-भवन अवचेतन की प्रेरणा से सम्भव नहीं है । नयी विचार-धारा की माया में फँसे अपरिपक्व बुद्धि वाले नये समीक्षक अथवा अनुसंधित्सु यह बिलकुल भूल जाते हैं कि फ्रायड एक चिकित्सक था और स्नायविक रोगों से आक्रान्त असाधारण रोगियों की उपचर्या के दौरान उसने 'अवचेतन' की खोज की थी । कवि अथवा कलाकार इस कोटि के असाधारण मानसिक व्याधि वाले व्यक्ति नहीं होते । जब वे 'समाधिस्थ' भी होते हैं, तब भी उनका चेतन मन जाग्रत एवं क्रियाशील रहता है । अतएव, अवचेतन की छायाओं की खोज उनकी कृतियों में करना युक्ति-संगत नही है जब तक यह प्रमाणित न हो जाय कि कोई कवि अथवा कलाकार विक्षिप्त अथवा अर्ध-विक्षिप्त था । रीतिकालीन काव्य में अवदमित काम-वृत्ति की अभिव्यक्ति इधर उच्चपदस्थ हिन्दी-अध्यापकों ने ढूँढ़ निकाली है । उनकी अधकचरी आलोचना-दृष्टि अथवा अनुसंधान-सरणी से समीक्षा एवं शोध को सही दिशा नही प्राप्त हो सकेगी । 'कामायनी'–सम्बन्धी एक पुस्तक में यह मन्तव्य प्रकट किया गया है कि श्रद्धा का सौन्दर्य-वर्णन प्रसाद के अवचेतन का 'दर्पण' बन गया है और उन्होने अनेक उत्प्रेक्षाओं का अवलम्बन लेकर अपने अवचेतन–लोक में मुक्त उड़ानें भरी है । 'चेतन' आग्रह के कारण यौन आकाक्षा पर मर्यादा का अवगुठन डालने की बात तो समझ में आती है, लेकिन तब 'अवचेतन' की गहराइयों में डुबकी लगाने की तर्कना निस्सार बन जाती है । मूर्त्त के लिए अमूर्त्त विधानों की रचना संस्कृत साहित्य के लिए अपरिचित वस्तु नही—यह भिन्न बात है कि छायावादी कविता में इस पद्धति का सातिशय प्रयोग हुआ है । श्रद्धा के सौन्दर्य-बिम्बन में नीले रंग के बिम्बों को कवि की अवचेतनावस्था की 'नीली गहराइयों' का सूचक बताना फ्रायड के हाथ अपनी बुद्धि एवं विवेक को अलस भाव से समर्पित कर देना है । स्वर्ण–कान्ति वाली देह की दीप्ति को वे 'सेट आफ्' करने के लिए हम सभी सहज भाव से नीले रंग का परिधान पसन्द करते हैं । तब, ऐसे प्रसंगों में प्रयोक्ता की कलात्मक भावना की दाद न देकर, उसे अवचेतन की नीली गहराइयों की अभिव्यक्ति बताना "परप्रत्ययनेया बुद्धि" की ही प्रसूति समझा जायेगा । जैसा हम पहले दिखा चुके हैं, प्रसाद के सभी उपमान एवं प्रतीक रूढ़ एवं पुराने हैं, किन्तु उपचार-वक्रता एवं लाक्षणिकता की अभिनव भूषा में सज्जित होकर, वे मोहक तथा अभिराम बन गये हैं । दृष्टि की नवीनता के कारण, श्रद्धा सौंदर्य-वैभव में यद्यपि संस्कृत काव्य की नायिकाओं के साथ बिठाई जा सकती है,

तथापि उसके सौन्दर्य में जो नवीन आयाम जुड़ गये हैं, वे उनमें उपलब्ध नहीं।

प्रकृति-गत सौन्दर्य के वर्णन में प्रसाद ने अपने प्राग्भावी कवियों का अनुसरण किया है। शृंगार अथवा अन्य धरातलों पर 'कामायनी' में रजनी अथवा उषा का जैसा 'इंटिमेट' मानवीकरण हुआ है, वह बिलकुल नयी उपलब्धि है। भावना की सुकुमारता तथा कल्पना के लालित्य का जैसा मणि-कांचन संयोग इन चित्रों में मिलता है, वह सर्वथा अभिनन्दनीय है। परिवेश तथा 'ट्रेनिंग' में भिन्नता के कारण, संस्कृत कवियों का कल्पना-चमत्कार यहाँ वर्तमान नहीं, किन्तु 'स्पिरिट' प्रायः वहीं है। रात के आगमन पर 'कामायनी' में भी चन्द्रमा के रथ में हरिण जुटने लगते हैं : "मृग जुतते विधु-रथ में।" (कर्म)।

एक उल्लेखनीय वस्तु यह है कि 'कामायनी' में सुनहले रंग, सुनहली कान्ति, मधु एवं मधुर का प्राचुर्यपूर्ण प्रयोग हुआ है। शायद पंत जैसे छायावादी कवियों में भी कंचन के प्रति सविशेष मोह रहा है। सचाई यह है कि सुनहले रंग तथा मधु या मधुर के प्रति प्रसाद के आकर्षण की जाति वही है जो ऋग्वैदिक ऋषियों को अनुप्राणित करती रही है। जैसा हमने एक पूर्व प्रकरण में दिखाया है, 'हिरण्य' तथा 'हिरण्यय' एवं 'मधुमय' इत्यादि का प्रयोग ऋग्वेद में प्रायः मन तथा नेत्रों का प्रसादन करने वाले पदार्थों और मानव-मंगल-विधायिनी प्राकृतिक शक्तियों के वर्णन में किया गया है। वाल्मीकि, कालिदास इत्यादि के लौकिक काव्यों में भी कनकवर्ण के प्रति विशेष आकर्षण दिखाई पड़ता है। प्रसाद का 'हेम' तथा 'सुनहली' एवं 'मधु'-'मधुर' के प्रति अनुराग इस सीधी परम्परा में पड़ता है। ऋग्वेद के ऋषि उषा के 'सुनहले रथ', 'सुनहले रंग के घोड़े', उसके 'मधुमय तेज' तथा 'स्वर्णमयी किरणों' का प्रसन्नभाव से वर्णन करते है।[1] माघ इत्यादि कवियों ने

---

१. "उषो देवमर्त्या विभाहि चन्द्ररथा सूनृता ईरयन्ती।
आ त्वा वहन्तु सुयमासो अश्वा हिरण्यवर्णा पृथुपाजसो ये।"
(ऋक्०, ३।६१।२)
"अच्छा वो देवीमुषसं विभातीं प्रवो भरध्वं नमसा सुवृक्ति।
ऊर्ध्वं मधुधा दिवि पाजो अश्रेत् प्र रोचना रुरुचे रण्वसन्दृक्॥"
(वही, ३।६१।५)
"ऋतास्य बुध्न उषसामिषण्यन् वृषा मही रोदसी आविवेश।
मही मित्रस्य वरुणस्य माया चन्द्रेव भानुं विदधे पुरुत्रा॥"
(वही, ३।६१।७)

सुवर्ण–जैसे पीले दिनकर की किरणों के चमकीले वितान का कथन किया है ।[१] 'कामायनी' में 'मधुमय' अथवा 'मधुर' का प्राचुर्य हमारी इसी जातीय परम्परा में देखा–परखा जाना चाहिए ।

---

१. "नवकनकपिशंगं वासराणां विधातुः
ककुभ कुलिशपाणेर्भाति भासां वितानम् ।"
(शिशुपाल०, ११।४३)

i. "प्राची में फैला मधुर राग
जिसके मंडल में एक कमल खिल उठा सुनहला भर पराग ।"
('इड़ा')

ii. "सोया जीवन का तम विराग ।"
"नीरव थी प्राणों की पुकार ।" ('इड़ा')

१२ | काम एवं प्रणय की वर्णन-परम्परा

क. काम

ऋग्वेद के प्रसिद्ध नासदीय सूक्त में काम को ब्रह्म के मन का 'प्रथम रेतस्' (वीर्य) बताया गया है—"सबसे पूर्व काम था। वह मन का प्रथम रेतस् था। क्रान्तदर्शियों ने हृदय में मन के द्वारा खोज कर सत् (अभिव्यक्त) के सम्बन्ध को असत् (अनाभिव्यक्त) में जाना।"[1] यहाँ 'काम' इच्छा का प्रतीक प्रतीत होता है। अन्यान्य संदर्भों में भी काम कामना के अर्थ में प्रयुक्त मिलता है। एक सूक्त में मनुष्य को "पुलुकाम", कामनाओं का पुंज, बताया गया है।[2] इन्द्र को 'वीर' कहा गया है क्योंकि वह 'कामी', कामनाओं से युक्त है।[3] आर्य ऋषि कहते हैं कि काम मुझे समृद्धि के लिए बुला रहा है।[4] वामदेव ने इन्द्र से प्रार्थना की है कि 'हे ऐश्वर्यों के स्वामी! तुम मेरे काम को पूर्ण करो!'[5] एक ऋषि का कथन है कि उसके काम इन्द्रादि देवताओं में निहित होकर फल की अभिलाषा करते है।[6] इस प्रकार ऋग्वेद तथा कुछ उपनिषदों में भी 'काम' प्रायः कामना या अभिलाषा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

सायणभाष्य में, उपर्युक्त नासदीय सूक्त में आये 'काम' से 'सिसृक्षा' अर्थात रचना करने की इच्छा का अर्थ गृहीत किया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है कि प्रजापति ने इच्छा की कि प्रजा की सृष्टि करूँ और बहुत हो जाऊँ।

---

१. "कामस्तदग्रे समवर्ततााधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतोबन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥"
(ऋक्०, १०।१२९।४)

२. "·····पुलुकामो हि मर्त्य.।" (वही, १।१७९।५)

३. "कामी हि वीरः मदमस्य पीतिं जुहोत वृष्णे तदिदेस वष्टि।"
(वही, २।१४।१)

४. "कामोराये हवते मा·····।" (वही, ५।४२।१५)

५. "काममिन्मे मघवन्मा वि तारीः·····।" (वही, १०।५४।५)

६. "·····देवेषु में अधिकामा अयंसत।" (वही, १०।६४।२)

यहाँ 'काम' सिसृक्षा का वाचक है ।[1] लगभग इसी प्रकार के कथन तैत्तिरीय और शतपथ ब्राह्मणों में भी उपलब्ध होते हैं ।[2] किन्तु, व्यापक कामना एवं सिसृक्षा के अतिरिक्त 'रमण' का अर्थ भी काम से अभिप्रेत रहा है । इस दृष्टि से काम यौन-वासना अथवा 'सेक्स' का द्योतक बन गया है । उदाहरणतः, यम-यमी सूक्त में काम यौन-वासना का ही व्यंजक प्रतीत होता है ।[3] अथर्ववेद में माता-पिता की पुत्रैषणा को काम कहा गया है । उसी के तीसरे काण्ड के एक सूक्त में कामशास्त्र तथा स्वयंवर का उपदेश करते हुए, कहा गया है—"हे स्त्री और पुरुषो ! जब उत्तमरूप से व्यथा देने वाला उत्तेजनापूर्ण काम तुम्हें भलीभाँति पीड़ित कर देता है, तब तुम अपनी शय्या पर अच्छी तरह सो नहीं सकते । पुत्रोत्पादन करने की जो उत्कट कामना है, उससे मैं पुरुष तुझ स्त्री के हृदय में मारता हूँ । इत्यादि ।" काम को देवत्व प्रदान करते हुए, उसकी महिमा का व्याख्यान एक स्थान पर यों किया गया है—"हे काम ! तू सर्व-प्रथम उत्पन्न हुआ । देव, पितर एवं मर्त्य सबको प्राप्त हुआ । कोई तुझसे बचा नहीं । अतएव, तू व्यापक एव सबसे महान् है । मैं तुझे नमस्कार करता हूँ ।"[4] एक अन्य सूक्त में सम्पूर्ण सृष्टि की कल्पना ओदन (भात) के रूप में करते हुए कहा गया है कि ओदन बनने से पूर्व जब चावल कूटे गये, तब काम उलूखल था और चक्षु मूसल था ।[5] कालान्तर मे काम से यौन-वासना का स्पष्ट बोध ग्रहण होने लगा । इसी कारण, काम को रजोगुण से उत्पन्न तथा निन्द्य माने जाने की प्रवृत्ति भी विकसित हो गई ।[6] लेकिन, त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ एवं काम) में काम की स्थापना कर, उसके महत्त्व को फिर भी, इसी यौन-समागम के अर्थ में, स्वीकार किया गया और उसके मर्यादित स्वरूप पर बलाघात दिया गया है । महाभारत के शान्तिपर्व में ब्रह्मा-द्वारा 'त्रिवर्ग' के प्रणयन का वर्णन देखा

---

१. "प्रजापतिरकामयत प्रजायेय भूयान्तस्यामिति ।"
(ऐत० ब्रा०, ४।४।२३)

२. "प्रजापतिरकामयत प्रजाः सृजेयेति ।" (तैत्ति० ब्रा०, २।२।१।१)
"सोऽयं पुरुषः प्रजापतिरकामयत । भूयान्तस्यां प्रजायेयेति ।"
(शत० ब्रा०, ६।१।१।८)

३. "···· ···कामभूता बह्वे तन्वापामि तन्वा·····।"
(ऋक्, १०।१०।११)

४. अथर्व०, ९।२।१९

५. "चक्षुर्मुसलं काम उलूखलम् ।" (वही, ११।३।३)

६. "काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।" (गीता, ३।३७)

जा सकता है।[१] गीता में इसी काम का महत्त्व स्थापित करते हुए, भगवान् ने अपने को धर्म से अविरुद्ध काम बताया है—"धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।"

पुराणों तथा आगमों में काम का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। शिव-पुराण में काम को त्रिदेवों—ब्रह्मा, विष्णु, और महेश—का स्वरूप तथा त्रिदेवों को काम का स्वरूप कहा गया है। अन्य पुराणों में काम को एक शक्तिशाली देवता माना गया है और रति को उसकी पत्नी बताया गया है। शंकर के द्वारा जलाये जाने तथा 'अनंग' बन जाने का वर्णन भी किया गया है। कालिदास ने 'कुमारसम्भव' में काम-दाह का और उसकी पत्नी रति के विलाप का वर्णन किया है। पुराणों में काम को पुष्प का धनुष एवं पुष्प के ही वाण धारण करते बताया गया है जिस कारण उसे 'पुष्पधन्वा' भी कहा जाता है। कहीं-कही उसका धनुष इक्षुदण्ड का तथा धनुष की प्रत्यंचा भ्रमरों की कही गई है। उसे सुन्दर युवक के रूप में कबूतर पर चढ़े तथा अप्सराओं से घिरे भ्रमण करता हुआ चित्रित किया गया है और उसकी ध्वजा पर मछली की आकृति बनी बताया गया है। शंकर द्वारा जलाये जाने के बाद, रति की प्रार्थना के फलस्वरूप शिव के वरदान से, श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न के रूप में, काम के पुनः अवतार लेने का उल्लेख भी पुराणों में उपलब्ध होता है। शैवागमों में काम को अक्षर, अव्यक्त, स्वयंभू, सूक्ष्म, व्यापक, संसार का बीज तथा शिव-रूप बताया गया है। पुनः, यही काम "उत्तम प्रकृतिप्राय" होकर साहित्य में शृंगार रस बन गया है।[२]

ख. प्रणय

सौन्दर्य-वर्णन की परम्परा जैसे ऋग्वेद से प्रारम्भ होती है, वैसे-ही प्रेम अथवा प्रणय वर्णन की परम्परा भी वहीं से प्रारम्भ हुई है। ऋग्वेद में उषा तथा सूर्य के प्रणय के अनेक आकर्षक चित्र उपलब्ध हैं। सूर्य अपनी प्रेयसी ललितांगना उषा के लिए वैसे ही अभिसार करता है जैसे कोई प्रेमी, किसी

---

१. "ततोऽध्यायसहस्राणां शतं चक्रे स्वबुद्धिजम्।
यत्र धर्मस्तथैवार्थः कामश्चैवाभिवर्णितः॥
त्रिवर्ग इति विख्यातो गण एष स्वयम्भुवा॥"
(शान्तिपर्व, ५९।२९)

२. शृंग हि मन्मथोद्भेदस्तदागमनहेतुकः।
उत्तमप्रकृतिप्रायो रसः शृंगार इष्यते॥—(सा०-द०, ३।१८३)

कोमलांगी का अनुगमन करता है ।[1] शुभ्रवसना एवं हास्य-वदना उषा भी अपने प्रणयी सूर्य के प्रति अपनी सौन्दर्य-राशि वैसे-ही खोल देती है जैसे पत्नी अपने पति के लिए अपने सौन्दर्य का अनावरण करती है ।[2] पृथ्वी एवं मरुद्गण के बीच शृंगार का उन्मुक्त वर्णन हुआ है ।[3] प्राकृतिक शक्तियों के ही नहीं, स्त्री-पुरुष के प्रणय के मधुर चित्र भी ऋग्वेद में चित्रित हुए हैं । एक सूक्त में पति-पत्नी के पारस्परिक आलिंगन-सुख का कथन किया गया है ।[4] सूर्यासूक्त में प्रणय की पवित्रता एवं माधुरी का वर्णन हुआ है ।[5] भ्रातृ-हीन, अविवाहिता युवती घोषा के पति-प्रेम-प्राप्ति-विषयक उद्गार एक सूक्त में सन्निविष्ट हैं ।[6] ऋषिपुत्र श्यावाश्व के रथवीति की कन्या के प्रति प्रणय का वर्णन, विमद तथा पुरुमित्र की कन्या के स्वयंवर का वर्णन इत्यादि कतिपय प्रसंगों में स्वच्छन्द प्रणय की मधुर झाँकियाँ मिलती हैं ।[7] ऋग्वेद के दशम मंडल में उर्वशी-पुरूरवा का प्रणय चित्रित हुआ है जिसमें स्वर्गीय अप्सरा उर्वशी के द्वारा तिरष्कृत होने पर पुरूरवा भग्न हृदय से कारुणिक विलाप करता है—"मैं श्रेष्ठ प्रणयी आकाश को नापने वाली सुन्दरी उर्वशी को बुला रहा हूँ । पुण्य-संचित वरदान तुम्हारे पार पहुँचें । वापस चली आओ । मेरा हृदय तुम्हारे वियोग की वेदना में झुलस रहा है ।"[8] इसी मंडल में यम-यमी संवाद निबद्ध है जिसमें काम-दग्ध यमी अपने भाई यम से परिरंभण का खुला प्रस्ताव करती है (जिसे यम ने अस्वीकार कर दिया है) ।[9]

वाल्मीकीय रामायण में प्रणय के अनेक प्रसंग चित्रित उपलब्ध होते हैं । चित्रकूट पर राम-सीता के विहार में प्रेम के मधुर चित्र अंकित हुए हैं । बाल-काण्ड में ही अनेक ऋषियों, देवताओं इत्यादि के अप्सराओं इत्यादि के प्रणय-

---

१. ऋग्वेद, १।११५।२
२. वही, १।१२४।७
३. वही, ५।५८।७
४. वही, १।१०५।२
५. वही, १०।८५।४२
६. वही, १०।४०
७. वही, ५।६१।१८; १।११२।१९; १।११६।१; १०।३९।७ इत्यादि ।
८. "अन्तरिक्षप्रां रजसो विमानीमुप शिक्षाम्युर्वशीं वसिष्ठः ।
उप त्वा रातिः सुकृतस्य तिष्ठान्नि वर्तस्व हृदयं तप्यते मे ।।"
(ऋग्वेद, १०।९५।१७)
९. वही, १०।१०।११

पाश में आबद्ध होने के ललित प्रसंग उपनिबद्ध हैं। महर्षि विश्वामित्र तथा अप्सरा मेनका के प्रणय की प्रसिद्ध कथा इसी काण्ड में वर्णित हुई है।[1] कामानल में दग्धीभूत शूर्पणखा की प्रणय-याचना का प्रसंग अरण्यकाण्ड में तथा सीता के प्रति कामासक्त रावण के प्रणय-निवेदन का प्रसंग सुन्दरकाण्ड में चित्रित हुए हैं जिनके काम की वेदना की मधुर निवृत्ति हुई है।[2] अरण्यकाण्ड के पश्चात् उत्तरकाण्ड तक परस्पर-विप्रयुक्त राम-सीता की विरह-व्यथा के अनेक मर्मस्पर्शी चित्र अंकित हुए हैं। अश्वघोष के काव्यों में भी दाम्पत्य-प्रेम के प्रसंग समाविष्ट हैं, जिनमें शृंगार के दोनों पक्षों, संभोग एवं विप्रलंभ, के हृदय-द्रावक चित्र गुंफित हुए हैं।[3] सुन्दरी के प्रति अनुराग और बुद्ध के प्रति असीम श्रद्धा की दो विरोधिनी रज्जुओं में बँधे नन्द के मानसिक संघर्ष का चित्र अतीव मर्मोद्वेलक हुआ है।[4] इसी प्रकार, कंथक घोड़े को सिद्धार्थ से विहीन लौटा देखकर, यशोधरा ने अपने विप्रलब्ध प्रणय के जो उपालम्भपूर्ण उद्गार प्रकट किये हैं, वे भी अत्यन्त हृदयच्छेदक हैं।[5]

"कालिदास की काव्य-तंत्री से मुख्यतः सौन्दर्य एवं प्रेम की ध्वनियाँ निस्सृत होती हैं। नयनाभिराम रूप की मादक छवियों की भावना से वे जैसे एकदम चमत्कृत हो जाते हैं, वैसे ही प्रणय-रस की अत्यन्त मन्द्र, अत्यन्त मादक तथा अत्यन्त गम्भीर स्रोतस्विनी प्रवाहित करके वे सहृदय भावकों को सर्वथा आत्मविभोर कर देते हैं। लेकिन वे प्रणय को सर्वातिशायी महत्त्व प्रदान नही करते, उसे ही जीवन का चरम साध्य स्वीकार नही करते। काम को सृष्टि की मूल प्रेरक शक्ति के रूप में ही उन्होंने अपनी रचनाओं में चित्रित एवं प्रतिष्ठित किया है; उनकी अधिकांश नायक-नायिकाएँ काम की माया से अभिभूत हो जाती हैं और ऐसा आभास होने लगता है मानों संयम तथा शालीनता के सूत्र उनके हाथ से बिलकुल छूट जायेंगे और वे सामान्य रोमांश के नायकों की बिरादरी में स्थान ग्रहण कर लेंगे। लेकिन, कालिदास की सावधान काव्य-सरस्वती प्रेम की मूलवर्तिनी वृत्तियों तथा क्षुधाओं को जगाती हुई भी, अन्ततः उन्हें 'शिव' की नियामक मर्यादाओं में बाँध देती है। वस्तुतः काम की खुमारी तथा संयम की कठोरता, दोनों के नितान्त आवर्जक एवं

---

१. **रामायण, बालकाण्ड**, ६३

२. **वही, अरण्यकाण्ड**, १७,१८; **सुन्दरकाण्ड**, २०

३. **सौन्दरनन्द**, ४।८-९; ४।१३-१४; ४।१५; ४।१७; ४।१८-२३

४. **वही**, ७।१६

५. **बुद्धचरित**, ८।३३-३५; ३८-४१

प्रभविष्णु चित्र उनके काव्यों में उपलब्ध होते हैं ।"[1]

'कुमारसंभव' में काम की यह गर्वोक्ति कि जिस प्रकार बरसाती नदी का प्रवाह दोनों तटों को बहा ले जाता है, उसी प्रकार वह बड़े-से-बड़े धर्मनिष्ठ एवं नीतिवान् व्यक्ति को भी पीड़ित एवं स्खलित कर सकता है, योगिराज शंकर की अचल समाधि की लपटों में जलकर भस्मसात् हो गई है ।[2] कालिदास का यह भी मन्तव्य रहा है कि प्रणय की सार्थकता वंश-परम्परा को अग्रसर करने में ही संनिहित है । ऋग्वेद में काम का जो सिसृक्षामूलक स्वरूप व्यंजित हुआ है, कालिदास ने उसका पालन किया है । तथापि, वे प्रेम की लौकिक अभिव्यक्तियों से पूर्ण परिचित हैं और उनका मर्मस्पर्शी चित्रण उनकी रचनाओं में उपलब्ध है । उमा और शिव, अज और इन्दुमती तथा अन्य प्रेमी युगलों के वर्णन में उन्होंने प्रणय के प्रादुर्भाव का सहचरण करने वाली आनन्द एवं उल्लास की गहरी ऊर्मियों का अत्यन्त मोहक एवं द्रावक चित्रण किया है । प्रिय के संयोग एवं विप्रयोग में सृष्टि की वस्तुएँ क्योंकर रूप एवं स्वभाव बदलती हैं, उनकी प्रतीतियाँ क्योंकर सुखद एवं दुःखद बन जाती हैं, इसका मनोरम चित्रण कालिदास की कृतियों में प्राप्त है । 'विक्रमोर्वशीय' के तीसरे अंक के अंतिम श्लोकों में उर्वशी-संयोग से आविर्भूत पुरूरवा के प्रणयोद्गार द्रष्टव्य हैं ।[3] प्रेमिकाओं को प्रत्येक व्यापार अनुराग शर से बिद्ध व्यक्ति अपनी निजी अनुकूलता-मूलक दृष्टि से देखता-समझता है—इस तथ्य की व्यंजना करते हुए कालिदास ने दुष्यन्त के मुँह से यह टिप्पणी कराई है कि कामी व्यक्ति को सभी बातों में अपने स्वार्थ की ही बात दिखाई देती है—'सर्वं तत्किल मत्परायणमहो कामी स्वतां पश्यति ।"[4] प्रेम का विकास, प्रणयासक्ति का रहस्य, अभिनव प्रेम तथा प्ररूढ़ प्रेम, प्रेमिका के समीपी रूप-दर्शन से प्रेमी के हृदय में उठने वाली उद्वेजना, प्रेमी-प्रेमिका की संकोचमयी वृत्तियाँ, मुग्धाओं की लज्जा इत्यादि का मधुर चित्रण कालिदास की रचनाओं में उपलब्ध होता है । 'मेघदूत' विप्रयुक्त प्रणयी के हृदय में उठने वाली मधुर एवं मर्म को उन्मथित करने वाली भावनाओं तथा प्रेरणाओं और आस्थाओं का सुकुमार रस-कोश है । और कालिदास के प्रेम-वर्णन की सबसे बड़ी महिमा यह है कि उनकी जीवन-योजना में काम विशुद्ध प्रणय का पर्याय है और प्रणय अन्ततः मंगल में पर्य-

---

१. 'महाकवि कालिदास' (लेखक-कृत), प्रथम संस्करण, पृ० २८३
२. 'कुमारसंभव', ३।३-१०
३. 'विक्रमोर्वशीय', ३।२०-२२
४. 'अभिज्ञानशाकुन्तल', २।२

वसित हो जाता है ।

उत्तरकालीन संस्कृत-साहित्य में प्रेम-वर्णन की परम्परा अत्यन्त गहरी बन गई है । कामशास्त्र एवं साहित्यशास्त्र की व्यवस्थाओं का खुलकर प्रयोग इन कवियों ने किया है और प्रणय का मादक वर्णन जैसे इनकी कविता-कामिनी का मुख्य उद्देश्य बन गया है । भारवि ने 'किरातार्जुनीय' में रमणियों के "अकृत्रिम प्रेमरस" का उल्लेख करते हुए भी, बहुधा प्रेम के कृत्रिम स्वरूप का ही चित्रण किया है ।[1] गंधर्वों तथा अप्सराओं की प्रणय-केलियों का जो विस्तृत वर्णन आठवें से दसवें सर्ग तक उपनिबद्ध हुआ है, उसके मूल में अर्जुन की तपस्या भंग करने का उद्देश्य ही कार्यशील है, न कि प्रेम की वास्तविक अभिव्यक्तियों का संग्रथन । भट्टिकाव्य का प्रेम-वर्णन काम-पीड़ा की अनुभूतियों तथा कामशास्त्रीय रंगों से आपूर्ण है । कुमारदास के 'जानकीहरण' में भी कामशास्त्र की व्यवस्थाओं के अनुरूप नखक्षत, परिचुम्बन, नीवीबन्ध-मोचन इत्यादि के मादक चित्र अंकित हुए हैं ।[2] माघ ने शृंगार-वर्णन में नायिका-भेद का वर्णन किया है और रमणियों की चेष्टाओं का चित्रण वात्स्यायन के काम-सूत्र के अनुपालन में किया है ।[3] इस प्रकार, माघ प्रेम से अधिक "प्रेम की कला" के कवि बन गये हैं ।

श्रीहर्ष का 'नैषधचरित' उत्तरकालीन संस्कृत-साहित्य का प्रसिद्ध काव्य है । इसमें प्रणय-वर्णन की धारा इतनी विपुल एवं गहरी बन गई है कि उसमें चमत्कारपूर्ण वैदग्ध्य तथा स्थूल विलासिता के तत्त्व ही समधिक मुखरित हुए हैं नख-शिख-वर्णन की परिपाटी यहाँ समृद्धिमान रूप में प्रतिष्ठित हुई है । कामशास्त्र तथा साहित्यशास्त्र की व्यवस्थाओं का, बड़ी सूक्ष्मता एवं मनोनिवेश के साथ, कवि ने नल-दमयन्ती के प्रणय-प्रसंग में विनियोग किया है । लेकिन, कतिपय संदर्भ काम-पीड़ा अथवा प्रणय-वेदना के मर्मस्पर्शी चित्रों से मधुर बन गये हैं । चतुर्थ सर्ग में, दमयन्ती के पूर्वराग-वर्णन में दमयन्ती-द्वारा चन्द्रमा, वसन्त एवं काम को दिये गये उपालम्भ हृदयग्राही हैं । तथापि, श्रीहर्ष का विदग्ध कवित्व सुकुमार स्थलों में भी अपनी सत्ता का दृढ़तापूर्वक परिज्ञापन कर देता है जिससे चित्रण का सौरस्य कदाचित् तनिक प्रतिहत बन जाता है । उदाहरणार्थ,

---

१. "अकृत्रिमप्रेमरसाहितैर्मनो हरन्ति रामाः कृतकैरपीहितैः ।"—
रमणियाँ अपनी कृत्रिम चेष्टाओं से भी मन का हरण कर लेती हैं, जबकि उनमें सच्चे प्रेम-रस की स्निग्धता हो । ('किराता०', ८।४६)

२. 'जानकीहरण', ८।१-५४

३. 'शिशुपालवध', १०।७५

निम्नांकित छन्द देखिये :—

(१) "हृदय एव तवास्ति स वल्लभस्तवपि किं दमयन्ति विषीदसि ।
हृदि परं न बहिः खलु वर्तते सखि यतस्तत एव विपद्यते ॥"[1]

—सखी दमयन्ती से कहती है : "हे दमयन्ति ! तुम्हारा प्रिय (नल) तुम्हारे हृदय के भीतर ही है, तब तुम क्यों इतनी शोकातुर हो रही हो ?" दमयन्ती उत्तर देती है : "हे सखि ! वह प्रिय निश्चय-ही 'हृदय' में है, 'बाहर' नहीं है, इसी कारण मैं विषाद-मग्ना हूँ ।" व्यंजना यह है कि भीतर होने से प्रिय का स्मरण तो होता रहता है, किन्तु यदि वह बाहर होता, तो दर्शन, स्पर्शन, आलिंगन इत्यादि अनेकविध संयोग-सुखों का वह आस्वादन कर पाती ।

(२) "स्फुटति हारमणौ मदनोष्मणा हृदयमप्यनलंकृतमद्य ते ।
सखि हतास्मि तदा यदि हृदपि प्रियतमः स मम व्यवधापितः ॥"[2]

—सखी पुनः कहती है : "तुम्हारे काम-ज्वर के ताप से हारमणि फूट जाता है। अतएव, आज तुम्हारे हृदय को भी मैंने अलंकृत नहीं किया है ।" सखी की व्यंजना यह है कि आज दमयन्ती के हृदय का भूषण, नल, भी उसमें विद्यमान नही है । दमयन्ती उत्तर देती है : "हे सखि ! यदि वह मेरा प्रियतम हृदय में भी वर्तमान नहीं रहने दिया गया, तब तो मैं मारी ही गई !"

प्रसंग की उद्भावना निश्चित-ही मधुर है, किन्तु चकत्कार के मोह से उसकी तलस्पर्शिता बाधित हो गई है । श्रीहर्ष प्रखर पांडित्य के धनी थे, अतः उनकी कारयित्री प्रतिभा पांडित्य-प्रदर्शन की प्रवृति से आक्रांत बन गई, अन्यथा उनका शृंगार-वर्णन निश्चित-ही अनुपम बना होता । "उदिते नैषधे काव्ये क्व च माघः क्वच भारविः ?"[3]

प्रणय की वर्णन-धारा शृंगार-प्रधान मुक्तक-परम्परा में भी चलती रही । प्राकृत की 'गाहासत्तई' (गाथा-सप्तशती) तथा 'वज्जालग्गं' ऐसे रसपेशल मुक्तक-कोष हैं । शतकों की परिपाटी में 'प्रणीत अमरुशतक', 'शृंगारशतक', 'आर्यासप्तशती', 'चौरपंचाशिका','चंडीकुचपंचाशिका', 'रोमावलीशतक' इत्यादि

---

१. 'नैषधचरित', ४।१०८

२. वही, ४।१०९

३. "उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम् ।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः ॥"
"तावद्भा भारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदयः ।
उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्वः च भारविः ॥"

रचनाओं में प्रेम के ललित, सरस एवं विदग्ध चित्र अंकित हुए हैं। इनमें शृंगार-वर्णन की परम्पराप्राप्त, परिनिष्ठित पद्धति का अनुगमन करते हुए, अभिसार, संयोग-केलियों तथा वियोग के अन्तर्गत मान-मनावन इत्यादि के मादक वर्णन उपलब्ध होते हैं इनमें कामशास्त्र तथा साहित्यशास्त्र की विधि-व्यवस्थाओं का उन्मुक्त प्रयोग हुआ है। 'चौरपंचाशिका'— जैसी कृतियों में काम-वेग का शक्तिशाली स्वरूप चित्रित मिलता है। 'गीतगोविन्द'-जैसी भक्ति-मूलक कृतियों में भी सुरतविलास, विप्रलम्भ इत्यादि के गहरे रंगों वाले बिम्ब गुंफित हुए हैं। इन समस्त चित्रणों में कामशास्त्रीय तत्त्वों के सन्निवेश के साथ, कहीं-कहीं विशुद्ध प्रेम की मर्मभेदी व्यंजनाओं का भी समावेश हुआ है। 'कादंबरी'—जैसे गद्य-काव्य में तो काम एवं प्रेम के मादक प्रसंग अनुस्यूत हैं। महाश्वेता के प्रति पुंडरीक की गाढ़ी आसक्ति पर की गई टिप्पणी, एक प्रकार से, इस समग्र प्रणय-धारा के स्वरूप को परिभाषित करती है—"नास्ति खल्वसाध्यं नाम भगवतो मनोभुवः। क्वयं-हरिण इव वनवासनिरतः स्वभावमुग्धो जनः, क्व च विविधविलास-रस राशिर्गन्धर्व-राजपुत्री महाश्वेता? सर्वथा नहि किंचिदस्य दुर्घटं दुष्करमनायत्तमकर्त्तव्यं वा जंगति"[1]—

—'भगवान् कामदेव के लिए कुछ भी असाध्य नही। कहाँ हिरण—जैसा वन में वास करने वाला, स्वभाव से सीधा-सादा यह व्यक्ति, और कहाँ विविध विलास-रसों की राशि, गंधर्वराज की कन्या महाश्वेता! सचमुच, कामदेव के लिए संसार में कुछ भी दुर्घट, दुष्कर, अप्राप्य अथवा अकरणीय नहीं है।

उत्तरकालीन सम्पूर्ण संस्कृत-साहित्य प्रायः इसी 'भगवान् मनसिज' की नाना दुर्घट लीलाओं का ललितलास्य है।

हिन्दी काव्य में संस्कृत, आर्ष अथवा लौकिक, साहित्य में अवतीर्ण समस्त प्रणय-प्रवाह की धाराएँ परिमाण-भेद से उपलब्ध होती है। विद्यापति की पदावली प्रणय के मधुर, मादक एवं ऐश्वर्यपूर्ण चित्रों से परिपूर्ण है। मध्य-कालीन भक्ति-काव्य, विशेषतया कृष्णभक्ति-काव्य, प्रणय की सरल-सहज एवं सुकुमार-मादन अभिव्यक्तियों का समृद्ध 'रत्न-निधि' है। मदन की कचोटें यहाँ प्रायः प्रेम की गहराई को ही अधिक गहरी बनाती चित्रित हुई हैं। पूर्वराग, मान, उपालम्भ तथा सुरत-विलास के निर्व्याज चित्रण इस काव्य-सम्पदा की बहुमूल्य मणियाँ हैं। मधुरोपासना वाली राम-भक्ति-धारा की बात छोड़ भी दी जाय, तो भी रामचरितमानस में ही, जहाँ का शृंगार ठीक-ही मर्यादित कहा जाता है, विश्वविजयी मदन की जय-ध्वनियाँ निनादित हुई हैं। निम्न परिचित पंक्तियाँ अवलोक्य हैं—

---

१. 'कादम्बरी', पूर्वभाग (अकाल उपदेश)

"कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि । कहतु लखन सन राम हृदयँ गुनि ॥
मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्ही । मनसा बिस्व बिजय कहँ कीन्ही ॥"

यहाँ 'मर्यादापुरुषोत्तम' राम अपने अनुज से, जानकी के कंगन, करधनी तथा नूपुरों की ध्वनि सुनकर, अपनी तात्कालिक प्रतिक्रियाएँ व्यक्त करते हुए, कहते है, अपने हृदय के क्षोभ को विचारते हुए कहते हैं—"हे लक्ष्मण ! लगता है, मानो विश्व-विजय करने के उपरान्त मदन-राज 'दुंदुभी' बजा रहा है !" काम के आन्तर क्षोभ की व्यंजना के लिए मर्यादावादी तुलसी भी मर्यादा-प्राण राम के मुख से 'मदन की दुंदुभी' बजवाने से बाज नहीं आये हैं। स्मरणीय है कि दुंदुभी की आवाज तेज और तार होती है, वीणा के समान मन्द और सुकुमार नहीं।

रीति-काव्य शृंगार की मधुर-मन्द्र अभिव्यक्तियों का अक्षय्य आगार है। "रति-रंग" "कवित्व-रस" का पर्याय ही बन गया है। यद्यपि उसमें रुग्ण वासना की बासी ध्वनियाँ भी सुनाई देती हैं, तथापि गार्हस्थिक प्रणय की कोमल, मार्मिक छवियों का अंकन भी वहाँ सम्पन्न हुआ है। बिहारी में पूर्वानुराग तथा प्रणय के अन्य स्तरों का ललित, मोहक चित्रण हुआ है। नायिका-वर्णन के व्याज से ही अनेक मधुर ललित एवं निश्छल प्रणय के चित्र रीति-काव्य की चित्रशाला मे सज गये है। मतिराम का, विश्रब्धनवोढ़ा का यह चित्र, उदाहरणार्थ, देख सकते हैं—

"केलि कै राति अघाने नहीं, दिन ही मैं लला पुनि घात लगाई;
प्यास लगी कोउ पानी दै जाइयो, भीतर बैठि कै बात सुनाई।
जेठी पठाई गई दुलही हँसि, हेरि हरे 'मतिराम' बुलाई;
कान्ह के बोल मैं कान न दीनो, सो गेह की देहरी पैंधरि आई ॥"[1]

घनानन्द, आलम इत्यादि ने रीति-मुक्त ढंग से स्वच्छन्द प्रेम के मर्मस्पर्शी चित्रण किये हैं।

आधुनिक काल के उदय के पूर्व हिन्दी काव्य का प्रेम-प्रवाह प्रायः परम्परा की परिचित वीथिकाओं में प्रवाहमान रहा है। द्विवेदी-युग के काव्यों में प्रणय की परम्पराभुक्त धारा को नई दिशा में मोड़ने का प्रयत्न किया गया है। इस क्षेत्र में, 'प्रियप्रवास' की राधा का प्रणय-परिपाक देखा जा सकता है। पवन-दूती को दिये गये निर्देशों से ज्ञात होता है कि राधा अपनी-ही निजी वेदना में उलझी नही रही है, अपितु उसका स्वच्छ, सुकुमार "हृदय-निधि" कृषक-

---

१. "होय नवोढ़ा कै कछू, प्रीतम सों परतीति।
सो विश्रब्धनवोढ़ सों, बरनत कबि रसरीति ॥" ('रसराज')

कुमारियों, मार्गस्थ निस्सहाय पथिकों इत्यादि के लिए भी दया एवं ममता की स्निग्ध धाराएँ बहाता है। और, अन्ततः राधा का प्रेम-विगलित हृदय इतना विशाल एवं उदार बन गया है कि वह व्रज-अवनि की आराध्या एवं विश्व की प्रेमिका बन गई है, उसका व्यक्तिगत, तीव्र-तरल प्रेम विश्व-प्रेम में पर्यवसित हो गया है। मैथिलीशरण गुप्त की 'यशोधरा' में भी व्यक्तिनिष्ठ प्रणय का ऐसा-ही परिष्कार एवं उन्नयन चित्रित हुआ है। "हास-विलास-विनोद-पूर्ण" यशोधरा अकस्मात् प्रिय-विश्लेष का आखेट बनी है। उसके भाग्य-विपर्यय की विलक्षण विशेषता यह है कि उसे नवमातृत्व का भार भी सँभालना पड़ा है, विरह तथा वात्सल्य की प्रेरणाओं में समझौता करना पड़ा है। एक चित्र नीचे देखें--

"जाओ मेरे सिर के बाल !
आलि, कर्त्तरी ला, मैंने क्या पालें काले व्याल ?
उलझें यहाँ न ये आपस में सुलझें वे व्रत पाल;
डसें न हाय ! मुझे एड़ी तक विस्तृत ये विकराल।
कसें न और मुझे अब आकर हेमहीर, मणिमाल;
चार चूड़ियाँ ही हाथों में पड़ी रहें चिरकाल।
मेरी मलिन गूदड़ी में भी है राहुल-सा लाल !
क्या है अंजन-अंगराग, जब मिली विभूति विशाल ?
बस सिन्दूर-बिन्दु से मेरा जगा रहे यह भाल;
वह जलता अंगार जला दे उनका सब जंजाल ॥"

'व्रत-पाल' प्रिय की सिद्धि-कामना, विरह की मर्मद्रावक वेदना एवं 'राहुल से लाल' की मंगल-भावना की कितनी संश्लिष्ट अभिव्यंजना इन पंक्तियों में हुई है। "आँचल में दूध" और "आँखों में पानी" का पयोनिधि छिपाने वाली यशोधरा तथागत के स्वयं उसके समीप आगमन पर 'प्रणति' एवं 'अभिमान' यह आपाततः विसंवादी भावों से भर जाती है[1] और उन्हें अपने प्यारे राहुल को सौंप कर, स्वयं भी धर्म की शरण में चली जाती है—

---

१. "यही प्रणति उन्नति है मेरी,
हुई प्रणय की परिणति मेरी,
मिली आज मुझको गति मेरी,
क्यों न करूँ अभिमान ?
पधारो, भव-भव के भगवान !" ('यशोधरा')

"मेरे दुख में भरा विश्व-सुख, क्यों न भरूँ फिर मैं हामी !
बुद्धं शरणं, धर्मं शरणं, संघं शरणं गच्छामिऽ ॥"

अपने तरल प्रणय की इसी परिणति में, अपने मर्म-विदारक दुःख को 'विश्व-सुख' में पर्यवसित कर, यशोधरा भारतीय नारीत्व का भूषण बन गई है।

काम–एवं–प्रणय-वर्णन की इस समग्र समृद्ध परम्परा का प्रभाव 'कामायनी के काम-प्रणय-वर्णन पर पड़ा है। काम के समस्त रूपों तथा प्रेम अथवा प्रणय की समस्त अभिव्यक्तियों से प्रसाद को, सचेत-अचेत भाव से, प्रेरणाएँ मिली हैं—यह भिन्न बात है कि कहीं शैवागमों से और कहीं अपने पूर्ववर्ती कवियों से वह अधिक प्रभावित रहे हों 'लहर', 'आँसू' इत्यादि अन्य रचनाओं में भी उनकी प्रतिभा का जो सरस्वत् प्रवाह प्रस्फुट हुआ है, उसमें प्रकीर्ण माधुर्य-ऊर्मियाँ भी 'कामायनी' के प्रणय-प्रवाह को पुष्कल एवं समृद्धिमान् बनाने में सहायक रही हैं।

१३ | कामायनी में काम एवं प्रणय शृंगार

क. कवित्वमयी कामगीता

प्रस्तुत विवेचन प्रारंभ करने के पूर्व, हमें यह जान लेना वांछनीय होगा कि प्रसाद के काम तथा प्रेम के विषय में अपने 'स्पष्ट' विचार क्या रहे हैं। इस जानकारी से हमें अपने विवेचन में प्रकाश एवं सहायता मिलेगी। 'रहस्यवाद' शीर्षक उनके निबंध से मैं नीचे कतिपय उद्धरण दे रहा हूँ जिन्हें स्मरण रखना उपयोगी होगा।

"यह काम प्रेम का प्राचीन वैदिक रूप है और प्रेम से वह शब्द अधिक व्यापक भी है। जब से हमने प्रेम का Love या इश्क का पर्याय मान लिया, तभी से 'काम' शब्द की महत्ता कम हो गयी। सम्भवतः विवेकवादियों की आदर्श-भावना के कारण, इस शब्द में केवल स्त्री-पुरुष-संबंध के अर्थ का ही भान होने लगा। किन्तु, काम में जिस व्यापक भावना का समावेश है, वह इन सब भावों का आवृत कर लेती है। इसी वैदिक काम की आगम-शास्त्रों में कामकला के रूप में उपासना भारत में विकसित हुई थी। यह उपासना सौन्दर्य आनन्द और उन्मद भाव की साधना-प्रणाली थी।"[१]

"शैवों का अद्वैतवाद और उनका सामरस्य वाला रहस्य-सम्प्रदाय, वैष्णवों का माधुर्य भाव और उनके प्रेम का रहस्य तथा काम-कला की सौन्दर्य-उपासना आदि का उद्गम वेदों और उपनिषदों की ऋषियों की वे साधना-प्रणालियाँ हैं, जिनका उन्होंने समय-समय पर अपने संघों में प्रचार किया था।"[२]

"इस पौराणिक धर्म के युग में विवेकवाद का सबसे बड़ा प्रतीक रामचन्द्र के रूप में अवतरित हुआ, जो केवल अपनी मर्यादा में और दुःखसहिष्णुता में महान् रहे। किन्तु, पौराणिक युग का सबसे बड़ा प्रयत्न श्रीकृष्ण के पूर्णावतार का निरूपण था। इनमें गीता का पक्ष जैसा बुद्धिवादी था, वैसा ही ब्रजलीला और द्वारिका का ऐश्वर्य-भोग आनन्द से सम्बद्ध था।"[३]

---

१. 'काव्य और कला तथा अन्य निबंध' (छठवीं आवृत्ति), पृ० ४७-४८
२. वही, पृ० ४९.
३. वही, पृ० ५९.

इन उद्धरणों को ध्यानपूर्वक देखने से ज्ञात होता है, कि 'कामायनी' में काम के जिन रूपों का चित्रण हुआ है, उनमें प्रसाद की यही धारणाएँ मूर्तित हुई हैं । 'सौन्दर्य' आनंद तथा उन्मद भाव" का संश्लिष्ट स्वरूप ही 'कामायनी' में अवतीर्ण हुआ है और इस उपक्रम में प्रसाद ने वेदों आगमों, उपनिषदों, वैष्णव शास्त्रों इत्यादि सभी स्रोतों से प्रेरणाएँ ग्रहण की हैं ।

'कामायनी' की रचना की मूलभूत धुरी काम है जिसकी अभिव्यक्ति प्रेम के रूप में होती है । अतएव, काम तथा प्रेम तत्वतः अभिन्न है । काम चैतन्य की अनुप्रेरक वृत्ति है और प्रेम उसका प्रकाश है । जैसा ऊपर दिखाया गया है, वेदों में काम मूलत. व्यापक 'कामना' अथवा 'इच्छा' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ और वही कर्म में प्रवृत्त करने वाली चेतना अथवा शक्ति समझा गया है। लेकिन बाद में काम 'सेक्स' अथवा स्त्री-पुरुष-विषयक अन्योन्य आकर्षण का अर्थ भी द्योतित करने लगा है और--अथर्ववेद में वह अतीव शक्तिशाली देवता का स्वरूप ग्रहण कर लेता है जिसकी प्रभु-सत्ता देव, पितर तथा मर्त्य सभी समान भाव से स्वीकार करते हैं । ऐतरेय तथा शतपथ ब्राह्मणों मे काम स्पष्टतया रिरंसा (रमणेच्छा) का द्योतक तथा सृष्टि-रचना का मूल प्रेरक बन गया है। आगे चलकर, कामसूत्र के रचयिता महर्षि वात्स्यायन ने धर्म, अर्थ तथा काम के त्रिवर्ग में काम को सर्वातिशायी महिमा प्रदान कर दी है । 'कामायनी' में काम का जो उपन्यास हुआ है, उसमें इन समस्त विन्दुओं का सामरस्य सम्पन्न है । यहाँ काम सृष्टि का आद्य तत्त्व है, सिसृक्षात्मक अनुप्रेरणा है, स्त्री-पुरुष के द्वन्द्व को परस्पर आकर्षित करने वाली वासना है, यौवन-सुलभ मन्मथोद्भेद का सूचक तथा मन को मदोन्मत्त करने वाली शक्ति का प्रकाश है और उस निर्मल प्रेम की पुनीत अभिव्यक्ति है जो मांसल वासनाओं का परिष्कार कर, मानव-मंगल का विधायक बनता है । यही कारण है कि 'कामायनी' के काम-प्रसंगों में जहाँ निविड़वासना के उन्मादक चित्र है, वही सुकुमार प्रणय की तलस्पर्शी किरणें भी चमक उठी हैं । आर्षवाङ्मय तथा कालिदास —जैसे लौकिक रस के संवाहक कवियों की कृतियों में प्रेम तथा शृंगार की जो वर्णाढ्य एवं संमोहिनी सृष्टि हुई है, उसका प्रतिबिम्ब 'कामायनी' मे साफ-साफ अवतीर्ण हुआ है । एक प्रकार से यह कहना अयौक्तिक नही होगा कि 'कामायनी' आधुनिक युग की कवित्वमयी "कामगीता" है ।[१]

---

१. महाभारत के आश्वमेधिक पर्व के अंतर्गत अश्वमेध पर्व में, श्लोक १२ से श्लोक १९ तक, श्रीकृष्ण ने युधिष्ठर को 'कामगीता' सुनाई है जिसमें काम अपने महत्त्व का व्याख्यान करता है ।

ख. कामायनी में काम के रूप

'कामायनी' में चित्रित काम के स्वरूप का अवलोकन करने के पूर्व, आरंभ में ही यह समझ लेना उपयोगी होगा कि प्रसाद ने काम को सृष्टि का मूल तत्त्व एवं उन्मोलक प्रेरणा प्रतिपादित करने के साथ उसके लौकिक महत्त्व एवं स्वरूप की भी व्याख्या की है । इस दृष्टि से, 'कामायनी' के काम का विवेचन मुख्यतः दो शीर्षकों में किया जा सकता है, यथा—(१) 'मौलिक काम' और (२) 'लौकिक काम' । मौलिक काम के अंतर्गत सृष्टि के आविर्भाव और लौकिक काम के अंतर्गत उस मूल तत्त्व के व्यावहारिक जीवन में अभिव्यक्ति-रूपों से संबंधित कवि की धारणाओं एवं मान्यताओं का विवेचन हमारा अभीष्ट होगा ।

'कामायनी' के अध्ययन-विषयक दो शोध-प्रबंधों में काम की भिन्न-भिन्न श्रेणियाँ निश्चित की गई है । पहले में 'आध्यात्मिक काम', 'सृजनात्मक काम' तथा 'वासनात्मक काम' की तीन श्रेणियाँ बनाई गई है जिनमें अंतिम दोनों को काम के 'भौतिक रूप' के अंतर्गत रखा गया है ।[१] यह विभाजन कई दृष्टियों से उचित नही जान पड़ता । 'आध्यात्मिक' शब्द में अध्यात्म-विषयक व्यंजना, आत्मा-परमात्मा के पारस्परिक संबंध की व्यंजना, प्रायः रूढ़-सी स्वीकृत हो गई है । यदि 'आध्यात्मिक' से अर्थ केवल अन्तरात्मा अन्तःकरण से लिया जाय, तो भी जो व्यंजना इस प्रबंध के लेखक को अभीष्ट है, उसका उपलालन इस सज्ञा से नही होता । पुनः, 'सृजनात्मक एवं 'वासनात्मक' के भेद भी युक्तिसंगत नही है । प्रसाद ने सृष्टि के मूल में "अनादिवासना" की स्थिति कही है, लेकिन इस प्रबंध में 'वासना' को निन्द्य अर्थ में ग्रहण किया गया है जबकि प्रसाद ने "विकल वासना" की निन्दा की है । अतएव, यह वर्गीकरण निर्दोष नही माना जायेगा । वासना तो काम के प्रत्येक स्वरूप में रहती है; परिमाण का अन्तर हो सकता है । इस विभाजन का परिहार करते हुए, दूसरे प्रबंध में काम की तीन श्रेणियाँ निर्धारित की गई है, यथा—'सिसृक्षावाचक काम', 'पुरुषार्थवाचक काम और 'देवतावाचक काम' । पहले के काम का दार्शनिक, दूसरे को मनोवैज्ञानिक और तीसरे को सांस्कृतिक रूप बताया गया है ।[२] यह विभाजन भी त्रुटिपूर्ण है । काम का जो विवेचन हमारे प्राचीन ग्रंथों में उपलब्ध है, उसमे

---

१. डॉ० द्वारिकाप्रसाद सक्सेना : 'कामायनी में काव्य, संस्कृति और दर्शन' (१९६३), पृ० ४०२–०४

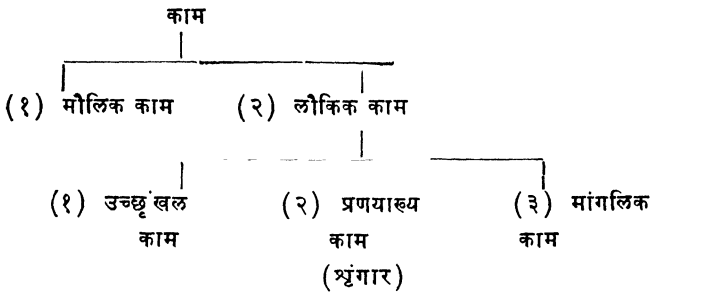
२. डॉ० वेदज्ञ आर्य: 'कामायनी की पारिभाषिक शब्दावली' (१९६८), पृ० ३२–३४

सिसृक्षा एवं रिरंसा का घोलमेल हुआ है जबकि पुरुषार्थ-वाचक काम में भी केवल रति-रमण का भाव गृहीत नही, अपितु संतानोत्पत्ति की धारणा भी स्वीकृत हुई है । अतः, पुरुषार्थवाचक काम को मनोवैज्ञानिक सीमा में ही समाहित करना युक्तिसंगत नहीं । सांस्कृतिक काम के अंतर्गत काम के 'देवकरण' का तथ्य गृहीत करना अनुचित नहीं कहा जा सकता । लेकिन, 'कामायनी' में एक महत्त्वपूर्ण परोक्ष पात्र के रूप में काम का अवतरण हुआ है जिसे देवत्व प्रदान किया जा सकता है, लेकिन काम के स्वरूप-विश्लेषण में उससे कोई सहायता नही मिलती उलटे, काम ने सृष्टि-विकास की जो कहानी कही है । वह काम के उसी पक्ष से उलझी हुई है जिसे इस प्रबंध के लेखक ने दार्शनिक वर्ग में गृहीत किया है । इन कारणों से, उपर्युक्त दूसरा विभाजन भी स्वीकार नही किया जा सकता ।

हम, अतएव, 'कामायनी' मे चित्रित काम को विवेचन की सुविधा के हेतु दो मुख्य श्रेणियों में विभाजित कर रहे हैं, यथा—'मौलिक काम' और 'लौकिक काम' । 'लौकिक काम' की पुनः तीन श्रेणियाँ बनाई जा रही हैं, यथा—'उच्छृंखल काम,' 'प्रणयाख्य काम' और 'मांगलिक काम' इस प्रकार, काम की चार श्रेणियाँ निर्धारित की गई है, यथा—'मौलिक काम' जिसका अभिप्राय सृष्टि के मूल तत्त्व एवं सिसृक्षात्मक आद्य प्रेरणा से है; 'उच्छृखल काम' जिसका अभिप्राय व्यावहारिक काम के मर्यादाविहीन एव अशिवमय स्वरूप से है; 'प्रणयाख्य काम' जिसका स्पष्ट अभिप्राय उस काम से है जिसका मर्यादित भोग हम सामान्यतः दाम्पत्य-जीवन मे करते है, और 'मागलिक काम' जिसका अभिप्राय काम-भोग के उस स्वरूप एव स्वभाव से है जिसमें काम की प्रेरणा तथा उपभोग मानव-मात्र के प्रति ममत्व एव सहानुभूति के भाव से मनुष्य को अनुप्राणित करते हैं और जिसमें व्यष्टि ही नही, समष्टि के भी मगल की सभावनाएँ गर्भित होती है । अतएव, अगले अनुच्छेदों में इन्ही चार शीर्षकों के अतर्गत 'कामायनी' के काम का विवेचन प्रस्तुत किया गया है ।

यहाँ एक तथ्य उल्लेखनीय है । प्रसाद ने विशुद्ध शास्त्रीय अथवा वैज्ञानिक दृष्टि से काम-तत्त्व का निरूपण नही किया है । उनके चित्रणों में नाना दृष्टियाँ परस्पर उलझी हुई हैं और उनके सगुंफन पर उनकी रसवादी काव्य-चेतना का अनुशासन प्रतिफलित है । इस कारण, कामशास्त्र अथवा साहित्यशास्त्र की व्यवस्थाओं का जाने-अनजाने उपयोग इन चित्रणों मे प्रायेण हुआ है । एक बात और । 'दाम्पत्य-काम' का प्रतिफलन रस-दृष्टि से शृंगार ही है । इसलिए, हमने शृंगार रस की शास्त्रीय सरणियों का उपयोग दाम्पत्य् काम अथवा

'प्रणयाख्य काम' के विवेचन में किया है । प्रस्तुत प्रकरण में स्वीकृत काम-विभाजन को यों देखा जा सकता है—



'कामायनी' में चित्रित काम को विवेचन की सुविधा के हेतु दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है, यथा—'मौलिक काम', 'लौकिक काम' ।

ग. मौलिक काम

पूर्वोद्धृत "कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्" में तथा ऐतरेय ब्राह्मण के "प्रजापति रकामयत प्रजायेस भूयांतस्यामीति" मे सृष्टि-रचना की मूल प्रेरणा काम को बताया गया है । शैवागमों में भी काम को संकल्प, इच्छा तथा सृष्टि का उत्पादक, अक्षर, अव्यक्त, स्वयंभू, शिवरूप इत्यादि कहा गया है । इसी के अनुरूप, 'कामायनी' में काम को सृष्टि का मूल प्रेरक तत्त्व श्रद्धा बताती है । वह मनु को उद्बोधित करते हुए कहती है, "तुम भविष्य से अनजान बन कर 'काम' से क्यों झिझक रहे हो ? महाचिति स्वय लीलामय आनंद करती हुई, व्यक्त बनी है । विश्व का अभिराम उन्मीलन उसकी लीलैषणा का ही परिणाम है जिसमें निखिल सृष्टि अनुरागमयी बनी हुई है । महाचिति की इच्छा से विश्व की अभिव्यक्ति हुई है और यह काम (कामना) मंगलमय है ।"

श्रीराधोपनिषद् में क्रियाशक्ति को ही 'लीलाशक्ति' माना गया है । 'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' मे महाचिति को परम स्वतंत्र तथा विश्व की अभिव्यक्ति का कारण कहा गया है और सृष्टि, स्थिति, विलय, अनुग्रह एवं संहार, इन पञ्चकृत्यों में लीन होते हुए उसे सतत क्रीड़ामग्न बताया गया है । 'स्पन्दकारिका' में स्पष्टतया इस जगत् को उस चिति की क्रीड़ा कहा गया है—"इति वा यस्य संवित्तिः क्रीड़ात्वेनाखिलं जगत् ।" प्रसाद ने आर्ष वाङ्मय की संपूर्ण प्रेरणा को रसमस कर, यहाँ काम को रचना, कामना तथा क्रीड़ा-लीला का मंगलमय समवाय घोषित किया है । यह काम "ईश्वर का रहस्यमय वरदान"

है।[1] 'काम' सर्ग में काम ने भी "प्रेम-कला" को मूल शक्ति बताया है तथा उसकी विकसित लीला को सृष्टि कहा है। यहाँ प्रसाद स्पष्टतः काम-क्रीड़ा को 'प्रेम' की अभिधा प्रदान करते हैं।

काम में लीला अथवा क्रीड़ा का जो भाव निहित है, वह 'द्वन्द्व' अथवा द्वैत की अपेक्षा रखता है। शतपथ ब्राह्मण में प्रजापति के एकाकी रमण न कर सकने तथा द्वन्द्व की इच्छा से अपने को दो (स्त्री-पुरुष) मे विभक्त करने का जो उल्लेख आया है, उसकी स्पष्ट प्रतिध्वनि निम्न छन्द मे उतर आई है–

"नव हो जगी अनादि वासना
मधुर प्राकृतिक भूख समान;
चिर-परिचित-सा चाह रहा था
द्वन्द्व सुखद करके अनुमान।" (आशा)

'सुखद द्वन्द्व' में शतपथ के 'अर्धवृगल' का भाव है स्त्री तथा पुरुष एक दूसरे के अर्धवृगल है जो पूर्णानन्द के हेतु परस्पर रमणशील बनने के लिए व्याकुल रहा करते हैं। शोपेनहावर का कथन है कि 'पूरक टाइप' प्रेम में फंसते है जिससे प्रत्येक व्यक्ति अपनी जोड़ी में उन गुणों की परख तथा पूजा करता है जिनका उसमे स्वयं अभाव होता है। फायड के शिष्य एवं सहयोगी मनोविश्लेषणवेत्ता जुग ने 'एनिमा' (अचेतन स्त्रीत्व की भावना) तथा 'एनिमस' (अचेतन पुरुषत्व की भावना) के सिद्धान्त का निरूपण किया है जिसमें द्विलैंगिक आकर्षण की साहजिकता को बलाघात दिया गया है। प्रसाद के द्वन्द्व-सुख को इन पाश्चात्य पंडितों की स्थापनाओं का भी अनुमोदन प्राप्त है।[2] यही द्वन्द्व-सापेक्ष काम "अनादि वासना" भी है जो मधुर प्राकृतिक भूख के समान जीवधारियों को व्याकुल बना देती है। इस "अनादि वासना" में कालिदास के "भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि" के 'स्मरण' की छाया डोलती है इस अन्तर के साथ कि दुष्यन्त "अबोधपूर्व" की बात करता है जबकि मनु "चिर-परिचय" से आश्वस्त है[3] यहाँ जुंग, ने भी मनुष्य में "वासनात्मतया" अवस्थित रहने वाले स्थायि-भाव-विषयक भारतीय आचार्यों की मान्यता को प्रकारान्तरेण पुष्टि प्रदान की है।[4] प्रसाद स्वयं भी रत्यादि भावों की जन्म-

१. "ईश का वह रहस्य वरदान,
कभी मत इसको जाओ भूल।" ('श्रद्धा')
२. सूर का शृंगार-वर्णन' (लेखक-कृत), पृ० ७ (प्रथमखण्ड)
३. 'अभिज्ञानशाकुंतल', ५।२
४. सूर का शृंगार-वर्णन', पृ० ७ (प्रथम खण्ड)

जन्मान्तरीय वासनात्मक स्थिति की स्वीकृति से अनुप्राणित है : "चिरपरिचित-सा" में यही ध्वनित है। "प्राकृतिक भूख" में जीव-विज्ञान तथा फ्रायड के 'लिबिडो' (काम-वासना) का संयुक्त उपस्वर भी वर्तमान है। 'योगदर्शन' (कैवल्य पाद) में भी वासनाओं को अनादि बताया गया है—"तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात्।"

प्रसाद काम को जिजीविषा का ही प्रतिरूप समझते हैं। वैदिक काम में कामना का जो व्यापक अर्थ ग्रहण किया गया है, उसी से परिचालित होकर मनुष्य कर्म-लीन बनता है। 'कामायनी' के काम में जीवन के कर्म-पक्ष का स्पष्ट भाव निहित है। मनु 'आशा' सर्ग में "जीवन ! जीवन !,की पुकार" से उद्विग्न हो उठे हैं। इसी संदर्भ में मधुर भूख के समान "अनादि वासना" उनके भीतर जगी है। जिजीविषा "मधुर जागरण" के समान "छविमान" होकर उनके अभ्यन्तर में छटपटाने और "मधुमय तान" के समान नाचने लगी है। जीवन की लालसा में प्रखरता तो है ही, उससे भी आगे बढ़कर, वह 'विलास' की आकांक्षा से परिपूर्ण है—

"जीवन की लालसा आज क्यों
इतनी प्रखर विलासमयी ?" (आशा)
"तरल आकांक्षा से है भरा
सो रहा आशा का आह्लाद।" (श्रद्धा)

इस प्रकार,जीवन की आकांक्षामयी लालसा, उसके सौन्दर्य एवं संभावनाओं के उपभोग की लालसा काम का व्यवच्छेदक गुण है। अर्थात्, जीवन की गाढ़ी अनुरक्ति काम का पर्याय है। फ्रायड ने 'ईरॉस' (Eros) नाम की मूलभूत जीवन-प्रवृत्ति का निरूपण किया है तथा 'लिबिडो' को उसका एक महत्त्वपूर्ण अंश बताया है। यह ईरॉस' अनुराग का द्योतक है और प्रकारान्तर से यह वैदिक काम (कामना) का ही मनोविश्लेषणीय संस्करण कहा जायेगा। कामायनी' के काम में इस ईरॉस' की ध्वनि सुनाई पड़ती है।

जीवन की प्रखर विलासमयी लालसा की चरितार्थता के हेतु जैसा ऊपर कहा गया है, द्वन्द्व आवश्यक है। मनु एकाकीत्व से ऊबकर "कब तक और अकेले ?" का प्रश्न पूछते हैं। श्रद्धा भी मनु के अकेलेपन को चुनौती देती है—

"अकेले तुम कैसे असहाय
यजन कर सकते ? तुच्छ विचार!
तपस्वी ! आकर्षण से हीन
कर सके नहीं आत्म-विस्तार।" (श्रद्धा)

अकेलापन पूर्णत्व के हेतु द्वन्द्व चाहता है । द्वैत की समरसता के लिए 'आकर्षण' होना तथा आकर्षित करना, अपेक्षित है । आकर्षण काम किंवा कामना ही है जिससे मनुष्य आत्म-विस्तार करता है । प्रसाद इस आकर्षण-तत्त्व को सातिशय महत्त्व देते हैं । उल्लेखनीय है कि मनु के काम अथवा 'ईरॉस' (जीवनानुरक्ति) की उद्दीप्ति के निमित्त ही श्रद्धा को प्रारंभ में ही बहुत मुखर बनना पड़ा है । आकर्षण से विहीन काम कोई मूल्य नहीं रखता । "अनादि वासना" के रूप में वह हृदय में उत्पन्न होता है जब हृदय-कुसुम की मधु-भीगी पाँखें अचानक खुल जाती हैं और एकाकीपन का अभाव व्यथित करने लगता है—

"हृदय–कुसुम की खिलीं अचानक
मधु से वे भींगी पाँखें ।"[1] (आशा)

श्रद्धा कुतूहलित होकर "हृदय-सत्ता" के जिस "सुन्दर सत्य" की खोज करने निकली है, वह काम का पर्याय है जो उसके अन्तस् में जाग्रत होकर अपनी पूरक जोड़ी की प्राप्ति के हेतु लालायित है । जब श्रद्धा का अर्ध-वृगल अपने पूरक अर्ध-वृगल (काम-लोल मनु) को प्राप्त कर लेता है, तब उसके हृदय में आनंद से ओत-प्रोत रस-समूह-रूप रास[2] का अनुरणित नृत्य होने लगा है— "हृदय का आनंद कूजन लगा करने रास ।" ('वासना') । 'कूजन' कामशास्त्र का मैथुन—कर्माङ्ग है और 'रास' में वैष्णवों की मधुरोपासना प्रवेश कर गई है । वास्तव में, आकर्षण प्रधान काम द्वन्द्व-मूलक है और इस द्वैत के पुनः अद्वैतीकरण के लिए हृदय-मधु का पिघलाव मूल्यवती आवश्यकता है । काम किंवा "मधुर प्राकृतिक भूख" निर्संगत आनन्दमयी है और यह आनंद भागवतीय रास का समानधर्मा है ।

यूनानी दार्शनिक प्लैटो ने एक मनोरंजक किन्तु तत्त्वपूर्ण कहानी गढ़ी है । वह कहता है कि आरंभ में पुरुष एवं नारी एक ही शरीर में संयुक्त थे । शक्ति-संचय के लोभ मे उस आदिम टाइप ने देवताओ के राज्य को अधिकृत करना चाहा । इससे खिन्न होकर देवराज जिउस (Zeus) ने उसे काट कर दो भागों में विभक्त कर दिया, इस हेतु कि उस सयुक्त पिंड की शक्ति घट कर आधी

---

१. **अथर्ववेद के २५ वें सूक्त में काम का प्रभाव यों वर्णित है—**
"जब उत्तम रूप से व्यथा देने वाला काम तुम्हें भलीभाँति व्यथित करता है, तब तुम अपनी सेज पर भी सुख में सो नहीं सकते ।++++++सरल पंखों से युक्त होकर भी, मैं नाना प्रकार से हृदय को तड़पाता हूँ ।"

२. **रसानां समूहो रासः ।"**

हो जाय । तब ये दोनों अर्धांश एक-दूसरे को खोजने निकले और जब वे संयोग से परस्पर मिल गये, तब एक दूसरे की भुजाओं में लिपट गये तथा भूख से मरने लगे । तब जिउस को बाध्य होकर, मानवता को विलोप से बचाने के निमित्त लिंग (सेक्स) की सृष्टि करनी पड़ी । तैत्तिरीय ब्राह्मण में पत्नी को पुरुष का आधा स्वरूप कहा गया है । शैवागमों की 'अर्धनारी नटेश्वर' की कल्पना भी मननीय है ।

प्रसाद ने द्वन्द्व-भावना की प्राञ्जल अभिव्यक्ति के निमित्त तथा आकर्षण-तत्त्व को बलाघात देने के लिए, सांख्य तथा वैशेषिक एवं शैव दर्शनों का विलक्षण घोलमेल तैयार किया है । प्लैटो की उपर्युक्त कहानी की 'स्पिरिट' भी अनायास उतर आई है । काम अव्यक्त प्रकृति के व्यक्तीकरण तथा निज युग्म के प्रादुर्भाव और सृष्टि के विकास का अत्यंत रुचिर-रोचक विवरण प्रस्तुत करता है । यहाँ प्रसाद ने स्वयं कवित्वपूर्ण कल्पना के सहारे एक अभिनव 'मिथक' (पुराण-कथा) की सृष्टि की है । दार्शनिक अवधारणाओं के साथ प्रसाद ने पौराणिक तत्त्व को भी मिला दिया है और सृष्टि के उद्‌भव की रमणीय कहानी गढ़ दी है । महाभारत तथा पुराणों मे रति को काम की पत्नी बताया गया है । द्वन्द्व-सुख के भोग के लिए, रिरंसा की तृप्ति के लिए, काम-रति के युग्म की स्थापना आवश्यक थी जिसे पुराणों ने सम्पन्न किया । प्रसाद ने काम और रति की कल्पना को विधिवत् प्रस्फुट किया है । उनके अनुसार, रति काम की ही शक्ति है, वही अनादि वासना है, वही आकर्षण करती है । अव्यक्त प्रकृति के उन्मीलन के मूल मे रति की प्रेरणा ही कार्यशील रही है—

> **"जो आकर्षण बन हँसती थी**
> **रति थी अनादि वासना वही;**
> **अव्यक्त-प्रकृति-उन्मीलन के**
> **अन्तर मे उसकी चाह रही ।"** (**काम**)

सांख्य दर्शन में तीन प्रकार के तत्त्व माने गये हैं, यथा—'व्यक्त', 'अव्यक्त' एवं 'चेतन' । 'अव्यक्त' 'मूलाप्रकृति' है जो सत्व, रजस् तथा तमस् इन तीन गुणों की साम्यावस्था है । 'चेतन' को 'पुरुष' भी कहा गया है । पुरुष ही एकमात्र चेतन है तथा अन्य दोनों, व्यक्त एवं अव्यक्त, जड़ हैं । किन्तु, पुरुष स्वयं निष्क्रिय, निर्गुण एवं निर्लिप्त है । पुरुष का बिम्ब चित और प्रकाश स्वरूप है । इस चिद्‌बिम्ब का सम्पर्क जब अव्यक्त प्रकृति (मूलाप्रकृति) के सत्त्वगुण से हुआ, तब उसमें क्षोभ (चांचल्य) उत्पन्न हुआ और उससे (मूलाप्रकृति से) 'महत्-तत्त्व' अथवा 'बुद्धि-तत्त्व' की अभिव्यक्ति हुई । पुनः, इसी प्रक्रिया से अन्यान्य तत्त्वों की अभिव्यक्ति हुई जिनकी कुल संख्या 'चेतन' को मिलाकर

पच्चीस तक पहुँच गई है । इस सुकार, सांख्य के अनुसार, अव्यक्त प्रकृति से ही सृष्टि होती है । इसमें कार्य को कारण में ही वर्तमान बताया गया है । अतएव, कारण से कार्य की उत्पत्ति का अर्थ होता है, अव्यक्त से व्यक्त होना और कार्य के नाश का अर्थ होता है, व्यक्त से अव्यक्त होना । अतः, सांख्य में न किसी की उत्पत्ति होती है, न किसी का नाश होता है । वस्तुतः, उत्पत्ति और नाश ,दोनों ही एक धर्म (स्वभाव) का परित्याग कर दूसरे धर्म का ग्रहण हैं । केवल स्वरूप में परिवर्तन होता है. वस्तु या तत्त्व में नहीं । इसे ही 'सत्कार्यवाद' कहा गया है । "अव्यक्त-प्रकृति-उन्मीलन" में सांख्य की छाया झलकती है ।

परन्तु, रति अथवा 'अनादि वासना' के अनुप्रवेश से प्रसाद की विवक्षा यह बन गई है कि अव्यक्त प्रकृति को विकसित करने वाली यह रति ब्रह्म अथवा परमात्मा के हृदय में 'चाह' अर्थात् कामना (काम) के रूप में विद्यमान थी और उसी की प्रेरणा से सम्पूर्ण विश्व का विकास हुआ । यहाँ ऐतरेय ब्राह्मण वाले उल्लेख "प्रजापति-रकामयत प्रजायेय" इत्यादि का प्रतिबिम्ब उतर आया है । "उन्मीलन" में शैवागम की यह स्थापना आई है कि महाचिति अपनी इच्छा से अपनी ही भित्ति पर विश्व का उन्मीलन करती है—"स्वेच्छया स्व-भित्तौ विश्वमुन्मीलयति ।"

उसके बाद काम कहता है—"विश्व-उन्मीलन के उस पूर्व चरण में हम दोनों (काम तथा रति) उस प्रारम्भिक चक्राकार घूर्णन (घुमाव) के समान अमूर्त्त ढंग से वर्तमान रहे जिससे, अभिव्यक्ति पाने की प्रक्रिया में, सृष्टि का आकार नृत्यशील रूप धारण करता है । तब, वह प्रकृति-लता यौवन के उन्मेष से भरकर पुष्पवती बनी और उसके भीतर वसंत के प्रथम मधुर हास का संचार हुआ जिससे हम दोनों के मधुर रूप ढल गये ।"[1]

आधुनिक विज्ञान ने अनुसंधान किया है कि सृष्टि का विकास अणु-पर-

---

१. "हम दोनों का अस्तित्व रहा
उस आरम्भिक आवर्तन-सा,
जिससे संसृति का बनता है
आकार रूप के नर्तन-सा ।
उस प्रकृति-लता के यौवन में-
उस पुष्पवती के माधव का
मधु-हास हुआ था वह पहला,
दो रूप मधुर जो ढाल सका ।" (काम)

माणुओं द्वारा हुआ है। संसार के समस्त छोटे-बड़े पिण्ड अणुओं से निर्मित हुए हैं। ये अणु परमाणुओं से बने हैं तथा प्रत्येक परमाणु का संघटन प्रकण, विद्युत्कण इत्यादि से हुआ है। ये परमाणु बड़े भयंकर वेग से चक्कर लगाया करते हैं तथा उनमें असीम शक्ति होती है। इन्हीं परमाणुओं से यह सृष्टि बनी हुई है। काम ने कहा है कि विश्व को अव्यक्तावस्था में वह तथा उसकी प्रेयसी रति, अमूर्त्त भाव से, कुलाल-चक्र की भाँति ब्रह्माण्ड में चक्कर (आवर्त्तन) लगा रहे थे जिससे सृष्टि 'रूपों का नृत्य' बनती है। इस कथन में आधुनिक विज्ञान के अणु-परमाणुओं के नृत्याकार चक्कर काटते रहने तथा परस्पर संयुक्त होकर घुलमिल जाने (Fusion) की ही व्यंजना गर्भित है। 'योगवासिष्ठ' में अद्वैत की स्थापना करते हुए, परम शुभमयी "चिति" (वा महाचिति) की ही एकान्त विद्यमानता को प्राधान्य दिया गया है। वहाँ कहा गया है कि त्रैलोक्य-रूपी समुद्र में अकेली चिति जलमय शरीर के रूप मे सतत विराजमान रहती है[1] और सुर, असुर, गंधर्व, पर्वत, समुद्र इत्यादि से समन्वित यह सम्पूर्ण जगत् उस चिति में स्थित होकर उसी प्रकार घूमता है जिस प्रकार वेगवती नदी की भँवर में जल चक्कर काटता है।[2] प्रसाद के "आरम्भिक आवर्तन" मे 'योगवासिष्ठ' की यह ध्वनि भी सुनाई पड़ती है। साथ-ही, सांख्य की उपपत्तियों का भी सयोग हुआ है। "प्रकृति-लता" में अव्यक्त, मूला प्रकृति का भाव है। जैसा पहले कहा गया है, पुरुष के चिद्-बिम्ब का सम्पर्क जब प्रकृति के सत्त्व-गुण से होता है, तब उसमें (मूला अथवा सूक्ष्म प्रकृति में) 'क्षोभ' उत्पन्न होता है जिससे 'महत्तत्त्व' (बुद्धि-तत्त्व) की अभिव्यक्ति होती है तथा 'महत्तत्त्व' से, इसी प्रकार, विभिन्न चरणों मे सम्पूर्ण सृष्टि का विकास होता है। "माधव के मधुहास" में सांख्य के पुरुष का क्षोभ ध्वनित है। प्रसाद ने कवित्वमयी भगिमा में प्रसव-प्रसंग के समस्त सकेत अनुस्यूत कर दिये है। अव्यक्त प्रकृति नारी की भाँति चेतन युवती तथा रजस्वला (पुष्पवती) बनी है; पुरुष वसत के रूप मे उससे मधुर संसर्ग स्थापित करती है जिसके फलस्वरूप काम एवं रति के मधुर युग्म आविर्भूत होते हैं। लता तथा वसन्त का संयोग, लता में फूल खिलने का कथन एवं कालक्रम से उसके फलवती होने की व्यंजना—इन विन्दुओं का संग्र-

---

१. "चिदेवासु समग्रासु सर्वदेवैकिकैव हि।
त्रैलोक्यास्मोधि संस्थासु शरीरजलजालिका॥"
(योग०, नि० प्र० पू०, ३०।३३)

२. "ससुरासुरगन्धर्वं सशैलार्णवकं जगत्।
चितिस्थितं प्रवहति जलावर्ते जलं यथा॥" (वही, ३०।३५)

थन चित्र को और भी ललित बना देता है ।

पुंस्तत्त्व एवं स्त्रीतत्त्व तथा अन्योन्य समाकर्षण को और भी प्रस्फुट करने के निमित्त प्रसाद ने काम के मुख से सृष्टि-विकास की पूरी कहानी कहलाई है । काम कहता है—

"वह मूल शक्ति उठ खड़ी हुई
अपने आलस का त्याग किये;
परमाणु-बाल सब दौड़ पड़े
जिसका सुन्दर अनुराग लिये ।" (काम)

—'वह आद्या शक्ति, अनादि वासना से प्रेरित हुई तथा अपने आलस्य का परित्याग कर सर्ग-रचना के लिए सक्रिय भाव से उठ खड़ी हो गई । फलतः, छोटे-छोटे परमाणु उस शक्ति के नवजाग्रत अनुराग (प्रेम अथवा आसक्ति) से स्वयं अनुरागपूर्ण बनकर शीघ्रता के साथ दौड़ पड़े ।'

यहाँ "मूल शक्ति" शैवागमों की "काम-कला" है । सांख्य के समान शैव दर्शन भी प्रकृति एवं पुरुष के संयोग से सृष्टि–विकास की कल्पना स्वीकार करता है, लेकिन शैव दर्शन का वैशिष्ट्य यह है कि वह प्रकृति एवं पुरुष को तत्त्वों के रूप में स्वीकार कर, उनको प्रेरणा देने वाली एक स्वतन्त्र 'महाचिति' (चेतनाशक्ति) की कल्पना करता है जो आनन्दरूपा है तथा जिसे "कामकला" अथवा "त्रिपुरसुन्दरी" भी कहा गया है ।[1] शिवमहापुराण मे शिव तथा शक्ति के समायोग को 'परमात्मा' कहा गया है और परमात्मा ही 'पराशक्ति' है । विश्व की रचना के समय इस पराशक्ति से चित-शक्ति का आविर्भाव होता है और चित-शक्ति से आनन्द, आनन्द से इच्छा, इच्छा से ज्ञान तथा ज्ञान से क्रियाशक्ति का उद्भव होता है ।[2] इस पराशक्ति को एक अन्य सदर्भ में चिन्मयी, शिवसंश्रया तथा चिद्रूपा बताने के साथ-साथ, "प्रसव धर्मिणी" भी कहा गया है और उसे शिवेच्छा से नानारूप वाले विश्व को धारण करने वाली बताया

---

१. "इति कामकलाविद्या देवीचक्रकमात्मिका सेयम् ।
विदिता येन स मुक्तो भवति महात्रिपुरसुन्दरीरूपः ।।"
(कामकला विलास, ८)

२. "शिवशक्तिसमायोगः परामत्मेति निश्चिम् ।
पराशक्तेस्तु संजाता चिच्छक्तिस्तु तदुद्भवा ।।
आनन्दशक्तिस्तज्जा स्यादिच्छाशक्तिस्तुतदुद्भवा ।
ज्ञानशक्तिस्ततोजाता क्रियाशक्तिस्तु पञ्चमी ।।" (शिवमहापुराण)

गया है ।[1] अतएव, प्रसाद की "मूल शक्ति" में इस 'पराशक्ति' की भी, जिसे 'आद्या शक्ति' स्पष्टतया कहा गया है, छाया वर्तमान है। चूँकि वह 'प्रसव-धर्मिणी' है, अतः उससे सृष्टि के उद्भव की कल्पना भी सार्थवती बनती है। आलस्य के परित्याग में पूर्वोक्त 'क्षोभ' की ध्वनि वर्तमान कही जा सकती है। प्रसव-धर्म के अनुपालन में अनुराग (काम) की स्थिति नितरां आवश्यक है। इस कारण, वह मूल शक्ति (आद्या अथवा पराशक्ति) अनुरागवती बनी और उसके अनुराग के संस्पर्श से लघु-परमाणु भी अनुरागपूर्ण होकर ब्रह्माण्ड में दौड़ पड़े। परमाणु-बाल के दौड़ने में कणाद के न्याय-वैशेषिक का 'परमाणुवाद' दिखाई पड़ता है। पुनः, 'योगवासिष्ठ' में कहा गया है कि चिदात्मरूप परमाणु में ही सम्पूर्ण जगत् विद्यमान रहता है तथा उसी से जगती के विविध रूप प्रतिभासित होते हैं—"जगन्ति परितिष्ठन्ति परमाणौ चिदात्मनि।"

प्रस्तुत छन्द के पूर्ववर्ती छन्द, "उस प्रकृति-लता के यौवन में", इत्यादि में कवि ने काम तथा रति के दोनों मधुर रूपों के ढलने की बात कही है। अतएव, वर्तमान छन्द से उसकी संगति बिठाने के लिए यह अनुमान करना युक्ति-विहीन नहीं होगा कि इस 'मूल-शक्ति' को आलस्य छोड़कर खड़े होने की अनुप्रेरणा काम तथा रति के मधुर युग्म के आविर्भाव से मिली। इसी युग्म ने मूल अथवा आद्या शक्ति में अनुराग का अनुप्रवेश कराया जिससे वह प्रसव की आकांक्षा से चंचल बनी और सृष्टि के उपादान-रूप परमाणु अनुरागमय होकर परस्पर संयुक्त होने लगे। यह उल्लेख्य है कि काम तथा रति के उद्भव और जगत् की सृष्टि के सम्बन्ध में प्रसाद किसी दर्शन–विशेष से प्रतिबद्ध नहीं हैं। जैसा हमने देखा है, वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, आगम, पुराण इत्यादि यावत् स्रोतों से उन्होंने द्रव्य-संचय किया है और काम-शास्त्रीय एवं साहित्यशास्त्रीय मैथुन एवं शृंगाररस के विवरणों का उन्मुक्त उपयोग कर, सृष्टि-विकास की नई कवित्वमय कहानी (मिथ) गढ़ी है। नाना सूत्रों से संश्लिष्ट यही कहानी शृंगार की स्निग्ध छाया में आगे बढ़ती है—

"कुंकुम का चूर्ण उड़ाते–से
मिलने को गले ललकते–से;

---

१. "आद्या सैका पराशक्तिश्चिन्मयी शिवसंश्रया ।।
+ + +
सैका परा च चिद्रूपा शक्तिः प्रसवधार्मणी।
विभज्य बहुधा विश्वं विदधाति शिवेच्छया ।।" (वही)

अंतरिक्ष के मधु-उत्सव के
विद्युत्कण मिले झलकते-से ।
वह आकर्षण, वह मिलन हुआ
प्रारम्भ माधुरी छाया में;
जिसको कहती सब सृष्टि बनी
मतवाली अपनी माया में ।
प्रत्येक नाश-विश्लेषण भी
संश्लिष्ट हुए, बन सृष्टि रही;
ऋतुपति के घर कुसुमोत्सव था,
मादक मरंद की वृष्टि रही ।
भुजलता पड़ी सरिताओं की
शैलों के गले सनाथ हुए;
जलनिधि का अंचल व्यजन बना
धरणी का, दो-दो साथ हुए ।
कोरक-अंकुर-सा जन्म रहा,
हम दोनों साथी झूल चले;
उस नवल सर्ग के कानन में
मृदु मलयानिल से फूल चले ।" (काम)

—"अणु-परमाणु बिजली के कण होते हैं जैसा आधुनिक विज्ञान मानता है ।[1] ये परमाणु चमकते हुए, परस्पर गले मिलने की तीव्र ललक के साथ, वैसे-ही मिले जैसे होलिकोत्सव में रंग तथा गुलाल का चूर्ण उड़ाते हुए उल्लसित लोग परस्पर गले मिलते हैं ।" अन्तरिक्ष में वसन्तोत्सव के सम्पन्न होने की कल्पना कवि की रसधर्मी आनन्द-चेतना का प्रतिफलन है । इन "लघु-परमाणुओं का पारस्परिक आकर्षण तथा संमिलन (समागम) अनुराग की माधुर्यमयी छाया में घटित हुआ और सृष्टि अपनी मोहिनी सम्पदा में मतवाली बन गई ।" 'कामकला-विलास' में काम को ही शिव बताया गया है तथा उसकी आभा श्वेत एवं अरुण के मिश्रित वर्ण की कही गई है और इसी कारण, बिन्दु-रूप काम को 'रवि' की अभिधा दी गई है ।[2] इस सितशोणमयी आभा

---

१. और भी देखिये, अथर्ववेद, १।१३।१-३

२. "सितशोणबिन्दुयुगलं विविक्तशिवशक्तिसंकुचितप्रसरम् ।
+ + +
बिन्दुरहंकारात्मा रविरेतन्मिथुनसमरसाकारः ।" (काम० ६-७)

की मधुर दीप्ति "माधुरी छाया" में झलकती समझी जा सकती है।[1] "माया" से, बहिरंगा शक्ति के दो भेदों में से एक 'माया' शक्ति का भाव गृहीत किया जा सकता है जिसका कार्य आवरण की सृष्टि करना है : जगत् माया-मय ही है। "बिखरे हुए अणु-परमाणु एक-दूसरे से मिलने तथा संयुक्त होने लगे; सृष्टि की रचना प्रारम्भ हो गई। ऋतुराज वसन्त के घर में फूलों का महोत्सव मनाया जाने लगा जिससे मन को मदायित करने वाले पुष्परस (मकरन्द) की वृष्टि होने लगी।" कणाद के परमाणुवाद में, पृथ्वी, जल, तेजस् तथा वायु, इन चार कार्य-द्रव्यों का नाश हो जाता है और वे परमाणु-रूप में आकाश में रहते हैं। यह अवस्था 'प्रलय' कहलाती है। जब परमात्मा में सृष्टि करने की इच्छा उत्पन्न होती है। तब परमाणुओं में एक प्रकार की क्रिया उत्पन्न हो जाती है जिससे एक परमाणु दूसरे से संयुक्त हो जाता है। दो परमाणुओं के संयोग से एक 'द्व्यणुक' उत्पन्न होता है। 'द्व्यणुक' में अणु परिमाण है, इसलिए, वह अथवा उससे उत्पन्न कार्य में दृष्टिगोचर नही होता। इस कारण, स्थूल द्रव्य 'तीन संख्या' से उत्पन्न होता है, 'द्व्यणुक' से स्थूल द्रव्य 'त्र्यणुक' या 'त्रसरेणु' की उत्पत्ति होती है, चार त्र्यणुक से 'चतुरणुक' उत्पन्न होता है। इसी क्रम से न्याय–वैशेषिक में पृथ्वी तथा पार्थिव द्रव्यों की उत्पत्ति बताई गई है।[2] "नाश–विश्लेषण" के 'संश्लिष्ट' होने मे 'परमाणु-प्रलयवाद' का ध्वनन है। परमाणुओं में सृष्टि के समय जो क्रिया उत्पन्न होने की स्थापना है, उसे ही प्रसाद ने पहले 'अनुराग' से व्यंजित किया है। वसन्त के घर में कुसुमोत्सव के आयोजन तथा 'मादक मरन्द की वृष्टि' की ललित कल्पना कालिदास–जैसे कवियों के शृंगार–विलास के सौरभ से सुरभित हो उठी है। 'ऋतुसंहार' में कालिदास ने वसन्त को "मदनप्रिय" (काम का मित्र) तथा "शृंगार दीक्षा–गुरु" (शृंगार की दीक्षा देने वाला गुरु) कहा है।[3] अनुरागमयी आद्याशक्ति के प्रसव–वर्णन में "सुरभिमधुनिषेकाल्लब्धगन्धप्रबन्धः"[4] (सदा सुगन्धित मधु बरसाने वाले) शृंगार-गुरु वसन्त (ऋतुपति) को हमारा कवि क्योंकर छोड़ पाता ?

---

१. 'कामायनी की पारिभाषिक शब्दावली' (डॉ० वेदज्ञ आर्य पृ० ३५)
२. डॉ० उमेश मिश्र: 'भारतीय दर्शन' (१९५७), पृ० २३३
३. "चूतामोदसुगंधिमन्दपवनः श्रृङ्गारदीक्षागुरुः,
कल्पान्तं मदनप्रियो दिशतु वः पुष्पागमो मंगलम्।" (६।३६)
४. वही, ३।३७

कहानी पूरी हो रही है : "सरिताओं की भुजलताएँ पर्वतों के कंठों में पड़ी जिससे पर्वत सनाथ बन गये। समुद्र पृथिवी को अपने जलीय आँचल (ऊर्मियों) से पंखे के समान मधुर-मधुर हवा करने लगा। इस प्रकार, दो-दो के युगल एक-साथ संयुक्त हो गये। सृष्टि का जन्म कली के अंकुर-सदृश हुआ (जो आगे चलकर सुन्दर तथा रसमय रूप में विकसित हुआ)। हम दोनों नयी सृष्टि के अभिराम कानन मे मृदुल मलय-पवन के संसर्ग से उमंग में झूल चले, फूल चले।" भुजलता के गले पड़ने के बिम्ब में सुरत-संदर्भ के कण्ठाश्लेष की तथा आँचल से हवा करने के बिम्ब में नायक के नायिका के सुखश्रम-जन्य वारिविन्दुओं को सुखाने की व्यंजना प्रत्यक्ष झलकती है। 'दो-दो साथ हुए' से मिथुन[1] के बहुल रूपो के आविर्भाव का स्पष्ट कथन हुआ है जिसमें पुंस्तत्त्व एव स्त्रीतत्त्व के सृष्टिव्यापी बाहुल्य की व्यजना सनिहित है जिसका अनुमोदन आधुनिक जीव-विज्ञान भी करता है। अगणित द्वन्द्वात्मक युग्मों का वह मधुर कानन रहा होगा सृष्टि की नव-उत्पत्ति के समय। उस पर्यावरण मे काम तथा रति का वह आद्य मिथुन, वे दोनों साथी मस्ती मे फूलकर झूमने लगे—कैसा ललित एव रसपेशल बिम्ब कवि ने यहाँ अकित किया है।

काम अन्त में समापन करता है—

"हम भूख-प्यास से जाग उठे,
आकांक्षा--तृप्ति-समन्वय में;
रति-काम बने उस रचना में
जो रही नित्य यौवन-वय में।"

"आकाक्षा तथा तृप्ति के समन्वय से हम दोनों के भीतर भूख एवं प्यास का ज्वार-सा जग उठा और हम नित्य यौवन-मयी सृष्टि में रति एवं काम के नाम से विख्यात बन गये।" काम का अर्थ कामना अथवा आकांक्षा होता ही है और 'रति' का अर्थ तृप्ति है।[2] इस प्रकार, काम आकाक्षा का मूर्त रूप और रति तृप्ति का मूर्त्त रूप है। आकाक्षा की तृप्ति जितनी-ही होती है, उतनी-ही आकाक्षा बढ़ती है। यह वर्धमान आकांक्षा ही 'भूख-प्यास' है। शैव-मतानुसार, परमेश्वर की "नित्यपरिपूर्ण-तृप्ति" नामक एक शक्ति होती है। यह परिमित भाव को प्राप्त कर प्राणी को निरन्तर भोगों में आसक्त करती

---

१. **स्त्री-पुरुष का जोड़ा।**

२. **द्रष्टव्य**, "The student's Sanskrit-English Dictionary' by V. S. Apte (1963), **पृ०** ४६३ : "Pleasure, delight, satisfaction, joy." **तीसरा अर्थ 'तृप्ति' है।**

है, तब उसे 'रागतत्त्व' कहा जाता है।[1] अतः, 'परिमित तृप्ति' ही शैवमत में राग है और राग ही रति है। जैसा काम ने आगे कहा है, वह देवों में 'तृष्णा' विकसित करता था और रति 'तृप्ति' का मोह दिखाती थी। प्रसाद ने रति और काम का उद्भव दिखाने के बाद सृष्टि की जो उद्भव-सरणि चित्रित की है, उसमें काम तथा रति की ऐसी-ही माधुर्यपूर्ण भूमिका का महत्त्व निष्पन्न होता है। यह सृष्टि निरन्तर यौवनमयी बनी रहती है क्योंकि काम एवं रति निरन्तर आकांक्षा तथा तृप्ति के समन्वय का मोहक अध्याय अनावृत करते रहते हैं। ऋतुपति के घर में घटित होने वाला आद्य कुसुमोत्सव इस समन्वय की सरणी से सतत सृष्टि में सम्पन्न होता रहता है जिससे वह नित्ययौवन-मयी रहती है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि प्रसाद ने 'कामायनी' में सिसृक्षामूलक काम का, नाना स्रोतों से सामग्री ग्रहण कर, कवित्वमय वर्णन किया है। मिथुन तथा आकर्षण के भाव को सुस्फीत करने के हेतु काम तथा रति के उद्भव और सृष्टि के विकास की जो ललित कहानी उद्भावित की है, वह आर्ष साहित्य की सुदृढ़ भूमि पर आधृत होने के साथ-ही, कवि की आनंद-भावना तथा रसैषिणी चेतना की प्रांजल छाप लिये हुई है। अन्तिम छन्द में 'भूख-प्यास से जाग उठने' का कथन कर, प्रसाद ने काम के विकृत हो जाने की प्रवृत्ति की भी स्पष्ट व्यंजना कर दी है।

घ. उच्छृंखल (लौकिक) काम

सिसृक्षामूलक काम में भी रिरंसा का स्फुट भावनिहित है। 'कामकला-विलास' में शिव को 'काम' तथा शक्ति को 'कला' के नाम से अभिहित किया गया है और इन दोनों के सामरस्य से सृष्टि का विकास प्रदर्शित किया गया है। कमनीय होने से ही शिव को काम कहा गया है। कला 'विमर्श-शक्ति' की संज्ञा है जिसमें अग्नि की दाहकता तथा चन्द्रमा की शीतलता रहती है। इसी कारण, इस विमर्शरूपिणी कला को "अग्निषोमरूपिणी" कहा गया है। अतएव, सृष्टि-मूलक 'कामकला' में दाहकता एवं शीतलता का जो तत्त्व संयुक्त है, उससे भी काम के सेक्स-रूप की व्यंजना होती है। बृहदारण्यक उपनिषद् में, याज्ञवल्क्य ने विदग्ध शाकल्य के प्रश्न के उत्तर में बताया है कि समस्त प्राणियों

---

१. "नित्यपरिपूर्णतृप्तिः शक्तिस्तस्यैव परिमिता तु सती।
भोगेषु रञ्जयन्ती सततममुं रागतत्त्वतां याता॥"
(षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोह, श्लोक १०)

का परमधाम पुरुष "काममय-पुरुष" है और उसका देवता स्त्री है ।[1] यहाँ काम से स्त्री-प्रसंग की व्यंजना ध्वनित है । 'योगवासिष्ठ' में कहा है कि सभी आनन्दों के ऊपर यही स्थिति है जो समान मनोवृत्ति वाले के संग के आस्वादन का सुख है ।[2] यहाँ काम से स्त्री-संसर्ग अथवा सेक्स का भाव अभीष्ट है । वात्स्यायन ने 'कामसूत्र' में काम की अधिक लोकग्राह्य परिभाषा दी है। उन्होंने काम के सामान्य एवं विशेष दो भेद किये हैं । आत्मा से संयुक्त तथा मन से अधिष्ठित पंच ज्ञानेन्द्रियों के अपने-अपने विषयों में अनुरक्त होकर आनन्द-लाभ करने की प्रवृत्ति 'सामान्य काम' है और स्त्री-पुरुष के संयोग से स्पर्श-विशेष-जन्य सुखानुभूति 'विशेष काम' है ।[3] हिन्दू-विवाह के प्रसंग मे कहा गया है, "तुम्हारा नाम काम है, किन्तु तुम वास्तव में मद हो । तुम्हारा नशा वर को कन्या के पास खीच लाये क्योकि कन्या ही कामाग्नि की अरणि है जो रति-क्रिया से प्रज्वलित हो उठती है ।"[4]

'चिन्ता' सर्ग में, कवि ने काम के इस सुरत-संभोग वाले अमर्यादित स्वरूप का वर्णन किया है । देवता "वासना की उपासना" में लीन थे और 'विलासिता के नद" में तैरते रहते थे । "उन्मत्त विलास", "देव-सृष्टि की सुख-विभावरी" का आधायक था । 'कीर्ति, दीप्ति, शोभा अरुण किरण की भाँति चारों ओर नाचती थी ।' देवों का वह "सुख का संग्रह" सुर-बालाओं के यौवन-रस के निर्बाध उपभोग की भित्ति पर खड़ा हुआ था । कुसुमित कुंजों में चलने वाले प्रेमालिंगन, वीणा के तारों पर उठने वाली मूर्च्छनाएँ, कामिनियों के

---

१. "अहं तं पुरुष सर्वस्यात्मन परायणं यमात्थ य एवायं काममयः पुरुषः; स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति स्मिय इति होवाच ।" (बृहदा०, ३।९।११)

२. "समग्रानन्दबृन्दानामेतदेवोपरि स्थितम् ।
यत्समानमनोवृत्तिसङ्गस्यास्वादने सुखम् ।।" (योगवासिष्ठ)
—मिलाइये : 'साहित्यदर्पण' में निबद्ध 'रति' की परिभाषा ।

३. "श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानामात्मसंयुक्तेन मनोऽधिष्ठितानां स्वेषु स्वेषु विषयेष्वानुकूल्यतः प्रवृत्तिः कामः ।। × × स्पर्शविशेषविषयात्वस्याभिमानिकसुखानुविद्धाफलवत्यर्थ—प्रतीतिः प्राधान्यात् कामः ।।"
(कामसूत्र, साधारणाख्य प्रथमाधिकरण, अध्याय २)

४. "काम वेद ते नाम मदो नामसि समानयासु सुरार्त्तमवत्
परमत्र जन्माग्ने तपसो निर्मितोऽसि स्वाहा ।"

कपोलों पर पड़ने वाली उनके प्रेमियों के आसव-सिक्त मुख की सुरभित भाप, रमणियों के चरणों में बजने वाले नूपुर तथा उनकी छाती पर हिलने वाले हार, अनंग-पीड़ा से उत्पन्न अंग-भंगियों का नर्तन इत्यादि का कथन वात्स्यायन वाले 'विशेष काम' के उपभोग का वह अनियंत्रित स्वरूप है जिसका पर्यवसान विनाश एवं प्रलय में होता है—

"विकल वासना के प्रतिनिधि वे
सब मुरझाये चले गये;
आह ! जले अपनी ज्वाला से,
फिर वे जल में गले, गये ।" **(चिन्ता)**

काम के 'विकल वासना' वाले परिपक्ष का वर्णन करते समय, प्रसाद ने कामशास्त्रीय एवं साहित्यशास्त्रीय तत्त्वों का गुंफन किया है। "कीर्ति, दीप्ति, शोभा थी नचती" में 'दीप्ति' एवं 'शोभा' नायिका के अयत्नज अलंकार हैं। "उषा ज्योत्स्ना-सा, यौवन-स्मित, मधुप-सदृश निश्चिन्त बिहार" में 'प्रगल्भता' एवं 'औदार्य' नामक अयत्नज की व्यंजना है। "कंकण क्वणित, रणित नूपुर थे, हिलते थे छाती पर हार" में 'विच्छित्ति' नामक स्वभावज अलंकार है। "वह अनंग-पीड़ा-अनुभव-सा अंग-भंगियों का नर्तन" में 'विलास' तथा "भुज-मूलों में शिथिल वसन की व्यस्त न होती है अब माप" में 'केलि' नामक स्वभावज चित्रित हैं। "सुरा सुरभिमय वदन अरुण वे नयन भरे आलस अनुराग" में 'विलास' तथा "कलकपोल था जहाँ बिछलता कल्पवृक्ष का पीत पराग" में 'ललित' स्वभावज की व्यंजना है। सुर-बालाओं के वर्णन में 'मध्या' तथा 'प्रौढ़ा' नायिकाओं का शील व्यंग्य है।[1] आलिंगन, पुलक-स्पर्श, मधुमय चुंबन इत्यादि का कथन संभोग शृंगार की अन्तर्दशाओं का व्यंजक है।[2] इस प्रसंग में यह उल्लेख्य है कि जहाँ कवि ने अनियंत्रित मांसल भोग वाले काम की भर्त्सना की है, वहीं अपने नायक मनु को अतीत रंगरेलियों के विनाश पर दुख

---

१. **"गया, सभी कुछ गया, मधुरतम**
सुर-बालाओं का शृङ्गार;
उषा ज्योत्स्ना-सा, यौवन-स्मित,
मधुप-सदृश निश्चिन्त बिहार।"

२. **"बिछुड़े तेरे सब आलिंगन,**
पुलक-स्पर्श का पता नहीं;
मधुमय चुम्बन, कातरतायें
आज न मुख को सता रहीं।" **(चिन्ता)**

की कातर भावना से अभिभूत भी दिखाया है । जिन छन्दों की पक्तियाँ अथवा वाक्यांश हमने अभी उद्धृत किये है, उनके पढ़ने से मनु की यह मनोभावना प्रत्यक्ष हो जाती है । कवि ने किस मन:स्थिति में ऐसा किया, यह कुतूहल का विषय है । इड़ा के घर्षण में भी अमर्यादित काम की व्यंजना हुई है ।

ङ. प्रणयाख्य (लौकिक) काम : शृङ्गार

काम का सेक्स-रूप ही प्रेम अथवा प्रणय में परिवर्तित होता है । मासल भोग इस प्रेम का अविच्छेद्य अंग है । काव्य में यही शृंगार रस की गरिमा से विभूषित किया गया है । किन्तु, "वासना की उपासना" में शृंगार का माधुर्य जीवित नही रहता । 'कामायनी' में प्रणयाख्य काम की माधुरी का मोहक वर्णन उपलब्ध है । 'श्रद्धा' सर्ग से आरम्भ होकर 'निर्वेद' सर्ग तक इसी काम की अभिव्यक्तियों का चित्रण हुआ है ।

'श्रद्धा' सर्ग के प्रारम्भिक छन्दो मे श्रद्धा विषयालम्बन बनी है । इस स्थल पर प्रसाद ने श्रद्धा की रूप-लक्ष्मी का अत्यन्त ललित एवं मादक चित्रण किया है जिसकी विवेचना पिछले अध्याय में की जा चुकी है । श्रद्धा मनु के पतझड़-भरे जीवन-कानन मे अत्यन्त सुकुमार वसन्त-दूत के समान प्रकट हुई है—

"कौन हो तुम, वसन्त के दूत,
विरस पतझड़ में अति सुकुमार !"

यह रूपशालिनी नव्यागना का प्रथम दर्शन है जो अवसाद-ग्रस्त मनु के हृदय मे वसत की गुदगुदी उत्पन्न कर देता है । यहाँ उल्लेखनीय तथ्य यह है, कि मनु के भीतर 'आशा' सर्ग मे द्वन्द्व-समागम अथवा रति-भोग की आकाक्षा पहले से ही जाग्रत हो गई है । उनके भीतर की शून्यता "तृषित और व्याकुल" हो उठी है जिसमे उनके तपोजन्य "सयम का सचित बल" भी कारण बना है ।[१] श्रद्धा के दर्शन से शायद यही मानस-हलचल शान्त हो जाती है—"कर रही मानस-हलचल शान्त ।" सामान्यतया, मादक रूप-सौन्दर्य के साक्षात्कार से प्रथम प्रतिक्रिया 'मानस-हलचल' की ही होती है और इसे ही प्रेम-प्रसगो में प्राय: चित्रित किया गया है । लेकिन, प्रसाद ने इस प्रसग मे एक अभिनव प्रयोग किया है । यह नयापन दो बातों मे लक्षित होता है । प्रथम, नायक मनु सुख-विलास भोगने वाली देव-जाति के वंशज है जिन्होने स्वयं उपभोग

---

१. "तप से संयम का संचित बल
तृषित और व्याकुल था आज;
अट्टहास कर उठा रिक्त का
वह अधीर तम, सूना राज ।" (आशा)

किया है और जिनके भीतर तपःसंचित बल के उन्मेष से काम–भोग की आकांक्षा प्रादुर्भूत हो गई है। साधारण नायकों में शारीरिक शक्ति–संचय से द्वन्द्व–समागम की उत्कट अभिलाषा के उत्पन्न होने का उल्लेख नही किया जाता। यहाँ प्रसाद ने काम को शारीरिक–मानसिक आवश्यकता के रूप में प्रदर्शित किया है। नयापन का दूसरा विन्दु है, मानस-हलचल का शान्त हो जाना। मनोविज्ञान से इसकी कितनी पुष्टि होगी, यह अनुमान का विषय होगा। 'चिन्ता' सर्ग में अवसन्न–बुद्धि होने वाले मनु को सुनहले तीर बरसाने वाली उषा के उदय के संदर्भ में "कब तक और अकेले" की भावना से चंचल चित्रित करना तथा इन्द्रजाल-जननी चान्द्रमसी रजनी की ऐश्वर्यमयी खिल–खिलाहट में सुखमय अतीत की स्मृतियों से विक्षुब्ध प्रदर्शित करना—इस तथ्य का सन्निवेश 'तटस्थ उद्दीपन' की प्रभाव-सीमा का अतिक्रमण कर जाता है। वर्तमान पर्यावरण मे काम–भोग की लालसा मनु की जिजीविषा के साथ लिपटी हुई है और इस समग्र प्रसंग को प्रसाद ने अतीव मनोवैज्ञानिक एवं कलात्मक रीति मे चित्रित किया है। काम–भोग की लालसा के उत्कट प्रस्फुरण की पृष्ठभूमि में इन्द्रजाली सौन्दर्य वाली श्रद्धा को मनु के सामने उपस्थित कर, प्रसाद ने प्रेमोदय के प्रसंग को अनुपम सौन्दर्य से मंडित कर दिया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि मनु की मानस–हलचल को शान्ति में निविष्ट कर जो थोड़ी अस्वाभाविकता का मूल्य प्रसाद को चुकाना पड़ा है, वह प्रयोजन–पुरस्सर था। मनु तो पहले ही 'आशा' सर्ग में अपनी नवजाग्रत जिजीविषा का परिचय दे चुके हैं। तब भी, श्रद्धा उनके सामने लम्बा व्याख्यान देने लगी है जिसका केन्द्रीय स्वर है—

> **"हृदय में क्या है नहीं अधीर,**
> **लालसा जीवन की निश्शेष ?**
> **कर रहा वंचित कहीं न त्याग**
> **तुम्हें, मन में धर सुन्दर वेश ?"** ('श्रद्धा')

श्रद्धा को उपदेशक के ऊँचे धरातल पर प्रतिष्ठित करना कवि का उद्देश्य है और इसी की मानसिक भूमिका के रूप में स्वस्थ, स्फीत शिराओं वाले मनु की मानस–हलचल को तनिक अप्राकृतिक ढंग से उपशमित कर दिया गया है। श्रद्धा प्रथम साक्षात्कार मे ही "भूमा के मधुमय सत्य" तथा "समरसता के अधिकार" का उद्बोधनपूर्ण उपदेश देती है, शक्ति के बिखरे विद्युत्-कणों के समन्वय तथा मानवता के विजयिनी बनने की भविष्य-वाणी करती है। प्रेम अथवा प्रणय के प्रादुर्भाव के लिए यह भारी-भरकम, दार्शनिकता के सौरभ से संयुक्त वक्तृता पूर्णतः अनुकूल नही समझी जायेगी। और, यदि 'काम' सर्ग में

मनु फिर भी अपने अतीत यौवन की मधुर स्मृतियों से चंचल हो जाते हैं, तो उसका श्रेय श्रद्धा के रूप-सौन्दर्य तथा कुसुमित यौवन-सम्पदा को दिया जा सकता है ।[1] श्रद्धा का नव-फुल्ल यौवन मनु को अपने यौवन की याद दिला देता है और आकाश में नाचने वाली "सौन्दर्यमयी चंचल कृतियों" के रहस्य में उलझते हुए तथा "जीवन के मधुर भार" को नही सँभालने की बात करते हुए, वह अन्ततः जीवन-रस का पान करने लग जाते हैं—"पीता हूँ, हाँ, मैं पीता हूँ यह स्पर्श-रूप-रस-गंध-भरा ।" जीवन-रस का यह पान श्रद्धा के साक्षात्कार के संदर्भ में ही समझा जा सकता है ।

तब, एक तथ्य रेखांकित करना उचित होगा : श्रद्धा के रूप-दर्शन से मनु के भीतर कोमल प्रणय की कलिका नही खिलती, अपितु एक भूखे प्यासे, उपेक्षित यौवन से सम्पन्न, स्वस्थ किन्तु मानसिक दृष्टि से अस्थिर एवं असंतुलित व्यक्ति की काम-पिपासा जाग्रत होती है । 'काम' सर्ग में काम के कथन का पहला वाक्य है, "प्यासा हूँ मैं, अब भी प्यासा ।" यहाँ मनु के "पीता हूँ, हाँ, मैं पीता हूँ" का उत्तर कवि ने प्रस्तुत किया है । काम-लोल मनु के लिए जीवन-रस काम-रस का पर्याय है और श्रद्धा की प्राप्ति की अभिलाषा काम-रस के निर्बाध पान के निमित्त ही उनके भीतर उठी है । इसी कारण, काम ने उन्हे उपदेश दिया है—"उसके पाने की इच्छा हो तो योग्य बनो ।"

मनु वास्तव मे एक चौथाई प्रेमी रहे हैं और तीन चौथाई कामुक । श्रद्धा के उपदेश के अनन्तर, श्रद्धा के पिता काम ने भी उन्हें उपदेश दिया है । किं बहुना, इड़ा भी उन्हे उपदेश ही देती रही है । उपदेशों की चोट सहने वाला व्यक्ति सुकुमार प्रणय में दीक्षित क्योंकर हो सकता था ? उसे तो काम की भूख से अतिशय चंचल होना ही था । प्रसाद ने, फिर, मनु को रहस्यवाद की भूल-भुलैया मे उलझा दिया है । श्रद्धा का सौन्दर्य यदि शुद्ध भाव से उनकी हृदय-वीणा के तारों को झनझनाता, तो प्रेम का कोमल कुसुम कदाचित् उनके भीतर मुकुलित हो जाता । श्रद्धा ही मनु की 'अक्षय निधि' है जिसे वह अभी पहचान नही पा रहे हैं—

"मेरी अक्षय निधि ! तुम क्या हो,
पहचान सकूँगा क्या न तुम्हें ?

---

१. "मधुमय वसन्त जीवन-वन के,
बह अंतरिक्ष की लहरों में,
कब आये थे तुम चुपके से
रजनी के पिछले पहरों में ?" इत्यादि । (काम)

उलझन प्राणों के धागों की,
सुलझन का समझूँ मान तुम्हें।" **(काम)**

मनु के प्राणों के धागे श्रद्धा के दर्शन से उलझ गये हैं। लेकिन, वह चंद्रिका-चर्चित रजनी में दृश्यमान आलोक-बिम्बों के सौन्दर्य में भी उलझ जाते हैं—"सुन्दरता के इस परदे में क्या अन्य धरा कोई धन है ?" मनु के मानसिक संघटन का यह आयाम भी उन्हें स्वस्थ मन एवं स्वस्थ वृत्ति वाला प्रेमी बनने से रोकता है।

उपर्युद्धृत छन्द के बाद वाले पाँच छन्दों में कवि ने श्रद्धा के रूप-दर्शन से मनु के मानस पर पड़ने वाले प्रभाव का चित्रण किया है। मनु श्रद्धा को अपने "सूने मरु-अंचल" में बहने वाली "अंतःसलिला की धारा" बताते है; उनके कर्ण-कुहरों में श्रद्धा की वाणी की मधु-धारा घुल रही है; वह कल्पना में उसके "मलय स्पर्श" की सिहरन का भोग करते है; उन्हे ऐसा प्रतिभास होता है जैसे श्रद्धा व्रीड़ा से अपना घूँघट खीचती हुई अपने मृदुल करों से उनकी आँखें मीच रही है। श्रद्धा की मुसकान को पहले-ही कवि "उषा की पहली लेखा कान्त" बता चुका है। अब वह मधुर मुसकान मनु के मानस को विक्षुब्ध कर रही है और 'कान्ति-किरणों की काया' वाली वह सुन्दरी, उषा के समान, रहस्य में वेष्टित बन गई है—

"ऊषा-सा कौन रहस्य लिये
सोती किरनों की काया में ?" **(काम)**

ये छन्द मनु के प्राणों की संवेदनशील सुकुमारता पर मधुर आलोक डालते हैं और यह सम्भावना उपस्थित करते है कि मनु नितान्त कोमल प्रणयी बन सकेंगे। लेकिन, कवि को ऐसी परिणति स्वीकार्य नही है। मनु को संकल्प-विकल्पात्मक मन का प्रतीक चित्रित करने की उसकी अभिलाषा मनु को सामान्य स्वस्थ व्यक्ति नही बनने देती। इसी कारण, मनु श्रद्धा को विश्व की परमसत्ता की रहस्यमयता के साथ उलझा देते हैं और कवि की प्रत्यभिज्ञा-दर्शन-विषयक निजी पसन्द उस उलझाव को और भी गहरी एवं दार्शनिक बना देती है।[1] इन सबका संयुक्त परिणाम हुआ मनु के व्यक्तित्व का विघटन

१. **'काम' सर्ग में, काम की वाणी के प्रारम्भ होने के पहले वाले छन्दों में जगती के नीले आवरण की दुर्बोधता श्रद्धा-दर्शन की मधुर स्मृतियाँ तथा प्रत्यभिज्ञा की दार्शनिक उपपत्तियाँ और मनु के जीवन-रस (काम-रस) की प्यास—इन समस्त विन्दुओं का विलक्षण घोल तैयार हो गया है। इतना निश्चित है कि ये पंक्तियाँ श्रद्धा के साक्षात्कार से ही परिणमित हुई हैं, उसकी प्रतिक्रियाएँ हैं।**

जिसमें उनका प्रेम कामुकता की श्याम घटाओं में विलुप्त हो गया है। काम ने अपने उपदेश में "मूल शक्ति" को जो "प्रेम-कला" बताया है, तथा श्रद्धा को जो उसकी संदेश-वाहिका कहा है, वह उद्देश्यपूर्ण है। काम-रस के पिपासु मनु को प्रेम की स्निग्ध-सुकुमार कला का संकेत देना कवि का व्यंग्यार्थ है, अन्यथा संबद्ध पंक्ति में 'काम-कला' पद का भी प्रयोग हो सकता था जो शैवागमों का विश्रुत प्रयोग है। लेकिन, यह संकेत केवल संकेत ही बना रह गया क्योंकि कवि की मूल प्रेरणा प्रेम नहीं, काम ही है।

'काम' सर्ग में उपनिबद्ध मनु की मानसिक प्रतिक्रियाएँ शास्त्रीय अभिधावली में 'पूर्वराग' कही जा सकती हैं। 'वासना' सर्ग में, कवि ने पूर्वराग के साथ प्रेमाराधन का तत्त्व भी मिश्रित किया है। संभवतः साहचर्य-जन्य प्रेम का तथ्य भी उसे लुभाता रहा होगा। निम्न पंक्तियाँ देखिये--

"चल पड़े कब से हृदय दो पथिक-से अश्रांत,
यहाँ मिलने के लिए जो भटकते थे भ्रान्त!
+ + +
लड़ रहे अविरत युगल थे चेतना के पाश,
एक सकता था न कोई दूसरे को फाँस।
+ + +
चल रहा था विजन पथ पर मधुर जीवन-खेल,
दो अपरिचित से नियति अब चाहती थी मेल।
नित्य परिचित हो रहे तब भी रहा कुछ शेष,
गूढ़ अन्तर का छिपा रहता रहस्य विशेष।"

इत्यादि। (वासना)

श्रद्धा को कवि ने, 'श्रद्धा' सर्ग में, पहले-ही बहुत मुखर एवं वाचाल बना दिया था और उससे यह उन्मुक्त प्रस्ताव भी करा दिया था--

"दया, माया, ममता लो आज,
मधुरिमा लो, अगाध विश्वास;
हमारा हृदय-रत्न-निधि स्वच्छ,
तुम्हारे लिए खुला है पास।" (श्रद्धा)

'वासना' सर्ग में, लगता है, इस उद्देश्य-प्रेरित अनौचित्य के परिहार-हेतु कवि ने प्रेमाराधन का प्रस्तुत प्रकरण सन्निविष्ट किया है। यहाँ मनु और श्रद्धा, दोनों एक दूसरे के विषयालम्बन बन गये हैं--"चल रहा था विजय-पथ पर मधुर जीवन-खेल।" यह प्रकरण भी पूर्वराग में गृहीत होगा यद्यपि

प्रेमाराधन की यह अवधि काफी लम्बी प्रतीत होती है ।[१]

श्रद्धा-द्वारा पालित पशु का संदर्भ प्रेमाराधन की इस प्रक्रिया को बाधित एवं क्षतिग्रस्त कर देता है । मनु की ईर्ष्या अस्वाभाविक एवं बर्बरोचित दिखाई पड़ती है । पुनः, विश्व की समग्र सुन्दर विभूति को एकान्तभाव से स्वायत्त करने की कामना भी विलक्षण है जो प्रेमास्पद के प्रति जाग्रत अनुराग के पोषण के साथ मेल नही खाती ।[२] श्रद्धा की रूप-सुषमा से "कुछ शान्त" होने वाला असाधारण व्यक्ति निश्चिततया प्रेमी नहीं, कामुक है ।[३]

मनु के हृदय में वासना (रति-भोग की इच्छा) का उदय चित्रित करना वर्तमान सर्ग की मुख्य विवक्षा है और यहाँ से पूर्वराग का संदर्भ संयोग शृंगार का शील ग्रहण कर लेता है । इस दृष्टि से यह संदर्भ सर्वथा सफल एवं श्लाघ्य बना है । चाँदनी रात में काम-लोल मनु "ज्योत्स्ना-निर्झर" कामायनी के रूप-सौन्दर्य पर अतिशय मुग्ध होकर, उसके समीपी परिचय के लिए जिन शब्दों में अपनी जिज्ञासा प्रकट करते हैं, उनसे उनकी अधीर विह्वलता विज्ञप्ति होती है, यथा—

> "वासना की मधुर छाया ! स्वास्थ्य, बल, विश्राम !
> हृदय की सौन्दर्य-प्रतिमा ! कौन तुम छवि-धाम ?
> कामना की किरन का जिसमें मिला हो ओज;
> कौन हो तुम, इसी भूले हृदय की चिर-खोज ?"

यहाँ मनु की पाशविक कामुकता की पर्तें काफी घिस गई प्रतीत होती हैं और वह टूटते हुए धैर्य वाले प्रेमी के रंगों में चमक पड़ते हैं । वह कामायनी की यह स्वीकृति चाहते है कि उसने उन्हें स्वीकार कर लिया है । इसी संदर्भ में मनु का इतना वासना-विह्वल बन जाना कला की दृष्टि से कुछ असंगत तथा खटकने वाला जान पड़ता है । आखिर, इस सम्पूर्ण प्रसंग का सारांश तो निम्न पंक्तियाँ ही हैं :—

---

१. "मनु अभी तक मनन करते थे लगाये ध्यान,
कान के संदेश से ही भर रहे थे कान ।
इधर गृह में आ जुटे थे उपकरण-अधिकार,
शस्य, पशु या धान्य का होने लगा संचार ।" (वासना)

२. "विश्व में जो सरल सुन्दर हो विभूति महान,
सभी मेरी हैं, सभी करती रहें प्रतिदान ।" (वही)

३. "देखकर वह रूप-सुषमा मनु हुए कुछ शांत ।" (वही)

"आज ले लो चेतना का यह समर्पण दान,
विश्व-रानी ! सुन्दरी नारी ! जगत की मान !"

और

"आह ! मैं दुर्बल, कहो क्या ले सकूँगी दान ?
वह, जिसे उपभोग करने में विकल हों प्रान ?" (वासना)

—मनु-द्वारा अपनी चेतना का समर्पण और श्रद्धा-द्वारा उस समर्पण की स्वीकृति । इसी फलागम के लिए वासना की इतनी सान्द्र विह्वलता का प्रदर्शन "मिस-कंसीव्ड" तथा "मिस-प्लेस्ड"—अ-सुविचारित एवं अनुपयुक्तपदे स्थापित—प्रतीत होता है । तथापि, सम्बद्ध छन्द केवल वासना का उदय-चित्रण की दृष्टि से नितान्त मधुर है । इन्हें उद्धृत करना आवश्यक जान पड़ता है—

(१) "मधु बरसती विधु-किरन हैं काँपती सुकुमार;
पवन में है पुलक, मंथर चल रहा मधुभार ।
तुम समीप, अधीर इतने आज क्यों हैं प्राण ?
छक रहा है किस सुरभि से तृप्त होकर घ्राण ?"

\+ + +

(२) "चेतना रंगीन-ज्वाला-परिधि में सानन्द,
मानती-सी दिव्य सुख कुछ गा रही है छन्द !
अग्निकीट-समान जलती है भरी उत्साह,
और जीवित है, न छाले हैं न उसमें दाह !"

\+ + +

(३) "छूटती चिनगारियाँ, उत्तेजना उद्भ्रान्त;
धधकती ज्वाला मधुर, था वक्ष विकल अशान्त ।
वातचक्र-समान कुछ था बाँधता आवेश,
धैर्य का कुछ भी न मनु के हृदय में था लेश ।" (वासना)

मनु को लगता है, सुकुमार चन्द्र-किरणें काँपती हुई मधु की वर्षा कर रही हैं और उस मधु-भार से दबा पवन मंथर गति से चल रहा है तथा उसमें रोमांच हो आया है । सम्पूर्ण वातावरण, इस प्रकार, काम-मय बन गया है । मनु के प्राण आज अतीव अधीर हो गये है, उनकी घ्राणेन्द्रिय किसी विलक्षण सौरभ से मदविभोर हो उठी है । वह पूछते हैं, उस रूपशालिनी 'अतिथि' के समीप रहते हुए भी उनकी ऐसी अवस्था क्यों हो रही है ?

इस प्रथम चित्र में, मनु के भीतर उठने वाले काम से प्रकृति का भी काम-मय बन जाना कितना मधुर, कितना सहज, सहृदय भावक को प्रतीत होता है ! प्रेमी प्रेमिका के समीप, फिर भी, वियोग-जैसी अन्तःप्रतीति (क्योंकि

मनु को अभी श्रद्धा की सम्यक् स्वीकृति नहीं मिली है) ! 'काम-प्रश्न' के साथ 'अभिलाष' तथा अधीरता' नामक काम-दशाओं का मधुर मिश्रण मोहक बन गया है।

(२) मनु की चेतना कामाग्नि की रंगीन लपटों की परिधि में सानन्द जलती हुई, दिव्य सुख की अनुभूति में कल–गान गा रही है। जैसे अग्नि-कीट अग्नि में जलता रहता है, वैसे-ही मनु की चेतना उत्साह-पूर्वक काम की ललित ज्वाला में जल रही है और तब भी, उसमें जलन का कष्टदायक ताप नहीं है।

इस दूसरे चित्र में, कामानल की दाहकता शीतल बन गई है; जलन में दिव्य सुख का आविर्भाव हो गया है; और मनु के प्राणों से मधुर संगीत की ध्वनियाँ निकलने लगी है ! संयोग शृंगार का सम्पूर्ण माधुर्य इस चित्र की कटोरी में उतर आया है और फिर भी, एतादृश शृंगार-चित्रों के बासीपन की गंध से यह सर्वथा मुक्त है। जलने वाली चेतना में न छाले पड़े हैं, न उसे दाह का अनुभव ही हो रहा है ! काम के उदय की ऐसी अन्तर्विरोध-पूर्ण स्थिति शृंगार-काव्य की बहुमूल्य निधि है।

(३) तीसरे चित्र में, मनु की वासना बलवती हो उठी है। कवि ने पूर्ववर्ती छन्द में कहा है, मनु प्रेमिका-मिलन के संगीत का अनुभव करने लगे हैं– "मिलन का संगीत होने लगा था श्रीमंत।" अब यहाँ उनके हृदय की उत्तेजना एवं अशान्ति, 'मधुर' काम-ज्वाला का 'धधकने' लगना, तथा उनकी चेतना में आँधी-तूफान का उठ जाना जिसके फलस्वरूप धैर्य का पूर्ण विलोप घटित होगा—इन सूक्ष्म मानसिक अनुभावों का प्रभावकारी संगुंफन वासना के तूफान को प्रांजल रीति से संमूर्त्तित करता है। चिनगारियों के छूटने तथा वात्याचक्र के समान "कुछ" उठने में मानसिक प्रतिक्रियाओं के साथ शरीर की ग्रंथियों में उत्पन्न विकारों का भी स्पष्ट ध्वनन हुआ है।

मनु की वासना-विह्वलता के परिप्रेक्ष में श्रद्धा के भीतर जिस प्रतिक्रिया का उदय चित्रित किया गया है, वह भी मधुर एवं नैसर्गिक है। मूल पंक्तियाँ उद्धृत करने का लोभ संवरण नहीं कर पा रहा हूँ—

"झुक चली सव्रीड वह सुकुमारता के भार,
लद गई पाकर पुरुष का नर्ममय उपचार !
और वह नारीत्व का जो मूल मधु अनुभाव,
आज जैसे हँस रहा भीतर चढ़ाता चाव।
मधुर व्रीडा-मिश्र चिन्ता साथ ले उल्लास,
हृदय का आनन्द कूजन लगा करने रास।

गिर रहीं पलकें, झुकी थी नासिका की नोक,
भ्रू-लता थी कान तक चढ़ती रही बेरोक !
स्पर्श करने लगी लज्जा ललित कर्ण कपोल,
खिला पुलक कदम्ब-सा था भरा गदगद बोल।" (वासना)

सुकुमारता के भार से झुकने वाली श्रद्धा में बिहारी की उस नायिका की छाया दीखती है जो शोभा के भार से जमीन पर सीधे ढंग से पैर नहीं रख पा रही थी ।[1] पुरुष का नर्ममय उपचार पाकर प्रेमिका में जो अनुभाव उत्पन्न हो सकते हैं, उनका केन्द्र-विन्दु होता है। रति का उदय जो व्रीड़ा अथवा लज्जा में लिपटा होता है। प्रसाद उसी रति को नारीत्व का "मूल मधु अनुभाव" कहते हैं। वह रति (पुरुष-समागम की अभिलाषा) श्रद्धा के हृदय-कक्ष में चाव से हँसने लगी है। लज्जा के साथ चिन्ता एवं उल्लास के तत्त्व भी लिपटे हुए है और हृदय का आनन्द-मय कूजन नृत्य (रास) करने लगा है। चिन्ता यहाँ साहित्यशास्त्रीय 'चिन्ता' से थोड़ी भिन्न जान पड़ती है। इससे श्रद्धा की यह चिन्ता ध्वनित होती है कि क्या मनु के आत्म-समर्पण की स्वीकृति का वह निर्वाह कर सकेगी ? 'कूजन' (मन्द शब्दोच्चारण) मैथुनकर्मांग है और 'रास' करने में 'प्रगल्भता' का भाव ध्वनित है। 'चिन्ता' एवं 'आनन्द-कूजन' में मधुर भाव-सन्धि सम्पन्न हुई है। अन्तिम छन्द में संयोग शृंगार का स्पष्ट परिपाक हुआ है। पलकों का गिरना, नासिका का झुकना, भ्रू-लता का कान तक चढ़ना ये कायिक अनुभाव है। "ललित कर्ण कपोल" में 'वैवर्ण्य' सात्त्विक, "पुलक कदंब-सा" में 'रोमाच' सात्त्विक और "गदगद बोल" में 'स्वरभंग' सात्त्विक अभिव्यक्त हुए है।

'वासना' सर्ग का प्रेमाराधन इस विन्दु तक पहुँचते-पहुँचते, पूर्वराग की परिधि को अतिक्रान्तकर विशुद्ध संभोग शृंगार में परिवर्तित हो गया है। अन्तिम छन्द की पंक्तियों में—

"किन्तु बोली, क्या समर्पण आज का हे देव !
बनेगा चिर-बंध नारी-हृदय हेतु सदैव ?"—

प्रसाद ने मनु तथा श्रद्धा को दाम्पत्य-सूत्र में आबद्ध पुरुष-स्त्री का शील प्रदान किया है, अर्थात्, काम का चरम परिपाक दाम्पत्य है जिसमें नारी-हृदय पुरुष के प्रति सदा-सर्वदा के लिए अटूट बन्धन में बँध जाता है।

---

१. **"भूषन-भार सम्हारियै क्यों यह तन सुकुमार।**
सूधे पाइ न धर परैं सोभा ही के भार ॥" (बिहारी)

च. दाम्पत्य प्रेम का विकास

मनु के आत्मसमर्पण तथा श्रद्धा-द्वारा उसकी पूर्ण स्वीकृति के अनन्तरपूर्ण दाम्पत्य प्रेम का प्रकरण प्रारम्भ होता है। 'लज्जा' सर्ग का निबन्धन इस प्रणय पक्ष के विकास में कोई वास्तविक सहयोग नहीं प्रदान करता। इस कथन से चौंकने का कारण नही क्योंकि यह एक तथ्य है। प्रसाद लज्जा के मनोविकार का ललित स्वरूप प्रस्तुत करने के लोभ में पड़ गये हैं। लज्जा एक संचारी भाव है जो संभोग शृंगार के संदर्भ में निश्चित महत्त्व रखता है। किन्तु, यह केवल संचारी अथवा व्यभिचारी है जो अन्य संचारियों के समान, समुद्र में लहरों की भाँति 'रति' स्थायी में डूबता-उतराता रहता है। प्रसाद ने 'लज्जा' के नाम से एक पृथक सर्ग की योजना कर, इस संचारी को अत्यधिक महिमा प्रदान की है। नारी की 'स्त्री' संज्ञा इसी कारण है कि वह स्वभावतः लज्जालु होती है। 'स्त्री' शब्द 'स्त्यै' धातु से बना है। निरुक्त-कार यास्क के मतानुसार, 'स्त्यै' का अर्थ लज्जा से सिकुड़ना है। अर्थात्, लज्जा नारी का निसर्ग एवं भूषण है। प्रसाद ने श्रद्धा को लज्जाग्रस्त प्रदर्शित कर स्त्री-स्वभाव को रेखांकित किया है। 'लज्जा' 'लज्ज्' धातु से व्युत्पन्न शब्द है जिसका अर्थ छिपना-छिपाना है। नारी अपने अंगों तथा मनोभावों को छिपाती है।[२] साहित्याचार्यों ने 'लज्जा' अथवा 'व्रीड़ा' को अशिष्ट-आचार-जन्य धृष्टता का अभाव कहकर परिभाषित किया है।[३] प्रसाद ने श्रद्धा की लज्जा का काव्यात्मक वर्णन किया है और शास्त्रीय परम्परा में, इस व्यभिचारी के मनोवैज्ञानिक स्वरूप एवं स्वभाव का मधुर चित्रण कर, एक नई ललित कड़ी जोड़ दी है। आचार्यों ने लज्जा के सम्बन्ध में जो संक्षिप्त शास्त्रीय निरूपण किया है, उसका विस्तृत कवित्वमय विवेचन लज्जा के मानवीकरण के माध्यम से यहाँ उपलब्ध कराया गया है। कवि का अभीष्ट भी यही रहा है—यद्यपि सर्गान्त में लज्जा उपदेष्ट्री बन गई है जिसके द्वारा प्रसाद ने नारी-विषयक अपना मन्तव्य पुष्ट कराया है। इस प्रकार, प्रस्तुत सर्ग का मनु एवं श्रद्धा की दाम्पत्यरति के

---

१. "विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नाः कल्लोला इव वारिधौ॥" (दशरूपक, ४)

२. सांख्यकारिका (६१) में बताया गया है कि प्रकृति से बढ़कर लज्जालु अन्य कोई नहीं जो यह जानकर उस पुरुष के समाने फिर नहीं आती कि 'मैं देखी गई हूँ।'

३. "धाष्ट्यभावो व्रीडा वदनानमनादिकृद् दुराचारात्।"
(साहित्यदर्पण, ३।१६५)

विकास में कोई तात्त्विक महत्त्व नहीं माना जायेगा। इसे वस्तु-विन्यास से काट कर अलग कर दिया जाय, तब भी मनु-श्रद्धा के प्रणय-जीवन के चित्र को कोई क्षति नहीं पहुँचती और तब भी, इस पूरे प्रसंग के माधुर्य को थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ आस्वादित करने में कोई बाधा उत्पन्न नहीं होगी।

वर्तमान सर्ग ललित एवं मन्द्र-मधुर है— इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता। प्रणय प्रपंच के तात्त्विक विवेचन में व्रीड़ा अथवा लज्जा की महत्त्वमयी भूमिका होती है, और प्रसाद ने इस सचारी का विस्तृत वर्णन कर, नारी के प्रेमोन्मुख मनोमय जीवन के एक सामान्य तथ्य को प्रभावशाली रीति से उद्भासित कर दिया है। इस सर्ग का यही महत्त्व है जो प्रस्तुत काव्य की वस्तु-योजना को अतिक्रान्त कर, सार्वभौम एवं सार्वकालिक बन जाता है। इस दृष्टि से, कवि-चित्रित लज्जा के स्वरूप एवं अनुभावों का उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है।

यौवन के नवोदय की अवस्था में, बालिकाओं में जो शारीरिक परिवर्तन घटित होते है, उनके साथ-साथ मानसिक परिवर्तन भी घटित होते हैं। शारीरिक परिवर्तन मुख्यतया यौवन के नवोदय से सम्बन्धित होते हैं और मानसिक परिवर्तन इस नवोदित यौवन तथा उसके नवविकसित दैहिक लक्षणों की अन्तस्प्रतीति पर केन्द्रित होते है। काम अथवा रति का भावोन्मेष इन परिवर्तनों की मूल ध्वनि है और विषम-लिंगियों के सान्निध्य में उत्थित होने वाला आत्मगोपन का भाव उसका मुख्य सहचारी भाव है। आत्मगोपन में नवविकसित आंगिक लक्षणों तथा नवोदित रति-भाव के उपगूहन की अन्तस्प्रेरणा कार्यशील होती है। छिपने-छिपाने का यही सहचारी भाव 'व्रीड़ा' अथवा 'लज्जा' कहा गया है जो व्यभिचारियों के परिवार में मधुर महत्त्व रखता है। नवयुवतियाँ इस लज्जा के भाव से भी हैरान रहती है क्योंकि वह उनकी चलने-फिरने, मिलने-जुलने तथा संलाप-आलाप करने की स्वतन्त्रता को प्रतिबंधित एवं नियन्त्रित कर देता है प्रसाद ने वर्तमान सर्ग में 'लज्जा' भाव का अभिराम चित्रण किया है और युवती-मनोविज्ञान के विवेचन में एक नया आयाम जोड़ दिया है।

"कोमल किसलय के अंचल में जैसे नन्ही कलिका छिपी होती है और गोधूलि के धूमिल पट में जैसे दीपक की लौ टिमटिमाती है, वैसे ही लज्जा, मानवी का शील ग्रहण कर, श्रद्धा के समीप आ रही है।" श्रद्धा के मनोमय जीवन में लज्जा एक अभिनव तत्त्व है जो क्रमशः, लुका-छिपी की रीति से, उदय होता है; कभी वह लज्जा का अनुभव करती है, कभी लज्जा तिरोहित सी बन जाती है। 'कलिका' एवं 'दीपक' के उपमानों से कवि ने लज्जा की

इस प्रकृति को विज्ञप्त किया है। पुनः, लज्जा भाव की स्निग्धता एवं सुकुमारता को व्यंजना भी इन उपमानों से कराई गई है।

"जाग्रतावस्था में सुन्दर स्वप्नों के भूल जाने पर मन में जैसे मधुर उन्माद छा जाता है, कल्लोलिनी के कूल पर नृत्य करने वाली लहरों की छाया में जैसे बुल्लों का विभव बिखर जाता है, वैसे-ही लज्जा श्रद्धा के मानस में आविर्भूत होती है।" (कवि की व्यंजना है कि लज्जा के आविर्भाव से नवयुवती के मन में एक प्रकार का मधुर उन्माद, एक तरह की मीठी खुमारी छा जाती है जिसकी प्रेषणीयता के निमित्त, विस्मृत स्वप्नों के उन्माद, तथा सुरभित लहरों में चमकने एवं विलीन होने वाले बुल्लों की योजना की गई है। 'मन का उन्माद' मनोग्राह्य और 'बुल्ले का विभव' चक्षुग्राह्य बिम्ब हैं। उन्माद के 'निखरने' में उस मस्ती के प्रस्फुट होने और बुल्ले के विभव के 'बिखरने' में उसके छितरा कर विलीन हो जाने की ध्वनि वर्तमान है। लज्जा के अविर्भाव का सहचरण करने वाला उन्माद ऐसा ही होता है—कभी मस्ती उठती है, कभी मिटती है। स्वप्नों तथा सुरभित लहरों के प्रतीक श्रद्धा अथवा अन्य वयःसन्धि-प्राप्त कुमारियों के मनोदेश में गूढ़ रीत से नृत्य करने वाले रति-भाव का संकेत करते है।)

"स्वप्नो की विस्मृति मे निखरने वाले उन्माद तथा बुल्लों के बिखरने वाले वैभव की-सी माया में लिपटी हुई तथा अधरों पर उँगली धरे हुई और आँखों में वसंत के रसार्द्र कुतूहल का पानी भरे हुई, लज्जा अर्धरात्रि की नीरवता में सुकुमार लता के समान कोमल बाँहें फैलाये हुई-सी आलिंगन का जादू पढ़ते, श्रद्धा के समीप आ रही है जिसे वह समझ नही पाती।" अधरों पर अँगुली रखने में किसी रहस्य को छिपाने के मौन निर्देश, का भाव है; 'वसंत के सरस कुतूहल का पानी' नवयुवती के नयनों में यौवन के नवोदय से छलकने वाले प्रथम काम-विकार की तरल छवि का प्रतीक है जिसे आचार्यों ने 'भाव' नामक अंगज अलंकार कहा है।[1] अर्धरात्रि की नीरवता वयःसन्धि से पूर्व की मानसिक अवस्था का प्रतीक है जिसमें बाल्यसुलभ चापल्य के अतिरिक्त अन्य कोई मनोविकार नही रहता। कोमल बाँहें फैलाने में यह व्यंजना है कि लज्जा नवयुवती के मनोदेश में, आकर्षण के साथ, स्निग्धतापूर्वक प्रवेश कर रही है; और 'आलिंगन का जादू पढ़ना' इस मनोवैज्ञानिक तथ्य का ध्वनन करता है कि उसके मनोराज्य में प्रवेश करने वाला यह आगन्तुक (लज्जा) अवश्य-ही उस सरल बाला को अपनी कोमल भुजाओं में पकड़ लेगा। जादू व्यर्थ नहीं जाता,

---

१. "निर्विकारात्मके चित्ते भावः प्रथमविक्रिया।" (सा०—द०)

वैसे-ही तरुणियाँ अवश्य-ही लज्जा से अधिग्रस्त होती हैं ।

"सौभाग्य-सिन्दूर के समान पराग-कणों से युक्त, अनुरागवत् लाल रंग वाले किन्हीं इन्द्रजाली फूलों से, सिर नीचा किये हुई, लज्जा माला गूँथ रही है जिससे मधु की धारा ढरती है । उस माला को वह पुलकायमान कदम्ब की माला के समान श्रद्धा के अन्तर्मन में पहना देती है जिससे उसके मन की डाली, आगे चलकर उसमें लगने वाले फल के भार की आशंका से, झुक जाती है ।" यह चित्र पूर्णयौवन, मनोवैज्ञानिक रूप से सुविकसित नारी की लज्जा का अंकन करता है । यतः श्रद्धा ने पहले मनु के वासना-विह्वल आत्मसर्मण को स्वीकार किया है, अतः वह सौभाग्यवती (विवाहिता) रमणी की मातृ-रूप में परिणति की भी कल्पना करती है तथा सतति-रूपी फल के आगमन की भावना से डर जाती है । लाल रंग वाले तथा सुहाग-कणों से संयुक्त 'इन्द्रजाल के फूल' रति-भोग के अनास्वादित किन्तु आकर्षणपूर्ण सुखों के प्रतीक है । 'फूल' श्लिष्ट पद है जिसमें युवती नारियों के मानसिक रजस्राव की भी व्यंजना छिपी है । 'मधु-धार' भी रति-सुख का ही प्रतीक है । पुरुष-ससर्ग से स्त्री-शरीर में उत्पन्न रोमांचों की पंक्ति का ध्वनन 'कदम्ब की माला' से होता है । अतएव, प्रस्तुत चित्र रति-समागम के अनुषंगों से लिपटा हुआ है । लज्जा-भाव के उदय के साथ रति-प्रसंग का संश्लेष अनुचित नही कहा जायेगा, लेकिन 'फलभरता के डर' का उल्लेख तनिक खटकता है । शिशु की उत्पत्ति अथवा गर्भधारण का स्मरण भी प्रिय-समागम की सहमी-सहमी उत्कंठा का सहचरण करेगा, ऐसा प्राय. देखा-सुना नही जाता । शायद प्रणय का मनोविज्ञान भी इसका अनुमोदन नही करेगा । भारतीय परम्परा मे भी, रति-समागम के कल्पना-रमणीय सुख को भावी संतति-लाभ के परोक्ष प्रयोजन के साथ जोड़ा नही जाता । यद्यपि कालिदास–जैसे कवियों ने प्रणय-सम्बन्ध की परिणति संतान-लाभ में प्रदर्शित की है, तथापि प्रथम प्रिय-प्रेयसी-समागम की अभिलाषा के साथ ऐसी 'फलभरता' को शृंखलित नही किया है ।

लज्जा के अनुभाव का वर्णन कवि ने श्रद्धा के मुख से यों कराया है— "मेरे समस्त अंग मोम के समान पिघलनशील बन रहे है, मै अपनी कोमलता के कारण झुक-झुक जा रही हूँ; ऐसा प्रतीत होता है जैसे लोग मेरा परिहास कर रहे हैं, जिससे मैं सिमटी-सी जा रही हूँ ।" व्रीडा का यह अनुभाव-बिम्ब सटीक है ।

परवर्ती छन्दों में, लज्जा के उदय के फलस्वरूप श्रद्धा की मनोवृत्तियों का कैसा संकोचन होता है, इसका सुन्दर चित्रण उपलब्ध होता है । "श्रद्धा के मधुर सपनों में कलरव का मधुर संसार आँखें खोल रहा था और अनुराग पवन

के प्रवाह पर इठलाता डोल रहा था। प्रिय-समागम के सुख के स्वागतार्थ अभिनव अभिलाषा पंख फड़फड़ा रही थी और श्रद्धा उस सुनहले भविष्य का सत्कार करने की लालसा से मचलने लगी थी। तभी लज्जा आई और रस के निर्झर में तैरती एवं डुबकी लगाती हुई, प्रिय-समागम के आनन्द-रूपी शिखर की ओर अनुराग-किरणों की जो रस्सी पकड़ कर श्रद्धा बढ़ती जा रही थी, उसको उसने समेट लिया।[1] अब परिणाम यह हो रहा है कि प्रिय को छूने में उसे हिचक होती है, उन्हें देखने पर पलकें झुक जाती हैं, हास-परिहास से भरी गूँजें अधरों तक आकर रुक जाती हैं। उसके अंगों में उठने वाले रोमांच उसे अपने अनुरागपूर्ण भावों को प्रकट करने से चुपचाप रोकते हैं और उन्हें व्यक्त करने वाली भाषा भौंहों की काली रेखा के रूप में प्रकट होकर भ्रम में ही पड़ी रह जाती है।" लज्जा का वैयुत्पत्तिक अर्थ, जैसा ऊपर कहा गया है, छिपना-छिपाना है। अनुरागवती रमणी लज्जा के आविर्भाव से अपने मनोभावों को छिपाने के लिए बाध्य हो जाती है जिससे प्रेम के झरने में डूबती-उतराती उसकी अन्तश्चेतना न स्पर्श से, न नयनों से, न मधुर गुनगुनाहट से और न वाणी से व्यक्त हो पाती है। उस समय मन में एक तनाव की स्थिति उत्पन्न होती है जो भौंहों की काली रेखा की कुटिलता के रूप में अभिव्यक्त होती है। कवि ने व्रीड़ा के इस संकोचक प्रभाव का अभिराम चित्रण किया है। सपने, कलरव, किरण-रज्जु, रस-निर्झर तथा आनन्द-शिखर जैसे प्रतीक एवं उपमान प्रिय-समागम की उत्कंठा से गर्भित नव्य अनुराग की मोहकता, विस्मयकारिता, संगीतात्मकता, आलोकधर्मिता, माधुर्य-भावविह्वलता और दैहिक सुखोपभोग की आत्म-विस्मृतिशील लालसा की मधुर व्यंजना करते हैं। लज्जा यौवन-रस में पगी नारी की स्वतन्त्रता का कैसे अपहरण करती है, इसका चित्रण निम्नोद्धृत छन्द में दर्शनीय है :—

"तुम कौन? हृदय की परवशता?
सारी स्वतन्त्रता छीन रही;
स्वच्छन्द सुमन जो खिले रहे
जीवन-वन से हो बीन रही!"

'स्वच्छन्द सुमन' नवोदित प्रणय की स्फुरणाएँ हैं जो व्रीड़ा के आविर्भाव

---

१. **"किरनों का रज्जु समेट लिया**
जिसका अवलम्बन ले चढ़ती;
रस के निर्झर में धँस कर मैं
आनन्द-शिखर के प्रति बढ़ती।" (लज्जा)

से दबती-सी प्रतीत हो रही हैं ।

उपरि-विवेचित पन्द्रह छन्दों में यद्यपि लज्जा का स्वभाव-एवं-प्रभाव-चित्रण कवि की विवक्षा है, तथापि इस व्यभिचारी के अनुषंग में, राग-विह्वल नव-यौवना के हृदय में उठने वाली मधुर अनुभूतियों का, उसकी लालसाओं तथा उमंगों का भी विश्वसनीय आकलन सम्पन्न हुआ है ।

बाद वाले अठारह छन्दों में 'छाया-प्रतिमा' लज्जा ने श्रद्धा को उत्तर दिया है । इनमें लज्जा की उपयोगिता का वर्णन कवि की मूल विवक्षा है । विशुद्ध मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इस उपयोगिता-कथन का महत्त्व विवाद का आस्पद रहेगा । क्या नव-युवतियों की लज्जा अनुराग से अतिरिक्त किसी अन्य "उपकार", "ठोकर लगने" से बचाव अथवा "शालीनता" की रक्षा के भाव से लिपटी होती है[1] जैसा प्रसाद ने प्रतिपादित किया है ? उत्तर शायद निषेधात्मक होगा । इस दृष्टि से लज्जा द्वारा दिया गया उपदेश अनुचित एवं अयौक्तिक प्रतीत होता है । लेकिन, प्रसाद की वस्तु-योजना में "रति-रानी" द्वारा किये गये इस उपदेश-कथन का समावेश 'काम' सर्ग में काम-द्वारा मनु को दिये गये उपदेश की तुल्यता अथवा संगति में किया गया है । अतएव, यह भी प्रयोजन-पुरस्सर है । नवयौवनाओं के प्राणयिक मनोविज्ञान में ऐसे उपदेश का कोई तात्त्विक मूल्य नहीं माना जायेगा । तथापि, कवि की उपलब्धि इन छन्दों में यह निखरी है कि उनमें यौवनागम से प्रस्फुट सौन्दर्य-विशेष का मनोभिराम बिम्ब अंकित हो गया है । उस ललित-मादक सौन्दर्य का अवलोकन स्पृहणीय है ।

अतीव कोमल-कान्त पदावली का नियोजन कर, कवि इस सौन्दर्य का वर्णन करता है । "गगन-चुम्बी हिम-शिखरों से फूट कर बहने वाले निर्झरों का कलरव-पूर्ण कोलाहल तथा उन निर्झरों में बहने वाली बिजली की प्राणमयी जलधारा के उन्माद इस सौन्दर्य में परिव्याप्त होते हैं ।" 'गगन-स्पर्शी हिम-शृंग' प्रणय के ऊँचे-ऊँचे, लोकोत्तर स्वप्नों के प्रतीक हैं; 'कलरव-पूर्ण कोलाहल' सौन्दर्य के साथ लिपटी आशा-आकांक्षाओं का प्रतीक है; 'बिजली की उन्माद-

---

१. "इतना न चमत्कृत हो बाले !
अपने मन का उपकार करो ।"
"ठोकर जो लगने वाली है,
उसको धीरे से समझाती ।"
"मैं रति की प्रतिकृति लज्जा हूँ,
मैं शालीनता सिखाती हूँ ।" (लज्जा)

भरी प्राणमयी धारा' उस वेगमयी चंचल मस्ती का प्रतीक है जो यौवन-सुलभ सौन्दर्य के साथ नव्यांगनाओं में विकसित हो जाती है। कलरव-पूर्ण कोलाहल तथा बिजली की प्राणमयी धारा के प्रतीक इस विलक्षण सौन्दर्य के आन्तर धर्म की व्यंजना करते हैं जिससे सौन्दर्य, अस्थि-मज्जा का दीप्तिमान् सुश्लिष्ट संधि-बन्ध मात्र न होकर, एक सप्राण सत्ता बन गया है।

"वह सौन्दर्य नयनों के लिए कल्याणकारी बनकर आनन्द-कुसुम के समान विकसित होता है तथा उसमें से फूटने वाली वाणी का स्वर वसन्त ऋतु के वैभव से पूर्ण वनस्थली में उठने वाली मधुर कोकिल-कूक की प्रतिस्पर्धा करता है। उस सौदर्य से फूटने वाली वाणी संगीत की स्वर-लहरियों (मूर्च्छनाओं) के समान गूँज उठती है और वह दर्शक की आँखों के साँचे में समाकर रमणीय रूप बनकर ढल जाता है।" यहाँ सौंदर्य नेत्रों का विषय बनता है; वह विकच कुसुम के समान लोभनीय है जिसे देख आँखें तृप्त होती हैं। इस सौन्दर्य से संयुक्त रमणी की वाणी में कोयल की मधुर, मतवाली कूक का सौरस्य होता है क्योंकि वह यौवन-वसन्त की मादक छवि-सम्पदा से लदी होती है। ऐसी सुन्दरी की मचलती, मद-भरी वाणी संगीत की मधुर ध्वनियों के समान श्रोता की नस-नस में भिन जाती है और दर्शक की आँखों में समाकर वह सौंदर्य मोहक एवं अभिराम रूप ग्रहण कर लेता है। कवि यौवन-लभ्य सौंदर्य को यहाँ भी सप्राण सत्ता मानते हुए, उसे मधुर गुंजन के धर्म से वेष्टित करता है। जिस प्रकार साँचे में आकर कोई मूर्ति ढलती है, उसी प्रकार सौन्दर्य दर्शक के नयनों में आकर निखरता तथा रूप-विशेष में ढलता है। वस्तुतः सौन्दर्य के रूप की रमणीयता प्रेक्षक के नेत्रों की सापेक्षता में ही सार्थकता लाभ करती है। असलियत यह है कि कवि के मानस-नयनों के सामने किसी यौवनशालिनी, अनवद्य सौन्दर्य की स्वामिनी रमणी की मूर्ति उपस्थित है जिसकी सुन्दरता उसकी आँखों में रूप ग्रहण करती है।

"जिस प्रकार पर्वत की नीली घाटियों में जल-भरित मेघ छाये होते हैं, उसी प्रकार सौन्दर्यशालिनी युवती के नीलमणि की नाईं चमकने वाले नेत्रों में यह सौन्दर्य मादक मदिर रस के रूप में छलकता रहता है। यह युवती के उस कुटिल कटाक्ष के रूप में अभिव्यक्त होता है जो दर्शक के हृदय को अत्यन्त शीतल बना देता है। उस सौन्दर्य में वसन्त का हिल्लोल भरा होता है; गोधूली के समय वन अथवा खेतों से लौटती हुई गायों के हृदय में अपने बछड़ों के प्रति भरी ममता के समान गाढ़ स्नेह छिपा होता है; प्रातःकालीन मधुर आलोक के समान उसमें जाग्रत चेतना का आलोक लिखा होता है तथा उसमें साथ-ही मध्याह्न का पूर्ण प्रकाश भी चमकता रहता है।" नवयौवना के श्यामल नयनों

की चौड़ी गहराई तथा उनमें छलकते प्रणय-रस ('नीलम की घाटी'--'रस-घन'), कटाक्ष की विलक्षण प्रभविष्णुता, हृदय में भरी उल्लासमयी मस्ती और अन्तर्मन के विलसित आह्लाद ('प्रात-सा'--'मध्याह्न') की व्यंजना इन पंक्तियों में हुई है जो यौवन-लभ्य नारी-सौन्दर्य के विशेषक धर्म है। 'गोधूली की-सी ममता' उस प्रगाढ़ स्नेह का व्यंजक है जो न केवल प्रेमी के प्रति युवती नारी में होता है, प्रत्युत जो ऐसी नारी के हृदय में "प्रथमविक्रिया" वाले "भाव"-रस[1] के प्रादुर्भाव का प्रतिफल होता है तथा जो उसके सामान्य आचरण को स्निग्ध सुकुमारता से आर्द्र बना देता है।

"वह सौन्दर्य उस नवल चन्द्रिका के मानस की लहरों पर से बिछलता है जो सहसा चकित होकर-सी प्राची के घर से निकल आई हो।"[2] प्राची के घर में से सहसा चकपकाई-सी निकलने वाली चाँदनी के मावसरोवर की लहरों पर जैसे कान्तिमान् चन्द्रमा बिछलता रहता है, वैसे-ही यौवन के उद्गम से प्रस्फुट होने वाली दैहिक दीप्ति अथवा कान्ति की नाचती ऊर्मियों के ऊपर वह सौन्दर्य बिछलता रहता है। रमणी-सुषमा से कान्ति की किरणें फूटती हैं जो सरोवर में उठने वाली लहरो के समान नाचती-सी प्रतीत होती हैं--यौवन-लभ्य सौन्दर्य इन्ही चंचल कान्ति-किरणों में से निखरता है जिसकी व्यंजना कवि का अभीष्ट है। 'मानस की लहरो' में युवती के अन्तर्मन में तरंगित होने वाली मधुर भावनाएँ भी व्यंग्य हो सकती है। 'नवल चन्द्रिका' तो शरीर-द्युति का प्रतीक है ही। बिहारी ने नायिका के आनन की पूर्णिमा वाली ज्योति का कथन किया है।[3]

इसी स्थल तक, यौवन-लभ्य सौन्दर्य का वास्तविक चित्रण हुआ है जिससे उसकी कान्तिमत्ता, आह्लादकता, मादकता, एवं उल्लाममयता की मनोरम व्यंजना हुई है। बाद के दो छन्दों में सौन्दर्य के अलौकिक प्रभाव का कथन

---

१. पहले 'भाव' की परिभाषा 'साहित्यदर्पण' से उद्धृत की जा चुकी है। वयःसंधि वाली नारी के निर्विकार चित्त में जो प्रथम काम-विकार उत्पन्न होता है, उसे 'भाव' कहा गया है।

२. "हो चकित निकल आई सहसा
जो अपने प्राची के घर से;
उस नवल चन्द्रिका के बिछले
जो मानस की लहरों पर से।" (लज्जा)

३. "पत्रा ही तिथि पाइयै वा घर के चहुँ पास।
नित प्रति पून्यौ ही रहै आनन-ओप-उजास॥" (बिहारी)

हुआ है जिसे प्रौढ़ोक्ति ही कहा जायेगा।[1] अन्तिम छन्द में सौन्दर्य को 'चेतना का उज्ज्वल वरदान' बताकर, उसके चिन्मय स्वरूप को व्यंजना की गई है—

"उज्ज्वल वरदान चेतना का
सौन्दर्य्य जिसे सब कहते हैं,
जिसमें अनंत अभिलाषा के
सपने सब जगते रहते हैं।"

सौन्दर्य की चिन्मयता का स्थापन प्रसाद के सौन्दर्य-निरूपण की सबसे बड़ी विशेषता है और नवयुवती की लज्जा के चित्रण के संदर्भ में इसका संयोजन वर्तमान सर्ग की सुन्दर उपलब्धि है। प्रस्तुत प्रकरण की अन्तिम पंक्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं—

"लाली बन सरस कपोलों में
आँखों में अंजन-सी लगती;
कुंचित अलकों-सी घुँघराली
मन की मरोर बन कर जगती।
चंचल किशोर सुन्दरता की
मैं करती रहती रखवाली;
मैं वह हलकी-सी मसलन हूँ
जो बनती कानों की लाली!"

युवती के कपोलों में लाली का आविर्भाव, नेत्रों में कालिमा-जैसी छाया का प्रकट होना तथा मन में घुँघराली अलकों की वक्रिमा के समान ऐंठन (मरोर) का उत्पन्न हो जाना और कानों का वैसे लाल हो जाना जैसे उन्हें किसी ने हाथों से मसल दिया हो—ये लज्जा के प्रकृत अनुभाव हैं जो ललित रीति से इन पंक्तियों में चित्रित हुए हैं।[2] तथापि, लज्जा की छाया-प्रतिमा

---

१. "फूलों की कोमल पंखड़ियाँ
बिखरें जिसके अभिनंदन में;
मकरन्द मिलाती हों अपना
स्वागत के कुंकुम चन्दन में;" इत्यादि।

२. मिलाइये—"धड़कते हुए रमणी-वक्ष पर हाथ रख कर उसी कम्पन में स्वर मिलाकर कामदेव गाता है। और राजकुमारी! वही काम-संगीत की तान, सौन्दर्य की रंगीन लहर बनकर, युवतियों के मुख में लज्जा और स्वास्थ्य की लाली चढ़ाया करती है।"
('चन्द्रगुप्त' नाटक, ४।९)

का यह कथन कि 'मैं उस चंचल किशोर सौन्दर्य की रखवाली करती हूँ', लज्जा मनोभाव की मौलिक प्रवृत्ति पर कोई प्रकाश नहीं डालता । साथ-ही, पाठक के मन में यह भ्रान्ति भी उत्पन्न करता है कि श्रद्धा वय:क्रम में अभी 'किशोरी' है जबकि प्रारम्भ से ही उसका सम्पूर्ण आचरण किशोरी की कल्पना के विपरीत पड़ता है ।

तथापि, जैसा पहले कहा है, व्रीड़ा प्रणय-प्रसंग का केवल एक मोहक व्यभिचारी है, किन्तु प्रसाद ने इसका विस्तृत वर्णन कर इसे अनुपम महिमा से मंडित कर दिया है ।

छ. दाम्पत्य प्रेम की परिपक्वता

दाम्पत्य-प्रणय का प्रसंग 'कर्म' सर्ग में पूर्ण परिपक्वता प्राप्त करता है । 'वासना' सर्ग में यद्यपि श्रद्धा ने मनु के वासना-विह्वल आत्म-समर्पण को स्वीकार कर लिया है, तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि वह लज्जा अथवा रति की प्रतिकृति 'छाया-प्रतिमा' की चेतावनी के कारण अद्यापि दाम्पत्य-रति के दैहिक उपभोग के लिए तैयार नही हो सकी है । इधर मनु 'काम' सर्ग वाली काम की प्रेरणा तथा श्रद्धा के पहले वाले "उत्साह-वचन" के संयुक्त प्रभाव से "जीवन की अविराम साधना" में तल्लीन हो गये थे । इस साधना का केन्द्रीय लक्ष्य है, सोमपान की ललित लालसा की पूर्ति एवं श्रद्धा की रति का भौतिक भोग ।[1] स्थूल दृष्टि से मनु एवं श्रद्धा, दोनों संयुक्त जीवन व्यतीत करते हैं । अतएव, शास्त्रीय अभिधावली में वे 'संयोग शृंगार' के संदर्भ का आचरण कर रहे हैं । 'लज्जा' सर्ग में इसके स्पष्ट संकेत सन्निविष्ट हुए हैं, यथा—

"छूने में हिचक, देखने में
पलकें आँखों पर झुकती हैं;
कलरव-परिहास-भरी गूँजें
अधरों पर सहसा रुकती हैं ।" (लज्जा)

प्रिय-स्पर्श, प्रिय-दर्शन तथा प्रिय के साथ हास्य-विनोद की नियन्त्रित योजना भी संयोग शृंगार की वस्तु है । लेकिन फिर भी, संयोग की समृद्धिपूर्ण परिणति रति-समागम ही है जो अभी मनु को नही मिल सकी है । उधर, श्रद्धा भी इस समागम के लिए बेचैन है, किन्तु मनु-द्वारा की गई पशु-हिंसा

---

१. "ललक रही थी ललित लालसा
सोम-पान की प्यासी ।"
"श्रद्धा पुण्य-प्राप्य है मेरी
वह अनंत अभिलाषा ।" (कर्म)

से वह व्यथित होकर रति-भोग की लालसा को चरितार्थ नहीं कर पा रही है, और साथ-ही, व्रीड़ा का संकोचक प्रभाव भी काम कर रहा है। अतएव श्रद्धा के ममत्वपूर्ण "स्नेह" के लिए बड़ी विषम एवं दारुण स्थिति उत्पन्न हो गई है। संबद्ध पंक्तियाँ देखिए--

"जीवन की उद्दाम लालसा
उलझी जिससे व्रीड़ा,
एक तीव्र उन्माद और मन--
मथने वाली पीड़ा;
मधुर विरक्ति-भरी आकुलता,
घिरती हृदय-गगन में;
अन्तर्दाह स्नेह का तब भी
होता था उस मन में।
वे असहाय नयन थे खुलते--
मुँदते भीषणता में;
आज स्नेह का पात्र खड़ा था,
स्पष्ट कुटिल कटुता में।" (कर्म)

अतएव, श्रद्धा एवं मनु की रति उभयनिष्ठ है। लेकिन, अपने 'स्नेह-पात्र' की कुटिल कटुता के कारण श्रद्धा मन में एक व्याकुल 'विरक्ति' का भी अनुभव कर रही है। अनुरक्ति एवं विरक्ति का यह मधुर मिश्रण प्रसाद की नई देन है और भौतिक दृष्टि से सम्पन्न संभोग शृंगार का एक अभिनव स्वरूप है जो विप्रलम्भ की पीड़ा की छाया से पर्याच्छन्न है। पंडितराज ने बताया है कि एक शय्या पर सोते हुए भी यदि पति-पत्नी में प्रेम-भाव न हो, तो वहाँ विप्रलंभ ही माना जायेगा।[१] मनु-श्रद्धा का वर्तमान प्रसंग आचार्य की इस व्यवस्था का भी अतिक्रमण कर जाता है क्योंकि उन दोनों के हृदयों में एक-दूसरे के प्रति प्रेम वा रति स्पष्टतया विद्यमान है। रीति-काल के आचार्य भिखारीदास का 'मिश्रित शृंगार' भी यहाँ उपपन्न नहीं होता।[२] इसी कारण,

---

१. विस्तृत विवेचन के लिए देखिए लेखक-कृत 'सूर का शृंगार-वर्णन' प्रथम खंड, पृ० ८९–१०१

२. मिश्रित शृंगार . लक्षण एवं उदाहरण--
"संजोग ही बियोग कै, बियोग ही संजोग।
करि मिश्रित शृंगार को, बरनत हैं सब लोग॥" (लक्षण)
"सौतुख सपने देखि सुनि, प्रिय बिछुरन की बात।
सुख ही मैं दुख को उदय, सम्पत्ति हूँ ह्वै जात॥" (उदाहरण)
—'रससारांश'।

प्रस्तुत प्रसंग प्रसाद का एक अभिनव प्रयोग कहा जा सकता है ।

परन्तु, मनोविज्ञान की दृष्टि से इस प्रयोग को कितना अनुमोदन मिलेगा, यह विवाद का विषय है ! ईर्ष्या इत्यादि के कार[illegible] वर्तमानता में भी समागम संभव नहीं, किन्तु एक आदर्श की निष्ठा के कारण भी ऐसा संभव है, नही कहा जा सकता । ऐसा मान लेने पर, यौन-मनोविज्ञान में एक नई स्थापना जोड़नी पड़ेगी । सेक्स का शारीरिक आकर्षण प्रेमियों की 'निष्ठाओं' का 'भी' अतिक्रमण कर जाता है, लेकिन ऐसा कभी देखा-सुना नही गया कि इन निष्ठाओं अथवा विश्वासो के कारण पति-पत्नी रति-सन्धि से जानबूझ कर वंचित रह जायँ, विशेषतः तब जब दोनों के अन्तर मे वासना का तरल प्रवाह उफान ले रहा हो । प्रसाद के इसी प्रयोग का दिनकर ने अपनी प्रेम-रचना 'उर्वशी' में, गलत ढग से, दुरुपयोग किया है जहाँ पुरूरवा, अपनी प्रेयसी उर्वशी का दृढ़ आलिंगन-पाश में कसे रहने पर भी, मनसा विषण्ण बन जाता है और उस मांसल सौन्दर्य की स्वामिनी अप्सरा को 'प्रार्थना की कविता' समझने लगता है—"युवती नारी नही, प्रार्थना की कोई कविता है ।"[१]

तब, हम श्रद्धा के इस असाधारण संयम एवं आत्म-दमन के प्रसंग से सहमत हो अथवा न हों, प्रसाद ने इसे एक सुस्फीत एव सुस्पष्ट तथ्य के रूप मे चित्रित किया है । वासना-विह्वलता की कितनी उद्विग्नतापूर्ण घड़ियाँ श्रद्धा के मनोमय जीवन में उत्पन्न हुई होंगी और उसने कैसे उन्हे नियंत्रित किया होगा—यह उसे असाधारण युवती के शील से वेष्ठित करता है जो ही कवि का उद्देश्य है । श्रद्धा ने मनु को आत्म-समर्पण कर और उनके आत्म-समर्पण को स्वीकार कर, जो जीवन-चित्र मनसा खीच रखा है, वह सुन्दर सपना-सा लग रहा है और मनु की हिंसालु मनोवृत्ति उसके मनोज्ञ मधुवन में आग लगा देती है—

"जाग उठी है वारुण ज्वाला
इस अनंत मधुवन में;
कैसे बुझे, कौन कह देगा
इस नीरव निर्जन में ?"

तदनन्तर, विपुल विश्व में व्याप्त आतंक, जगतीतल का समस्त क्रन्दन, जीवन के निष्ठुर दंशन, प्रभृति अनेक प्रणय-रति-विरोधी विचार एवं चिन्ताएँ श्रद्धा के अन्तर्मानस को आक्रान्त कर लेती हैं और इस चिन्तन-क्रम में वह भी

---

१. देखिए, लेखक-कृत 'दिनकर की उर्वशी' (१९६२), पृ० १४--१६

मनु की भाँति रहस्यवादी दार्शनिक मनोभंगिमा का आखेट बन जाती है—

"नील गरल से भरा हुआ
यह चन्द्र-कपाल लिये हो;
इन्हीं निमीलित ताराओं में
कितनी शांति पिये हो !" इत्यादि ।[1] (कर्म)

प्राणी को प्राणी के प्रति निर्ममता की भावना से दबी हुई तथा "कौन उपाय ! गरल को कैसे अमृत बना पावेगा ?" की चिन्ता में डूबी श्रद्धा सो गई है। वासना के उफान में मनु उसके शयन-कक्ष में पहुँचते हैं और उसकी मादक रूप-चन्द्रिका का मुक्तभाव से पान करते हैं। कवि ने श्रद्धा के शयित सौन्दर्य का मनोहर चित्रण किया है। वह प्रस्तुत प्रसंग को विप्रलम्भ ही मानता है : श्रद्धा ने 'मान' किया है। उसकी किसलय-कोमल हथेली पकड़कर मनु कहते हैं, वाणी में अनुनय भरकर तथा आँखों में उपालंभ की छाया लेकर—

"·····अरे यह कैसी
मानवती की माया ?
स्वर्ग बनाया है जो मैंने
उसे न विफल बनाओ;
अरी अप्सरे! उस अतीत के
नूतन गान सुनाओ।" (कर्म)

श्रद्धा का 'मान' शास्त्रीय मानों से सर्वथा पृथक है। यह भी कवि की एक देन ही माना जायेगा। इस संदर्भ में मनु की मनावन नितान्त नैसर्गिक एवं समीचीन बनी है। देखिए, मनु कैसी मनुहार करते हैं—"इस निर्जन में, ज्योत्स्ना-पुलकित आकाश के नीचे मेरे और तुम्हारे अतिरिक्त अन्य कौन है ? अपनी आँखें बन्द किये मत रखो। आकर्षण से पूर्ण यह विश्व हम लोगों का ही भोग्य है। जीवन के दोनों कूलों मे वासना की धारा सदा बहती रहे, बहती रहनी चाहिए। जिस क्षण हम इस जगती के अभाव तथा आकुलता की भीषण चेतना से मुक्ति पा लें, वही स्वर्ग-सुख की अनंतता की प्रतीति से पूर्ण बन जायेगा। देवताओं को अर्पित किये जाने वाले मधुर सोमरस की दो बूँदों-मात्र में जीवन का सम्पूर्ण रस उच्छलित हो रहा है। इसे, हे प्रेयसि ! अधर

---

१. दिनकर ने 'कामायनी' की प्रेरणा स्वीकार कर, उर्वशी और पुरूरवा दोनों को ऐसे-ही दार्शनिक विचारों से अधिग्रस्त कर दिया है जिससे उनका प्रणय-चित्रण क्षतिग्रस्त हो गया। विस्तृत विवेचन के लिए मेरी उपरिलिखित पुस्तक पढ़ें।

से स्पर्श करो और मेरे साथ मिल कर मस्ती के झूले पर झूलने लग जाओ ।"

यह मनुहार अत्यन्त मधुर तथा मोहक है । मनु यहाँ काम-लोल प्रेमी के रंगों में चमक उठे हैं । किन्तु, श्रद्धा ने जो प्रतिक्रिया व्यक्त की है, "उज्ज्वल नव मानवता की जो चिन्ता तथा प्रलय की पुनरावृत्ति की जो आशंका प्रकट की है, वह सब प्रसंग-विरुद्ध जान पड़ता है ।[1]

श्रद्धा की इस तर्कना का जो उत्तर मनु ने दिया है, वह फिर भी औचित्य-पूर्ण है । मनु अपने तर्कों में विशुद्ध व्यक्तिवादी हैं । 'इन्द्रिय की अभिलाषा', 'हृदय की तृप्ति', अपने सुख की वरिष्ठता—यही उनके तर्कों की केन्द्रीय ध्वनि है जो बिलकुल उचित है । इसके बाद भी, श्रद्धा ने विपरीत तर्क प्रस्तुत किये हैं जिनमें दार्शनिक उपदेश का स्वर निनादित है । जहाँ मनु व्यक्तिवादी आधार पर श्रद्धा को मनावन का प्रयत्न कर रहे हैं, वहीं श्रद्धा समष्टिवादी स्वर खनखना रही है—"औरों को हँसते देखो मनु, हँसो और सुख पाओ । अपने सुख को विस्तृत कर लो, सबको सुखी बनाओ ।"

यदि श्रद्धा में वासना के उदय का प्रदर्शन कवि ने इस संदर्भ में नहीं किया होता और ऐसे मानवता-पोषक वचन उसके मुँह में रखे होते, तो हमें सामान्यतः कोई आपत्ति नही होती । लेकिन, इस प्रसंग में श्रद्धा भी काम-भाव से चंचल बन गई है, यथा—

"श्रद्धा जाग रही थी, तब भी
छाई थी मादकता,
मधुर भाव उसके तन-मन में
अपनी ही रस छकता ।"
"हृदय हो रहा था उत्तेजित
बातें कहते-कहते;
श्रद्धा के थे अधर सूखते
मन की ज्वाला सहते ।" (कर्म)

'मन की ज्वाला' में तपना और फिर-भी दार्शनिक भंगी में 'उज्ज्वल

---

१. "मनु ! क्या यही तुम्हारी होगी
उज्ज्वल नव मानवता ?
जिसमें सब कुछ ले लेना हो,
हँत ! बची क्या शवता !"
"कल ही यदि परिवर्तन होगा
तो फिर कौन बचेगा ?" (कर्म)

नव मानवता' का तर्क देना, ये दोनों स्थितियाँ परस्पर विसंवादी हैं और इसी कारण, अनुचित एवं अस्वाभाविक । असलियत यह है कि प्रसाद की चेतना का अन्तर्द्वन्द्व यहाँ खुल गया है । रति भोग के मधुर प्रस्ताव को श्रद्धा अस्वीकार कर नहीं सकती । इसी कारण, उसे मन की ज्वाला में कवि को तपाना पड़ा है, और, श्रद्धा के बहाने उसे एक आदर्श नारी की सृष्टि करनी है, इस कारण, श्रद्धा के मुँह में "यज्ञ-पुरुष" के "रचना-मूलक सृष्टि-यज्ञ" में "संसृति-सेवा" करने के उद्देश्य वाली वजनी बात रखनी पड़ी है । इन आदर्शपूर्ण कथनों को अनुस्यूत करने के लिए कवि की अघटन-घटना-पटीयसी प्रतिभा किंवा कल्पना अन्य संदर्भ की उद्भावना कर सकती थी; तब रति-प्रस्ताव वाले वर्तमान प्रसंग का माधुर्य खंडित नही होता । इस वांछित माधुर्य की रक्षा ही ऐसे प्रसंगों में मर्यादा की रक्षा होती है, माधुर्य तथा मर्यादा परस्पर पर्याय बन जाते हैं । प्रसाद ने माधुर्य तथा मर्यादा दोनों को क्षति-ग्रस्त बना दिया है ।

तथापि, जैसा अभी कहा है, मनु का समग्र आचरण यहाँ उचित एवं स्वाभाविक बना है । मनु ने मान-भंग के शास्त्रोक्त उपायों में 'साम' का ही प्रयोग किया है ।[1] श्रद्धा की आदर्शवादी अध्युक्तियों की काट मनु के पास ठीक-ही नहीं है । अतएव, वह स्वीकार कर लेते है—"वही करूँगा जो कहती हो सत्य, अकेला सुख क्या ?" और श्रद्धा सोम-पात्र अधरों से लगा लेती है । कवि यहाँ श्रद्धा के सम्मान की रक्षा फिर-भी करता है—

> "आँखें प्रिय-आँखों में, डूबे
> अरुण अधर थे रस में;
> हृदय काल्पनिक विजय में सुखी,
> चेतनता नस-नस में ।" (कर्म)

श्रद्धा की 'काल्पनिक विजय' का कथन, कवि के निजी दृष्टिकोण से, उचित ही है । इस पर कवि ने अपनी ओर से पुरुषों की छलमयी "वाणी की प्रवंचना" एवं नारी–"हृदयों की शिशुता" का उल्लेख कर जो टिप्पणी की है, उसका प्रयोजन मनु की कामुक कुटिलता और श्रद्धा की शिशु-सुलभ हार्दता को उभार में लाना है ।

उपर्युक्त 'विजय' तथा कवि-द्वारा की गई टिप्पणियों के अभाव में भी, श्रद्धा की रति-समागम की स्वीकृति पूर्णतया उचित एवं स्वाभाविक हुई होती । उसके "मन की ज्वाला" तथा "सूखते अधरों" की परिणति स्वयमेव

---

१. "सामभेदोऽथ दानं च नत्युपेक्षे रसान्तरम्" (सा० द०, ३।२०१)

प्रस्तुत प्रसंग की मर्यादा के अनुकूल होती है। तथापि, कवि की रससिद्ध, आनन्द-लिप्सु चेतना ने वर्तमान प्रकरण के अन्तिम चरण की माधुर्य-रक्षा में उसका साथ दिया है। मनु की मनुहार के अन्तिम वचन नितान्त मधुर एवं उपयुक्त हैं।[1] स्थिति के माधुर्य के साथ, उसके चित्रण का औचित्य भी सुन्दर ढंग से समायोजित हो गया है, यथा—

"और एक फिर व्याकुल चुंबन
रक्त खौलता जिससे;
शीतल प्राण धधक उठता है
तृषा-तृप्ति के मिस से।
दो काठों की संधि बीच उस
निभृत गुफा में अपने,
अग्नि शिखा बुझ गई, जागने
पर जैसे सुख-सपने।" (कर्म)

रति-समागम के सुकुमार तात्कालिक प्रसंग का एतादृश मधुर एवं औचित्यपूर्ण चित्रण प्रसाद की महनीय उपलब्धि है—यद्यपि अन्तिम पंक्ति में रस-विघ्न की छाया उपस्थित हो गयी है।

ज· श्रद्धा का विरह

दाम्पत्य प्रेम के जिस स्वरूप का वर्णन 'ईर्ष्या' सर्ग में हुआ है, वह असाधारण है। श्रद्धा अब सच्चे अर्थों में गृहिणी तथा 'मातृ-मूर्ति' बन गई है। लेकिन, उसके इस परिवर्तित चरित्र से मनु असन्तुष्ट हैं। उन्हें प्रतीत होता है, जैसे श्रद्धा की नजरों में उनका अस्तित्व "अतीत" हो गया है। मृगया-विहारी मनु तथा गृहिणी एवं माता की दायित्वपूर्ण भूमिका निभाने वाली श्रद्धा के बीच भावना की दूरी बढ़ती गई है, यद्यपि हमारी सहानुभूति श्रद्धा के प्रति ही विकसित हुई है। गर्भवती श्रद्धा "महापर्व" की सुखद घड़ी की प्रतीक्षा कर रही है और भावी शिशु के कल्याण-हेतु "गृह-लक्ष्मी का गृह-विधान" रचाने-सजाने में तत्पर है। लेकिन, मनु को यही देख ईर्ष्या होती है। वह श्रद्धा को फटकारते हैं—"मै ईर्ष्या की यह जलन सहन नहीं कर सकता। मुझे मेरा ममत्व मिलना चाहिए। पंचभूत की इस सृष्टि-रचना में मैं एक तत्त्व

---

१. "श्रद्धे ! होगी चन्द्रशालिनी
यह भव-रजनी भीमा;
तुम बन जाओ इस जीवन के
मेरे सुख की सीमा।" इत्यादि। (कर्म)

बनकर एकान्त भाव से रमण करना चाहता हूँ। भावी शिशु के प्रति तुम्हारी यह ममता तो प्रेम बाँटने का एक प्रकार है। यह द्वैत मुझे सहनीय नहीं। मैं भिखारी नहीं हूँ जो तुम्हारे प्रेम-वारि के कतिपय विन्दुओं को दान-रूप में स्वीकार करूँ। मैं इस सुख के आकाश में पूर्णिमा के शारदीय चन्द्रमा के समान अकेला विचरण करूँगा। हे मायाविनि ! शिशु के आ जाने पर तुम कभी-कभी ही एक आकर्षक मुसकान अथवा हास के साथ मेरी तरफ निहार लोगी। मैं उसे घुटने टेक कर वरदान-रूप मे कदापि स्वीकार नही करूँगा। इत्यादि"

मनु की यह ईर्ष्या वही है जो 'वासना' सर्ग में पशु के प्रति श्रद्धा का स्नेह देखकर जाग्रत हुई थी। यह घोर व्यक्तिवादी तथा घोर स्वातन्त्र्यकामी पुरुष उस उदार, सरलमना नारी को छोड़कर चला जाता है जो उसकी वासना-भरी आँखों पर कान्तिमान् आवरण डाल देने के निमित्त तकली चला रही है–

"वासना-भरी उन आँखों पर
आवरण डाल दे कान्तिमान;
जिसमें सौन्दर्य निखर आवे
लतिका में फुल्ल-कुसुम-समान।" **(इर्ष्या)**

सौन्दर्य के शालीन, सुरुचिपूर्ण स्वरूप की अनुमोदिनी श्रद्धा की प्रणय-सुषमा यहाँ स्वयं निखार में आ गई है। मनु की ईर्ष्या बर्बर व्यक्ति की ईर्ष्या से भी आगे निकल गई है। आदिम मानव भी भावी संतति के प्रति नारी के स्नेह-दान से इतना ईर्ष्यालु न होगा––मनु तो देव-वंशज है, एक सुविकसित संस्कृति के अवशेष है। श्रद्धा की दाम्पत्य-रति को जो ठेस पहुँची है, वह अत्यन्त कारुणिक है।

'स्वप्न' सर्ग में वियोगिनी श्रद्धा का प्रतारित प्रेम चित्रित हुआ है। यह संदर्भ उसे विशुद्ध, साधारण मृण्मयी नारी के रूप में उपस्थापित करता है जहाँ न तो उसे उज्ज्वल नव-मानवता की चिन्ता है, न अन्यों के सुख की चिन्ता है, न यज्ञ-पुरुष के रचना-मूलक यज्ञ की चिन्ता है। इस संदर्भ में श्रद्धा 'केवल' पति-परायण पत्नी है। कवि की चेतना का अन्तर्द्वन्द्व भी यहाँ उपराम को प्राप्त हो गया है। वह भी श्रद्धा के नारी-सुलभ वियोगिनी रूप का सम्मान करने के लिए अपनी निजी उद्देश्य-परक पसंदों एवं निष्ठाओं को थोड़े काल तक नेपथ्य में अपसारित कर देता है। वस्तुतः, पूरे काव्य में यही एक ऐसा प्रसंग उपलब्ध है जिसमें श्रद्धा अस्थिमज्जा वाली सामान्य नारी बनी है और उसका तिरस्कृत अनुराग, बिना किसी व्याज के, बिना किसी कृत्रिम परिष्कृति अथवा स्निग्धीकर के, मधुर एवं मर्म-द्रावक रंगों में चमक उठा है।

प्रसाद श्रद्धा की विरह-दशा का चित्रण करने के लिए संध्या की कालिक

पृष्ठभूमि चुनते हैं संध्या की सुषमा चिरकाल तक बनी नहीं रहती; शीघ्र-ही वह तिमिर के तीरों से बिंध जाती है । कोमल-प्राण कामायनी की विरह-विदग्ध अवस्था के चित्रण के लिए अन्य कोई उपयुक्त समय-संदर्भ नही हो सकता । सध्या और श्रद्धा का भाग्य-साम्य बड़ा विलक्षण है । संध्या-सुन्दरी कुछ काल तक अस्तंगत सूर्य की सुकुमार किरणों से खेलती रही; इसी बीच वह 'लाल कमल' (रक्तिम सूर्य-बिम्ब) मुरझा कर अचानक गिर गया; अब वह सुन्दरी उसे कहाँ खोजे ? श्रद्धा-सुन्दरी भी अपने प्रिय की क्षीण प्यार-किरणों के साथ किंचित् काल तक मन बहलाती रही है; किन्तु अब अचानक वह प्रियतम "निर्मोही" बनकर कहीं चला गया है; श्रद्धा उसे कैसे, कहाँ, खोजे ?[१] यह 'प्रवास-हेतुक' विप्रलंभ है ।

चार-पाँच छन्दों मे प्रसाद ने विरह-ताड़िता कामायनी का कारुणिक चित्र अंकित किया है । निम्न पंक्तियाँ देखें--

"कुसुम-कोमल कामायनी पृथ्वी पर पड़ी हुई है । उस सुमन में अब पुराना मकरन्द नही । रेखाओं का एक कोरा चित्र ही रह गया है जिसमें वर्तमान सभी रंग उड़ गये है । वह (कामायनी) प्रातःकाल का दीप्ति-हीन चन्द्रमा है जिसमे न चाँदनी है, न किरणें हैं । वह ऐसी संध्या है जिससे सूर्य, शशि एवं तारों, सबका विलोप हो गया है । श्रद्धा वह सरसी (बावली) है जिसके रक्त, नील एवं श्वेत, समस्त कमल मुरझा गये है तथा जो अब अपने मृणालों पर मधुपों को आकर्षित नही करती ।[२] वह वैसा बादल है जिसमें न बिजली कौंधती है, न स्वाभाविक नीलिमा ही शेष रह गई है । वह शिशिर ऋतु का

---

१. "संध्या अरुण-जलज-केसर ले अब तक मन बहलाती थी,
मुरझा कर कब गिरा तामरस, उसको खोज कहाँ पाती ?"
(स्वप्न)

२. "कामायनी-कुसुम वसुधा पर पड़ी, न वह मकरंद रहा;
एक चित्र बस रेखाओं का, अब उसमे है रंग कहाँ ?
वह प्रभात का हीनकला शशि, किरन कहाँ चाँदनी रही,
वह संध्या थी, रवि-शशि-तारा ये सब कोई नहीं जहाँ ।
जहाँ तामरस, इंदीवर या सित शतदल हैं मुरझाये--
अपने नालों पर, वह सरसी श्रद्धा थी, न मधुप आये;
वह जलधर जिसमें चपला या श्यामलता का नाम नहीं,
शिशिर-कला की क्षीण स्रोत वह, जो हिमतल में जम जाये ।"
(स्वप्न)

वह क्षीण स्रोत है जिसका पानी बर्फ की मोटी पर्तों से जम गया है ।"

विरहिणी कामायनी की शारीरिक अवस्था के इस चित्रण में 'पाण्डुता', 'असौष्ठव', 'कृशता', एवं 'व्याधि' नाम्नी काम-दशाओं की व्यंजना हुई है ।' मकरंद, रंग, किरण, चाँदनी, सूर्य, शशि, तारे, कमल, चपला, श्यामलता— ये सभी श्रद्धा के कान्तिमत् एवं सरस्वत् सौन्दर्य के प्रतीक हैं । मधुपों का अनाकर्षण उसके सौन्दर्य के मादक रस के सूखने का प्रतीक है । शिशिर के क्षीण स्रोत के बर्फ से जम जाने में श्रद्धा की स्वाभाविक चुहल एवं चापल्य के विनष्ट हो जाने की व्यंजना है ।

"श्रद्धा निर्जन की एक मौन वेदना है जिसमें झिल्ली की झनकार भी सुनाई नही देती । वह संसार-द्वारा की गई उपेक्षा की साक्षात् प्रतिमूर्ति है, एक साकार कसक है । भूमि लग्ना श्रद्धा ऐसी जान पड़ती है जैसे हरे-भरे कुंज की छाया-भर पृथ्वी पर पड़ी हुई हो और हरीतिमा विनष्ट हो गई हो । वह छोटी-सी विरह-नदी है जिसका विस्तार अनन्त है ।" नीरव-निष्प्राण-जैसी बनी विरहिणी की मूर्ति सहृदय-मानस पर उतर आती है और उसकी अन्त-र्वेदना का अनुभव रसज्ञ पाठक को अभिभूत कर लेता है । 'हरित कुंज की छाया' में विरहिणी की क्षीणता-कृशता का मर्मग्राही रूप उतर आया है ।

नीले गगन में सांध्य रवि की रश्मियाँ, उड़ती-उड़ती, स्वप्न-लोक को नीद-सेज पर सोने के लिए चली गई, लेकिन वियोगिनी श्रद्धा तिमिर के घिरने के साथ मनु की स्मृतियों से चंचल बन जाती है और समीप में प्रवाहित होने वाली मंदाकिनी को सम्बोधित कर,[1] अपनी हृदय-वेदना की गठरी खोलने लग जाती है—

"हे मंदाकिनि ! क्या तुम बताओगी, जीवन में सुख अधिक है या दुःख ? क्या यह गिन दोगी कि नभ में चमकने वाले तारे संख्या में अधिक हैं अथवा सागर में उठने वाले बुलबुले ? तारों के प्रतिबिम्ब तुम्हारे प्रवाह में पड़ते हैं और सिन्धु-मिलन के लिए तुम जा ही रही हो ! अथवा, ऐसा तो नही है कि तारे एवं बुदबुदे, दोनों एक-ही सत्य के प्रतिबिम्ब हैं ? क्या इस रहस्य को खोलोगी ? ('तारे' सुख के और 'बुदबुदे' दुःख के प्रतीक है ।) शून्य के इस पर्दे पर उषा, संध्या इत्यादि कितने-ही रंग-बिरंगे चित्र बनते और बिगड़ते हैं। किन्तु, ये समस्त अणु (रंग) पल-मात्र में घुलकर व्यापक शून्य की गहन नीलिमा में पर्यवसित हो जाते हैं जो विश्व के लिए वेदना का धूमिल पट बुनती रहती है ।" श्रद्धा ने अपने अल्पावधिक दाम्पत्य-जीवन में सुख तथा दुःख, दोनों

---

१. यह 'मंदाकिनी' आकाश-गंगा के साथ समीकृत की गई है । मुझे यह सूझ पसन्द नहीं आई ।

झेले हैं, किन्तु दुःखों की बहुलता की प्रतीति से ही वह सम्प्रति अभिभूत है। उसके जीवनकाश के इन्द्रधनुषीय रंग उड़ गये हैं और वह अब वेदना के धूमिल आवरण से ही आच्छन्न बन गया है। सुख तथा दुःख की तात्त्विक एकता तथा विश्व-वेदना के भाव केवल एक 'संचारी' ('निर्वेद'—जैसा) के समान श्रद्धा के मन में आते है और वह झटिति अपनी वैयक्तिक विपत्ति की अनुभूति मे डूब जाती है—

"दग्ध श्वास से आह न निकले सजल कुहू में आज यहाँ !
कितना स्नेह जला कर जलता ऐसा है लघु दीप कहाँ ?
बुझ न जाय वह साँझ-किरन-सी दीप-शिखा इस कुटिया की,
शलभ समीप नहीं तो अच्छा, सुखी अकेले जले यहाँ !"

—'शिशिर-कणो से सजल इस अमावस की रात मे मेरे जलते हुए श्वासों से कही आह न निकल जाय ! ऐसा लघु-दीप कहाँ मिलेगा जो इतना स्नेह (तेल) जलाकर सदा जलता रहे ? साध्य-किरण-सी, इस कुटिया की दीप-शिखा कही बुझ न जाये ! फिर-भी, मै चाहती हूँ कि मेरा जीवन-दीप अकेले-ही सुखपूर्वक यहाँ जलता रहे, यद्यपि इसकी लपटों पर निछावर होने वाला शलभ यहाँ वर्तमान नही।' श्रद्धा का हृदय विरह की अग्नि से दग्धीभूत है, लेकिन उसकी जलती साँसो से 'आह' नही निकले, वह इसकी सावधानी बरतना चाहती है। तब, क्या इतना आत्मबल उसके भीतर बचा है ? श्रद्धा इस विषय में आश्वस्त नही। ऐसा दीपक कहाँ है जो अनिश्चित काल तक जलता रहे ? वह डरती है, कही उसके प्राणों का दीपक सहसा बुझ न जाय क्योंकि वह नितान्त क्षीण एव दुर्बल हो चुकी है, केवल 'छाया'-मात्र रह गई है। किन्तु फिर भी, प्रिय के अभाव मे भी, वह चाहती है, उसका प्राण-दीप जलता रहे, 'सुख-पूर्वक' जलता रहे ! श्रद्धा के मन का यह संकल्प-विकल्प बड़ा मधुर एवं हृदयग्राही है; 'मास' तथा 'प्राणों' (Flesh and Spirit) का यह संघर्ष उसके प्रेम की अनश्वरता का व्यजक है। शास्त्रीय दृष्टि से, इस चित्र में 'संताप' एवं 'मरण' या 'मृति' नामक काम-दशाएँ ध्वनित हुई है। 'मृति' का वर्णन ऐसा होना चाहिए जिससे रस विनष्ट न होने पावे—"मरनो वा बिधि बरनिये जाते रस न नसाइ।" प्रसाद ने रीति-काल के आचार्य-कवि देव की इस सलाह का पालन किया है।

कामायनी अपना विरह-दुःख निवेदित करती जा रही है। "अरी कोयल ! आज तू जैसा चाहे, कठोर ध्वनि सुना ले। किन्तु, याद रख, इस लता-कुंज में पहले—जैसे फूल तथा पराग वर्तमान नही है। अब तो इस कुंज में पतझड़ का राज्य है जिससे विटपो की डालियाँ सूख गई हैं। अब यह वह संध्या-काल

उत्पन्न है जिसमें अरुणोदय की दारुण प्रतीक्षा करना ही भाग्य में बदा है। हे कामायनि ! तू हृदय को कठोर बना कर धीरे-धीरे सभी कुछ सहन कर ले।" विरह की अवस्था में कोकिल की मधुर कूकें श्रद्धा को कठोर प्रतीत हो रही हैं। यहाँ 'उद्वेग' नामक काम-दशा की व्यंजना है। लता-कुंज में पहले–जैसे पुष्पों तथा पराग-कणों का अभाव और पतझड़ का समावेश श्रद्धा को इस कारण आभासित हो रहा है कि उसकी निजी मनोदशा पतझड़–जैसी बन गई है : वह अपने मनोराग की छाया से लता-कुंज को भी ढक लेती है। वह, फिर–भी, शायद एकदम निराश नहीं, मनु के लौटने की प्रतीक्षा में निमग्न है––"इस पतझड़ की सूनी डाली और प्रतीक्षा की संध्या।"

इसी मनोभंगिमा में, श्रद्धा को लगता है, "जैसे निकुंजों की विरल डालियाँ दुःख की साँसें ले रही हैं। उनसे होकर जो पवन बह रहा है, वह उसके मानस में मनु की प्यारी स्मृति जगाता है। तब, प्रिय-मिलन की कथा ये कुंजें उसे कैसे सुना सकती हैं ? आज विश्व अभिमानी बनकर, बिना अपराध ही, श्रद्धा पर रूठा हुआ है। उसके नयनों से जो अश्रु-धारें बह रही हैं, वे अब किन चरणों को धोयेंगी ? मनु तो है नहीं।" इस चित्र पर ध्यान दें। निकुंजों की डालियाँ तो श्रद्धा की सहानुभूति मे दुःख के विश्वास ले रही हैं, तब, किस अन्य 'विश्व' की ममता की अपेक्षा वह कर रही है ? कौन-सा अपर "विश्व अभिमानी' बनकर रूठा हुआ है ? अलबत, मनु अवश्य अभिमान में चूर होकर उसे, बिना अपराध, छोड़कर, रूठ कर, चले गये है। उन्हीं के लिए तो उसके आँसुओं की धारा पलक के बाहर गिर रही है। इस चित्र में विरहिणी की जटिल मनोदशा की विज्ञप्ति होती है जिसमें 'स्मृति', 'अभिलाष', 'उन्माद' तथा 'प्रलाप' नामक काम-दशाओं की यौगपदिक सांकेतिक व्यंजना गर्भित है। अश्रु-प्रवाह में "अधीरता" की भी छाया वर्तमान है।

बाद के चार-पाँच छन्दों में कवि ने विरहिणी कामायनी का जो मर्म-द्रावक चित्र अंकित किया है, उसमें स्वभावतः 'स्मृति' तथा 'अभिलाष' (प्रिय-मिलन की इच्छा) की काम-दशाओं की ही व्यंजना हुई है। इससे श्रद्धा का मनःस्वास्थ्य 'प्रलाप' तथा उद्वेग' के उन आक्रमणों से अधिक विकृत नहीं होने पाया है जो रीति-काव्य की विरहणियों, अथवा सूर की गोपिकाओं को भी, झकझोरते हैं। कतिपय पंक्तियाँ उद्धरणीय हैं—

"सब अतीत में लीन हो चलीं, आशा, मधु अभिलाषाएँ,
प्रिय की निष्ठुर विजय हुई, यह तो मेरी हार नहीं।

\+ \+ \+

वे आलिंगन एक पाश थे, स्मिति चपला थी, आज कहाँ ?
और मधुर विश्वास ! अरे वह पागल मन का मोह रहा :

\+ + +

वे कुछ दिन जो हँसते आये अंतरिक्ष अरुणाचल से,
फूलों की भरमार, स्वरों का कूजन लिये कुहक-बल से,
फैल गई जब स्मिति की माया, किरन-कली की क्रीड़ा से,
चिर-प्रवास में चले गये वे, आने को कह कर छल से !"[1] (स्वप्न)

अंतिम छन्द की भाव-माधुरी कितनी मर्मस्पर्शी है ! जैसे अरुणोदय के साथ सूर्य-रश्मियों के क्रमशः प्रसार से वातावरण हँसने लगता है, फूलों की भरमार हो जाती है और पक्षियों का कलरव सर्वत्र गूंज उठता है, वैसे ही मनु के प्रथम मिलन से श्रद्धा के जीवन में मधु-हास से पूर्ण कतिपय मोहक दिनों का संचार हुआ जब नाना मधुमयी अभिलाषाओं एवं अठखेलियों का संगीतमय माधुर्य फूट पड़ा था । जैसे रवि की किरणें कुसुम-कली के साथ क्रीड़ा करती हैं, वैसे-ही मनु ने भी उसके नव्य यौवन के साथ मधुर क्रीड़ाएँ की । लेकिन, जब इन व्यापारों के फलस्वरूप उसके जीवन में मुसकान की माया फैल गई, तब निर्मोही मनु, पुनः लौटने का बहाना बनाते हुए, छलपूर्ण रीति से, चिर-प्रवास में चले गये । वेदना की गहराई की थाह अनुमेय होगी, यह तथ्य हृदयंगम कर कि मनु, श्रद्धा के रागात्मक अस्तित्व को आच्छादित करने के शीघ्र ही उपरांत, छल करके चिर-प्रवासी बन गये हैं—"फैल गयी जब स्मिति की छाया, किरन-कली की क्रीड़ा से ।" आचार्यों ने प्रवास की तीन कोटियाँ गिनाई हैं, यथा—कार्यज प्रवास (कार्य-वश नायक बाहर चला जाय), शापज प्रवाश (शाप-वश नायक अन्यत्र चला जाय जैसे 'मेघदूत' का यक्ष) और सम्भ्रम-जन्य प्रवास (भय इत्यादि कारणों से नायक बाहर चला जाय)'।[2] मनु का प्रवास मूलतः ईर्ष्या-जनित है जो जल्दबाजी में तथा मानसिक क्षोभ अथवा उन्मंथन की दशा

---

१. मिलाइये—
"वे कुछ दिन कितने सुन्दर थे !
जब सावन-घन सघन बरसते—इन आँखों की छाया भर थे ।
सुरधनु रंजित नव जलधर से—भरे, क्षितिज क्षितिज-व्यापी अंबर से,
मिले घूमते जब सरिता के, हरित कूल युग मधुर अधर थे ।"
(लहर)

२. 'साहित्यदर्पण', ३।२०४.

में घटित हुआ है। इसे 'सम्भ्रम-जन्य प्रवास'[१] की श्रेणी में रखा जा सकता है। लेकिन, इस प्रवास की तीक्ष्णता एवं मार्मिकता इस तथ्य के संदर्भ में और बढ़ जाती है कि मनु, एकान्त व्यक्तिवादी भाव से, श्रद्धा-जैसी कोमल-प्राण एवं निष्ठामयी पत्नी के वात्सल्य का गलत अर्थ लगाकर, अचानक गृह-त्याग कर देते है। मनु ने उसी सौन्दर्यशालिनी, भोली-भाली श्रद्धा को छोड़ दिया है जिसका बखान काम ने इन शब्दों में किया था--

"हम दोनों की संतान वही,
कितनी सुन्दर, भोली-भाली;
रंगों ने जिनसे खेला हो,
ऐसे फूलों की वह डाली।"

श्रद्धा के विरह-निवेदन का अंतिम छन्द इस प्रवास हेतुक विप्रलंभ की हृदय-च्छेदक पृष्ठभूमि चित्रित करता है—

"जब शिरीष की मधुर गंध से मान-भरी मधु-ऋतु-रातें!
रूठ चली जातीं रक्तिम-मुख, न सह जागरण की घातें;
दिवस मधुर-आलाप-कथा-सा कहता छा जाता नभ में,
वे जगते सपने अपने तब तारा बन कर मुसक्याते।"

—'सिरस फूल की मधुर गंध से भरी वसन्त की रातें जागते-ही बीतती थीं। वे मधुमयी रातें हमारे केलिपूर्ण जागरण से, जैसे मानवती होकर, रूठ कर लाल मुख किये लौट जाती थी। तब, आकाश में विहगों के कल-संगीत से पूर्ण दिन की विभाएँ छा जाती थी। मैं दिन-भर अनेक मधुर स्मृतियों तथा अभिलाषाओं के जाल में उलझी रहती थी। फिर, जब तारों की पंक्ति सजाये रात आती थी, तब ऐसा भान होता था कि मेरे दिवा-स्वप्न ही आकाश में जगमगा उठे हैं।' यह संभोग-सुख का बड़ा-ही तल स्पर्शी चित्रण है। मधु-मास की रातें स्वतः वसंत के साथ क्रीड़ा करने की अभिलाषिणी थी और यह नही सहन कर सकती थी कि अन्य कोई प्रेमिका प्रिय-रमण उस काल में करें। इसी कारण, श्रद्धा के केलि-विलास-पूर्ण जागरण से वे अपमानित होकर रूठ जाती थी उनके 'रक्तिम मुख' में उषा के उदय होने की लालिमा का ध्वनन है। यह व्यंजना भी छिपी है कि श्रद्धा संपूर्ण रात, उषा के प्रस्फुट होने तक, प्रिय के

---

१. **'सम्भ्रम'**=Haste, hurry, confusion, agitation, furry; fear, alarm, fright. —**द्रष्टव्य**
'The sudent's Sanskirt—English Dictionary' by V. S. Apte (1963), पृ० ५९१.

साथ केलियाँ किया करती थी । तब, रजनियाँ क्यों न रुष्ट हो जायँ ! दिन-भर श्रद्धा मधुर केलियों के सपने देखा करती थी और रात होने पर ताराओं के रूप में उसके ये सपने जगमगा उठते थे । फिर वही क्रम; श्रद्धा का वही रमण-रत होना, रातों का पुनः वही रूठना ! संभोग की इसी मादक पीठिका में मनु प्रवासी हो गये है । अतएव, श्रद्धा की विपत्ति की गहराई का अनुमान सहृदय रसज्ञों के द्वारा आसानी से किया जा सकता है । 'संभोग-शृंगार' का चित्रण कर, 'विप्रलंभ शृंगार' की हृदयस्पर्शी अनुभूति कराना, और वह भी केवल 'स्मरण' की काम-दशा के सहारे---यह कवि की सरस्वत् कला का मधुर निदर्शन है ।

प्रिय-प्रवास का एक 'युग' बीत गया है । संध्या होने पर सभी विहगों का समूह, अपने-अपने घरों से निकलने वाली (पक्षि-शावको की) पुकार सुनकर लौट आया है । किन्तु, मनु नही लौटे । श्रद्धा की पुकारे व्यर्थ हो गई है । अतएव, वह मोतियों के समान चमकने वाले आँसू बहाने से अपने को रोक नही सकी है । उसके प्राणों का पथिक इन्ही आँसुओं का सबल लेकर कल्पना का संसार रचने लगा है । रोते-रोते, श्रद्धा की आँखें लाल हो गई है और उनके कोनों में अश्रु-विन्दु झलमल कर रहे है । ऐसा प्रतिभास होता है जैसे उसके हृदय का दर्पण चूर्ण-विचूर्ण हो गया हो और उसके बिखरे कणो में अगणित अभिलाषाओं की प्रतिच्छवियाँ झलक रही हों । उसके द्वारा अनुभुक्त अनुराग, हास्य एवं दुलार की सकलित श्रेणी अब वियोग के गहन अधकार में सोने चली गई है । जैसे वर्षा-काल की अमावस्या मे जुगनू डरते-डरते टिमटिमाया करते है; वैसे-ही श्रद्धा के विरह-विदग्ध मानस मे अतीत की स्मृतियाँ डरती-डरती-सी चमक उठती है । संबद्ध चित्र देखिए--

> **"अरुण जलज के शोण कोण थे नव तुषार के विन्दु-भरे,**
> **मुकुर चूर्ण बन रहे प्रतिच्छवि कितनी साथ लिये बिखरे !**
> **वह अनुराग-हँसी-दुलार की पंक्ति चली सोने तम में,**
> **वर्षा-विरह-कुहू में जलते स्मृति के जुगनू डरे-डरे ।"**

--श्रद्धा के आँसुओं में उसके भग्न हृदय की ही प्रतिच्छवियाँ झलक रही हैं, एक-एक आँसू में उसके अतर की एक-एक कामना चमक रही हैं । सबसे बड़ी वेदना की बात तो यह है कि श्रद्धा के भीतर सुखद अतीत वाली स्मृतियाँ भी, डरती डरती-सी, जग रही है । कही इन्हें भी कोई न छीन ले जाय ! चित्र का सौन्दर्य दर्शनीय है--यद्यपि किसी-न-किसी प्रकार, सहृदयों को इसमें उस माधुर्य का अभाव खटकता है जो श्रद्धा-जैसी विप्रयुक्ता, सुकुमार कुसुम-बाला

के रोदन-प्रसंग में उपलब्ध होना चाहिए । 'शोण कोण' की योजना कर्णकटुता एवं वीभत्सता की गंध देती है । अस्तु ।

श्रद्धा का वियोग-वर्णन निरावरण एवं निर्व्याज है, जैसा आरंभ में कहा गया है । इसमें, फिर-भी, उद्दात्मक बासीपन विद्यमान नहीं । ऐसी विह्वलता, ऐसा पिघलाव भी वर्तमान नहीं है जिससे श्रद्धा टूटी कमलिनी की नाईं बिखर जाय । कामायनी के विरह-चित्रण में कवि ने सावधानी बरती है । संयोग-संदर्भ में हम श्रद्धा के प्रणय-भोग के चित्रों से वंचित रह गये थे । कवि ने विरह के प्रस्तुत संक्षिप्त चित्रण से वह कमी पूरी कर दी है । शायद, कवि का अभीष्ट यही है कि विरहिणी श्रद्धा अपने वियोग-दु:ख में भी पूर्णत: पराजित न हो—"प्रिय की निष्ठुर विजय हुई, पर यह तो मेरी हार नहीं !"

ञ. श्रद्धा का योगिनी-रूप

'निर्वेद' सर्ग में श्रद्धा 'योगिनी' बनी है जब वह स्वप्न में देखी गई घटनाओं से आशंकित होकर, मनु की खोज में निकल पड़ी है । पुरुष प्रेमिका वा पत्नी की तलाश मे बाहर निकलते देखे-सुने गये है, लेकिन यहाँ पत्नी (नारी) को पुरुष की खोज में गृह-त्याग करा कर यायावरी बना देना शायद प्रसाद का नया प्रयोग है । ऐसा करने से श्रद्धा का प्रणय अत्यन्त सात्त्विक रंगों में भास्वर हो उठा है । उसका प्रियान्वेषण—प्रयाण उसके निर्मल, पुनीत स्नेह को साहसिकता की दीप्तियो से भी विभूषित कर देता है ।

स्वप्न ने श्रद्धा के विरह को और भी तीखा बना दिया है । इसका प्रभाव उसके शरीर पर पड़ा है । कवि ने, थोड़े अन्तराल से, इस विरहिणी के दो चित्र अंकित किये हैं, यथा—

"शिथिल शरीर, वसन विश्रृंखल,
कबरी अधिक अधीर खुली,
छिन्न-पत्र, मकरन्द-लुटी-सी
ज्यों मुरझायी हुई कली ।"

"यह प्रभात की स्वर्ण-किरन-सी
झिलमिल चंचल-सी छाया,
श्रद्धा को दिखलाऊँ कैसे
यह मुख या कलुषित काया ?" (निर्वेद)

पहले चित्र में, कवि ने वियोगिनी की क्षीण-क्षमता एवं दयनीय दौर्बल्य का स्वयं, निजी तौर पर, आकलन किया है जिसे 'व्याधि' के अंतर्गत गृहीत किया जा सकता है । दूसरे चित्र में, मनु ने प्रेमी की दृष्टि से श्रद्धा की दु:खाभिभूत अवस्था का परिभाषण किया है । श्रद्धा का सौन्दर्य 'मूलत:' क्षतिग्रस्त

नहीं हुआ है । अभी भी, वह सुनहली विभा से भूषित है, यद्यपि अब वह प्रातः काल की क्षीण स्वर्ण-किरण की-सी, चंचल झिलमिलाती छाया बन गई है । 'छाया' शब्द की व्यंजना स्पष्ट एवं मर्मस्पर्शी है । श्रद्धा अस्थिचर्मावशिष्ट-मात्र रह गई है, अपनी क्षीण कान्ति-किरणों से ही पहचान में आ रही है ! आचार्यों ने प्रवास में नायिकाओं के शरीर एवं वस्त्र की मलिनता, सिर में एक-ही वेणी, नि.श्वास, उच्छ्वास, रुदित, भूमिपात इत्यादि की व्यवस्था दी है ।[1] प्रसाद ने श्रद्धा के सिर पर एक बँधी वेणी भी नही रहने दी है—"कबरी अधिक अधीर खुली ।" कालिदास की प्रिय-विश्लेषिता नायिकाएँ "धृतैकवेणि" रही हैं[2] जो कदाचित् किसी सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था का परिणाम समझा जायेगा । विरह में पत्नियाँ साधारणतः केशों को बाँधती ही नही, यदि बाँधती भी हों, तो कम-से-कम काव्य में उनकी कबरी खुली-उलझी ही होनी चाहिए क्योंकि संभावनाओं का अतिशय वर्णन होने से ही, हमे काव्य चित्रणों से जीवन की तीव्र अनुभूति होती है ।[3] प्रसाद ने श्रद्धा की वेणी को खुली रखकर कलात्मक औचित्य का परिचय दिया है ।

'निर्वेद' सर्ग मे, श्रद्धा की इस वियोग-जन्य कारुणिक अवस्था के चित्रण के अतिरिक्त, उसके विरहिणी-रूप का और निदर्शन नही हुआ है । कवि ने माता-पिता-पुत्र, तीनों को क्षण-भर के लिए एकत्र मिला कर "आत्मीयता" में घुला-पगा "छोटा-सा परिवार" अवश्य बसा दिया है, किन्तु आत्मीयता में पिघला वह परिवार टिकाऊ नही रह पाया है । कदाचित्, वैसी स्थिति में हमें श्रद्धा के दाम्पत्य-प्रेम के अन्य स्नेह-स्निग्ध पटल खुलते-मिलते । कवि ने श्रद्धा के मुंह से जो सुपरिचित गीत गवाया है,[4] जो पाठको को मुग्ध कर देता है,

१. "प्रवासो भिन्नदेशित्वं कार्यांच्छापाच्च संभ्रात् ।
तवाङ्गचेलमालिन्यमेकवेणीधरं शिरः ।। (सा०-द०, ३।२०४,०५)
नि.श्वासोच्छ्वासरुदित भूमिपायादि जायते ।"

२. "वसना परिधूसो वसाना नियमक्षाममुखी धृतैकवेणिः ।
अतिनिष्करुणस्य शुद्धशीला मम दीर्घं विरहव्रतं बिभर्ति ।।"
(शाकु०, ७।२१)

३. देखिये, लेखक-कृत 'काव्य-चिन्ता', पृष्ठ

४. "तुमुल कोलाहल कलह में
मैं हृदय की बात रे मन !

+ + +

वह श्रद्धा के प्रणय की गहराई अथवा सुकुमारता पर कोई अन्य आलोक-रश्मियाँ प्रक्षिप्त नहीं करता जिनसे हम अब तक परिचित न हो सके हों। "हृदय की बात", "मलय की बात", "कुसुम-विकसित प्रात", "कुसुम-ऋतु-रात" और "सजल जलजात" जैसे विशेषणों का आत्म-विज्ञापक प्रयोग श्रद्धा को लौकिक प्रणय वाले धरातल से काट देता है जिससे वह वायव्य लोक की कोई 'दिव्य-दूती' बन जाती है। वस्तुतः, इसी सर्ग से कवि की प्रणय-सृष्टि उसकी सोद्देश्यता के सागर में डूब गई है जिसकी भूमिका वह प्रायः निरंतर तैयार करता रहा है। मनु ने इस सर्ग में, अतीतावलोकन करते हुए, श्रद्धा के प्रति जो कृतज्ञतापूर्ण अर्चनाञ्जलियाँ समर्पित की हैं, उनमें श्रद्धा 'मंगलमयी देवी' तथा 'पावन मधु-धारा बहाने वाली भगवती' रही है जो दाम्पत्य-जीवन का परिष्कृत पक्ष है—

"भगवति ! वह पावन मधु-धारा !
देख अमृतं भी ललचाये,
बही, रम्य सौन्दर्य-शैल से
जिसमें जीवन धुल जाये।" (निर्वेद)

सौन्दर्य के स्रोत से, जीवन को धोकर स्वच्छ-निर्मल बनाने वाली पवित्र मधु-धारा बह निकलती है तो इससे बढ़ कर दाम्पत्य-प्रणय का अन्य क्या आदर्श हो सकता है ? कालिदास ने 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' मे सौन्दर्यासक्ति से अन्तत. ऐसी-ही पीयूष-स्रोतस्विनी प्रवाहित कराई है। ऐसी परिणति सर्वथा श्लाघ्य होगी। लेकिन, श्रद्धा-द्वारा गाये गये गीत में श्रद्धा 'मानवी' कम, 'श्रद्धा' नामक अन्तर्वृत्ति का प्रतीक अधिक बन गई है।

कवि की कला का एक स्खलन, जो एक प्रकार का 'पतत्प्रकर्ष'-सा दिखाई देता है, निम्न पंक्तियों में प्राप्त है —

"तुमने हँस-हँस मुझे सिखाया,
विश्व खेल है, खेल चलो;
तुमने मिल कर मुझे बताया,
सबसे करते मेल चलो।
यह भी अपने बिजली के-से
विभ्रम से संकेत किया,
अपना मन है, जिसको चाहा
तब इसको दे दान दिया।" (निर्वेद)

मधुप-मुखर मरन्द-मुकुलित,
मैं सजल जलजात रे मन !" (निर्वेद)

— 'सबसे मेल करते चलना' सिखाने के साथ-साथ, श्रद्धा ने अपने बिजला तुल्य कटाक्षों (विभ्रम) से मनु को यह भी सिखाया है कि 'मन अपना है, जिसे जब चाहा, उसे तब दे दिया' कवि यदि श्रद्धा के कटाक्षों की प्रभविष्णुता की व्यंजना करना चाहता रहा हो, तब भी उसके प्रभावों में मन के ऐसे चंचल एवं अमर्यादित दान की प्रेरणा को समाविष्ट करना औचित्य-भावना का विघातक है। यह एक 'नाटकीय व्यंग्य'—सा ही ध्वनित होता है कि मनु ने ठीक इसी कथन के तुरंत बाद, श्रद्धा के उपकारों के प्रति गहरा आभार व्यक्त किया है—

'कितना है उपकार तुम्हारा
आश्रित मेरा प्रणय हुआ,
कितना आभारी हूँ, इतना
संवेदनमय हृदय हुआ।" (निर्वेद)

—'मन के मनमाने दान के संकेत' और श्रद्धा के 'अपरिमित उपकार' में कितनी व्यंग्यपूर्ण विसंगति है!

ञ. सामान्य टिप्पणी

श्रद्धा का विरह-वर्णन संक्षिप्त, किन्तु मर्मस्पर्शी है। उसमें रीति-काल के वियोग-प्रसंगों की ऊहात्मक प्रौढोक्तियाँ वर्तमान नहीं। द्विवेदी-युग के वियोग-वर्णन अत्यधिक विस्तीर्णता एवं रीति-परम्परा के भार से आक्रान्त हैं। 'प्रिय-प्रवास' और 'साकेत' दोनों मूलतः वियोग-प्रधान रचनाएँ हैं और उनमें विरहिणी प्रेमिकाओं अथवा पत्नियों के मर्माहत हृदय की अनुभूतियों का तलस्पर्शी चित्रण हुआ है। लेकिन, विस्तार तथा परम्परा-पोषित रूढ़ियों के साग्रह सन्निवेश के कारण वह क्षति-ग्रस्त हो गया है। राधा, कृष्ण के आसन्न वियोग से ही, पूर्वीय क्षितिज पर फैली लालिमा में किसी 'कामिनी का बहता रुधिर' देखने लगी है और यह डरने लगी है कि अब आकाश 'आग का एक गोला' उगलेगा और सकल व्रज-धरा को जलायेगा।[1] 'प्रिय प्रवास' का पन्द्रहवाँ सर्ग विरहिणी राधा के मर्मस्पर्शी उद्गारों का चित्रण है जिसमें अनेक पुष्पों, पिकी, कोकिल, भ्रमर, यमुना इत्यादि से हृदय-विगलित निवेदन किये गये हैं। ये छन्द अपने में मधुर

---

१. "क्षितिज निकट कैसी लालिमा दीखती है?
बह रुधिर रहा है कौन-सी कामिनी का?
+ + +
अब नभ उगलेगा आग का एक गोला।
सकल व्रज-धरा को फूँक देगा जलाता॥" (प्रियप्रवास, चौथा सर्ग)

एवं तलस्पर्शी हैं, किन्तु योजना-बद्ध रीति से प्रकृति के विभिन्न सजीव-निर्जीव उपादानों को संबोधित इन निवेदनों में जो एकस्वरता आ गई है, वह विरहिणी राधा की प्रणयाभिव्यक्तियों को कृत्रिम-सा बना देती है। 'वैदेही-वनवास' में विरह की धारा का प्रवाह प्रमुख है, किन्तु भवभूति की छाया ग्रहण करने के बाद भी, राम-सीता के वियोग-प्रसंगों का चित्रण मधुर एव लालित नहीं बन पाया है। 'साकेत' का ऊर्मिला-वियोग अवश्य हृदयग्राही हुआ है। चतुर्थ सर्ग में प्रवत्स्यत्पतिका ऊर्मिला के समासन्न वियोग का वर्णन अतीव कारुणिक है। षष्ठ सर्ग में प्रिय-विश्लेषिता ऊर्मिला का विरह-चित्रण भी मर्मस्पर्शी बना है।[1] किन्तु, प्रसिद्ध नवम सर्ग जहाँ हृदयच्छेदक विरहोद्गारों से परिपूर्ण है, वहीं उसमें ऊर्मिला को 'प्रलाप' एवं 'उन्माद' की ऐसी अनेक स्थितियों में से गुजरना पड़ा है जो रीतिकालीन आस्वाद से युक्त हैं।[2]

इस पृष्ठभूमि मे, श्रद्धा का वियोग-वर्णन अपनी संक्षिप्तता में अत्यन्त मधुर, अभिराम तथा हृदय-मोहन बन गया है। यदि कवि शास्त्रीय परम्परा अथवा विधान का तिरस्कार नही कर सका है, तो इसका कारण उसकी रसनिष्ठ मधुजीवी काव्य-चेतना है जिसके लिए वह उपहास्य नहीं, प्रशस्य है।

ट. मांगलिक काम

श्रद्धा ने प्रथम साक्षात्कार में ही जो "उत्साह-वचन" मनु को सुनाये हैं, उनमें मांगलिक काम का संदेह दिया है। यह मांगलिक काम अनेक संबद्ध

---

२. "पुर-देवी-सी यह कौन पड़ी ?
ऊर्मिला मूर्च्छिता मौन पड़ी।
किन तीक्ष्ण करों से छिन्न हुई—
यह कुमुदवती जल-भिन्न हुई ?
नव वय में ही विश्लेष हुआ,
यौवन में ही यति-वेश हुआ।" (साकेत, षष्ठ सर्ग)

१. "मुझे फूल मत मारो,
मैं अबला बाला वियोगिनी, कुछ तो दया विचारो,
होकर मधु के मीत मदन, पटु, तुम कटु गरल न गारो,
मुझे विकलता, तुम्हें विफलता, ठहरो, श्रम परिहारो।
नहीं भोगिनी यह मैं कोई, जो तुम जाल पसारो।
बल हो तो सिन्दूर-बिन्दु यह—हरनेत्र निहारो !
रूप-दर्प, कन्दर्प, तुम्हें, तो मेरे पति पर वारो,
लो यह मेरी चरण-धूलि, उस रति के सिर पर धारो !"
इत्यादि। (साकेत, नवम सर्ग)

तन्तुओं से गठित है । इसमें सिसृक्षा, जीवन की लालसा, महाचिति का लीलामय आनंद एवं दुःख-सुख की समरसता के तत्त्व परस्पर अनुस्यूत हैं—

"हृदय में क्या है नहीं अधीर,
लालसा जीवन की निश्शेष ?

\+ + +

काम से झिझक रहे ओ आज,
भविष्यत् से बनकर अनजान ।
कर रही लीलामय आनंद,
महाचिति सजग हुई सी व्यक्त,

\+ + +

काम मंगल से मंडित श्रेय,
सर्ग इच्छा का है परिणाम;

\+ + +

यही दुख-सुख विकास का सत्य,
यही भूमा का मधुमय दान ।
नित्य समरसता का अधिकार,
उमड़ता कारण जलधि-समान
व्यथा से नीली लहरों बीच
बिखरते सुख-मणिगण द्युतिमान !" (श्रद्धा)

काम को मंगल से मंडित श्रेय बताकर, श्रद्धा ने उसके स्वीकारात्मक ('पौजिटिव') स्वरूप की व्यंजना में जिजीविषा, रिरंसा, सर्जनात्मकता एवं सुख-दुःख के अनिवार्य द्वैत को समान भाव से ग्रहण करने की आवश्यकता को बलाघात दिया है । यह मांगलिक काम व्यापक कामना का ही अंग है जिसकी पूर्ति वा उपलब्धि जटिलताओं से भरी हुई होती है जिस कारण, मनु काम की जीवित-जाग्रत प्रतिमूर्ति, रूपशालिनी श्रद्धा के भौतिक सान्निध्य में भी झिझक रहे हैं । श्रद्धा उन्हें चेतावनी देती है कि काम को तिरस्कृत करने से उनका "भवधाम" असफल बन जायेगा—"तिरस्कृत कर उसको तुम भूल बनाते हो असफल भवधाम ।"

भोग और कर्म के युगपत् सेवन से ही इस लोक में आनन्द की सृष्टि हो सकती है—

"कर्म का भोग, भोग का कर्म,
यही जड़ का चेतन आनंद ।"

काम का भोग करते हुए, 'कर्म' की वह पद्धति अपनाना आवश्यक है जिससे मनुष्य आत्म-केन्द्रित न होने पावे—

"तपस्वी ! आकर्षण से हीन,
कर सके नहीं आत्म-विस्तार ।"

तपश्चर्या में आत्म-केन्द्रीकरण होता है, आत्म-विस्तार नहीं । यह वांछित आत्म-विस्तार कर्म तथा भोग के समन्वय से ही परिणमित हो सकता है । 'आत्म-विस्तार' का अर्थ है, मनुष्य का, संकुचित 'स्व' की परिधि का उल्लंघन कर, बाह्य विश्व के साथ अपने राग-विरागों का संश्लेष स्थापित कर लेना । इसके निमित्त, उसे काम का उपभोग करते हुए, दया, माया, ममता, माधुर्य एवं विश्वास का पंचामृत अपने हृदय-रत्नाकर का मथन कर तैयार करना पड़ेगा और उसे अन्यों में मुक्त-भाव से वितरित करना पड़ेगा । तभी, मनुष्य सौमनस्य के साथ जीवन का 'सुन्दर खेल" खेल सकता है । जीवन का खेल खेलने के लिए आत्म विस्तार अपेक्षणीय होता है । श्रद्धा मनु को 'अमृत की संतान' बताती है और "जीवन-केन्द्र" पर संपूर्ण समृद्धि एवं "मंगलमय वृद्धि" के खिंच आने का संदेश सुनाती है ।[1] यह निखिल मंगलमयी समृद्धि आत्म-विस्तार से सभव है, और आत्मविस्तार के निमित्त काम का अंगीकरण आवश्यक है क्योंकि काम ही मानव-हृदय का कोमलकिरण करता है जिसके फल-स्वरूप दया, ममता इत्यादि मनोवृत्तियाँ विकसित होती हैं जो मानव-संश्लेष के लिए अपरिहार्य उपादान है ।

लौकिक काम का मांगलिक स्वरूप उपर्युक्त सारणी से ही निष्पन्न होता है ।

'काम' सर्ग में, काम ने अपनी मौलिक सत्ता एवं मौलिक महत्त्व का व्याख्यान करते हुए, देवों-द्वारा उसके उच्छृंखल उपसेवन तथा उसके दुष्परिणामो

---

१. **"दया, माया, ममता लो आज,**
मधुरिमा लो अगाध विश्वास;
हमारा हृदय-रत्न-निधि स्वच्छ
तुम्हारे लिए खुला है पास ।
+ + +
विश्व भर सौरभ से भर जाय,
सुमन के खेलो सुन्दर खेल ।
+ + +
डरो मत अरे अमृत-संधान
अग्रसर है मंगलमय वृद्धि ;" इत्यादि । (श्रद्धा)

का वर्णन किया है । दर्शन की "काम-कला" को व्यवहार की "प्रेम-कला" से समीकृत कर, काम ने 'लौकिक काम' की प्रतिष्ठा स्थापित की है और "अमला" श्रद्धा को उसकी संदेश-वाहिका बताया है—

"यह लीला जिसकी विकस चली
वह मूल शक्ति की प्रेम-कला;
उसका संदेश सुनाने को
संसृति में आई वह अमला ।" (काम)

ऐसी "सुदर भोली-भाली" श्रद्धा को पाने की इच्छा हो तो मनु को 'योग्य' बनाना पड़ेगा—"उसके पाने की इच्छा हो तो योग्य बनो ।" यह 'योग्यता' वही है जिसका संकेत श्रद्धा ने अपने उद्‌बोधन में मनु को दिया है । अर्थात्, मनु लौकिक काम का भरपूर उपभोग करें, किन्तु आत्मकेन्द्रित होकर नही, आत्मविस्तार कर ।

मनु के दुर्भाग्य का कारण यही रहा है कि वह आत्मविस्तार नही कर सके है, अन्यथा पशु-स्नेह अथवा शिशु-स्नेह के प्रदर्शन से वह ईर्ष्याभिभूत नही होते । वह, खुले रूप मे, "पंचतत्त्व" में एकान्त भाव से रमण करना चाहते थे । वैसी स्थिति में, उनका काम-सेवन मागलिक नही बन सकता था । 'इड़ा' सर्ग में काम ने पुन. मनु की असफलता के कारणों पर प्रकाश डाला है । मनु ने उस "पूर्ण आत्मविश्वासमयी" श्रद्धा का तिरस्कार किया; "वासना-तृप्ति ही स्वर्ग" बनी रही, पुरुषत्व-मोह मे नारी की सत्ता का अनादर किया और श्रद्धा के सौन्दर्य-जलधि से केवल अपना गरल-पात्र ही भरते रहे—

"मनु ! उसने तो कर दिया दान ।
वह हृदय प्रणय से पूर्ण सरल जिसमें जीवन का भरा मान,
जिसमें चेतनता ही केवल निज शांत प्रभा से ज्योतिमान ।
पर तुमने तो पाया सदैव उसकी सुन्दर जड़ देह-मात्र,
सौन्दर्य-जलधि से भर लाये केवल तुम अपना गरल-पात्र ।" (इड़ा)

जड़ देह-मात्र के आकर्षण मे पड़कर मांसल भोग का सेवन दाम्पत्य काम का दुरुपयोग है । प्रणयपूर्ण हृदय का सम्मान दैहिक काम-भोग की ज्वाला को शान्त बना सकता है जिसके फलस्वरूप दो चेतनाओं में समन्वय स्थापित हो सकेगा । मनु ने यही किया जिससे वह "पूर्ण-काम" नहीं बन सके—"फिर क्यों न हुआ मैं पूर्ण-काम ?" काम ने स्पष्ट बताया—

"वह प्रेम न रह जाये पुनीत,
अपने स्वार्थों से आवृत हो मंगल-रहस्य सकुचे सभीत ।।" (वही)

दाम्पत्य काम अथवा प्रेम निजी स्वार्थों से घिरे रहने पर पुनीत नहीं बन सकता और इसी कारण, वह 'मंगल-रहस्य' का अन्वेषण नहीं कर सकता।

प्रसाद मांगलिक काम में 'मौलिक काम' का ही प्रतिबिम्ब देखते हैं और उसमें सिसृक्षा के साथ रिरंसा, 'संसृति-सेवा', सुख-दुःख को 'खेल' के समान स्वीकार करना,[1] नारी के जड़-सौन्दर्य-भोग वाली वासना का उल्लंघन तथा उसके प्रणयपूर्ण सरल-स्वच्छ हृदय का सम्मान और इन सबके संयुक्त परिणाम रूप में सम्पन्न होने वाला 'आत्मविस्तार' इन समस्त विन्दुओं का समाहार स्थापित करते हैं। मनु "पूर्ण-काम" नहीं बन सके हैं जबकि जगत् की मंगल-कामना से अभिभूत श्रद्धा "पूर्णकाम की प्रतिमा" बन गई है—

"वह कामायनी जगत की
मंगल-कामना अकेली ;
\+ + +
वह विश्व-चेतना पुलकित
थी पूर्ण काम की प्रतिमा ;
जैसे गंभीर महा-ह्रद
हो भरा विमल-जल-महिमा।" (आनंद)

अतएव, 'विश्व-चेतना से पुलकित' काम ही मांगलिक काम है और वही "पूर्णकाम" है। इसी 'पूर्णकाम' का पीयूष जब मनु को भी पिला दिया गया है, तब उनका 'अहं' 'इद' में परिणत हो गया है और विश्व को वह 'नीड़' समझने लगे हैं—

"मानव कह रे! 'यह मैं हूँ'
यह विश्व नीड़ बन जाता।" (आनंद)

प्रसाद की काम-भावना में 'मौलिक काम' ही सौन्दर्य तथा उन्मद प्रणय की मध्यवर्ती धाराओं को पार करते हुए, मंगलमय आनन्द की मंदाकिनी में पर्यवसित हो गया है। 'कामायनी' में जिस कवित्वमयी कामगीता का अवतरण हुआ है, वह मूलतः इसी आनंदधर्मा 'पूर्णकाम' का गुणानुवाद है।

---

१. **"तुमने हँस-हँस मुझे सिखाया,**
विश्व खेल है खेल चलो।" (निर्वेद)

ङ. दर्शन–भूमि

१४. सिद्धान्त-निदर्शन

१५. प्रत्यभिज्ञा के आलोक में मनु-श्रद्धा

१४ | सिद्धान्त-निदर्शन

प्रसाद को भारतीय दार्शनिक धारा का गहरा ज्ञान था। उनका सम्पूर्ण चिन्तन-मनन उसके प्रवाह में ओतप्रोत था। उनके व्यक्तित्व के परवर्ती विकास एवं परिणति में भारतीय दर्शन की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धियों की छापें स्पष्ट अंकित हुई है। यों-तो छायावादी काव्य की मूल दार्शनिक प्रेरणा वेदान्त-दर्शन रहा है, तथापि 'कामायनी' में आकर वेदान्त की अद्वैत-भूमि प्रत्यभिज्ञा दर्शन की समरसता-मूलक, पूर्ण अभेदवादी भूमि में परिणत हो गई है। अतएव, यह निर्भ्रान्त रूप से सिद्ध है कि कामायनी की चरम दार्शनिक उपलब्धि प्रत्यभिज्ञा की ही पूर्ण सामरस्यवादी निष्पत्ति है, यद्यपि अद्वैत-दर्शन के तत्त्वों का प्रभाव भी स्पष्ट दिखाई पड़ता है। उपनिषदों में भारतीय दर्शनों की उत्सभूमि संनिहित है, इस कारण, औपनिषदिक विचार-धारा यों-ही कामायनी की दार्शनिक भूमि को अन्तःसलिला सरस्वती की भाँति अभिषिंचित करती हुई मिलेगी। 'कामायनी' का प्रणयन अतीव पुष्ट एवं पुष्कल दार्शनिक भित्ति पर हुआ है जो उसके आदर्शवादी प्रयोजन की सिद्धि के लिए नितरां आवश्यक था। सृष्टि की उत्पत्ति, परमसत्ता, जीवात्मा इत्यादि से सम्बन्धित तथ्यों का सुन्दर एवं सुस्पष्ट संगुफन प्रसादजी द्वारा 'कामायनी' में सम्पन्न हुआ है।

क. विश्व की रचना : परमतत्त्व : महाचिति

जिस परमतत्त्व या आद्यतत्त्व को वेद में 'तपस्' कहा गया है तथा उपनिषद् में 'ब्रह्म' वा 'परब्रह्म' कहा गया है, उसे प्रसादजी ने शैवदर्शन के आधार पर 'महाचिति' कहा है जो लीलामय आनन्द करती हुई सजग भाव से 'व्यक्त' हुई और जिसकी इच्छा से ही विश्व की रचना हुई है—

"कर रही लीलामय आनन्द,
महाचिति सजग हुई सी व्यक्त,
विश्व का उन्मीलन अभिराम
इसी में सब होते अनुरक्त।
+ + +
सर्ग, इच्छा का है परिणाम।" **(श्रद्धा सर्ग)**

'महाचिति' सृष्टि का आद्यतत्त्व है और इसी से, वह परम, अद्वितीय एवं सर्वव्यापी सत्ता है। वही 'परमपद' अथवा 'परमव्योमन्' भी है। वह चैतन्य-स्वरूप है, आनन्दधर्मा है। जब उसकी 'इच्छा' होती है, तब विश्व का 'उन्मीलन' होता है। प्रत्यभिज्ञादर्शन की इस प्रसिद्ध मान्यता, **"स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति,"** का ही प्रस्तुत कथन काव्यात्मक अनुवाद है। पुनः, जो वस्तु पहले से ही विद्यमान थी, उसी का 'उन्मीलन' अथवा 'प्रकटीकरण' होता है। 'प्रत्यभिज्ञाहृदय' में कहा है—"उन्मीलनम् अवस्थितस्यैव प्रकटीकरणम्।" उसी को प्रसादजी वेद के 'अव्यक्त चेतन' का 'व्यक्त' होना कहते हैं। इसी व्यक्त विश्व में समस्त प्राणी अनुरक्त होते हैं, अर्थात्, शुद्ध दार्शनिक दृष्टि से, समस्त जगत् उस चिद्रूप परमसत्ता से आविर्भूत होता है, उसी में जीता है तथा उसी में लीन हो जाता है : उपनिषद् ने भी यही कहा है—"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।" (बृहदा०)

शांकर वेदान्त में बताया गया है कि जगत् का कारण होने पर भी, 'ईश्वर' केवल लीला के लिए, बिना किसी विशिष्ट प्रयोजन के, सृष्टि की रचना करता है जैसे समस्त कामनाओं से पूर्ण कोई राजा केवल लीला के लिए क्रीड़ा-विहार में लीन होता है। प्रसादजी भी 'महाचिति' की लीला-लीनता का कथन करते हैं—"कर रही लीलामय आनन्द।" राधिकोपनिषत् में क्रिया शक्ति को ही 'लीलाशक्ति' माना गया है जो विश्व की सृष्टि में कौतुक करती है। शांकर वेदान्त में यह परमसत्ता 'ब्रह्म' है जिसका स्वरूप 'आनन्द' है—"सच्चिदानन्दं ब्रह्म", "आनन्दं ब्रह्मणो विधात्।"

'महाचिति' की स्पष्ट कल्पना, किन्तु, प्रसादजी ने शैवदर्शन से ग्रहण की है। वहाँ एकमात्र तत्त्व **'परमशिव'** है जो नानारूपों में स्फुरणशील होता है। चैतन्य, आनन्द, इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया—ये पाँच प्रमुख शक्तियाँ उसकी बताई गई हैं। इसी के हृदय में विश्व-सृष्टि की इच्छा उत्पन्न होती है और तब वह 'विमर्श'-शक्ति के द्वारा आनन्द भाव से सृष्टि का आविर्भाव करता है। 'चित्' शक्ति की प्रधानता होने से वह 'शिव' संज्ञा तथा 'आनन्द' शक्ति की प्रधानता से **'शक्ति'** संज्ञा प्राप्त करता है। 'परमाशिव' के इसी आनन्दप्रधान स्वरूप, 'शक्ति', की भावना को बलाघात देना प्रसादजी का अभीष्ट है; 'शक्ति' स्त्री-स्वरूपा है, इसी कारण उन्होंने 'महाचिति' का विशेष उल्लेख किया है। वही महाचिति जब 'सजग' हुई, जब उसमें अपने को अभिव्यक्त करने की 'इच्छा' का उन्मेष हुआ, तब सृष्टि का आविर्भाव हुआ, विश्व का उन्मीलन हुआ—"महाचिति सजग हुई सी व्यक्त; विश्व का उन्मीलन अभिराम।"

'शक्ति' की लीलामयता एवं आत्माभिव्यक्ति की अभिलाषा का कथन निम्न पंक्तियों में भी किया गया है–

"जो आकर्षण बन हँसती थी
रति थी अनादि वासना वही,
अव्यक्त-प्रकृति-उन्मीलन की
अन्तर में उसकी चाह रही ।" (काम)

'रति' यहाँ आनन्दधर्मी 'शक्ति' का ही अनुवाद है; 'अनादि वासना' कह कर, उसके शाश्वत एवं स्वतन्त्र अस्तित्व की विज्ञप्ति की गई है । उसे ही 'मूल शक्ति' कहकर, उसकी सृष्टि-रचना की सजग इच्छा का व्याख्यान इन पंक्तियों में भी किया गया है–

"वह मूल शक्ति उठ खड़ी हुई
अपने आलस का त्याग किये ।"

इसी आद्य शक्ति को प्रसादजी ने 'प्रेम-कला' कहा है जिसे प्रत्यभिज्ञा में 'कामकला' कहा गया है–

"यह लीला जिसकी विकस चली
वह मूलशक्ति थी प्रेम-कला ।"

प्रत्यभिज्ञादर्शन में 'चिति' को विश्व-सृष्टि का हेतु बताते हुए, उसे परम-स्वतन्त्र माना गया है जो अपनी ही इच्छा से विश्व का आविर्भाव, तिरोभाव, संरक्षण इत्यादि करती है–"चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः ।" यह चिति स्वतः परिपूर्ण होने के कारण, निष्प्रयोजन भाव से, अपनी स्वतन्त्र लीला के द्वारा समस्त जगत् की रचना करती है ।[1] शैवदर्शन में इसे 'स्वातंत्र्यवाद' कहा गया है ।

ख. अभेदवाद : आभासवाद

शैवदर्शन में इस सम्पूर्ण जंगमस्थावर जगत् को शिव की 'शक्ति' का ही व्यक्त एवं विस्तृत स्वरूप माना गया है । यह समस्त सृष्टि अनन्त-शक्ति-सम्पन्न शिव में ही अवस्थित है और जैसे समुद्र से ऊर्म्मियाँ उठती हैं वैसे-ही शिव से यह सृष्टि आविर्भूत होती है । पुनः, जैसे बीज में ही अंकुर तथा अग्नि में ही धूम की सत्ता रहती है, वैसे-ही अखण्ड एवं स्वतन्त्र चैतन्य-रूप शिव में अभेद रूप से विश्व की सत्ता है ।[2] शांकर वेदान्त में ब्रह्म को सत्य तथा जगत् को मिथ्या माना गया है ('विवर्त्तवाद') । किन्तु, शैव-दर्शन में शिव की ही भाँति

---

१. 'स्वच्छन्दतन्त्र' (षष्ठ भाग) ।
२. 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी' (द्वितीय भाग) ।

यह नानारूपात्मक जगत् भी सत्य है क्योंकि 'परमशिव-भट्टारक' ही इस वैचित्र्यमयी सृष्टि में स्फुरणशील होते हैं। इसी प्रकार, जगत् एवं परमेश्वर मे पूर्ण अभेद-सम्बन्ध है। शैवदर्शन में उसे ही **'अभेदवाद'** कहा गया है। 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी' में बताया गया है कि वह अखण्ड, अद्वितीय चिति ही अपने दर्पण में समस्त पदार्थों को प्रतिबिम्ब की नाईं अवभासित करती है– "चेतनो हि स्वात्मदर्पणे भावान् प्रतिबिम्बवद् आभासयति इति सिद्धान्तः।" इस प्रकार, यह विश्व परमेश्वर का ही 'आभास' है। इसे दार्शनिक शब्दावली में 'आभासवाद' कहा गया है। अतएव, 'अभेदवाद' तथा 'आभासवाद' दोनों एक ही तत्त्व के निदर्शक सिद्धान्त हैं।

प्रसादजी ने काव्य के आरम्भ में ही इस अभेदवाद का कथन किया है— "एक तत्त्व की ही प्रधानता, कहो उसे जड़ या चेतन।" दर्शन सर्ग की निम्नोद्धृत पंक्तियों में यह अभेदवाद स्पष्टतया मुखरित हुआ है—

"चेतनता का भौतिक विभाग
कर, जग को बाँट दिया विराग;
चिति का स्वरूप यह नित्य जगत,
वह रूप बदलता है शत-शत;
\+ + +
तल्लीन पूर्ण है एक राग,
झंकृत है केवल जाग-जाग!"

यह विश्व चिति का ही स्वरूप है और नित्य है, यद्यपि देशकालादि भेदों से वह अखण्डचिति (शिव) भिन्न-भिन्न रूपों में दिखाई पड़ती है।

अभेदवाद की स्पष्ट व्यंजना 'आनन्द' सर्ग में यों हुई है—

"चेतन-समुद्र में जीवन
लहरों-सा बिखर पड़ा है;
\+ + +
इस ज्योत्स्ना के जलनिधि में
बुद्बुद्-सा रूप बनाये;
नक्षत्र दिखाई देते
अपनी आभा चमकाये।
वैसे अभेद-सागर में
प्राणों का सृष्टिक्रम है;
\+ + +

चिति का विराट वपु मंगल
यह सत्य, सतत, चिर-सुन्दर ।"

परमसत्ता की कल्पना 'अनन्तचेतन' के रूप में की गई है। श्वेताश्वर उपनिषद् में कारणेश्वर ब्रह्म को "चेतन" की संज्ञा मिली है।[1] छान्दोग्योपनिषद् में नानाउपाधियुक्त वस्तुओं को एक ही मूल "सत्य" के वाणी-कृत 'विकार' के रूप में बताकर, कारण से कार्य को अभिन्न बताया गया है।[2] प्रसादजी उस अनन्तचेतन को समुद्र से उपमित कर, सम्पूर्ण सृष्टि की उससे अभिन्नता प्रतिपादित कर रहे है। "समुद्रो हि तरङ्ग ववचन समुद्रो न तारङ्गः" न्याय से जैसे समुद्र से लहरे उठती हैं, किन्तु समुद्र से भिन्न नही होती, उसी प्रकार इस 'चेतन-समुद्र' से आविर्भूत जीवन उस चेतन मे ही उल्लसित हो रहा है, उससे पूर्णतया अभिन्न है। ज्योत्स्ना के जलनिधि में चमकने वाले नक्षत्र अन्ततः ज्योत्स्ना में ही विलीन हो जाते है और उपरितः अपनी पृथक् सत्ता का भान कराते हुए भी, ज्योत्स्ना से समरस बन जाते है। उसी प्रकार, इस अभेद के सागर में प्राणियों की स्थिति है! समस्त जीव उस अखण्ड चेतन के ही "वाचारम्भणं विकारः" है, उसी के नाना उपाधियों से युक्त विभिन्न रूप है, मूलतः एवं तत्त्वतः वे सभी उस परम चेतन से अभिन्न है।

इसी अभेद-भाव के निरूपणार्थ, विश्व को 'चिति का मगलमय विराट् शरीर' कहा गया है। 'विरूपाक्षपञ्चाशिका' में चिति "पराकला" के रूप में वर्णित हुई है। यह पराकला ही "पूर्ण अहंता" है। शंकराचार्य ने 'आनन्दलहरी' नामक प्रसिद्ध स्तोत्र में अहन्तारूपिणी कला की साकारमूर्ति का सुन्दर वर्णन किया है। प्रसादजी ने, इसी प्रकार, विश्व को उस विमर्शरूपिणी चिति (शक्ति) का भव्य शरीर माना है जो मंगलमय है (क्योकि 'मगल' शिव का ही दूसरा नाम है)। परमात्मा की 'विराट् पुरुष' के रूप में कल्पना की गई है। त्रिपाद्विभूतिनारायणोपनिषद् मे 'विराट्' का वर्णन आया है : "निरतिशय, आनन्दमय, अनन्तविभूति के समुदाय से सम्पन्न विश्वरूप परमात्मा का ही

---

१. "स कारणं करणाधिपाधिपो × × ।" (श्वेताश्वतर, ५।९)
नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको × ×
तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं × × ।" (श्वेताश्वतर, ६।१३)

२. "यथा सौम्यकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञात्
स्याद्वाचारम्भण विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् ।"
(छा॰दोग्य, ६।१।४)

दूसरा नाम 'विराट्' है।"[1] मुण्डकोपनिषत् में चेतनस्वरूप विराट्पुरुष की व्याख्या की गई है तथा संसार को उसका शरीर बताया गया है।[2] गीता में परमेश्वर के विराट् स्वरूप, उसके नानावर्णाकृति-युक्त दिव्य रूपों का वर्णन किया गया है।[3] इन सब उल्लेखों से प्रेरणा ग्रहण कर, प्रसादजी ने विश्व को चितिरूप परमेश्वर का 'विराट् वपु' कहा है तथा उसे 'सतत, सत्य, चिरसुन्दर' बताया है। शैवदर्शन के अभेदवाद के काव्यात्मक अनुवाद में, इस प्रकार, भारतीय दर्शन चिन्ता के नाना स्रोतों से, अनायास, विचार-विन्दु आ मिले हैं।

प्रसादजी अभेदवाद के इस दार्शनिक सिद्धान्त को व्यावहारिक संसार में प्रतिफलित करने के लिए लालायित है। मनुष्य 'द्वयता' की भावना से प्रेरित होकर नाना वर्णों एवं नाना समस्याओं की सृष्टि करता जा रहा है। उसकी दृष्टि संकुचित है और वह परस्पर एक-दूसरे को 'पहचान' नही रहा है जिस कारण उसे सुख नही मिल रहा है–

"पहचान सकेंगे नहीं परस्पर चले विश्व गिरता-पड़ता।
+ + +
दुख देगी यह संकुचित दृष्टि।" (इड़ा)

सुख के लिए उपनिषद् के 'भूमा' की व्यापक भावना आवश्यक है क्योंकि अल्पता में, संकीर्णता में सुख नही मिलता : "नाल्पे सुखमस्ति।" 'पहचान स।ने' मे मनुष्य-मनुष्य का अभेदभाव सन्निहित है। प्रत्येक मनुष्य 'शिव' है, यह प्रतीति मनुष्य को नही मिल पाती जिससे वह अपने असली स्वरूप को पहचान नही पाता, उसे यह 'प्रत्यभिज्ञा' अर्थात् पहचान नही हो पाती। यहाँ प्रसादजी दार्शनिक अभेदवाद के व्यावहारिक अनुवाद को सिफारिश कर रहे हैं क्योंकि तात्त्विक स्वरूप का ज्ञान हो जाने के बाद मानव-मानव की भेदबुद्धि निरस्त हो जाएगी और संसार में सुख-शान्ति का प्रादुर्भाव हो जाएगा।

इसी 'द्वयता' को आगे चलकर कवि ने 'विस्मृति' कहा है—"द्वयता ही तो विस्मृति है।" "मै की मेरी चेतनता", अर्थात्, भेद-बुद्धि को वह सकल भिन्नताओ एव विषमताओं की जननी बताता है और मानव को 'चेतन' शिव का 'साक्षी' बताते हुए, सम्पूर्ण भेद-भाव भुला देने का तथा परस्पर तादात्म्य-भाव जोड़ लेने का उपदेश देता है—

---

१. 'कामायनी की व्याख्यात्मक आलोचना' (शैदा) में पृष्ठ ३९४ पर उद्धृत।
२. मुण्डकोपनिषत्, २।१।२-५।
३. श्रीमद्भगवद्गीता, एकादश अध्याय।

"मानव कह रे ! 'यह मैं हूँ'
यह विश्व नीड़ बन जाता ।" (आनन्द)

'यह मैं ही हूँ' (मैं = शिव) इसी की प्रतीति अथवा पहचान मनुष्य को हो जाय तो समस्त भेद-भाव विनष्ट हो जाएँगे और विश्व नीड़ के समान शान्ति-मय बन जाएगा।

यह अभेद-भाव सचराचर विश्व में, जड़ एवं चेतन मे, प्राणी एवं प्राणी मे, घुलमिल कर 'रसमय' रीति से विद्यमान है–

"सबमें घुलमिल कर रसमय
रहता यह भाव चरम है।" (आनन्द)

यही 'रसमय चरम भाव' मानव के दुःखों की निवृत्ति करने में सफल होगा, ऐसा कामायनीकार का विश्वास है।

ग. सामरस्यवाद

प्रत्यभिज्ञादर्शन में शिव तथा शक्ति के सामरस्य पर बल दिया गया है। शक्ति शिव की ही होती है, अतएव, शिव 'शक्तिमान्' भी कहा जाता है। 'शक्ति' एवं 'शक्तिमान्' की समरसता प्रत्यभिज्ञा की मूल आधार-शिला है। न शिव शक्ति से विहीन है और न शक्ति शिव से विहीन है। दोनों एक-साथ, एकरूप होकर शाश्वत भाव से विद्यमान है। यही उनका 'सामरस्य' है जो उनके तात्त्विक अभेद से परिणमित है। आनन्दरूपा शक्ति और चित्-रूप शिव के पारस्परिक अभेदमूलक संयोग से विश्व की सृष्टि होती है। यह नीर-नीर जैसा संयोग अथवा क्षीर-क्षीर जैसा सयोग 'सामरस्य' है।[1] पुनः, आत्मा का परमात्म-भाव प्राप्त कर शिवरूप हो जाना जैसे नदी समुद्र में मिलकर तद्रूप हो जाती है, 'सामरस्य' कहा गया है। साधना के क्षेत्र मे जीवात्मा एवं परमात्मा के बीच का कल्पित द्वैत जब मिट जाता है और दोनो के बीच पूर्ण अभेदमूलक संयोग स्थापित हो जाता है, तब वह अवस्था 'समरसता' की अवस्था होती है जिसमें योगी वा साधक आनन्दशक्ति में अखण्ड विश्राम लाभ करता है—"आनन्दशक्तिविश्रान्ते योगी समरसो भवेत्।" (अभिनव गुप्त)।

---

१. लिंगायत दर्शन में दो समान रसों के मिलने को 'सामरस्य' कहा गया है। वहाँ यह सामरस्य 'तादात्म्य' से भिन्न बताया गया है। दूध का दूध से मिलना अथवा पानी का पानी से मिलना 'सामरस्य' है जबकि पानी एवं दूध का सयोग 'तादात्म्य' है। 'क्षीरक्षीरसंयोगवत् सामरस्यम्", 'नीरनीरसंयोगवत् अविभाज्यः संयोगः" इत्यादि उक्तियाँ 'सामरस्य' का रूप-निरूपण करती हैं।

क्षेमराज ने 'स्वच्छन्दतन्त्र' की टीका में कहा है कि जिसमें समान रस हो, वैसा लोलीभाव, अर्थात्, ललक का भाव 'सामरस्य' कहलाता है—

"समो रसो यस्मिन् स समरसो लोलीभावः ।"

अतएव, अभेदभाव की ललकमयी चरम निष्पत्ति ही 'सामरस्य' है ।

प्रसादजी ने बड़े व्यापक धरातल पर समरसता के सिद्धान्त का व्याख्यान किया है । दार्शनिक दृष्टि से, नर्तित नटेश के कमनीय, उल्लसित स्वरूप को "समरस, अखण्ड, आनन्दवेश" बताते हैं । शिव का यह 'शक्ति'-समन्वित आनंद-भोगी रूप है क्योंकि 'शक्ति' का निजी धर्म आनन्द ही है । यहाँ नृत्यनिरत महेश अपनी विमर्शरूपिणी, आनन्दस्वरूपा 'शक्ति' के साथ 'समरस' बन गये हैं, अखण्ड एवं अविभाज्य रूप से नीर-नीर-वत् संयुक्त हो गये है । 'आनन्द' सर्ग में प्रकृति एवं पुरुष, अर्थात्, शक्ति एवं शिव के शाश्वत संयोग अथवा सामरस्य का स्पष्ट रीति से कथन हुआ है–

"चिर-मिलित प्रकृति से पुलकित
वह चेतन पुरुष पुरातन,
निज-शक्ति तरंगायित था
आनन्द–अम्बुनिधि शोभन ।"

'चेतन पुरातन पुरुष' शिव हैं और 'प्रकृति' उनकी अविच्छेद्य संयोगिनी 'शक्ति' है । ये दोनों 'चिर-मिलित' बन गये है, तथा आनन्द-सागर तरंगायमान हो गया है । यह चिर-मिलन शैवदर्शन का शिव-शक्ति का 'सामरस्य' है जिसमें समरस बन जाने का लोलीभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है–'पुलकित' एवं 'तरंगायित' से यह स्पष्ट व्यंजित हुआ है । साधना के क्षेत्र में जीवात्मा एवं परमात्मा के अभिन्न संयोग अथवा योगी के आनन्द-शक्ति में विश्रान्त होकर समरस बन जाने की चरम रसमय अवस्था की भी यहाँ व्यंजना हुई है । इस अवस्था में साधक अपने अस्तित्व को परमशिव में लीन कर देता है–यद्यपि वैसी अवस्था में भी कोई 'तत्त्व' अपने को नष्ट नही करता, अपितु समस्त तत्त्व परमशिव में लीन होकर 'चिन्मय' बन जाते हैं । उपर्युक्त अवतरण में यह अनन्त, अखण्ड चिन्मयता संकेतित हुई है जो शिव-शक्ति के सामरस्य की अवस्था है ।

'चिरमिलित' में शाक्तदर्शन के दो तत्त्वों, नाद एवं विन्दु, के मिलने से आविर्भूत 'अर्धनारीश्वर' की ओर भी संकेत समझा जा सकता है जो ही 'कामतत्त्व' है । तरंगायित' में परमशिव के अपनी विमर्शरूपिणी शक्ति से तरंगायमान होने के कथन से शिव-शक्ति का अभेद अथवा सामरस्य पुनः विवक्षित है । 'पुरुष पुरातन' परमशिव हैं । विष्णुपुराण में परब्रह्म का प्रथम रूप

'पुरुष' बताया गया है—"परस्य ब्रह्मणे रूपं पुरुषः ।" नारपरिव्राजकोपनिषद् में 'पुरुषः पुराणः' को विष्णु का पर्याय कहा गया है । माघ ने भी विष्णु को 'पुराणः पुरुषः' कहा है (१६-८१) । प्रसादजी ने यहाँ शिव को ही 'पुरुष पुरातन' कहा है ।

शैवदर्शन के विशुद्ध 'सामरस्य' को कामायनी में व्यावहारिक जगत् के मूल्यवान् सिद्धान्त-रूप में प्रतिष्ठित किया गया है । दुःख तथा सुख आपाततः विरोधी प्रतीत होते है और जीवन में वैषम्य का प्रादुर्भाव करते हैं । किन्तु, प्रसादजी दुःख एवं सुख के द्वन्द्व को विकास का सत्य बताते हैं और दोनों में समरसता-भाव के ग्रहण के लिए उपदेश देते हैं—

"विषमता की पीड़ा से व्यस्त
हो रहा स्पंदित विश्व महान;
यही दुख-सुख विकास का सत्य
यही भूमा का मधुमय दान ।
नित्य समरसता का अधिकार,
उमड़ता कारण जलधि समान;
व्यथा से नीली लहरों बीच
बिखरते सुख-मणिगण द्युतिमान ।" (श्रद्धा)

छान्दोग्योपनिषद् के सप्तम प्रपाठक में 'भूमा' का वर्णन आया है । यह 'भूमा' आत्मा या परमात्मा का व्यापक रूप है । 'भूमा' असीम है, महान् है, निरतिशय है, अतएव वही सुख है; जो अल्प एवं ससीम है, उसमें सुख नहीं है; 'भूमा' ही सुख है और वही जानने के योग्य है–

"यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति ।
भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति ।" (७।२३।१)

प्रसादजी ने उपनिषद् के 'भूमा' के मधुमय अवदान-रूप में सुख-दुःख के द्वन्द्व को स्वीकार किया है तथा उसे ही विश्व के विकास का कारण बताया है । विश्व के 'स्पंदित' होने मे परमशिव के इच्छारूप में स्फुरणशील होने के भाव का संकेत है और दुःख एवं सुख दोनों उसी इच्छा (शक्ति) से उद्भूत बताये गये हैं । किन्तु, जैसे शिव एवं विमर्शरूपा शक्ति में सामरस्य है, वैसे ही सुख-दुःख में भी सामरस्य होना चाहिए ।

"उमड़ता कारण जलधि-समान" में शैव-दर्शन की मान्यता स्पष्ट मुखरित हुई है । शैवों के नकुलीश-पाशुपत दर्शन में पाँच पदार्थ माने गये हैं, यथा—कारण, कार्य, विधि, योग तथा दुःखान्त । इनमें परमेश्वर शिव को ही 'कारण'

बताया गया है ।[१] 'तन्त्रालोक' में शिव को सागर के तुल्य बताया गया है और इस विश्व को उस सागर की अनन्त ऊर्म्मियाँ कहा गया है ।[२] प्रसादजी यहाँ स्पष्ट कहते हैं कि 'कारण'-रूप शिव समुद्र के समान जब उमड़न लेते हैं, तब विश्व वयक्त होता है और 'नीलवर्ण' दु.खों के साथ चमकीले सुखरूपी मणियों का बिखराव भी सम्पन्न होता है । लेकिन, इन सुख-दु:खों में तत्त्वत: सामरस्य है क्योंकि कारणरूप शिव स्वत: सामरस्यपूर्ण है—'कारण' के समरस होने पर 'कार्य' (विश्वप्रपंच जिसमे दु.खों तथा सुखों का साथ-साथ चक्र चला करता है) स्वभावत: समरस होना चाहिए ।[३] अन्यत्र "द्वन्द्वों के शाश्वत उद्‌गम" का कथन कर प्रसादजी ने 'कारण' शिव की ओर ही संकेत किया है ।[४]

(उपनिषद् में 'कारण ब्रह्म' की चर्चा आई है; वेदान्त में ब्रह्म को विश्व का निमित्त एवं उपादान दोनों प्रकार का कारण माना गया है । इन सब चर्चाओं का संस्कार प्रसादजी के अन्तर्मानस में वर्तमान था । अत:, 'कारण जलधि' में 'कारण' ब्रह्म अथवा शिव का ही पर्याय है ।)

काम ने 'इड़ा' सर्ग में मनु को पुरुष एवं नारी के बीच समरसता-सम्बन्ध स्थापित करने की आवश्यकता का उपदेश दिया है । "तुम पुरुषत्व-मोह में नारी की सत्ता को एकदम भूल गये; अधिकार तथा अधिकारी का सम्बन्ध समरसता का होता है ।"[५] इस कथन में प्रत्यभिज्ञादर्शन के 'शक्ति और शक्ति-मान्' को ही 'अधिकार और अधिकारी' कहा गया है । जैसे शिव तथा शक्ति अर्धनारीश्वर के रूप में समरस बन गये है, वैसे ही पुरुष एवं नारी को भी परस्पर पूर्णतया अभिन्न, समरस बन जाना चाहिए—कवि का यह स्पष्ट मन्तव्य है ।

समरसता का पूर्ण व्यावहारिक अभ्यास प्रसादजी ने हृदय एवं मस्तिष्क के पूर्ण समन्वयरूप में करने का अनुरोध किया : "मस्तिष्क हृदय के हो विरुद्ध–दोनों मे हो सद्‌भाव नही" (इड़ा) । 'दर्शन' सर्ग में तर्क, श्रद्धा एवं मनन के बीच समन्वय-स्थापन का उपदेश देते हुए, श्रद्धा ने कुमार को "सबकी

---

१. 'सर्वदर्शनसंग्रह', पृ० ६२-६४ ।
२. तंत्रालोक, भाग द्वितीय, पृ० १४७ ।
३. कामायनी के टीकाकारों ने 'कारण' से दु.ख' का अर्थ ग्रहण किया है जो गलत है ।
४. "द्वन्द्वों का उद्‌गम तो सदैव शाश्वत रहता वह एक मन्त्र ।" (इड़ा)
५. "तुम भूल गये पुरुषत्व-मोह में कुछ सत्ता है नारी की,
समरसता है संबंध बनी अधिकार और अधिकारी की ।" (इड़ा)

समरसता का प्रचार" करने का उपदेश दिया है। 'रहस्य' सर्ग में इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया के पार्थक्य को जीवन की विडम्बना का मूल कारण बताते हुए, उन तीनों में समन्वय अथवा सामरस्य स्थापित करने का सन्देश कामायनीकार का मानव-कल्याण के हेतु दिया गया चरम सन्देश माना गया है जो उचित ही है। 'आनन्द' सर्ग में मनु के मुख से कैलास-लोक को अभेदमूलक समरसता की चरम भूमि के रूप में प्रदर्शित किया गया है—

"शापित न यहाँ है कोई,
तापित पापी न यहाँ है;
जीवन-वसुधा समतल है,
समरस है जो कि जहाँ है।"

जीवन की इस वसुधा में कोई शापित-तापित नहीं है; सुख-दुःख की द्वयता की भावना से ग्रस्त नहीं है; वर्ण,पद अथवा सम्पद् के भेद-भाव से आक्रान्त नहीं है; हृदय एवं मस्तिष्क के संघर्ष से पीड़ित नही है; इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया के असहयोग से संतप्त नही है। इन सभी द्वन्द्वों की निवृत्ति से जीवन की यह वसुधा पूर्णतया समतल एव समरस बन गई है। और, इस समरसता का मूल प्रेरक तत्त्व है, चेतना के अखण्ड सागर में समस्त-जीवन का "जल-वीचि" के समान रस-मस हो जाना, घुलमिल जाना–

"चेतन-समुद्र में जीवन
लहरों-सा बिखर पड़ा है।" (आनन्द)

अतएव, यह स्पष्ट है कि प्रसादजी का 'समरसतावाद' कोरे व्यावहारिक संसार की उपलभ्य वस्तु नही है, प्रत्युत वह उस आदर्श जीवन-भूमि का परिचायक है जिसमें स्थूल व्यवहार, दर्शन के माध्यम से, सूक्ष्म अध्यात्म की निर्विकार चिन्मयता को प्राप्त कर, उसी में रसमग्न हो जाता है। सुतरां, प्रसादजी के समरसतावाद अथवा समन्वयवाद को, उसकी इस मौलिक आधार-शिला से काट कर, स्वतन्त्र भाव से, कोरे व्यवहार-जगत् का फार्मूला बताना उतना ही अर्थ-हीन बन जाता है जितना तुलसी के राम-राज्य की, उसके मूलभूत आधार आस्तिक-भाव से काट कर, विशुद्ध व्यवहार-दृष्टि से, स्थापना करने का डिमडिम्-घोष अर्थ-हीन बन गया है।

घ. आनन्दवाद

औपनिषदिक परम्परा में आनन्दरूप ब्रह्म का स्पष्ट निरूपण हुआ है। तैत्तिरीयोपनिषद् में 'असत्' से 'सत्' की उत्पत्ति बताते हुए ब्रह्म के रसमय स्वरूप का यों प्रतिपादन किया गया है–

"ब्रह्म रस-ही-रस है। इस कारण, उसके द्वारा रची हुई सृष्टि सुन्दर एवं

उत्तम है। वह रसरूप है, तभी रस को पाकर मनुष्य आनन्दमग्न होता है। यदि आकाश में रस न होता, तो कौन जीवित रहता, श्वास ग्रहण करना पसन्द करता ? सर्वत्र रस छलक रहा है। उसी से हमें आनन्द मिलता है।"[१]

इसी संदर्भ में 'आनन्द की मीमांसा' भी की गई है। एक सुशिक्षित, दृढ़ एवं बलवान् युवक के लिए यदि पृथ्वी धनधान्य से परिपूर्ण हो जाय, तो उसे जो आनन्द प्राप्त होगा, वह "एक मानुष आनन्द" होगा। इस प्रकार 'सौ मानुष आनन्दों' से एक "मनुष्यगंधर्वानन्द" बनता है। 'सौ मनुष्यगन्धर्वानंदों' से निर्मित आनन्द "एक देवगधर्वानन्द" है। 'सौ देवगंधर्वों' का जो आनन्द है, वह चिरकाल तक लोक-लोकान्तरों पर विजय प्राप्त करने वाले "पितरों का आनन्द" है। सौ पितरों के आनन्द से मिलने वाला आनन्द "अजानज देवों" (जन्म से ही दिव्यगुणसम्पन्न व्यक्तियों) का आनन्द होता है। जो सौ 'अजानज देवों' का आनन्द है, वह कर्म से देवत्व प्राप्त किये देवताओं का एक आनंद है। 'सौ कर्मदेव' देवताओं का जो आनन्द है, वह "देवों" का एक आनन्द है। सौ 'देवों के आनन्द' का योग "इन्द्र" का एक आनन्द होता है। 'सौ इन्द्रों' के आनन्द के बराबर "बृहस्पति" का एक आनन्द है। पुनः, सौ बृहस्पतियों के आनन्द के बराबर "प्रजापति" का एक आनन्द होता है। और, 'सौ प्रजापतियों' के आनन्द के बराबर "ब्रह्म" का एक आनन्द होता है। श्रोत्रिय तथा कामनाओं से असक्त व्यक्ति को यह "ब्रह्मानन्द" प्राप्त होता है।"[२] वाणी जहाँ से लौट आती है, मन जिसे प्राप्त नही कर सकता, उस आनन्दरूप ब्रह्म को जो मनुष्य जान लेता है, उसे कोई भय वा संताप ग्रस्त नहीं करता।[३]

इसी उपनिषद् में वरुण ने अपने पुत्र भृगु को ब्रह्म का उपदेश दिया है और अन्नमयकोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश तथा विज्ञानमय कोश से आगे बढ़ते हुए, आनन्दमय कोश को 'ब्रह्म' बताया है। गहन तपःसाधना के अनन्तर भृगु को यह ज्ञान हुआ है कि आनन्द ही ब्रह्म है, आनन्द से ही सब भूत

---

१. "असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत।
तदात्मानं स्वयमकुरुत। तस्मात्तत्सुकृतमुच्यत इति।
यद्वै तत्सुकृतम्। रसो वै स.। रसं ह्येवाय लब्ध्वानन्दी भवति।
को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात्। यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्।
एष ह्येवानन्दयाति। (तैत्ति०, २।७)

२. तैत्तिरीय, २।८

३. "यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्।
न बिभेति कुतश्चनेति।" (वही, २।९)

उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होने के बाद आनन्द से ही जीवित रहते है और अन्ततः आनन्द में ही विलीन हो जाते है । यही 'भार्गवी-वारुणी विद्या' है ।[1]

वेदान्त तथा शैव दर्शनों को उपनिषद् की इस 'भार्गवी-वारुणी विद्या' ने मौलिक भाव से प्रभावित किया है । शकराचार्य ने 'सत्' एवं 'चित्' के साथ-साथ 'आनन्द' को भी ब्रह्म का स्वरूप बताया ('सच्चिदानन्द') और शैव-शाक्त दर्शन में तो इस आनन्दवाद को पूर्ण समारोह के साथ प्रतिष्ठित किया गया है । शैवों का 'आनन्दवाद' उनके अभेदवाद एव सामरस्यवाद की चरम निष्पत्ति है ।

'नेत्रतन्त्र' मे ब्रह्म को परमानन्दरूप बताया गया है और आगे चलकर कहा गया है कि शिव की वह शक्ति ही चित्-रूप शिव से अभिन्न होकर, अद्-भुत आनन्द को प्रसार करती है और योगी समरसता की अवस्था को प्राप्त होकर, आनन्दपद में संलीन हो जाता है ।[2] 'तन्त्रालोक' मे बताया गया है कि शिव की विसर्ग-शक्ति ही आनन्द-रस का स्फुरण करती है । शिव की मुख्य पाँच शक्तियों मे आनन्द का स्फुरण करने वाली शक्ति 'आनन्दशक्ति' कही गई है और इसके द्वारा हृदय मे आनन्द का स्फुरण उस प्रकार होते कहा गया है जिस प्रकार किसी मधुर गीत के सुनने अथवा चदनादि के स्पर्श करने पर हृदय का तटस्थ्य-भाव दूर हो जाता है और व्यक्ति के अन्तस् में आनन्द का स्पन्दन होने लगता है ।[3] साधना की अन्तिम परिपक्व अवस्था मे योगी शिव-तत्त्व मे लीन हो जाता है और 'चिदानन्द' प्राप्त कर लेता है क्योकि शिव "चिदानन्दघन" तथा "परमाक्षरविग्रह" है । 'बोधसार' में, इसी प्रकार, शिव को आनन्दसागर से उपमित किया गया है और कहा गया है कि शिव आनंद-सागर है, उनकी शक्ति उस सागर का मधुर जल है और उनके भूतगण आनंद की बूँदे है ।[4] शैवदर्शन मे, अतएव, समरसतासिद्ध आनन्द की पूर्ण प्रतिष्ठा की गई है (प्रसादजी ने प्रत्यभिज्ञा के आनन्दवाद को, उसके अभेदवाद एवं साम-रस्यवाद के साथ, अंगीकार किया है)

जैसा पहले दिखाया गया है, प्रसादजी विश्व को महाचिति के 'लीलामय

---

१. "आनन्द ब्रह्मेति व्यजानात् । आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । आनन्देन जातानि जीवन्ति । आनन्द प्रयन्त्यभिसविशन्तीति । सैषा भार्गवी वारुणी विद्या ।" (वही, ३।६)

२. 'नेत्रतन्त्र' (दूसरा भाग), पृ० १९८ ।

३. 'तंत्रालोक', २।३।२०९-१० ।

४. 'बोधसार', पृ० ५७५ ।

आनन्द' की अभिव्यक्ति मानते हैं। आद्य शक्ति 'प्रेम-कला' बतायी गई है और इस सृष्टि को उसी की विकसित होती हुई 'लीला' कहा गया है। 'दर्शन' सर्ग में श्रद्धा ने शत-शत रूप बदलने वाले जगत् को 'चिति का स्वरूप' बताकर उसमें 'सतत उल्लासपूर्ण आनन्द' के दर्शन करने की सिफारिश की है। वह आनन्द "जागो, जागो" की संगीतमयी झंकार से परिभाषित हो रहा है। नृत्यनिरत नटराज शंकर के तांडव का जो प्रभावकारी चित्रण इस सर्ग में किया गया है, वह विश्व की मौलिक आनन्दमयता की मनोभिराम अभिव्यंजना है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन की प्रेरणा लेकर, महाशिव को "आलोक-पुरुष", "मंगल-चेतन" तथा "समरस, अखंड, आनन्दवेश" दिखाया गया है। उस आनन्द-सत्ता की लीला के "रपन्दित आह्लाद" से जो सृष्टि निर्मित हो रही है, वह भी अभिराम एवं 'आनन्दपूर्ण' होगी, यह तत्काल स्वीकार किया जा सकता है। प्रसाद जी के आनन्दवाद की विशेषता यह समझी जानी चाहिए कि यह विश्व आनंदपूर्ण इसलिए है कि वह सुन्दर है। आनन्द तथा सौन्दर्य अविच्छेद्य है। आनन्द के साथ सौन्दर्य को जोड़ देना प्रसादजी की काव्य-सुलभ मनश्चेतना का परिपाक है। 'दर्शन' सर्ग में श्रद्धा ने विश्व को परम "उदार" बताकर, उसके सुन्दर, शान्तिपूर्ण तथा उल्लासगर्भित स्वरूप का कथन किया है—

"अवकाश-सरोवर का मराल,
कितना सुन्दर, कितना विशाल !
+ + +
हँसता है इसमें कोलाहल,
उल्लास भरा-सा अन्तस्तल।"

नटराज शिव को "मंगल-चेतन" कह कर, विश्व के अभिराम आनन्द को मगल से अनुप्राणित भी बता दिया गया है।

मंगल-चेतन की आनन्दमयी सृष्टि में आनन्द लाभ करने के लिए द्वैत-भाव का परित्याग आवश्यक है। जब विश्व आत्म-रूप बन जाता है अभेद तथा समरसता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, तभी पूर्णानन्द की उपलब्धि होती है। मनु ने पाशव स्थिति से निकल कर जब शाभव स्थिति को प्राप्त कर लिया है, तब वह पूर्णानन्द-सागर में निमज्जित हो गये हैं, उसके साथ तादात्म्य स्थापित कर लिया है—"निज-शक्ति-तरंगायित था आनन्द-अम्बुनिधि शोभन।" पुनः, मनु ने चेतना के द्वैत का प्रत्याख्यान कर, अभेद का उपदेश दिया है और चेतना के महासमुद्र मे जीवन के लहरों-सा बिखरने का कथन किया है। अर्थात्, प्रसादजी का आनन्दवाद प्रत्यभिज्ञा के समान ही अभेदवाद तथा सामरस्यवाद से जुड़ा हुआ है, इन्ही प्रतीतियों की चरम निष्पत्ति है।

यह समझना गलत है कि "सौन्दर्यमयी चंचल कृतियाँ" ('काम' सर्ग) जीवात्मा के आनन्दभूमि तक पहुँचने के मार्ग में बाधाएँ हैं।[1] वस्तु-स्थिति बिलकुल विपरीत मानी जानी चाहिए। जैसा अभी कहा है, प्रसादजी की आनन्द-सृष्टि मे विश्व की रमणीयता का विशेष महत्त्व है। 'आशा' सर्ग में 'हेम घोलने वाले विराट्' तथा 'अनन्त रमणीय' के आकर्षण से ही मनु मूलतः 'महाचिति' अथवा परमशिव के आनन्दधर्मा स्वरूप की ओर आकर्षित हुए है। सौन्दर्यमयी चंचल कृतियाँ जब रहस्य बन कर उनके सामने नाच रही है, तब वस्तुतः वे उनकी आँखो को आगे बढ़ने से रोकती नही, बल्कि उन्हें अधिकाधिक उस सौन्दर्य-सत्ता की अवगति के लिए आकर्षित करती है—"सुन्दरता के इस परदे में क्या अन्य धरा कोई धन है ?"

आगे चल कर, "जीवन-धन की छवि" देखने की जो लालसा मनु ने व्यक्त की है, वह कवि द्वारा उनकी उस मानसिक तैयारी मे एक सोपान है जो नटराज शिव के भव्य-सुन्दर तथा प्रकाशोज्ज्वल स्वरूप के दर्शन मे प्रतिफलित हुई है। संबद्ध संदर्भों में प्रसादजी ने निरन्तर विश्व की लीलापूर्ण सौन्दर्यमयता का कथन किया है। अतएव, उनकी विश्व-कल्पना मे सौन्दर्य एवं रमणीयता का मौलिक महत्त्व है और इस लीलामय आकर्षण की रज्जु से ही विश्व के आनन्दधर्मा स्वरूप की प्रतीति होती है। इसलिए, कामायनी में सृष्टि-सौदर्य को विश्व की मूल सत्ता, महाचिति अथवा परमशिव, से अभेद-भाव स्थापित करने के मार्ग मे बाधक नही माना गया है। 'आनन्द' सर्ग के अन्तिम छन्दों में कामायनी के बिहँसने से विश्व-कमल के खिल जाने का जो अभिराम वर्णन हुआ है, उससे भी इस तथ्य की संपुष्टि होती है कि प्रसादजी के आनन्दवाद में सौन्दर्य प्रमुख अवयव है। अतएव, 'कामायनी' का आनन्दवाद विश्व-सौन्दर्य की चरम सिद्धि है।

जीवात्मा की आनन्दपद-लब्धि मे वासना, असंयम, प्रभुत्व-लोलुपता, तर्कमयी बुद्धि की अतिशयता, सन्देह-संशय, श्रद्धा एवं विश्वास का अभाव, मनुष्य-मनुष्य मे भेद-भाव, चेतना का भिन्नशः खण्डित होना, भौतिक सुखों का अतिशय उपलालन इत्यादि वास्तविक बाधाएँ है जिनका प्रदर्शन 'कामायनी' में हुआ है।[2] मनु जब "चेतना के उज्ज्वल वरदान" से मंडित श्रद्धा में आस्थावान् बन

---

१. 'कामायनी में काव्य, संस्कृति और दर्शन' (संशोधित संस्करण) पृ० ४५७।

२. "बुद्धि—तर्क के छिद्र हुए थे, हृदय हमारा भर न सका।"
"क्षुद्रपाल ! तुम उसमें कितनी मधुधारा हो ढाल रही।"

जाते और अपने चरित्र के सम्पूर्ण कल्मषों से मुक्त होकर, परम मानसिक शांति का अनुभव करने लगे हैं, तभी उन्हें अभेद-भाव की प्रतीति हुई है और वह आनन्दभूमि को उपलब्ध कर पाये हैं।

प्रसादजी ने पूर्णानन्द की उपलब्धि को चेतना का ही परिष्कार प्रतिपादित किया है। श्रद्धा इस आनन्दवाद की उपदेष्टा एवं साधिका रही है। मनु से प्रथम मिलन के समय ही उसने "मन के चेतन राज्य" के पूर्ण होने की अभिलाषा व्यक्त की है।[1] और, प्रसादजी ने काव्य का पर्यवसान भी चेतना के अखण्डित समरसीभवन में किया है–

"समरस थे जड़ या चेतन
सुन्दर साकार बना था;
चेतनता एक विलसती
आनन्द अखण्ड घना था।"

अतएव, यह आनन्द निर्मल, अनवच्छिन्न चेतना का ही प्रकाश है जो जड़ तथा चेतन सृष्टि में समान भाव से व्याप्त है। पंडितों ने ठीक ही कहा है कि कामायनी मे प्रतिष्ठित आनन्द आत्मस्थ है, अन्तर्मुख आनन्द या आत्मानन्द है।[2] परन्तु, इस आनन्द का भोग करने वाली अन्तरात्मा निष्क्रिय एवं निश्चेष्ट नहीं है। वह अपने ढंग से, अपने स्वभाव से, क्रियाशील है क्योंकि वह "दिव्य अनाहत" संगीत में साझीदार होती है—

"दिव्य अनाहत पर निनाद में
श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे।" (रहस्य)

'दर्शन' सर्ग में, जैसा पहले ही कहा है, यह आनन्द "जागो, जागो" की झंकार से मुखरित हो रहा है।[4] अतएव, कामायनी में प्रतिष्ठित आनन्दवाद अखण्डित एवं संगीतमयी चेतना का जाग्रत, समरस विलास है।

'आनन्द' सर्ग में प्रसादजी ने इस आनन्दवाद को वैयक्तिक आयामो से ऊँचा उठाकर सामाजिक अथवा सामूहिक स्वरूप देने की योजना बनाई है। उनकी अभीप्सित मानव-संस्कृति का पारिभाषिक धर्म आनन्दवाद ही है।

"तो फिर शान्ति मिलेगी मुझको जहाँ, खोजता जाऊँगा।"
(निर्वेद)

२. **"पूर्ण हो मन का चेतन राज।"** (श्रद्धा)

३. **'कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ'** (नगेन्द्र), पृ० ५८

४. **"तल्लीन पूर्ण है एक राग,**
झंकृत है केवल 'जाग, जाग'!" (दर्शन)

इसका स्पष्ट कथन वह 'श्रद्धा' सर्ग में ही श्रद्धा के मुख से करवा चुके थे। निष्क्रिय मनु को आनन्द-लब्धि के निमित्त श्रद्धा ने जो उद्‌बोधन दिया है, उसका सारांश यह है : 'प्रकृति के वैभव से विश्व पूर्ण है। कर्म एवं भोग ही चेतन प्राणी का आनन्द है। शक्तिशाली तथा विजयी बनकर विधाता की कल्याणी सृष्टि का उपभोग किया जा सकता है। दया, माया, ममता, आस्था एवं विश्वास के अवलम्ब से ही मानव-चेतना का सुन्दर इतिहास निर्मित हो सकता है। शक्ति के विद्युत्कण अभी परस्पर बिखरे हुए निरुपाय बने हैं। उनका समन्वय करने से मानवता विजय-लाभ करेगी।'

अतएव, प्रसादजी का सामूहिक आनन्द मानव-चेतना के शक्तिपूर्ण, ममता एवं विश्वास से ओतप्रोत और समन्वय की समरस भावना से अनुप्राणित विस्तार एवं परिष्कार का पर्याय है। काम ने अपने उपदेशों में इस आनन्द-वाद के बाधक तत्त्वों का संकेत अथवा कथन किया है। 'दर्शन' सर्ग में श्रद्धा ने इड़ा को डाँटते हुए, कुमार को राष्ट्र-नीति के संचालन-हेतु श्रद्धा, विवेक तथा मनन के समन्वय और मनुष्य-मात्र की भेद-शून्य समरसता का उपदेश दिया है। अतएव, वैयक्तिक धरातल पर प्रतिष्ठित आनन्दवाद के मूल उपादान 'चेतना' का सामूहिक, व्यावहारिक जीवन में परिष्करण ही वह आनन्दवाद है जिसे कामायनी में नई मानव-संस्कृति का मौलिक तथ्य प्रतिपादित किया गया है। 'रहस्य' सर्ग में ज्ञान, क्रिया तथा इच्छा (बुद्धि, कर्म तथा भाव) के पार-स्परिक विच्छेद को 'जीवन की विडंबना' बताकर और श्रद्धा की मुसक्यान-किरणों से त्रिदिक् विश्व को एक में मिलाकर, प्रसादजी ने दार्शनिक आनन्द-वाद को राष्ट्र-सुलभ व्यावहारिक आयाम प्रदान करने की योजना प्रस्तुत की है। श्रद्धा को इसकी उपदेष्ट्री एवं निमित्त बना कर, श्रद्धा-भाव के अंगीकरण तथा काम के मंगलमूलक, उन्नति एवं उज्ज्वल स्वरूप को, वैयक्तिक तथा सामू-हिक, दोनों स्तरों के आनन्दवाद की प्रधान साधन-भूमि निरूपित किया गया है।

जैसा पहले कहा है, काव्य के अन्तिम सर्ग में सारस्वतवासियों के जुलूस को कैलाश-तीर्थ तक पहुँचाकर, प्रसादजी ने सामूहिक एवं व्यावहारिक आनन्दवाद की कल्पना को मूर्त्तस्वरूप प्रदान करने का प्रयास किया है। सार-स्वत-निवासी, इड़ा के शब्दों में, "अपने व्यर्थ, रिक्त जीवन-घट" को "पीयूष-सलिस" से भरने के लिए वह कठिन यात्रा करते है। वहाँ पहुँचने पर मनु जीवन की तात्त्विक अभिन्नता का कथन करते हुए समस्त 'भेद-भाव' को भुलवाकर 'अहं' तथा 'इदं' के विलीनीकरण का उपदेश देते हैं—

"मानव, कह रे ! 'यह मैं हूँ',
यह विश्व नीड़ बन जाता।"

प्रत्यभिज्ञा के अभेद-पूर्ण, सामरस्यवादी वैयक्तिक आनन्दवाद का, इस प्रकार, कामायनी में लोकनिष्ठ, व्यावहारिक अनुवाद प्रस्तुत किया गया है।

ङ. पुरुष प्रकृति

'पुरुष' का प्रयोग भारतीय आर्ष वाङ्मय में व्यष्टिगत आत्मा तथा समष्टिगत परमात्मा दोनों रूपों में किया गया है। ऋग्वेद के प्रसिद्ध पुरुष-सूक्त में 'परम पुरुष' को सहस्र शीर्ष, सहस्र नेत्र तथा सहस्र पाद वाला बनाकर, समस्त भूमण्डल तथा समस्त भूतों को व्याप्त करने वाला कहा गया है।[1] प्रश्नोपनिषद् में समस्त इन्द्रियों का कार्य-सम्पादन करने वाली विज्ञानात्मा को पुरुष बताया गया है।[2] मुण्डकोपनिषद् के अनुसार, पंचभूतों में निवास करने वाला परमात्मा विराट् पुरुष है जिसकी सूर्य-चन्द्र दो आँखें हैं, दिशाएँ श्रोत्र हैं, वायु प्राण है, पृथिवी पाँव है और विश्व हृदय है।[3] छान्दोग्य में जीव को "ऋतुमय पुरुष" कहा गया है।[4] सांख्य में पुरुष को त्रिगुणातीत, प्रकृति के सम्पूर्ण पदार्थों का भोग करने वाला एकमात्र 'चेतन' बताया गया है। प्रत्यभिज्ञा में पुरुष की गणना छत्तीस तत्त्वों में की गई है। उसके अनुसार, जब परमेश्वर अपनी माया-शक्ति के द्वारा स्वरूप ग्रहण कर, संकुचित ग्राहकता का भोग करता है, तब वह 'पुरुष' कहलाता है। यह परिमित रूप तथा संकुचित शक्ति वाला पुरुष अपने-आपको प्रकाशित करने में असमर्थ होता है।[5]

'कामायनी' मे पुरुष के इन समस्त रूपों की व्यंजना हुई है। हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर भीगे नयनों से प्रलय-प्रवाह देखने वाले "एक पुरुष" के कथन में प्रश्नोपनिषद् के द्रष्टा-रूप पुरुष की व्यंजना है। जहाँ श्रद्धा मनु को यह उद्बोधन देती है कि तुम एक हो और प्रकृति का अमन्द वैभव तुम्हारा भोग्य है, वहाँ सांख्य के भोक्ता पुरुष की ध्वनि निकलती है। मनु के निम्न कथन में चिरमुक्त परमेश्वर की माया-जन्य विवशता ('पुरुष' की विवशता) अभिव्यक्त हुई है :—

---

१. ऋग्वेद, १०।९०।१-५।
२. प्रश्नोप०, ४।९।
३. मुण्डको०, २।१।४।
४. छान्दोग्य०, ३।१४।१।
५. 'षट्त्रिंशत्तत्त्वसंदोह', ६।

"चिरमुक्त पुरुष, वह कब इतने
अवरुद्ध श्वास लेगा निरीह !
+ + +
जब जड़-बन्धन-सा एक मोह
कसता प्राणों का मृदु शरीर,
आकुलता और जकड़ने की
तब ग्रंथि तोड़ती हो अधीर।" (ईर्ष्या)

'स्वप्न' सर्ग में, मनु को छान्दोग्य की भाषा में "ऋतुमय पुरुष" कहा गया गया है 'दर्शन' सर्ग में नर्तित नटेश को "आलोक-पुरुष" बताया गया है जिसमें श्वेताश्वर उपनिषद् में वर्णित उस पुरुष का स्वरूप खुलता-सा दिखाई पड़ता है जो सम्पूर्ण अस्तित्व का प्रवर्त्तक, अखण्ड ज्योति-रूप, "ज्योतिरव्ययः", है।[1] 'आनन्द' सर्ग में जहाँ "चिर मिलित प्रकृति से पुलकित" पुरातन "पुरुष" का कथन हुआ है, वहाँ सांख्य के पुरुष की प्रतिध्वनि स्पष्ट सुनाई पड़ती है।

'ईर्ष्या' सर्ग में जहाँ मनु श्रद्धा को फटकारते हुए यह कहते है कि—

"इस पंचभूत की रचना में
मैं रमण करूँ बन एक तत्त्व"—

वहाँ मुण्डकोपनिषद् के 'विराट् पुरुष' की व्यंजना हुई है। 'आनन्द' सर्ग की निम्न पंक्तियों में ऋग्वेद के विराट् पुरुष की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है—

"वह चन्द्र-किरीट रजत नग
स्पन्दित-सा पुरुष पुरातन।"

प्रसाद ने, अतएव, 'पुरुष' के व्यष्टि-रूप तथा समष्टि-रूप, दोनों का वर्णन किया है।

'पुरुष' के समान 'प्रकृति' भी भारतीय दर्शन मे बहुशः कथित हुई है। वह चेतन तथा अचेतन, दोनों बताई गई है। 'कामायनी' मे प्रकृति के इन दोनों रूपों का वर्णन हुआ है। भगवद्गीता मे चेतन तथा अचेतन रूपों का 'परा प्रकृति' एवं 'अपरा प्रकृति' के नाम से निरूपण किया गया है। गोपथ ब्राह्मण में जल को प्रकृति बताकर, सृष्टि से पूर्व उसकी विद्यमानता बताई गई है। 'कामायनी' के निम्न छन्द को देखे—

"नीचे जल था, ऊपर हिम था,
एक तरल था, एक सघन;
एक तत्त्व की ही प्रधानता,
कहो उसे जड़ या चेतन।"

---

१. श्वेताश्वर, ३।१२।

यहाँ 'एक तत्त्व' में मूलाप्रकृति की व्यंजना हुई है । पुनः प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार, जड़ और चेतन को एक ही मूल चेतन सत्ता के दो रूप कहा गया है–"तत्र आभास-रूपा एव जड़चेतनपदार्थाः ।" गीता में प्रतिपादित परा एवं अपरा प्रकृति की ध्वनि भी यहाँ सुनाई पड़ती है । गोपथ ब्राह्मण की जलरूपा प्रकृति का स्पष्ट ध्वनन हुआ है । 'चिन्ता' सर्ग में देवजाति की बढ़ी शक्ति के सामने प्रकृति के पददलित होने का जहाँ कथन हुआ है, वहाँ वह पंचभूतों की स्थूल प्रकृति है जिसे 'अपरा प्रकृति' कहा गया है । लेकिन, जब 'आशा' सर्ग में "त्रस्त प्रकृति" के नेत्र-निमीलन की बात कही गई है, तब वह चेतन प्रकृति बन गई है । 'निरालंबोपनिषद्' में 'ब्रह्म की बौद्धिक शक्ति को प्रकृति कहा गया है जिसके अधीन सृष्टि के व्यापक कार्यों का संचालन करने वाले अनेक देवता रहते हैं । 'कामायनी' विश्वदेव, सविता, पूषा, सोम इत्यादि देवताओं को इसी प्रकृति के "शक्ति-चिह्न" कहा गया है । प्रालेय जल-संदोह के घटते प्रकृति के "आवरण-मुक्त" होने का कथन प्रसाद ने किया है । वहाँ यह जड़ प्रकृति है । जहाँ श्रद्धा मनु को उद्‌बोधन देती हुई कहती है कि प्रकृति पुरातनता का निर्मोक एक पल भी सहन नहीं कर सकती, वहाँ वह 'चेतन प्रकृति' बन गई है । दृश्य जगत् में जो रमणीय तथा आकर्षक प्राकृतिक चित्र दृष्टि-गोचर होते हैं, वे चेतन प्रकृति की ही सृष्टि हैं । 'कामायनी' में चेतन प्रकृति के इन मोहक चित्रों का कवित्वमय अंकन हुआ है, यथा—

"चलो तो इस कौमुदी में देख आवें आज,
प्रकृति का यह स्वप्न-शासन, साधना का राज ।" (वासना)

'आनन्द' सर्ग में श्रद्धा तथा मनु के मिलन के संदर्भ में कहा गया है कि वे दोनों इस प्रकार मिल गये हैं जैसे प्रकृति तथा चेतन पुरुष मिले रहते हैं–

"चिर-मिलित प्रकृति से पुलकित
वह चेतन पुरुष पुरातन;
निज शक्ति तरंगायित था
आनन्द अम्बुनिधि शोभन ।"

यहाँ प्रकृति आद्याशक्ति बनी है और पुरातन पुरुष भगवान् शिव बने हैं । इस कथन में शैव-दर्शन में वर्णित शिव-शक्ति के समरस सम्मिलन की व्यंजना हुई है ।

च. प्रकीर्ण विचार-तत्त्व

संसार की दुःखमयता एवं क्षणभंगुरता का 'कामायनी' में कई स्थलों पर कथन हुआ है । वहाँ बौद्ध दर्शन की छापें देखी जा सकती हैं । वैसे-ही, करुणा का महत्त्व भी प्रसाद ने चित्रित किया है : कामायनी में (श्रद्धा) को "विश्व की

करुण कामना-मूर्ति" कहा गया है। यहाँ भी बौद्ध प्रभाव लक्षित हो रहा है, यद्यपि दया, माया, ममता इत्यादि भाव वैष्णव विचारधारा में भी बद्धमूल हैं। 'काम' सर्ग में जहाँ काम ने मूलशक्ति के सचेत होने पर अणुओं के परस्पर मिलने का अभिराम वर्णन किया है, वहाँ न्याय-वैशेषिक दर्शन तथा आधुनिक परमाणुवाद की ध्वनियाँ सुनाई पड़ती है। 'इड़ा', 'स्वप्न' तथा 'संघर्ष' सर्गों में सामाजिक विषमता, वर्गसंघर्ष इत्यादि के जो उल्लेख आये हैं, उनमें भौतिकवादी अथवा मार्क्सवादी-विचार-धारा की गूँजे झंकृत हो रही है। 'काम' सर्ग में अणुओं के अविराम नाचने तथा 'दर्शन' सर्ग में प्रकृति के नर्तन-निरत होने के कथन में आधुनिक गतिशीलता के सिद्धान्त का ध्वनन हुआ है। 'आशा' सर्ग मे "व्यक्त नील के चल प्रकाश का कम्पन" का उल्लेख है जिसमे प्रकाश की कम्पनशीलता का आधुनिक सिद्धान्त ध्वनित है। 'काम' सर्ग में जहाँ काम विश्व को मनोहर कृतियों का रंगस्थल बताता है, वहाँ डार्विन के 'योग्यतम अवशेष' (Survival of the fittest) वाले सिद्धान्त की ध्वनि गूँजती है। डार्विन ने परिवर्तन के तथ्य को रेखांकित करते हुए बताया है कि जिन प्राणियों में अनुकूल परिवर्तन होता है, वे अपेक्षाकृत अधिक सफलता प्राप्त करते हैं। 'संघर्ष' सर्ग मे जहाँ इड़ा मनु को ताल-ताल पर चलने और विवादी स्वर नही छेड़ने का उपदेश देती है, वहाँ डार्विन का यही 'अनुकूल परिवर्तन' वाला सिद्धान्त ध्वनित हुआ है। उसी सर्ग में मनु ने जहाँ "अविनीत" रहने के अपने "अधिकार" की बात कही है और "महानाश की सृष्टि" के बीच 'अपने क्षण' की तुष्टि का तर्क उपस्थित किया है, वहाँ क्रमशः अनियन्त्रित राजतन्त्र एवं चार्वाक अथवा उमर खय्याम के 'तुष्टिवाद' की छापें दृष्टिगोचर होती हैं। उसी सर्ग मे, "विश्व बँधा है एक नियम से" के कथन में वैदिक 'ऋत' की व्यंजना है। मनु जहाँ इड़ा की बुद्धिवादिता को कोसते हुए यह आरोप लगाते है कि उसने लोगों में लोभ एवं सचय की वृत्ति को बढ़ावा दिया है, वहाँ गाँधीवाद के 'अपरिग्रह' वाले सिद्धान्त की व्यंजना हुई है। "स्पर्धा में उत्तम" ठहरने के उल्लेख में पुनः डार्विन के 'योग्यतम अवशेष' की ध्वनि सुनाई पड़ती है ('संघर्ष')। 'इड़ा' सर्ग के कतिपय छन्दों में 'अस्तित्ववादी' निराशा के स्वर भी सुनाई पड़ते है। समरसतामूलक आनन्दवाद की स्थापना के प्रयास में कैलास-तीर्थ की जो उद्भावना की गयी है, उसमें प्रत्यभिज्ञा की ठोस भूमि के बावजूद, 'यूटोपिया' अर्थात् 'कल्पलोक' के मोहक आदर्श का अभिराम रंगवितान भी अपनी स्निग्ध छायाएँ प्रसरित किये हुए है।

१५ | प्रत्यभिज्ञा के आलोक में मनु-श्रद्धा

पिछले अध्याय में 'कामायनी' की दार्शनिक भूमि का विवेचन करते समय यह पुष्कल व्यजना हो चुकी है कि प्रसाद को कश्मीरी शैवदर्शन से मुख्य प्रेरणा मिल रही थी। प्रस्तुत खण्ड में यह दिखाया गया है कि प्रत्यभिज्ञा के आधार पर उन्होंने मनु एवं श्रद्धा के दार्शनिक शील का निरूपण किया है।

क. मनु : माया-मुग्ध जीव

'आशा' सर्ग में जिस नवीन भौतिक सृष्टि के विकास का उल्लेख किया गया है, वह शैव दर्शन में प्रतिपादित 'मायीय सृष्टि' है क्योंकि माया-तत्त्व से लेकर पृथ्वी-तत्त्व तक की सपूर्ण सृष्टि मायीय सृष्टि कही गई है। 'कामायनी' के पूर्वार्द्ध मे मनु मायीय जगत् के जीव है जो 'रहस्य' सर्ग के कतिपय प्रारंभिक पदों तक व्याप्त माना जा सकता है। प्रमाता (जीव) के शुद्ध बोध तथा अशुद्ध बोध के आधार पर दो प्रकार की सृष्टि मानी गई है, यथा, 'शुद्ध अध्वा' और 'अशुद्ध अध्वा' (अध्वा=सृष्टि, सर्ग) अशुद्ध अध्वा ही मायीय सृष्टि है। मनु जीव का प्रतीक है और 'रहस्य' सर्ग के कुछ प्रारंभिक छन्दों तक वह 'अशुद्ध अध्वा' का प्रमाता या प्राणी है जो क्रमशः 'शुद्ध अध्वा' की ओर बढ़ता गया है। यह शुद्ध अध्वा माया से ऊपर की सृष्टि है जिसके कर्त्ता भगवान शिव कहे गये है। यह अध्वा या सृष्टि परमशिव की स्वतंत्र इच्छा पर ही निर्भर है तथा 'कर्म-सिद्धान्त' से निरपेक्ष होती है। इस शुद्ध सृष्टि का प्रमाता मितात्मक (व्यष्टि-रूप) न होकर चिदात्मक विश्वप्रमाता (समष्टि-रूप) होता है। 'रहस्य' सर्ग के आरंभिक पदो से 'आनंद' सर्ग तक मनु शुद्ध अध्वा आनंदधर्मी-प्रमाता बन गये है।

'कामायनी' के पूर्वार्द्ध में मनु को अशुद्ध अध्वा का जीव प्रदर्शित किया गया है। उनके चरित्र मे चंचलता, क्षुद्र-भावना, निराशा, अहम्मन्यता, मिथ्याभिमान, अपने-पराये का भाव इत्यादि सभी परिमितताएँ अथवा लघुताएँ वर्तमान है जिनसे वह निरंतर पीड़ित एवं दुःखी रहे हैं। इन दुर्बलताओं का कारण मनु का माया-ग्रस्त होना है। 'इड़ा' सर्ग में काम ने मनु की जो डाँट-फटकार

बतायी है, उसमें इसी परिमित बुद्धि वाले मायीय जीव की व्यंजना हुई है। काम की निम्नोद्धृत वाणी में अशुद्ध अध्वा के जीव की ही भर्त्सना की गई है—

"जीवन सारा बन जाय युद्ध !
उस रक्त-अग्नि की वर्षा में बह जायँ सभी जो भाव शुद्ध ।
अपनी शंकाओ से व्याकुल तुम अपने ही होकर विरुद्ध,
अपने को आवृत किये रहो दिखलाओ निज कृत्रिम स्वरूप ।
+ + +
हो वर्तमान से वंचित तुम अपने भविष्य में रहो रुद्ध ।
सार प्रपंच ही हो अशुद्ध !" (इड़ा)

'शुद्ध', 'अशुद्ध', 'आवृत्त' तथा 'कृत्रिम' शब्दों में शुद्ध अध्वा' अशुद्ध अध्वा तथा परिमितात्मक प्रमाता की ही ध्वनियाँ सुनायी पड़ती है। मायाजन्य नानात्मक रूप में अवभासित विश्व ही 'प्रपंच' है। मनु इसी प्रपंच मे ग्रस्त, अपने में ही आवृत्त रहने वाला मायीय (अशुद्ध अध्वा का प्रमाता) जीव है। शैव दर्शन में यह कहा गया है कि परमेश्वर जब अपने स्वातंत्र्य से अपने-आपको तीन मलों तथा मायादि छः कचुकों से आवृत कर लेता है, तब वह मायीय जगत् का जीव (पशु) बन जाता है और इस अवस्था में वह देह इत्यादि में अहन्तात्मक कर्तृता का अनुभव करता हुआ, अगणित दुःखों को भोगता है। आरंभ में मनु मलों तथा कंचुकों से अधिग्रस्त परिमित जीव है। परमेश्वर जब अपने स्वरूप को छिपाकर संकुचित प्रमाता बन जाता है, तब वही 'पुरुष' कहलाता है। इस अवस्था मे उसका सर्वकर्तृत्व सर्वज्ञत्व, पूर्णत्व, नित्यत्व एवं व्यापकत्व नामक शक्तियाँ संकुचित बन जाती हैं और वह क्रमशः 'कला', 'विद्या', 'राग', 'काल' तथा 'नियति' नामक पच कंचुकों से आवृत हो जाता है जिससे उसका पारमेश्वर ऐश्वर्य पर्याच्छन्न बन जाता है।[1] ऐसी दशा में वह शक्तिदारिद्र का अनुभव करने लगता है। 'चिन्ता' सर्ग के "एक पुरुष भीगे नयनों से" वाले छन्द में कंचुकों से पर्याच्छन्न इसी 'पुरुष' की व्यजना हुई है। 'इड़ा' सर्ग में काम ने मनु को याद दिलायी है कि तुम्हारी असीम, अमोघ शक्ति सकुचित बन गई है—"संकुचित असीम अमोघ शक्ति !" यहाँ शैव दर्शन की परिभाषिक शब्दावली 'सकुचित शक्ति' का उल्लेख कर प्रसाद ने स्पष्ट संकेत किया

---

१. "कलाविद्यारागकालनियति कञ्चुकवलितत्वात् पंचकस्वरूपः ।"
(प्रत्यभिज्ञाहृदय)
—'माया' को भी कंचुक माना गया है।
इस प्रकार कंचुकों की संख्या छः भी बतायी गई है।

है कि मनु आरंभ में माया-मुग्ध संसारी जीव अथवा परिमित शक्ति वाला 'पुरुष' है जो कंचुकों से पर्याच्छन्न है। मनु भेद-बुद्धि के आखेट हैं—"जीवन को बाधामय पथ पर ले चले भेद से भरी भक्ति।" (इड़ा) इसी भेद-बुद्धि के कारण उनका 'शिवभाव', अर्थात्, सर्वकर्तृत्व, सर्वज्ञत्व इत्यादि शक्ति-रूप, कला, विद्या इत्यादि आच्छादनों (कंचुकों) से परिमित अथवा संकुचित हो गया है। इस तथ्य का उल्लेख 'कामायनी' में भिन्नशः उपलब्ध है।

जीव की किञ्चित्कर्तृता का हेतु बनने वाली शक्ति को 'कला' कहा गया है।[1] प्रसाद ने 'रहस्यवाद' नामक अपने निबन्ध में इसे ही दुहराया है—"कला संकुचित कर्तृत्व-शक्ति कही जाती है।"[2] मनु के संबंध में इस कला-कंचुक की स्पष्ट व्यंजना हुई है, यथा—

"कर्तृत्व सकल बन कर आवे नश्वर छाया-सी ललित-कला।"
(इड़ा)

'मैं कुछ-ही जानता हूँ, जो घट इत्यादि मेरे सामने उपस्थित हैं, किन्तु दूरी के व्यवधान से अन्तरिक वस्तु को नही जानता—इस प्रकार, परमात्मा (परमेश्वर) की सर्वज्ञता नामक शक्ति सकुचित बन कर जब स्वल्प तथा किंचिन्मात्र जानने वाली बन जाती है, तब वह 'विद्या' कहलाती है।[3] कई स्थलों पर मनु की स्वल्पज्ञेयता का कथन उपलब्ध है, यथा—

"सर्वज्ञ ज्ञान का क्षुद्र अंश विद्या बन कर कुछ रचे छन्द।"
(इड़ा)

"मैं तो आया हूँ देवि बता दो जीवन का क्या सहज मोल,
भव के भविष्य का द्वार खोल।" (इड़ा)

परमात्मा की नित्यपरिपूर्णतृप्ति नामक शक्ति जब परिमित भाव को प्राप्त कर, प्राणी को निरंतर भोगों में आसक्त रखती है, तब वह 'रागतत्त्व' कहलाती है।[4] राग वह बन्धन है जिससे मनुष्य किसी सीमित वस्तु में यह समझ कर

---

१. "कला नाम अस्य पुरुषस्य किंचित्कर्तृताहेतुः।" (पराप्रवेशिका)

२. 'काव्य, कला तथा अन्य निबध', पृ० ४२.

३. "जानामि इति किंचिदेव पुरोवर्ति
घटादिकं, न पुनर्व्यवहितं वस्तुः, इति विद्यातत्त्वम्।"
(परमार्थसार, विवृति)

४. "नित्यपरिपूर्णतृप्तिः शक्तिस्तस्यैव परिमिता तु सती।
भोगेषु रञ्जयन्ती सततभमुं रागतत्त्वतां याता॥"
(षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोह)

अनुरक्त हो जाता है कि यही मेरा अभीष्ट है ।[1] 'कामायनी' में मनु के राग-कंचुक का कई स्थलों पर कथन हुआ है, यथा—

"कमी अपूर्ण अहन्ता में हो रागमयी सी महाशक्ति।" (इड़ा)
"मैं अतृप्त, आलोक भिखारी, ओ प्रकाश-बालिके ! बता,
कब डूबेगी प्यास हमारी इन मधु अधरों के रस में ?"
(स्वप्न)

'काल' की गणना छत्तीस तत्त्वों में की गई है । यह अन्यतम कंचुक है । 'नित्यता' नामक शक्ति परमात्मा से निःसृत होकर संकुचित बनती हुई, जन्म-मृत्यु देने वाले 'काल' तत्त्व में परिणत हो जाती है ।[2] अणु-रूपी जीव जिस तत्त्व के अधीन होकर अपनी संकुचित ज्ञानशक्ति एवं क्रिया शक्ति का, "जाना, जानता हूँ, जानूँगा" तथा "क्रिया, करना हूं, करूँगा" इत्यादि रूपों में विभाग करता है, वह तत्त्व 'काल' कहलाता है ।[3] मनु का प्रमातृरूप माया के कारण परिमित बन गया है और वह भूत, वर्तमान तथा भविष्य के रूपों में सोचने लगा है जिसमें उसे नित्यत्व का बोध नहीं हो रहा है । 'चिन्ता' सर्ग में उनकी भूत-वर्तमान-भविष्य-विषयक चिन्ता अनेकधा प्रकाशित हुई है । उदाहरणार्थ, केवल एक छन्द उद्धृत है—

"चिन्ता करता हूँ मैं जितनी
उस अतीत की, उस सुख की,
उतनी ही अनन्त में हैं बनती
जातीं रेखाएँ दुख की।" (चिन्ता)

काम ने मनु को, असीम अमोघ शक्ति के संकुचित बन जाने का स्मरण कराते हुए, पारमेश्वरी नित्यता के खंडित होने का स्पष्ट कथन किया है—

"नित्यता विभाजित हो पल-पल में काल निरंतर चले ढला।" (इड़ा)

मनु, अतएव, काल नामक कंचुक से ग्रस्त, अशुद्ध अथवा के संसारी जीव हैं ।

---

१. "इदमेवेष्टमस्तीत्थं रागः पाशोऽस्ति बन्धनम् ।" (शिवसूत्रवार्तिक)

२. "सा नित्यतास्य शक्तिर्निष्कृष्य निधनोदय प्रदानेन ।
नियतपरिच्छेदकरी कलुप्ता स्यात्कालतत्त्व रूपेण ॥"
(षट्त्रिंशत्तत्त्व सन्दोह)

३. "सोऽणुः वर्तमानतया, इदं प्राक् मया ज्ञातं, जानामि, ज्ञास्यामि, इति एवमपि कृतं, करोमि, करिष्ये वा, इति ज्ञानक्रियास्वरूपेण भावानपि तथा कलयन् अवच्छिन्न च--इत्येषोऽस्य कालः ।" (परमार्थसार)

योगवासिष्ठ में 'नियति' को सर्वव्यापक ब्रह्मतत्त्व की सत्ता, नियामक पर-ब्रह्म की नियामिका शक्ति बताया गया है ।[1] शैवागमों में शिव से पृथ्वीपर्यन्त परिगणित छत्तीस तत्त्वों में 'नियति' भी आती है । शिव की 'स्वतंत्रता' नामक शक्ति संकुचित होती हुई जब कार्य-अकार्य में 'निश्चित नियम निर्धारित करती है, तब वह 'नियति' कहलाती है ।[2] कंचुक-रूप में नियति विशिष्ट कार्यकलाप में मनुष्य को अनुप्रेरित करती है ।[3] 'स्वच्छन्दतंत्र' के अनुसार, मनुष्य संसार-चक्र पर आरूढ़ होकर घटयंत्र के समान भ्रमण करते रहते हैं और इस कर्म-चक्र को नियति डंडे के समान मार-मार कर घुमाती है । सुर-असुर सभी इस नियति से नियंत्रित बताये गये हैं । ध्यान अथवा चिन्तन के, अभ्यास से जीव इस नियति-कंचुक से विमुक्त हो जाता है--

"ध्यानात्सिद्धिमवाप्नोति नियतेश्च विमुच्यते ।"

(स्वच्छन्दतन्त्र)

'कामायनी' में नियति का व्यापक उल्लेख हुआ है । मनु नियति के एक-तंत्र शासन में विवश हो शनैः शनैः आगे बढ़ रहे हैं--

"उस एकान्त नियति-शासन में
चले विवश धीरे-धीरे ।" (आशा)

श्रद्धा से मेल-मिलाप कराने में नियति ही कारण बनती है--"दो अपरिचित से नियति अब चाहती थी मेल ।" इसी के कारण वह समस्त कार्याकार्य में प्रवृत्त हुए हैं । अशुद्ध अध्वा के जीव होने के कारण, मनु मायामोहित प्रमातृत्व से ऊपर न उठकर शक्ति-दारिद्र्य से अधिग्रसित, नियति के हाथों में कठ-पुतली बने हुए हैं--

"देखते थे अग्नि-शाला से कुतूहल-युक्त,
मनु चमत्कृत निज नियति का खेल बंधनमुक्त ।" (वासना)

नियति के इस नियंत्रण से मुक्ति की आकांक्षा भी मनु करने लगे हैं--

"शनि का सुदूर वह नील लोक,

---

१. "यथास्थितं ब्रह्मतत्त्वं सत्ता नियतिरुच्यते ।
सा विनेतृ निर्विनेतृत्वं सा विनेयविनेयता ।" (योगवासिष्ठ)

२. "यस्य स्वतंत्रताख्या शक्तिः संकोचशालिनी सैव ।
---कृत्याकृत्येष्ववशं नियतममुं नियमयन्त्यभून्नियतिः ।।"

(षट्त्रिंशत्तत्त्व संदोह)

३. नियतिर्योजनां धत्ते विशिष्टे कार्यमण्डले ।"

\+ \+ \+

वह एक किरन अपनी देकर मेरी स्वतंत्रता में सहाय,
क्या बन सकता है ? नियति-जाल से मुक्तिदान का कर उपाय ।"
(इड़ा)

माया-मोहित होने के कारण, मनु अपने को, शुद्ध शिवरूप के आवृत होने से, अवच्छिन्न एवं अपूर्ण समझ रहे हैं । काम ने शाप देते हुए यही कहा है—"अपने को आवृत किये रहो, दिख लाओ निज कृत्रिम स्वरूप ।" प्रसाद इस बन्धन को मनुष्य-द्वारा ही निर्मित मानते है । इसी तथ्य को व्यंजित करने के लिए काम के मुख से उन्होंने कहलाया है—

"व्यापकता नियति-प्रेरणा बन अपनी सीमा में रहे बंद ।" (इड़ा)

कंचुकों से आविष्ट होने के कारण, मनु की दृष्टि मलिन बन गई है और वह अपनी अपूर्ण रुचि के आधार पर किसी वस्तु को दुःखद तथा किसी वस्तु को सुखद मानते हुए, विधि-निषेधों के जाल में पड जाते हैं और अभिलषित वस्तु को पुण्य समझ कर उसे पाना चाहते तथा अनभिलषित वस्तु को पाप समझ कर उसे दूर भगाना चाहते हैं । चिन्ता को इसी कारण 'पाप' बताकर वह उसे भगा रहे है—"अरी, पाप है तू, जा, चल जा, यहाँ नही कुछ–तेरा काम" और श्रद्धा को अपना 'पुण्य प्राप्य' समझते है

"श्रद्धा पुण्य प्राप्य है मेरी, वह अनन्त अभिलाषा ।" (कर्म)

शैव दर्शन के अनुसार, इस पुण्यपाप की मिथ्या कल्पना से जन्य कर्म के कारण जीव दुःखों का भोग करता है क्योंकि उसे अपने शुद्ध शिवस्वरूप का ज्ञान नही होता । इसी कारण, पुन., वह अपने में मिथ्याकर्त्तत्व का भी अभिमान करता है और दुःख पाता है । मनु इस मिथ्याकर्त्तृत्व के भाव (अपने को असत्य रूप से कर्त्ता मानना) से अधिग्रस्त रहे है, यथा—

"मै शासक, चिर-स्वतंत्र, तुम पर भी मेरा—
हो अधिकार असीम, सफल हो जीवन मेरा !" (संघर्ष)

अशुद्ध अध्वा का जीव अज्ञान के कारण विषय-भोगों में आसक्त होता है। मनु तत्त्व-ज्ञान के अभाव में वासना-तृप्ति को चरम साध्य मानते है—"वासना-तृप्ति ही स्वर्ग बनी, यह उलटी मति का व्यर्थ ज्ञान ।" शैवागमों में चेतन परमशिव का स्वातंत्र्य-स्वभाव बतलाया गया है और इस स्वातंत्र्य-स्वभाव का विमर्श ही पूर्ण आनन्द है ।[१] माया द्वारा यह स्वातंत्र्य (आनन्द) विलुप्त हो जाता

१. **"अन्यानिरपेक्षतैव, परमार्थतः आनन्दः ऐश्वर्यं स्वातंत्र्यं चैतन्यं च ।"**
(ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी)

है और परिबद्ध जीव भेद-विकल्प से नाना प्रकार के लौकिक कर्म करता है जो उसके बन्धन बन जाते हैं। मनु ऐसे ही संकुचित प्रमाता अथवा संसारी जीव हैं जो विश्व-पथिक बना हुआ क्लेशों का सहन करता है—

"मनु मेरा नाम, सुनो बाले ! मैं विश्व-पथिक सह रहा क्लेश।"

(इड़ा)

अपने स्वातन्त्र्य-स्वभाव के कारण जीव-भाव को ग्रहण करने वाला शिव जब नाना-रूपात्मक विश्व को, जो उसके पारमेश्वर स्वभाव की ही सृष्टि है, यथार्थ समझने लगता है, तब यह कल्पना ही उसका बंधन बन जाती है, जैसा अभी कहा गया है। जीव-भाव को ग्रहण करने वाले शिव का अपने स्वातंत्र्य-स्वभाव का नहीं पहचानना उसका अज्ञान है। इसी अज्ञान को शैव दर्शन में 'मल' कहा गया है।[1] ये मल तीन प्रकार के बताये गये हैं, यथा—आणव, मायीय तथा कार्म। शिव-स्वरूप के संकोच-मात्र को 'आणव मल' और अणुता को प्राप्त प्रमाता (जीव) की भेद-दृष्टि को 'मायीय मल' कहा गया है। मायीय मल के प्रभाव से प्रमाता जगत् को अपने से भिन्न समझने लगता है। 'कार्म-मल' वह अज्ञान है जिससे जीव नाना कर्मों में निरत रहता है। यही मल जीव के जन्म-मरण-रूप संसार का कारण बनता है।

स्वातंत्र्य (अन्यनिरपेक्षता) के साथ-ही परमेश्वर को शुद्धबोध-रूप (या शुद्ध प्रकाशरूप) माना गया है। त्रिविध मलों से संयुक्त प्रमाताओं की कई कोटियाँ हैं। परमेश्वर से तथा परस्पर एक-दूसरे से भिन्नता का अनुभव करने वाले प्रमाता शैवागमों में "विज्ञानकेवल" अथवा "विज्ञानाकल" कहे गये हैं। अपने शुद्ध स्वातन्त्र्य को भूलकर प्राण, बुद्धि अथवा शून्य जैसे अबोधरूप में 'अहंभाव' का अनुभव करने वाला प्रमाता "प्रलयाकल" कहलाता है जिसका कर्तृत्व संकुचित हो जाता है। सृष्टि-दशा में तीनों मलों से आविष्ट साधारण प्राणी को "सकल" प्रमाता कहा गया है।

'कामायनी' में मनु 'चिन्ता' सर्ग से लेकर 'दर्शन' सर्ग के उस स्थल तक जहाँ से नर्तित नटेश की भूमिका प्रारम्भ होती है, अशुद्ध अध्वा के "सकल" प्रमाता हैं जैसा आरम्भ में ही बताया गया है। यह माया इत्यादि षट्कंचुकों और आणव इत्यादि तीनों मलों से ग्रस्त संसारी जीव हैं जो अपने को कर्त्ता एवं भोक्ता मानता हुआ नाना प्रकार के दुःखों को भोगता है। काम के शब्दों में मनु जरा-मरण से ग्रस्त अशान्त संसारी प्राणी रहे हैं—

---

१. "अज्ञानं किल बन्धनहेतुरुदितः शास्त्रे मलं तत्स्मृतम्।"

(तन्त्रसार)

"तुम जरा-मरण से चिर अशान्त ।" (इड़ा)

ख. श्रद्धा : पारमेश्वरी शक्ति

'प्रसाद ने 'मूलशक्ति' को 'प्रेमकला' (कामकला) बताकर, श्रद्धा को उसका संदेश सुनाने-हेतु संसार में आई बताया है—"संसृति में आई वह अमला ।" यहाँ 'अमला' शब्द से तात्पर्य आणव इत्यादि समस्त मलों से उत्तीर्ण (मुक्त) होना है । अतः, श्रद्धा त्रिविध मलों से उत्तीर्ण, शुद्ध स्वातन्त्र्य-स्वभाव वाली पारमेश्वरी अनुग्रह-शक्ति है । वह परमार्थतः अद्वैतमूलक सामरस्य-स्वरूपा है, किन्तु लोक-व्यवहार के लिए भेदविमर्श को ग्रहण किये हुई है । उसे काम ने "जड़-चेतनता की गाँठ" कहा है । कश्मीरी शैव दर्शन मे 'जड़' का लक्षण प्रकाश की परिच्छिन्नता बताया गया है और प्रकाश (चित्प्रकाश) की परिच्छिन्नता के कारण, शरीर इत्यादि वस्तुओं को ही 'अहं' समझने वाले जीवों को 'जड़' कहा गया है । 'चेतनता' परमशिव की द्योतक है । शिवसूत्रों में परमशिव को "चैतन्यात्मा" कहा गया है । इस 'चैतन्य' अथवा चेतनता में पूर्ण अभेद-विमर्श रहता है । 'कामायनी' मे शिव के लिए 'चेतन' का प्रयोग हुआ है, यथा—

"वह चेतन पुरुष पुरातन,
निज-शक्ति तरंगायित था ।" (आनन्द)

तात्पर्य यह है कि लोक-कल्याण के लिए ससार मे अवतीर्ण—श्रद्धा अपने पराशक्तिस्वरूप में जड़-चेतनता के मध्य की वह कड़ी (गाँठ) है जो 'जड़' (अर्थात्), भेद-बुद्धि से युक्त परिच्छिन्न प्रकाश वाला 'नर' या मनुष्य[1] को 'चेतनता' (आत्मा) से सम्बद्ध करती है । अर्थात्, 'नर' या जीव पारमेश्वरी शक्ति के ही द्वारा चेतनता (शिवत्व) का साक्षात्कार करता है । 'कामायनी' में मनु ऐसे ही 'नर' है और श्रद्धा अनुग्रह स्वभाव वाली 'पराशक्ति' है । उसके पराशक्तिरूप को स्पष्ट करने के लिए प्रसाद ने उसे "पूर्णकाम की प्रतिमा" कहा है, यथा—

"वह विश्वचेतना—पुलकित थी
थी पूर्णकाम की प्रतिमा ।" (आनन्द)

'पूर्णकाम' को ही कश्मीरी शैव दर्शन में 'कामेश्वर' कहकर शिव का पर्याय माना गया है और उस कामेश्वर-संज्ञा वाले शिव की शक्ति को 'कामेश्वरी' कहा गया है । 'कामेश्वरी' और 'पराशक्ति' एक-ही पारमेश्वरी शक्ति

---

१. "तत्र भेदप्रधानो नरः ।"
—'परात्रिंशिकाविवरण' (पादटिप्पणी)

के दो नाम हैं । अतएव, श्रद्धा कामेश्वरी अर्थात् पराशक्ति का लोक-अवतीर्ण व्यक्त स्वरूप है ।[१]

(श्रद्धा को मनु पत्नी बनाने के सम्बन्ध में एक पिछले प्रकरण में आर्ष सूत्रों का उल्लेख किया गया है । किन्तु, 'त्रिपुरारहस्य' से भी प्रसाद को प्रेरणा मिली होगी—यह अनुमान भी साधार प्रतीत होता है । 'त्रिपुरारहस्य' में शुद्धविद्या की मूर्तरूप हेमलेखा, मनु–जैसे भोगविषयों के लोलुप राजकुमार हेमचूड़ की पत्नी बनकर, उसे सुखदु.खादि का रहस्य समझाती हुई, अद्वैत का उपदेश देती है और राजकुमार हेमचूड़ हेमलेखा के उपदेश से अपने शुद्ध चित्स्वभाव को पहचान कर जीवन-मुक्त हो जाता है । हेमलेखा वहाँ 'पराचिति' की सन्तति बतायी गयी है, जैसे 'कामायनी' में श्रद्धा को काम की सन्तान कहा गया है । अतएव, सम्भव है, श्रद्धा के मनु-पत्नीत्व में 'त्रिपुरारहस्य' का भी प्रभाव पड़ा हो ।[२])

कश्मीरी शैवदर्शन में जीव अथवा 'नर' के परिपूर्ण चित्स्वभाव के प्रकाशन में परमेश्वर के शक्तिपात को परम कारण माना गया है ।[३] संकुचित प्रमाता (संसारी जीव) अज्ञानवश स्वकल्पित बन्धनों से अपने आप को परिबद्ध कर लेता है । जब परमशिव उस जीव पर अपनी अनुग्रहशक्ति का निपात करता है, तब जीवात्मा शिव के इस शक्तिपात से बन्धन-मुक्त हो जाता है और अपने निर्मल, स्वतन्त्र स्वरूप को पहचान लेता है । परमेश्वर का अनुग्रह ही उसका 'शक्तिपात' है । शैवों का यह शक्तिपात वैष्णव शास्त्रों के 'अनुग्रह' का पर्याय नहीं है क्योंकि उनके अनुग्रह का फल भक्त की स्वात्म-प्रकाश की अद्वैत-प्रतीति नहीं होता, अपितु उससे भक्त भगवान् के नित्यलीलाधाम में प्रवेश करता है और इस प्रवेश को ही वहाँ जीव की सर्वोत्तम गति माना गया है । इस अनुग्रह से जीव को स्वर्ग, गोलोक इत्यादि सुख प्राप्त होते हैं । किन्तु, शैवदर्शन का शक्तिपात सर्वथा मायोत्तीर्ण अद्वैत-प्रतीति में परिणमित होता है । इस पारमेश्वर शक्तिपात से मलों का क्षय होता है और शिव-भाव का प्रकाश होता

---

१. 'काश्मीर शैवदर्शन और कामायनी' (डॉ० भँवरलाल जोशी), प्रथम संस्करण, पृ० १९५—२०३
(ध्यातव्य: 'पराशक्ति', 'परात्परशक्ति', 'अनुग्रहशक्ति', 'कामेश्वरी' इत्यादि सभी पर्यायवाची हैं ।)

२. वही, पृ० २०६

३. सर्वत्र पारमेश्वरः शक्तिपात एव स्वसंविदभिव्यक्तौ निमित्तम् ।''
(तंत्रालोक टीका)

है ।[1] तंत्रालोक में इस शक्तिपात का तारतम्य-प्रकाश भी वर्णित है । शक्तिपात के उदय से जीव का मल क्षयोन्मुख होने लगता है और वह विषयभोग से विमुख होने लगता है । इस आरम्भिक स्थिति में वह शास्त्रीय अभिधा में, 'बुध्यमान' प्रमाता बन जाता है । "आयात शक्तिपातो बुद्ध्यमानः ।"[2]

जैसा ऊपर सकेत किया गया है, ससारी जीव मनु के ऊपर गुरुरूपा श्रद्धा का शक्तिपात 'कामायनी' मे प्रदर्शित किया गया है । 'निर्वेद' सर्ग के अन्त में, मनु विषयभोगों के प्रति जुगुप्सा–जैसे भाव से तथा संसार के प्रति विरक्ति-भाव से अनुप्राणित हो जाते है, यथा––

"किन्तु अधम मै समझ न पाया
उस मंगल की माया को,
+ +
मेरा सब कुछ क्रोध-मोह के
उपादान से गठित हुआ,
ऐसा ही अनुभव होता है
किरणों ने अब तक न छुआ ।" (निर्वेद)

यहाँ मनु 'बुध्यमान' प्रमाता है । यह शक्तिपात का उदय-मात्र है । जब शक्तिपात प्रस्फुट होता है, तब जीवात्मा मनु को श्रद्धा के पुराने उपदेशों के प्रति आस्था होने लगती है, यथा—

"तुमने हँस-हँस मुझे सिखाया
विश्व खेल है, खेल चलो ।" (निर्वेद)

पहले मनु को श्रद्धा के वचनो पर इस कारण विश्वास नही होता था कि उसका हृदय "बुद्धि-तर्क के छिद्रो" से भरा था, वह अशुद्ध अध्वा का जीव था । शक्तिपात का प्रभाव क्रमशः बढ़ता है और मनु श्रद्धा को भोग्या नारी न मानकर सर्वमंगला शक्ति के रूप में पहचानते है, यथा---

"हे सर्वमंगले ! तुम महती,
सबका दुख अपने पर सहती ।" (दर्शन)

यहाँ श्रद्धा के प्रति मनु की भक्ति-भावना का उदय दृष्टिगोचर होता है । शैव दर्शन में भक्ति को पारमेश्वर शक्तिपात का प्रथम चिह्न माना गया है—

---

१. "पत्युः परस्माद्यस्त्वेष शक्तिपातः स वै मलात् ।
अज्ञानाख्याद्वियोक्तेति शिवभावप्रकाशकः ।।" (तंत्रालोक)

२. 'स्वच्छन्दतन्त्र', भाग ६ ।

"भक्तिर्हि नाम शक्तिपातस्य प्रथमं चिह्नम् ।"[१]

'तंत्रालोक' में शक्तिपात के तारतम्य-प्रकाश की चर्चा करते हुए उसके नव प्रकारों का उल्लेख किया गया है जिनमें क्रमशः तीव्रता का परिमाण अधिक होता जाता है ।[२] इन नव प्रकारों में एक "मन्दतीव्र शक्तिपात" होता है जिसका लक्षण यह बताया गया है कि इसमें जीव शिष्य-भाव ग्रहण कर गुरु के प्रति यियासा (जाने की इच्छा) से अनुप्रेरित हो जाता है ।[३] 'कामायनी' में प्रसाद ने गुरु (श्रद्धा) को ही अनुग्रहवश शिष्य (मनु) के पास पहुँचा दिया है । किन्तु, शिष्य में मानसिक रूप से भी गुरु के प्रति उन्मुखता होनी चाहिए । मनु पर 'मन्दतीव्र शक्तिपात' 'दर्शन' सर्ग में स्पष्ट प्रतिफलित हुआ है क्योंकि उनमें श्रद्धा के प्रति 'मानस-यियासा' जाग्रत हुई है, यथा--

"लघुता मत देखो वक्ष चीर
जिसमें अनुशय बना घुसा तीर ।" (दर्शन)

कृद्धा मनु की इस बदली मनोवृत्ति को देखकर कहती है---

"तब चलो जहाँ पर शान्ति-प्रात,
मैं नित्य तुम्हारी, सत्य बात ।" (दर्शन)

मनु ने पहले-ही शान्ति की खोज की अभिलाषा व्यक्त की है--"तो फिर शान्ति मिलेगी मुझको जहाँ, खोजता जाऊँगा ।" जीवात्मा मनु की शान्ति-खोज की यह अभिलाषा पारमेश्वर शक्तिपात के प्रारम्भिक प्रकाश से उदयोन्मुख सद्बुद्धि का फल है । शक्तिपात के संस्पर्श से शान्ति-खोजी बने मनु की अपनी ओर उन्मुखता देखकर, श्रद्धा—जो पराशक्ति ही है---गुरु-रूप ग्रहण कर अपनी तात्त्विक स्वातन्त्र्य-शक्ति को मनु के भीतर संक्रान्त करती है और उन्हें यों दीक्षित करती है--

"सब मुक्त बनें, काटेंगे भ्रम,
उनका रहस्य हो शुभ संयम ।
गिर जायेगा जो है अलीक,
चल कर मिटती है पड़ी लीक ।" (दर्शन)

'दीक्षा' की परिभाषा करते हुए शैवागमों में कहा गया है कि आत्मज्ञानी

---

१. 'तन्त्रालोक' टीका, भाग ८ ।

२. **"तारतम्यप्रकाशो यस्तीव्रमध्यममन्दताः ।**
ता एव शक्तिपातस्य प्रत्येकं त्रैधमास्थिता ।।" (तन्त्रालोक)
"स चायं शक्तिपातो नवधा ।" (तन्त्रासार)

३. **"मन्दतीव्रात् शक्तिपातात् सद्गुरुविषया यियासा भवति ।"** (वही)

गुरु के अनुग्रह के जिस व्यावहारिक रूप से शिष्य में सद्ज्ञान का संचार होता है और पशुवासना क्षीण होती है, वह 'दीक्षा' कहलाता है जिससे सद्ज्ञान का दान तथा पाशव वासना का क्षपण एक-साथ सम्पन्न होता है । वासनाओं का विनाश मलों इत्यादि का विनाश है और सद्ज्ञान शिवता के विमर्श का प्रादुर्भाव ।[1] श्रद्धा की इस 'कथन-दीक्षा' (कथन से ही दीक्षित करना) कथन-मात्र से ही उसकी संवित् शक्ति (चेतनता) मनु में भी संक्रान्त हो जाती है जिससे मनु की चेतना भी तद्रूप बनती है और उन्हे सर्वत्रैव एक-ही प्रकाश-रूप परा-सत्ता आत्मानन्द में स्पन्दित दिखाई पड़ती है—

"सत्ता का स्पन्दन चला डोल,
आवरण-पटल की ग्रंथि खोल ।" (दर्शन)

आकस्मिक रूप से मनु को यहाँ परात्पर सत्ता के स्पन्दन का दर्शन हुआ है जो उनके ऊपर परमेश्वर के तीव्र शक्तिपात का ज्ञापक है । "अलीक गिर जायेगा" मे 'अलीक' (असत्य) शब्द का प्रयोग सोद्देश्य हुआ है क्योंकि पर-मार्थतः तो मनु भी चित्स्वरूप शिव ही हैं, किन्तु अचित्-स्वरूप को अज्ञानवश अपने स्वरूप-भाव मे ग्रहण कर, संकुचित प्रमाता, परिच्छिन्न प्रकाश वाले प्रमाता बने हुए हैं । श्रद्धा के उक्त कथन-मात्र से ही परिमार्थिकी सत्ता का स्पन्दन डोलने लगा है और वह "अनन्त शून्य", जो तम-जलनिधि" से पूर्ण था, "ज्योत्स्ना-सरिता" का आलिंगन करने लगा है । तमस् तथा प्रकाश के इस संमिलन वा सामरस्य मे मगलचेतन, आलोकपुरुष प्रकटित हुआ है—

"वह रजत-गौर, उज्ज्वल-जीवन
आलोक-पुरुष ! मंगल-चेतन !" (दर्शन)

यह आलोक-पुरुष शक्तिमान शिव अथवा महेश्वर ही है जिसे कवि ने केवल 'प्रकाश के कल्लोल' से समीकृत किया है—"केवल प्रकाश का था कलोल, मधु-किरणो की थी लहर लोल ।" इसी संदर्भ में नृत्यनिरत नटेश शिव के ताण्डव का जो भव्य, भीषण एवं उदात्त वर्णन हुआ है, वह शैवागमों का ही काव्यात्मक अनुवाद है । श्रद्धा के तीव्र शक्तिपात से मनु के प्रथम तत्त्वदर्शन में जिस 'आलोकपुरुष' नटराज का दर्शन हुआ है, वह मनु का अपना ही पारमार्थिक स्वभाव, महेश्वरत्व, है । इसी कारण, मनु अपने तत्त्वरूप की पहचान कर, आत्मप्रत्यभिज्ञा से, 'आनन्द' सर्ग में अन्ततः पूर्ण महेश्वरत्व को प्राप्त कर लेते है, शक्ति-संवलित शिव बन जाते हैं । नर्तित नटेश के इस संदर्भ को लेकर यह

---

१. **"दीयते ज्ञानसद्भावः क्षीयते पशुवासना ।**
दानक्षपणसंयुक्ता दीक्षा तेनेह कीर्तिता ॥" (स्वच्छन्दतन्त्र टीका)

प्रतिपादित किया गया है कि गुरु-रूपा पराशक्ति श्रद्धा के शक्तिपात के फलस्वरूप मनु के अज्ञान का क्षय हुआ है, माया-जन्य कंचुकों की ग्रंथि खुली है, उनमें अपने संवित्स्वभाव अर्थात् चिन्मय स्वतन्त्र स्वभाव का उदय हुआ है, चाहे वह अभी चिरस्थायी भले न हो। 'ज्योत्स्ना-सरिता' के 'तम-जलनिधि' से मिलने पर केवल प्रकाश की सत्ता का कथन कर, प्रसाद ने आत्मस्वरूप के प्रकाश से अज्ञान-अन्धकार का विलोप व्यंजित किया है। गुरुरूपा श्रद्धा की कृपा से ही मनु में प्रकाशरूपता का विमर्श हुआ है और वह स्पन्दमान शिव के दर्शन कर सके हैं। शुद्ध विमर्श के अभाव में जो वस्तुएँ पहले जड़-दशा में भिन्न-भिन्न प्रतीत हो रही थीं, वे ही शुद्ध विमर्श के उदय से मनु को "सर्वांग ज्योतिर्मय" शिव के विराट् शरीर का चिन्मय अंग बनी दिखाई पड़ती हैं--

"बन गया तमस था अलक-जाल
सर्वांग ज्योतिमय था विशाल।" (दर्शन)

तात्पर्य यह है कि माया के प्रभाव से संकुचित प्रमातृ-दशा में मनु को अनन्तरूपात्मक भेद-विमर्श (भेद-प्रतीति) हो रहा था, वहाँ चैतन्य के उन्मेष के कारण अब सर्वत्र चिन्मयता का अभेद-विमर्श हो रहा है[1], अर्थात्, सम्पूर्ण सृष्टि एक-ही चेतन-स्वतन्त्र परमशिव के प्रकाश से उद्भासित प्रतीत हो रही है। यहाँ गुरुरूपा श्रद्धा ने मनु को परमशिव के विश्वोत्तीर्ण स्वरूप के दर्शन कराये है। शिव जब अपनी स्वातन्त्र्य-लीला की प्रक्रिया में विश्व-रचना के प्रति उन्मुख-सा होता है, तब उसकी स्पन्द-रूपा इच्छा प्रस्फुट होती और सृष्टि विकास के प्रथम तत्त्व को आभासित करती है जिसे 'सदाशिव' तत्त्व कहा गया है। यह सदाशिव-तत्त्व नादमय होता है। यही सृष्टि-विकास में आद्यतत्त्व है। 'नेत्रतन्त्र' में कहा गया है कि सृष्टि के प्रारम्भ मे शिव के अष्टविग्रह से ध्वनि-रूप स्फोट उत्पन्न होता है तथा सम्पूर्ण जगत् को ध्वनि से पूरित करते हुए अत्यन्त वेगपूर्वक प्रसरित हो जाता है; वही 'नाद' है और वह 'नाद' ही 'सदाशिव' कहलाता है। अतएव, शैवदर्शन में सृष्टि का प्रारम्भ नादमय माना गया है। प्रसाद ने नर्तित नटेश के ताण्डव-वर्णन मे शून्यभेदिनी चित् सत्ता के 'अन्तर्निनाद ध्वनि' से पूरित होने तथा अन्तरिक्ष के प्रदग्नि-मुखग्नि होने का उल्लेख किया है जिसमें नादरूप सदाशिव का ही स्पष्ट संकेत है, यथा—

"अन्तर्निनाद ध्वनि से पूरित,
थी शून्यभेदिनी सत्ता चित्;

---

१ **'काश्मीर शैवदर्शन और कामायनी' (डा० जोशी), प्रथम संस्करण, पृ० २३७–२४२**

नटराज स्वयं थे नृत्यनिरत,
था अन्तरिक्ष प्रहसित मुखरित ।" (दर्शन)

प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार, विश्व का उन्मेष शिव की स्वातन्त्र्यपूर्ण नृत्यलीला है ।[1] शिव ही अपनी नर्तन-क्रीड़ा में नानारूपात्मक विश्व की सृष्टि करता है और इसी कारण, शिवसूत्रों में उसे 'नर्तक' कहा गया है । अतः, यह विश्व शिव के स्वात्मानन्द, उसके लीला-विनोदन की ही अभिव्यक्ति है । शैवागम के आधार पर ही प्रसाद ने नटराज के नृत्य-निरत होने का वर्णन किया है । इस वर्णन में शिव की 'लीला के स्पन्दित आह्लाद' से अनेक "तारा, हिमकर दिनकर" के बनने; भूधरों के धूलि-कण के समान उड़ने; असंख्य ब्रह्माण्डों के बिखरने, चेतन परमाणुओं के बनने, विलीन होने और प्रकृति के गल कर नर्त्तक शिव की अनुपम कान्ति के सिन्धु में समरस होने तथा धरती के सुन्दर स्वरूप धारण करने का जो भव्य चित्रण किया है, उसमें शिव के पंचविध कृत्यों–सृष्टि, संहार, स्थिति, तिरोधान एवं अनुग्रह–का ही काव्यात्मक सम्मूर्त्तन है ।

अतएव, यह स्पष्ट है कि प्रस्तुत ताण्डव-वर्णन में मनु को शिवपद के "समरस अखण्ड आनन्दवेश" का जो विमर्श हुआ है; वह श्रद्धा-रूप गुरु के अनुग्रह से उपलब्ध, मनु का प्रथम परतत्त्व दर्शन है ।[2] किन्तु, यह दर्शन अथवा विमर्श मनु के स्वप्रत्यय (निजी प्रतीति) का परिणाम न होकर उनके गुरु के प्रत्यय से अर्थात् परप्रत्यय से हुआ है । अतएव, यह परमार्थ-दर्शन तभी तक स्थिर रह सकता है जब तक गुरुरूपा श्रद्धा की उन पर अनुग्रह करने की इच्छा बनी रहेगी । इस परतत्त्व-दर्शन में मनु को अपने तुरीयस्थ संवित्स्वभाव की ही तत्त्वानुभूति हुई है । लेकिन, श्रद्धा झटिति अपने अनुग्रह को समेट लेती है जिससे मनु को अपने भीतर सामरस्य-आनन्द का अनुभव हो रहा था । अतः परप्रत्ययजनित यह तत्त्वानुभूति खंडित हो जाती है और मनु श्रद्धा से गिड़गिड़ाते–जैसे स्वरों में कह उठते है––

---

१. "स्वस्वातन्त्र्येण चैतन्यरूपोऽपि स्वयं जडाजड'त्मतामाभास्य नटवत् नानाप्रमातृतया स्थित ।" ('परमार्थसार'––अभिनव गुप्त की टीका)
"यथा नृपः सार्वभौमः प्रभावामोदभावित. ।
क्रडिन् करोति पादातधर्मा स्तद्धर्मधर्मतः ।
तथा प्रभुः प्रमोदात्मा क्रीडत्येवं तथा तथा ।।" (शिवदृष्टि)

२. 'काश्मीर शैवदर्शन और कामायनी' पृ० २४९

"यह क्या ! श्रद्धे ! बस तू ले चल,
उन चरणों तक, दे निज संबल।" (दर्शन)

यहाँ मनु पुनः जीव-दशा में आ गये हैं। (यह ध्यातव्य है कि संकुचित स्वातन्त्र्य वाला, मलों से युक्त शिव ही जीव है।)

ग. मनु का तत्त्वज्ञान : आत्मबोध

'रहस्य' सर्ग से मनु की तात्त्विक आरोहण-यात्रा प्रारम्भ होती है। आणवादि त्रिविध मलों के तारतम्य के विचार से शैवदर्शन में प्रमाताओं की सात श्रेणियाँ अवरोहण-क्रम (descending order) से गिनाई गई है, यथा--शिव, मंत्रमहेश्वर, मंत्रेश्वर, मंत्र, विज्ञानाकल, प्रलयाकल और सकल। मनु श्रद्धा के अनुग्रह से सकल प्रमाता की श्रेणी से ऊपर आरोहण करते-करते, अन्ततः शिव-प्रमातृपद को प्राप्त कर गये हैं। इस क्रमिक ऊर्ध्वारोहण में मनु के मलों का उत्तरोत्तर क्षय होता गया है और उन्हें जीवन्मुक्ति मिली है।

जैसा पहले कहा गया है, तीनों मलों से परिवेष्टित सामान्य प्राणी 'सकल प्रमाता' है। जिनमें आणव मल के साथ संसृति का कारणभूत कार्ममल भी विद्यमान होता है, वे 'प्रलयाकल' कहलाते है। 'सकल' की अपेक्षा ये अंशतः मुक्त होते हैं। 'प्रलयाकल' से ऊर्ध्व वर्ग 'विज्ञानाकल' प्रमाता का होता है जो केवल आणव मल से संयुक्त होते हैं। ये प्रमाता माया से ऊर्ध्ववर्ती तथा शुद्ध-विद्या से अधोवर्ती दशा में रहते हैं। ये प्रलयाकलों की अपेक्षा अधिक मुक्त दशा के प्रमाता हैं। इनसे ऊपर शुद्धविद्या क्षेत्र के 'मंत्र', 'मंत्रेश्वर', 'मंत्रमहेश्वर' तथा 'शिव' नामक चार प्रमातृवर्ग है जो क्रमशः उच्चतर होते हैं।

कश्मीरी शैवदर्शन में, ऐसे-ही, प्रमाता की पाँच अवस्थाएँ मानी गई हैं, यथा--जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुर्य और तुर्यातीत। सर्वसाधारण विषयों के बाह्येन्द्रिय-जन्य ज्ञान की अवस्था को 'जाग्रत' कहा गया है। दूसरी 'स्वप्नावस्था' है जो 'जाग्रत' का विपर्यय है। इसमें जीव की स्वप्न-सृष्टि उसके निजी संकल्पों से निर्मित होती तथा उसके ही अन्तःकरण द्वारा वेद्य (जानी जाने योग्य) होती है। तीसरी अवस्था 'सुषुप्ति' है जिसमें प्रमेय-प्रमाण इत्यादि के क्षोभ से असंपृक्त होकर, प्रमाता स्वात्ममात्र (अपनी आत्मा मात्र) में विश्रान्त होता है। चौथी 'तुर्यावस्था' या 'तुरीयावस्था' है। इसमें प्रमाता 'सुषुप्ति' से ऊपर उठकर, शुद्ध चिन्मयी प्रमात्मक दशा को प्राप्त करता है जो संविद्-रूप (चिद्-रूप) स्वप्रकाश की अवस्था है। इस अवस्था में प्रमेय, प्रमाण तथा प्रमाता से व्यतिरिक्त केवल स्वयं प्रकाश-रूपा प्रमा ही शेष रहती है। अन्तिम अवस्था 'तुर्यातीत' या 'तुरीयातीत' है जो परिपूर्णता की ऊर्ध्वतम

अवस्था है । यह परमविश्रान्ति की अवस्था होती है जिसमें प्रमाता अपने परिशुद्ध, सर्वातीत शिवत्व की प्रत्यभिज्ञा (पहचान प्रतीति) से पूर्णानन्द में लीन हो जाता है । इसी को 'परमपद' भी कहा गया है । इन अवस्थाओं में से प्रत्येक के अनेक भेद बताये गये हैं ।

जैसा अभी कहा है, "परमेश्वर के शक्तिपात से स्वात्म-समावेश की साधना में लीन मनु भी आरोहण-क्रम से विभिन्न प्रमातृ-दशाओं को पार करते हुए ऊर्ध्वगमन करता है ।" 'रहस्य' सर्ग के प्रारम्भ से लेकर हिमालय की चढ़ाई का जो वर्णन किया गया है, उसमें मनु 'सकलप्रमाता' के रूप में जाग्रत एवं स्वप्न, तथा सुषुप्ति की कुछ दशाओं, में संचरण करते है । कवि-सुलभ भाव से इस संदर्भ में प्रसाद ने हिमालय-प्रदेश के कतिपय रम्य चित्र अंकित किये हैं । मनु ऊपर चढ़ते-चढ़ते थक जाते है और "निस्संबल भग्नाश पथिक" होकर पीछे लौट चलने का प्रस्ताव करते है--

"लौट चलो, इस वात-चक्र से,
मैं दुर्बल अब लड़ न सकूँगा ।" (रहस्य)

मनु का यह कथन स्वरूप-साधना के मार्ग में बढ़ने वाले साधक की साहसभग्नता का द्योतक समझा जा सकता है । गुरु-रूपा श्रद्धा उन्हें साहस बँधाती हुई ऊपर लिये जा रही है । इस आरोहण-क्रम मे साधक-रूप मनु की 'प्रलयाकल', 'विज्ञानाकल' तथा 'मंत्र' अथवा 'विद्येश्वर' नामक प्रमातृ-दशाओं की व्यंजना हुई है । मनु के ऊपर अनुग्रह प्रदर्शित करती हुई, श्रद्धा अपने "विकल साथी" को अवलम्ब देकर मधुर स्वर में बोलती है--"इस अनन्त में दिशायें काँप रही है और 'पल' (काल के क्षण) असीम बन रहे है × × × हम दोनों इस लोक में पहुँचकर निराधार बन गये है × × ×हम पाँखें समेटे तथा नेत्र बन्द किये विहग-युगल जैसे आज हो रहे हैं । शून्य तथा पवन ही हमारे पंख बने हुए है ।" इस कथन में देश-काल की सीमाएँ टूटने तथा वेद्य (जानने योग्य वस्तु) के अभाव के उल्लेख से, मनु यहाँ 'सुषुप्ति' दशा वाले 'शून्यप्रलयाकल' प्रमाता बन गये है क्योंकि देह, इन्द्रिय, बुद्धि इत्यादि के अभिमान से वह ऊपर उठकर केवल 'शून्य' की प्रतीति कर रहे हैं---

"शून्य पवन बन पंख हमारे,
हमको दे आधार, जम रहे ।" (रहस्य)

श्रद्धा मनु को आश्वस्त करती हुई आगे बढ़ाती है और मनु देखते हैं कि "ऊष्मा का नवीन अनुभव हो रहा है; ग्रह नक्षत्र, तारा सभी अस्त हो गये हैं; ऋतुओं के स्तर तिरोहित हो गये हैं और उस महादेश में नवीन चेतनता उदित हो गई है ।" 'ऊष्मा का अभिनव अनुभव' करने वाली प्रमात-दशा सुषुप्ति से

'तुरीय' (तुर्य) की ओर उन्मुख होने वाली 'सुषुप्ति-तुरीय' अवस्था की व्यंजना अभीष्ट है जिसमें मायीय बंधन क्षीण बन जाते हैं। ग्रह, नक्षत्र-ऋतुओं इत्यादि के तिरोभाव तथा "उदित सचेतनता नवीन-सी" के अनुभव से मनु 'शून्यप्रलयाकल' की अवस्था से 'विज्ञानाकल' प्रमाता बन रहे हैं और जब—

"मनु ने देखा आँख खोलकर
जैसे कुछ-कुछ त्राण पा गये।"

उन्हें कुछ 'त्राण' मिल जाता है, तब वह मायोत्तीर्ण (माया से मुक्त) 'विज्ञानाकल' की प्रमातृ-दशा में पहुँच जाते है और उपर्युक्त 'सुषुप्ति-तुरीय' अवस्था "तुरीय अवस्था के शुद्ध चिन्मय प्रकाश की सीमा का स्पर्श करती है।" यहाँ तक मनु जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति की अवस्थाओं को अतिक्रान्त कर, क्रमशः मायीय बंधनों के क्षीण-क्षीणतर होते हुए, साधना के आरोहण-क्रम में तुर्यावस्था के चिन्मय प्रकाश का अनुभव करने लगे हैं। विज्ञानाकल प्रमाता माया से ऊपर तथा शुद्धविद्या से नीचे वाले स्तर के प्रमाता होते हैं।[1] अतः, यहाँ मनु मायाजन्य विषमता की प्रतीतियों से उत्तीर्ण होकर विज्ञानाकल की साम्यदशा में पहुँच गये हैं—

"घबराओ मत ! समतल है,
देखो तो, हम कहाँ आ गये !"

यहाँ 'समतल' 'सामरस्य' की अवस्था का ध्वनन करता है, यद्यपि यह पूर्ण सामरस्य की अवस्था नहीं है।

प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में 'विमर्श' (शक्ति) से रहित परमेश्वर जड़तुल्य माना गया है।[2] इसी कारण, वहाँ शुद्धबोध (शुद्ध चेतना) के साथ 'विमर्श' को भी प्रकाश रूप परमेश्वर का नित्यस्वभाव माना गया है। इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया रूपा शक्ति ही यह विमर्श है।[3] प्रत्यभिज्ञा की इसी मान्यता के आधार पर प्रसाद ने यहाँ मनु के भीतर "त्रिदिक् विश्व" के आलोक विन्दुओं का उद्भास दिखाया है जो शिव के विमर्श वा शक्तिमयता का द्योतन करता है यथा—

"त्रिदिक् विश्व आलोक-विन्दु भी,
तीन दिखाई पड़े अलग वे।" (रहस्य)

---

१. "मायोर्ध्वे शुद्धविद्याधः सन्ति विज्ञानकेवलाः।" (तन्त्रालोक)

२. "स्वभावमवभासस्य विमर्श विदुरन्यथा।
प्रकाशोऽर्थोपरक्तोऽपि स्फटिकाविजडोपमः।।" (ईश्वरप्रत्यभिज्ञा)

३. "स एव विमृशत्त्वेन नियतेन महेश्वरः।
विमर्श एव देवस्य शुद्धे ज्ञानक्रिये यतः।।" —वही

मनु, अब, शुद्धप्रकाशरूपता या शुद्धबोधरूपता के अनंतर, विमर्शरूपता के उन्मेष से, विज्ञानाकल प्रमाता की अवस्था से ऊपर वाली प्रमातृ-दशा, अर्थात्, शुद्धविद्या की दशा को स्पर्श करने लगे हैं। प्रत्यभिज्ञा की शिव-कल्पना में 'विश्वोत्तीर्णता' (विश्व से ऊपर उठना) के साथ विश्व-मयता भी संलग्न है, अर्थात्, शुद्धबोधरूपता के साथ इच्छा-ज्ञान-क्रिया-रूपा विमर्श किंवा शक्तिरूपता भी अनुस्यूत है। इसी कारण, प्रकाश के अधिकरण में यहाँ शक्ति के इच्छा-ज्ञान-क्रिया इन तीन रूपों में दिखाई पड़ने से यह परामर्श-अवस्था (प्रतीति-अवस्था) शुद्ध प्रमाता मनु की 'तुरीय जाग्रत' अवस्था है —और मनु विज्ञानाकलता से ऊपर वाली, 'मंत्र' या 'विद्येश्वर' की प्रमातृ-दशा को प्राप्त हो गये है।

'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' में कहा गया है कि शुद्ध चिन्मात्र (केवल चित् या चैतन्य) में 'अहं' की प्रतीति करने पर भी, विद्येश्वर प्रमाता (मंत्र प्रमाता) प्रकाश-रूप वेद्य को अपने से अभिन्न, स्वात्म रूप में न देखकर, महामाया के प्रभाव से अपने से भिन्न, पृथक् रूप में देखता है।[1] वेद्य (जो जाना जाने योग्य है, विश्व इत्यादि) को आत्मवत् प्रकाश-रूप में अनुभव करते हुए भी, विद्येश्वर प्रमाता की भेद-दृष्टि बनी रहती है जो एक प्रकार का अत्यन्त सूक्ष्म 'स्वरूप-संकोच' ही है। इसे 'महामाया' का प्रभाव बताया गया है। 'मंत्र' प्रमाता से लेकर 'मंत्रमहेश्वर' तक सभी शुद्ध प्रमाताओं में यह संकोच बना रहता है और इस संकोच की उत्थापिका पारमेश्वरी शक्ति ही है जिसे 'महामाया' कहा गया है। इसी महामाया के प्रभाव से मनु में अभी किञ्चित् स्वरूप-संकोच बना है जिस कारण, वह सर्वत्र प्रकाश का स्फुरण अनुभव करते हुए भी, पूर्ण अद्वैत-विमर्श की दशा को अधिगत नहीं कर सके हैं—उनमें 'वेद्य-वेदक' भाव,[2] अर्थात् 'अहं'-'इदम्' 'मै' - 'यह' का भाव बना हुआ है। जब तक साधक शिव-रूप मे पूर्णतः विश्रान्त नही होता, तब तक यह भेद-दृष्टि बनी रहती है। मनु, वर्तमान मन्त्र-प्रमातृ-अवस्था तक, तीन 'आलोक-विन्दुओं' को अपने से भिन्न देख रहे है और पूर्ण अभेद-मूलक सामरस्य-दशा में नहीं पहुँच पाये हैं। मंत्र-प्रमाता की अवस्था में विश्रान्त मनु को इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया नाम्नी तीन शक्तियाँ अपने से भिन्न दिखाई पड़ रही हैं जबकि वे शुद्ध प्रमाता मनु की अपनी शक्तियाँ है।

शैवाचार्य अभिनवगुप्त ने कहा है कि विद्यमान रहने पर भी माया-मोह

---

१. "भेदधीरेव मावेषु कर्तृबोधात्मनोऽपि या।
मायाशक्त्येव सा विद्येत्यन्ये विद्येश्वरा यथा ॥" (ईश्वरप्रत्यभिज्ञा)

२. 'वेदक-वेद', 'प्रमाता-प्रमेय', 'ज्ञाता-ज्ञेय', सभी एकार्थवाची हैं।

के कारण विस्मृत-प्राय अपने परमेश्वर-भाव अथवा महेश्वर-स्वरूप का, अभिमुखता से (अर्थात्, स्फुटतया), पुनः ज्ञान होना ही 'प्रत्यभिज्ञा' है ।[१] जीव वस्तुतः शिव ही है, किन्तु आणवमल के कारण वह अपने तात्त्विक शिव-स्वरूप को पहचान नही पाता । पूर्ण प्रत्यभिज्ञा के लिए समस्त आणवमलों का परिहार आवश्यक होता है । विज्ञेश्वर प्रमाता मनु में अभी हलका-सा मायीय (आणव) मल वर्तमान है जिस कारण, उनमें अपनी ही स्वरूप-शक्ति की पहचान नही हो रही है । इच्छा ज्ञान क्रिया के त्रिकोणरूप 'विसर्ग' (शक्ति) का जिस प्रकाश बिन्दु से उन्मेष होता है, उसे ही शैवागमों में 'शिव' कहा गया है । अतः, इस शिव-'बिन्दु' से ही शक्ति के उन्मेष-रूप 'विसर्ग' का उल्लासन होता है और वह विसर्ग ही शक्तिरूप विश्व है ।[२] इच्छा-ज्ञान-क्रिया वाले त्रिकोण को 'कामायनी' में इसीलिए 'त्रिदिक् विश्व' कहा गया है । प्रसाद ने श्रद्धा से मनु को यह कहला कर कि "तुम इस त्रिकोण के मध्यबिन्दु हो,"[३] उन्हें अपने महेश्वर-रूप, अर्थात्, इच्छादिशक्ति से समन्वित शिवत्व का परामर्श (ज्ञान,बोध) कराया है ।

किन्तु, यह परामर्श पूर्ण है, इसमें सन्देह का अवकाश बना रह गया है । डॉ० जोशी ने 'कामायनी' के "विद्वान आलोचकों" की इस मान्यता का प्रत्याख्यान किया है कि त्रिपुर का क्षय होने पर मनु को आत्म-प्रत्यभिज्ञा (अपने शिवरूप की पहचान) हुई है । अपने तर्क में उन्होंने शैवशास्त्रों से उद्धरण लिए हैं जिनमें यह कहा गया है कि 'परमार्थ-भानु' (आत्म-स्वरूप) के प्रकाशमान होने पर ही अविधा-रूपी अन्धकार' नष्ट होता है ।[४] इस प्रकार, जोशी

---

१. "तस्य महेश्वरस्य प्रत्यभिज्ञा प्रतीपं आभिमुख्येन ज्ञानं प्रकाशः प्रत्यभिज्ञा ।" (ईश्वरप्रत्यभिज्ञा)

२. "सर्वोऽयं मातृकाप्रपंच. शिवबिन्दुनामधेयस्य शक्तिरूपो विसर्गः ।
स एवयं विसर्गस्तु तस्माज्जातमिदं जगत् ।"
(विज्ञान भैरवविवृति)

३. "इस त्रिकोण के मध्यबिन्दु तुम
शक्ति विपुल क्षमता वाले ये;
एक-एक को स्थिर हो देखो,
इच्छा, ज्ञान, क्रिया वाले ये ।" (रहस्य)

४. "प्रकाशमाने परमार्थभानौ नश्यत्यविद्यातिमिरे समस्ते ।
तदाबुधा निर्मलदृष्टयोऽपि किञ्चिन्न पश्यन्ति भवप्रपञ्चम् ।"
(स्तवचिन्तामणि)

का कथन है कि "आत्मप्रत्यभिज्ञारूप में मनु के परमार्थ-स्वरूप के प्रकाश-भानु (संवित्प्रकाश) के प्रकाशमान होने पर ही उसका वह भेद प्रथा-रूप अज्ञान-अंधकार पूर्णतः विगलित हुआ है जिसे कामायनीकार ने 'त्रिपुर' की संज्ञा से अभिहित किया है।"[1] किन्तु, उन्होंने शैवदर्शन की मान्यता को पहले से स्वीकार कर ही, इस मत का उत्थापन किया है।

'रहस्य' सर्ग को पढ़ने से डॉ० जोशी का मत ग्राह्य नही प्रतीत होता। इच्छालोक का वर्णन सुनकर मनु कहते हैं। "कामायनी! तुमने यह सुन्दर लोक दिखाया है, किन्तु वह श्याम देश कौन है? उसमें क्या विशेष रहस्य रहता है?"[2] वैसे-ही, कर्म-लोक का वर्णन सुनकर मनु कह उठते है, "बस ! अब तू इसे और न दिखा; यह अति-भीषण कर्म-जगत् है।"[3] बिलकुल स्पष्ट है कि ऐसी प्रतिक्रियाएँ आत्मप्रत्यभिज्ञा वाले प्रमाता की नही हो सकती। वस्तुतः श्रद्धा के इस कथन-मात्र से ही कि तुम त्रिकोण के मध्य-विन्दु हो, मनु मे अपने आत्म-स्वरूप का सच्चा एवं पूर्ण परामर्श नही हुआ है। यह आत्मप्रत्यभिज्ञान तब पूर्ण होता है जब गुरुरूपा श्रद्धा के मुसकान-रूप अनुग्रह से ये तीनों लोक संबद्ध हो जाते हैं, और महाकाल के विषम नृत्य के साथ-त्रिपुर का विलय हो जाता है—

"स्वप्न, स्वाप, जागरण भस्म हो,
इच्छा क्रिया, ज्ञान मिल लय थे;
विश्व अनाहत पर निनाद में—
श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे !" (रहस्य)

घ. मनु की जीवन्मुक्ति

आत्मप्रत्यभिज्ञा अथवा तात्त्विक आत्म-बोध वाले मनु की जीवन्मुक्ति का निरूपण 'आनन्द' सर्ग का प्रतिपाद्य है।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन में 'जीवन्मुक्ति' और 'विदेहमुक्ति' नाम से दो प्रकार की

---

१. **'कश्मीर शैवदर्शन और कामायनी', प्रथम संस्करण, पृ० २८९**

२. **"सुन्दर यह तुमने दिखलाया,**
किन्तु कौन वह श्याम देश है ?
कामायनी ! बताओ उसमें
क्या रहस्य रहता विशेष है ?" (रहस्य)

३. **"बस ! अब इसे न और दिखा तू,**
यह अति-भीषण कर्म-जगत् है।" (वही)

मुक्ति मानी गयी है । आत्मप्रत्यभिज्ञा अर्थात् तात्त्विक आत्मबोध के फलस्वरूप जीवात्मा परमेश्वर के ऐश्वर्य को अपने ऐश्वर्य के रूप में हृदयंगम कर, अपनी ही परमेश्वरता की प्रतीति में जब रम जाता है, तब वह 'जीवन्मुक्ति' प्राप्त कर लेता है । अतएव, परमेश्वरता का आस्वाद ही जीवन्मुक्ति है । इसमें शरीर-पात (मृत्यु) अपेक्षित नहीं । इसके विपरीत, वही जीवन्मुक्त योगी जब मृत्यु के उपरान्त साक्षात् परमेश्वरता लाभकर परमशिव हो जाता है, तब उसकी मुक्ति 'विदेहमुक्ति' हो जाती है । अर्थात्, देह-विगलन (शरीरपात) होने पर परमतत्त्व में लय हो जाना ही 'विदेहमुक्ति' है ।[1] जीवन्मुक्ति के परिणाम-रूप में ही विदेहमुक्ति संभव होती है, उसके अभाव में इस दुष्प्राप्य ही बताया गया है ।[2] मनु को श्रद्धा-रूप गुरु के वचनादि से अपनी तात्त्विक पहचान हुई है और वह परमेश्वरता के परामर्श में गद्‌गद हो गये हैं । यही उनकी जीवन्मुक्ति है । यही उनकी शाम्भवी अवस्था है जिसमें वह शिव के साथ ऐकात्म्य की अनुभूति से आप्लावित हो गये है ।[3]

मनु की अद्वैत-प्रतीति अथवा शिव के साथ एकात्मकता, अर्थात्, मनु की परमेश्वरता की अंतरंग अनुभूति निम्न छन्द मे व्यंजित हुई है—

"हम केवल एक हमीं हैं
तुम सब मेरे अवयव हो
जिसमें कुछ नहीं कमी है ।" (आनंद)

शिव के साथ एकात्म्य की अवस्था को शैव शास्त्रों में "उन्मनाभूमि" कहा गया है ।[4] यह "उन्मनास्थिति" शिवपद के अभेदयुक्त आत्मबोध की स्थिति है और इस अवस्था को प्राप्त योगी "उन्मन" कहलाता है ।[5] यह "उन्मनापद"

---

१. "एतेन जीवन्मुक्तिविदेहमुक्तयोः महानभेदः उक्त । जीवन्मुक्तिर्हि तत्त्व-दर्शित्वमेवास्वाद-सहितम् । विदेहमुक्तिस्तु तत्त्वेलयः ।"
'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' की भास्करी टीका भाग दो ।

२. 'परं तु जीवन्मुक्तिं विना विदेहमुक्तिर्दुष्प्राप्यैव ।"

३. "पूर्णत्वावहमित्यन्तर्ज्ञानमानन्द उच्यते ।" पूर्ण अहं का अन्तर्ज्ञान ही आनंद कहलाता है । (महार्थमञ्जरीवृत्ति)
वही

४. "उन्मनाभूमौच तदैकात्म्यमित्येवमुक्तम् ।"
तंत्रालोक टीका, भाग ? १२.

५. "आत्मबोधे स्थितोन्मनाः ।"—स्वच्छन्दतंत्र, भाग २.

(उन्मनास्थिति) ही "सामरस्य" है जिसमें विश्रान्त योगी, शिव के साथ ऐकात्म्य-बोध के कारण, "शुद्धात्मा" कहलाता है ।[1]

कैलास की यात्रा करने वाले जनसमूह ने मनु को इसी शाम्भवी स्थिति में 'उन्मन' देखा है--

"भर उठा मनोहर नभ में,
मनु तन्मय बैठे उन्मन ।" (आनंद)

शिव के साथ सामरस्य की स्थिति को प्राप्त योगी आत्मबोध में 'तन्मय' रहता है—

"तस्मिन्युक्तस्ततो ह्यात्मा तन्मयश्च प्रजायते ।"
(स्वच्छन्दतन्त्र)

उपर्युद्धृत पंक्तियों में 'तन्मय' तथा 'उन्मन' शब्दों का युगपत् प्रयोग प्रसाद की दार्शनिक विवक्षा की स्पष्ट व्यंजना करता है । जीवन्मुक्त मनु, लौकिक व्यवहार करते हुए भी, इसी 'परतत्त्व-विश्रान्ति', अर्थात्, शिव-समावेश में निश्चल बुद्धि से लीन हैं और यही उनका ध्यान में निमग्न होना है जो इन पंक्तियों में कथित हुआ है—

"मनु बैठे ध्यान-निरत थे,
उस निर्मल मानस-तट में ?" (आनंद)

शाम्भवी दशा को प्राप्त जीवन्मुक्त योगी सामरस्य की चर्वणा में अखंड आनन्द-सागर में गोते लगाता है । मनु भी श्रद्धा अर्थात् अपनी निजी शक्ति से समन्वित होकर तात्त्विक आत्म-बोध मे संलीन हैं और समरसता-जन्य आनन्द के समुद्र ही बन गये हैं--

"निज शक्ति तरंगायित था
आनन्द-अम्बुनिधि शोभन ।"

कश्मीरी शैव दर्शन के अनुसार, शिव के साथ ऐकात्म्य का अनुभव करने वाला जीवन्मुक्त योगी अपनी परमेश्वरता के उत्कर्ष को हृदयंगम कर, पूर्णानन्द में लीन थे, यह अनुभव करता है कि यह संपूर्ण विश्व मुझसे ही निकला तथा मुझमें ही प्रकाशित हो रहा है, मैं ही सबमें प्रस्फुरित हो रहा हूँ, यह विश्व मेरा शरीर है और मै ही पूर्णचिद्रूप परमेश्वर हूँ ।[2] मनु भी अपनी पूर्ण

---

१. "उन्मनापदमारोहन् शुद्धात्मा तु ततो भवेत् ।
तदित्थं शुद्धचैतन्यस्वरूपसामरस्यापन्नम् ।।"—स्वच्छन्दतंत्र, भाग ३.

२. "मय्येव भाति विश्व दर्पण इव निर्मले घटादीनि ।
मत्तः प्रसरति सर्वं स्वप्नविचित्रत्वमिव सुप्तान् ।।

'अहन्ता' में, अपने पारमेश्वर स्वरूप के आन्तरिक प्रत्यवमर्श (बोध वा प्रतीति) में ऐसा-ही अनुभव कर रहे हैं--

'हम अन्य न और कुटुंबी,
हम केवल एक हमीं हैं;
तुम सब मेरे अवयव हो
जिसमें कुछ नहीं कमी है।" (आनंद)

जीवन्मुक्त योगी अपनी पूर्णसंविद्रूपता के अद्वय-विमर्श में पूर्ण समरसता के बोध से ओतप्रोत रहता है और सती कारण, उसे पाप-पुण्य, सुख-दुःख का द्वैत कभी अवभासित नहीं होता।[1] मनु जीवन-वसुधा को इसीलिए समतल, समरस बताते हैं, जहाँ कोई शापित-तापित नही है--

"शापित न यहाँ है कोई,
तापित पापी न यहाँ है!
जीवन-वसुधा समतल है,
समरस है जो कि जहाँ है।" (आनंद)

अपने पूर्ण भगवदरूप (शिवरूप) की ज्ञानापत्ति से पूर्णतः निराशंस वा कृतकृत्य हो जाने के कारण, जीवन्मुक्त योगी अपना शेष जीवन "लोकानुग्रह" में व्यतीत करता है। 'तंत्रालोक' के अनुसार, अनंत दुःखों एवं संतापों की ज्वाला में दग्धीभूत सांसारिक जीवों को उनके तात्त्विक आनंदमय चिद्रूप की पहचान कराकर उन्हें दुःखमुक्त करना ही सच्चा लोकानुग्रह है। प्रसाद ने इसी दार्शनिक व्यवस्था का पालन करते हुए, तत्त्वदर्शी, "शुद्ध अध्वा" के प्राणी, मनु को संसृति की सेवा करते हुए बताया है--

वे युगल वहीं अब बैठे
संसृति की सेवा करते;
संतोष और सुख देकर
सबकी दुख-ज्वाला हरते।" (आनंद)

जीवन्मुक्त मनु ने गुरुभाव से अपने पुत्र मानव को समरसता एवं अद्वयता

अहमेव विश्वरूप करचरणादिस्वभाव इव देहः।
सर्वस्मिन्नहमेव स्फुरामि भावेषु भास्वरूपमिव ॥" —'परमार्थसार'

"एतेषां सुखदुःखाशंकातर्क विकल्पनाः।
निर्विकल्पपरावेशमात्रशेषत्वमागताः ॥" —तंत्रालोक

का जो तत्त्वोपदेश दिया है, वह भी लोकानुग्रह का ही स्वरूप है ।[1]

अतएव, स्वात्म-प्रत्यवमर्श वाले मनु की जीवन्मुक्ति 'कामायनी' के अंतिम सर्ग में शैव दर्शन के अनुरूप प्रदर्शित की गई है ।

---

१. "सब भेदभाव भुलवाकर
दुख-सुख को दृश्य बनाता;
मानव ! कह रे ! यह मैं हूँ,
यह विश्व नीड़ बन जाता ।" (आनंद)

च. कवित्व–भूमि

१६. बिम्बयोजना
१७. शिल्पविधान (वस्तु, शैली, अभिव्यक्ति)
१८. लक्षणा एवं व्यञ्जना का सौन्दर्य
१९. प्रसाद की अन्य रचनायें और कामायनी
२०. कामायनी का मूल्यांकन
परिशिष्ट

१६ | बिम्ब-योजना

१. बिम्ब : स्वरूप तथा कोटियाँ

क.

'बिम्ब' शब्द अंग्रेजी 'इमेज' (Image) का पर्याय बन गया है। 'इमेज' का सामान्य अर्थ होता है चित्र, रूप, मूर्ति अथवा प्रतिमा। इस प्रकार किसी पदार्थ की बाह्य आकृति की नेत्र-सुलभ नकल, अनुकृति अथवा प्रतिकृति 'इमेज' कहलाती है।[1] लेकिन, हिन्दी में 'इमेज' के इन अर्थों के द्योतन के लिए 'बिम्ब' शब्द का प्रयोग साधारणत. नहीं होता। 'इमेज' का शास्त्रीय प्रयोग मनोविज्ञान में होता है और 'बिम्ब' से उसी मनः शास्त्रीय अर्थ का ग्रहण किया गया है।

मनोविज्ञान मे 'इमेज' का अभिप्राय अतीत के किसी प्रत्यक्ष अनुभव की स्मृति अथवा पुनर्निर्मिति से होता है जो मूल उद्दीपन के अभाव में मन-स्पटल पर अंकित हो जाती है। दूसरे शब्दो में, ऐसी सचेत स्मृति जो मूल उद्दीपन की अनुपस्थिति मे किसी अतीत अनुभव का समग्र अथवा आंशिक रूप में पुनरुत्पादन करती है, 'इमेज' कही जायेगी।[2] 'बिम्ब' इसी मनोवैज्ञानिक अर्थ का द्योतक है। अर्थात्, बिम्ब किसी अतीत अनुभव का कल्पना-द्वारा आहूत अथवा आनीत मानस-चित्र है।

काव्य में बिम्बों की अवतारणा को पाश्चात्य समालोचना में अत्यधिक महत्त्व मिला है। शायद इसका कारण प्रसिद्ध यूनानी तत्त्ववेत्ता प्लैटो का यह सिद्धांत रहा है कि कला अनुकरण या अनुकृति है जिसका परिपोष उसके शिष्य तत्त्वज्ञ

---

1 Concise Axford Dictionary (fourth edition).

2. "Images are conscious memories which reproduce a previous perception, in whole or in part, in the absence of the original stimulus to the perception".

—C. W. Bray : Encyclopaedia Brittanica, Vol. 12, पृ० १०३।

अरस्तू ने इस परिष्कार के साथ किया कि कला या काव्य वैसी अनुकृति है जिसमें मूल भौतिक पदार्थ वा घटना का सजीव प्रतिचित्रण अथवा प्रस्तुतीकरण उत्पन्न होता है। आधुनिक समालोचकों ने काव्य-बिम्ब का यथेष्ट विवेचन किया है और कभी-कभी विषय की इतनी गहराई के साथ गवेषणा का प्रयास किया है कि सामान्य काव्यानुरागी उसके चक्रव्यूह में फँस कर[1] कतिपय मोटे एवं सुलभ तथ्यों को पकड़ने में ही कृत्कृत्यता का अनुभव करता है। इस दृष्टि से, सी० डे० लीविस की काव्यबिम्ब विषयक परिभाषा ग्राह्य प्रतीत होती है : "काव्य-बिम्ब न्यूनाधिक परिमाण मे ऐन्द्रियता के तत्त्व से समंजित, कुछ अंशों में अलंकृत, शब्द-चित्र है जिसके संदर्भ में किसी मानवीय संवेदना की अन्त-र्ध्वनि रहती है तथा जो एक विशिष्ट काव्यात्मक भाव या राग से गर्भित होने के साथ, वैसी-ही रागात्मक अनुभूति पाठकों में उद्दीप्त कर सकता है।"[2]

स्पष्ट है कि काव्य-बिम्ब, मनोविज्ञान के बिम्ब के समान ही, एक मानस-

---

1. "Image is a single word, but an image is not a determinate entity. There is no way of deciding, precisely where an image begins and where it ends and There is no definitive criterion by which we can say, what is an image in poetry and what is not".

—George Whalley : 'Poetic Process.'

---अर्थात्, 'बिम्ब एक शब्द है, किन्तु बिम्ब कोई निश्चित वस्तु नहीं। इस बात को सही-सही निश्चित करने का कोई तरीका नहीं है कि कोई बिम्ब कहाँ प्रारम्भ होता है और कहाँ समाप्त होता है। पुनः ऐसी कोई अंतिम कसौटी नहीं जिसके आधार पर हम कह सकें, कि कविता में क्या बिम्ब है और क्या बिम्ब नहीं है। बिम्ब के ऊहा-पोह में कितनी उलझन उत्पन्न हो गई है !

2. "We begin to see, then, that the poetic image is a more or less sensuous picture in words, to some degree metaphorical, with an under tone of some human emotion in its context, but also charged with and releasing into the reader a special poetic, emotion or passion....."

—C. D. Lewis : 'The poetic image, Eighth impression, पृ० २२।

चित्र है जो, मूल उद्दीपन की अनुपस्थिति में, कवि द्वारा कल्पना के माध्यम से रूपायित किया जाता है। विशेषता उसकी यह होती है कि वह किसी-न किसी राग अथवा संवेदना से लिपटा रहता है तथा उसका सुन्दर, सजीव शब्दों में इस कौशल के साथ अंकन हुआ रहता है कि पाठकों के अभ्यंतर में वही भाव स्पष्टता के साथ उद्‌बुद्ध हो जाता है।

ख.

बाह्य जगत् का बोध हमें ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से ही होता है। इस बोध-व्यापार में नेत्रों का विशेष महत्त्व है क्योंकि विश्व-प्रपंच के अधिकांश का ज्ञान आँखों से देख कर ही हम प्राप्त करते हैं। 'बिम्ब' शब्द से भी नयनगोचरता की ही ध्वनि मिलती है। बिम्ब में एक रूप या चित्र की सहज भावना लिपटी होती है। अतएव, चक्षुग्राह्य बिम्बों की कल्पना सद्यः हो जाती है। लेकिन, प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय से उत्पन्न बोध, अर्थात्, प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय का अनुभव मनोविज्ञान में बिम्ब-रूप माना गया है। चाक्षुष अनुभव में मूर्त्त-तत्त्व प्रधान होता है, किन्तु कान, नाक, जिह्वा तथा त्वचा के माध्यम से भी जो अनुभव प्राप्त होता है, वह भी तत्त्वतः बिम्बात्मक होता है। इस प्रकार, शब्द, गंध, स्वाद तथा स्पर्श के भी अपने-अपने बिम्ब होते हैं। उदाहरणतः, कोयल की कूक सुनते-सुनते उसकी ध्वनि का बिम्ब (वा एक विशेष रूप), केवड़े को सूँघते-सूँघते उसकी गंध का बिम्ब, रसमलाई या रसगुल्ले को चखते-चखते उसकी मिठास का बिम्ब, और मखमली वस्त्र या संगमर्मरी दीवाल के हाथ से छूते-छूते उसकी चिकनाहट का बिम्ब हमारे अनुभव-संघटन में दृढ़ हो जाता है। इसी कारण, मनोविज्ञान मे दृष्टि-बिम्ब, ध्वनि-बिम्ब, घ्राण-बिम्ब, स्वाद-बिम्ब तथा स्पर्श-बिम्ब माने जाते है।[1] काव्य में शब्दार्थ के माध्यम से रूप, ध्वनि, घ्राण, रसना तथा स्पर्श के सजीव अनुभव चित्रांकित किये जाते है और इस प्रकार, वहाँ इनसे संबंधित बिम्बों की अवतारणा होती है। इनमें से प्रत्येक बिम्ब कोई-न-कोई राग या संवेदना जगाता है क्योंकि उसके मूल में या संदर्भ मे कोई-न-कोई संवेग या राग-तत्त्व अवश्य वर्तमान होता है। लीविस ने काव्य-बिम्ब को रागात्मकता के तत्त्व से गर्भित मानने के साथ, जो उसकी ऐन्द्रियता पर बलाघात किया है, उसका आधार मनोविज्ञान की यही व्यवस्था है।

---

१. इनके क्रमशः नाम अंग्रेजी में ये हैं -
Visual image, Auditory image, Olfactory image, Gustatory image और Tactile image.

ग.

इन पंचविध बिम्बों पर विचार करने से जान पड़ता है कि बिम्ब 'पदार्थ' का भी होता है और 'गुण' का भी। ताजमहल का चाक्षुष बिम्ब पदार्थ का बिम्ब है जबकि कोयल की कूक का ध्वनि-बिम्ब गुण का बिम्ब है। अतएव, बिम्ब का मूल विषय मूर्त्त और अमूर्त्त दोनों प्रकार का हो सकता है, यद्यपि बिम्ब स्वत: अमूर्त्त नहीं होता; मूर्त्तता, अर्थात्, गोचरता (किसी-न-किसी इन्द्रिय का विषय होना) उसके लिए आवश्यक है।[1] काव्य में शब्दार्थ के माध्यम से पदार्थ तथा गुण दोनों के बिम्ब अंकित होते हैं। गुण से लिपटी हुई सत्ता भावों तथा धारणाओं की होती है। न्याय, सत्य इत्यादि धारणाएँ और वासना, क्रोध इत्यादि भाव भी अपना बिम्ब रखते हैं--यह भिन्न बात है कि इनका विभावन कर्म अथवा अनुभाव रूप में होता है।[2] धारणात्मक बिम्ब मूलत: बुद्धि वा प्रज्ञा के विषय होते हैं और भावात्मक बिम्ब मन के विषय होते हैं। पहले प्रकार के बिम्ब बुद्धि-ग्राह्य तथा दूसरे प्रकार के बिम्ब मनो-ग्राह्य होते हैं। बुद्धि-ग्राह्य बिम्बों को काव्य मे सफल रीति से संप्रेष्य बनाना प्राय: कठिन होता है। इसके लिए कभी रूपक (ऐलीगरी) का आश्रय लेना पड़ता है और कभी किसी प्रबन्ध की निपुण योजना करनी पड़ती है। 'सत्य-हरिश्चन्द्र' नाटक में सत्य की धारणा अथवा प्रमेय (Concept) का सफलता-पूर्वक बिम्बन हुआ है--पूरे कथानक की समाप्ति के बाद सत्य का अत्यन्त प्रांजल बिम्ब हमारे मानस-पटल पर अंकित हो जाता है।

भावात्मक बिम्ब तो काव्य की अत्यन्त बहुमूल्य सम्पत्ति है। प्रेम, क्रोध, घृणा इत्यादि मनोभाव, अनुभाव-रूप मे व्यक्त होकर, सहृदय पाठक के अन्तर्मन में अपनी अमिट मूर्त्तियाँ छोड़ देते हैं। विश्व-साहित्य ऐसे भावात्मक बिम्बों से समृद्धिमान् बन गया है। ऐसी अवस्था में, बौद्धिक एवं भावात्मक बिम्बों की सत्ता का प्रत्याख्यान नहीं किया जा सकता। 'अस्तित्व' और 'स्वतंत्र अस्तित्व' का भेद करना कम-से-कम काव्य-दृष्टि से उचित नहीं कहा जा सकता।[3]

---

१. डॉ० नगेन्द्र : 'काव्य-बिम्ब' (१९६७), पृ० ५

२. न्याय-परायण व्यक्ति न्याय के कर्म करता है तो न्याय की सत्ता का बोध होता है और क्रोध में आकर मनुष्य गाली देना, आँखें लाल करना इत्यादि अनुभाव प्रदर्शित करता है तो क्रोध की सत्ता का बोध होता है।

३. डॉ० नगेन्द्र ने अपनी पुस्तक 'काव्य-बिम्ब' में बौद्धिक तथा भावात्मक बिम्बों के स्वतंत्र अस्तित्व का प्रत्याख्यान किया है-देखिये, पृ० १५-१६

आचार्य शुक्ल ने 'साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्यवाद' शीर्षक निबन्ध में काव्य का विषय आंग्ल काव्य के बिम्बवादियों की भाँति, सदा "विशेष" बताते हुए कहा है कि काव्य का काम है कल्पना में बिम्ब (Images) या मूर्त्त भावना उपस्थित करना; बुद्धि के सामने कोई विचार (Concept) लाना नहीं, और "बिम्ब जब होगा तब विशेष या व्यक्ति का ही होगा, सामान्य या जाति का नहीं।"[1] प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक कांट ने 'बिम्ब' तथा 'विचार-चित्र' में भेद करते हुए, इसी प्रकार की स्थापना की है, अर्थात्, वह भी बिम्ब को सदैव विशिष्ट और विचार-चित्र को सार्वभौम मानता है। बिम्ब में रागात्मक संस्पर्श की सत्ता तथा विचार-चित्र में उसका अभाव बताते हुए कांट ने कहा है कि इसी कारण बिम्ब मे एक प्रकार की गतिशील, स्वनिर्मित अन्विति वर्तमान होती है जबकि विचार-चित्र प्रज्ञात्मक होने के कारण उस अनुभवगम्य यथार्थ से विच्छिन्न हो जाता है जिससे कला उत्पन्न होती है।[2] लेकिन रेखांकित करने का बिन्दु यह है कि काव्य मे अनुभूतियो का चित्रण प्रधान रहता है और समर्थ कला का सहयोग प्राप्त कर ये अनुभूतियाँ अन्ततः[3] बिम्ब-रूप में कल्पनाशील पाठक के सम्मुख प्रत्यक्ष हो जाती है। ये बिम्ब कभी विशुद्ध रागात्मक और कभी राग-सीमा को अतिक्रान्त कर कतिपय प्रमेयो अथवा धारणाओं की प्रांजल सृष्टि करते है। इस प्रकार, काव्य में अवतीर्ण बिम्ब सामान्यता के अनुपगो से भी अनुरंजित होते है; और इसलिए, प्रज्ञात्मक अथवा भावात्मक बिम्बो के अस्तित्व को इनकारा नही जा सकता।

तब, काव्य-सुलभ बिम्बो की तीन स्पष्ट कोटियाँ दिखाई पड़ती है। पहली कोटि मे पंचेन्द्रियो से ग्राह्य बिम्ब आते है। दूसरी कोटि में ऐसे भाव-बिम्ब आते हैं जो अलग-अलग इन्द्रियो के विषय न होकर, सम्पूर्ण मन के विषय होते हैं। इनमें रसात्मकता अधिक होती है तथा इनका प्रभाव अपेक्षया स्थायी होता है। तीसरी कोटि बौद्धिक बिम्बो की होती है जो प्रज्ञा-द्वारा ग्राह्य होते हैं। संप्रेषणीयता की दृष्टि से इनमे यही अनुक्रम बिठाया जा सकता है : पचेद्रियों वाले बिम्ब सबसे प्रेषणीय; मनोग्राह्य बिम्ब उनसे कम प्रेषणीय और प्रज्ञात्मक बिम्ब उनसे भी कम प्रेषणीय। काव्य के रसज्ञ भावकों की योग्यता की दृष्टि से ऐसी ही कोटियाँ बनाई जा सकती हैं।[1] ध्यातव्य यह है कि इन सभी बिम्बों

---

१. 'चिन्तामणि' (पहला भाग), १९७०, पृ० १८४

२. George Whalley : Poetic Process', Chap. IV, पृ० ५५

३. पंचेन्द्रियों वाले बिम्बों में भी दृष्टि-बिम्ब सर्वाधिक सुगम होता है। क्योंकि उसमें मूर्त्त-तत्त्व अधिक होता है।

में मूर्त्तता का न्यूनाधिक अंश रहता ही है और उनकी रचना में ऐन्द्रिय तत्त्व भी कही-न-कही; किसी-न-किसी रूप में, किसी-न-किसी स्तर पर अवश्य वर्तमान रहता है। मैं यह बात काव्य-बिम्बो के संदर्भ में ही कह रहा हूँ क्योंकि काव्य में प्रतिष्ठित होने के लिए प्रज्ञात्मक प्रमेयों को भी अपनी अतिशय अथवा ऐकान्तिक बौद्धिकता का थोड़ा-बहुत परित्याग करना पड़ता है और कवि-कल्पना के अनुशासन मे बँधना पड़ता है। कवि "शून्य भित्ति" पर रचना नही कर सकता, वह तो "वायवी शून्य को भी एक अभिधा एवं एक स्थिति प्रदान कर देता है।"[1]

घ.

बिम्ब-रचना की प्रक्रिया मे मूर्ति-विधायनी कल्पना (Plastic Imagination) का प्रमुख हाथ होता है। अतएव, भाषा के वक्र-लाक्षणिक प्रयोग तथा उपमा, रूपक, व्यतिरेक, अतिशयोक्ति इत्यादि अर्थालंकार, समस्त काव्यगत टेकनीको का विनियोग कवि-द्वारा बिम्ब-निर्माण में किया जाता है। प्रसंगानुकूल, अनुप्रास तथा ध्वनिसूचक वर्ण-योजना भी आवश्यक होती है। पाश्चात्य विद्वानों ने भाषा को मूलतः रूपकात्मक (मेटाफरिक) मानते हुए, बिम्बों का घनिष्ठ सम्बन्ध रूपक (अलंकार) से माना है।[2] वस्तुतः किसी-न-किसी रूप में औपम्य अथवा सादृश्य की योजना बिम्ब-रचना मे महत्त्व की सिद्ध होती है। 'पल्लव' की भूमिका मे सुमित्रानन्दन पंत ने कविता में "चित्र-भाषा" के प्रयोग की अनुशंसा करते हुए लिखा है :—

"कविता के लिए चित्रभाषा की आवश्यकता पड़ती है। उसके शब्द सस्वर होने चाहिए, जो बोलते हो, सेव की तरह जिनकी रस-मधुर लालिमा भीतर न समा सकने के कारण बाहर झलक पड़े; जो अपने भाव को अपनी

---

१. Gives to airy nothing a local habitation and a name."
(शेक्सपियर)

२. रिचार्ड्स ने अपनी पुस्तक 'The philosophy of Rhetoric' में रूपक वा मेटाफर की महत्ता पर प्रचुर प्रकाश डाला है। यद्यपि हर्बर्टरीड इत्यादि समीक्षकों ने रूपक तथा बिम्ब में सूक्ष्म अन्तर दिखाने का प्रयास किया है, तथापि सी० डे० लीविस जैसे विद्वानों ने रूपक तथा बिम्ब का प्रयोग प्रायः समान अर्थ में किया है। प्रत्येक कविता का एक बिम्ब बताते हुए, लीविस ने रूपक को कविता का जीवित कहा है और उसे कवि-प्रतिभा का मुख्य निकष एव गौरव बताया है।
--दे० 'The poetic Image' Eighth-Impression, पृ० १७

ही ध्वनि में आँखों के आगे चित्रित कर सकें, जो झंकार में चित्र, चित्र में झंकार हों; जिनका भाव-संगीत विद्युद्धारा की तरह रोम-रोम में प्रवाहित हो सके, जिसका सौरभ सूँघते ही साँसों द्वारा अन्दर पैठकर हृदयाकाश में समा जाये; जिनका रस मदिरा की फेनराशि की तरह अपने प्याले से बाहर छलक उसके चारों ओर मोतियो की झालर की तरह झूलने लगे, छत्ते में न समाकर मधु की तरह टपकने लगे; .... इत्यादि ।"[1]

पन्त की 'चित्रभाषा' वास्तव में बिम्बनिर्मात्री भाषा है जिसके विनियोग मे कवि-शिल्प का सपूर्ण कौशल रूपायित हो जाता है । कभी-कभी एक समर्थ एवं व्यजक विशेषण के प्रयोग से भी एक लघु बिम्ब की सृष्टि संभव हो जाती है । लीविस ने कहा है, "An epithet, a metaphor,a simile may create an image." अर्थात्, एक विशेषण, एक रूपक, एक उपमा के प्रयोग से एक बिम्ब की रचना हो सकती है ।

ङ.

इसी प्रसग मे मै 'चित्र' तथा 'बिम्ब' मे थोड़ा भेद करना चाहूँगा । यो-तो चित्र अथवा बिम्ब का अकन कल्पना के अभाव मे नही हो सकता, तथापि जहाँ कवि केवल यथार्थ की स्थूल रेखाएँ खीचकर किसी वस्तु-स्थिति का बोध कराना चाहता है, वहाँ केवल 'चित्र' अवतीर्ण होता है, 'बिम्ब' नही । यो दृष्टि बिम्ब अर्थात् चक्षुग्राह्य बिम्ब को साधारणत: चित्र (Picture) कहा जा सकता है,[2] लेकिन चित्र और बिम्ब (दृष्टि-बिम्ब ही सही) मे यह भेद होना चाहिए कि जहाँ पहले मे विशुद्ध यथा-तथ्य चित्रण होता है, वहाँ दूसरे मे यथा-तथ्यता में कल्पना का सक्रिय सौन्दर्य भी मिल जाता है । इसी कारण, चित्र को समझने मे कल्पना का वह व्यायाम नही करना पडता जो बिम्ब को हृदयंगम करने के लिए आवश्यक है । बिम्ब मे चित्रात्मकता अन्तर्निहित है, किन्तु चित्र तभी बिम्ब की मर्यादा ग्रहण करता है जब उसमे सक्रिय कल्पना की पॉलिश चढ जाती है--यह भिन्न बात है कि, जैसा अभी कहा है, कल्पना के एकान्त अभाव में काव्य का कोई वर्णन या चित्रण सभव नही है । 'कामायनी' के आरम्भिक छन्द--

"हिमगिरि के उत्तुग शिखर पर,
बैठ शिला की शीतल छाँह,

---

१. 'पल्लव', भूमिका, पृ० १७-१८ (संवत् २००५)

२. 'Picture : a visible or visual image.--Chambers's Twentieth century Dictionary. (1964)

एक पुरुष, भींगे नयनों से,
देख रहा था प्रलय प्रवाह !" इत्यादि--

केवल 'चित्र' है, 'बिम्ब' नही ।

तथ्य वर्णन करने वाला चित्र 'बिम्ब' कैसे बन जाता है, इसके निदर्शनार्थ बिहारी का निम्न दोहा लिया जा सकता है--

"अहे दहेंड़ी जिनि धरै जिनि तूँ लेहि उतारि ।
नीकै है छींकै छुवै, ऐसेई रहि नारि ।।"

सहृदय पाठक सद्य: समझ सकते है कि बिहारी का प्रस्तुत चित्राकन, वस्तु-स्थिति का यथार्थ बोध कराने के साथ, 'बिम्ब' बन गया है ! "अहे" तथा "ऐसेई रहि नारि" के कथन से जो कल्पना-रमणीयता आ गई है, वही इस चित्र को बिम्ब के सौन्दर्य से मडित कर देती है । अंग्रेजी काव्य के बिम्ब-वादियों ने भी कोरे चित्रात्मक प्रत्यंकन, 'पिक्टोरियल रेप्रेजेण्टेशन' (Pictorial representation), को बिम्ब नही माना है । एजरा पाउण्ड का कथन है कि बिम्ब बौद्धिक तथा संवेगात्मक जटिलताओं को सद्य: हमारे मानस मे प्रत्यक्ष कर देता है । वह पाठक के भीतर एक विलक्षण सवेदना उत्पन्न करता है जो सामान्य जीवन मे उपलब्ध नही होती । यद्यपि बिम्ब को उसके सदर्भ की पूर्णता मे ही सही ढंग से समझा जा सकता है जैसा प्रोफे० केमन ने कहा है, तथापि मुक्तकों में उपनिबद्ध बिम्ब भी अपनी सरसता एवं सान्द्रता से हमारे स्मृति-पटल पर कल्पना-रमणीय भाव-मूर्ति अंकित कर सकते है । अर्थात्, शब्द-निर्मित चित्र होते हुए भी, बिम्ब में किसी भाव को उद्दीप्त करने की शक्ति सन्निहित होती है और तथ्य के कोरे रेखांकन से उसकी आत्मा का सगीत प्रस्फुट नही हो सकना । लीविस, विल्सन नाइट इत्यादि पाश्चात्य समालोचकों ने प्रकारान्तर से इस बात की पुष्टि की है ।

अब उपर्युक्त विवेचन को समेटने के लिए बिम्बों की द्विधात्मक दृष्टि से कोटियाँ बनाई जा सकती हैं--प्रथम, ग्राह्यता के आधार पर और द्वितीय, अनुभूतियों अथवा भावों की ऋजुता या जटिलता के आधार पर । पहली दृष्टि से इन्द्रियग्राह्य, मनोग्राह्य तथा बुद्धिग्राह्य और दूसरी दृष्टि से सरल, संकुल तथा जटिल--इन तीन-तीन कोटियों मे बिम्बों पर विचार किया जा सकता है ।

रचना-प्रक्रिया की दृष्टि से बिम्बों का एक अन्य वर्गीकरण भी किया गया है, यथा स्मृति-बिम्ब और आद्यबिम्ब या आदिम बिम्ब, जिन्हें क्रमश. अंग्रेजी में Memory images तथा Archetypal images कहा गया है । आगे उचित संदर्भ में इनका उल्लेख किया गया है । काव्य में दर्शन-तत्त्व के अनुप्रवेश से

दार्शनिक बिम्बों की भी अवतारणा होती है जिनमें ऐन्द्रियता अथवा मनो-ग्राह्यता के तत्त्व वर्तमान हो सकते हैं ।

२. 'कामायनी' के बिम्ब

अब 'कामायनी में नियोजित बिम्बों की उपर्युक्त कोटियों के अन्तर्गत विवेचना की जायेगी ।

क. इन्द्रिय-ग्राह्य बिम्ब : वस्तु-बिम्ब

'चिन्ता' सर्ग में जल-विप्लव का अत्यन्त भीषण एवं प्रभावकारी बिम्ब अंकित हुआ है जिसमे चक्षु श्रोतृ एवं स्पर्श इन्द्रियों की तृप्ति की युगपत् योजना हुई है, यथा—

"दिग्दाहों से धूम उठे, या
जलधर उठे क्षितिज-तट के ।
सघन गगन में भीम प्रकंपन,
झंझा के चलते झटके ।

+

पंचभूत का भैरव मिश्रण,
शंपाओं के शकल-निपात,
उल्का लेकर अमर शक्तियाँ
खोज रहीं ज्यों खोया प्रात ।" इत्यादि ।

धूम के उठने तथा अन्धकार में अमर शक्तियों के उल्का-रूपी मशाल लेकर प्रात कालीन प्रकाश को खोजने के उल्लेख से चक्षुरिन्द्रिय की तृप्ति होती है, यद्यपि यह तृप्ति अभावात्मक ढंग की है । दिग्दाह तथा झंझा के झटकों से स्पर्शेन्द्रिय, और गगन मे भीषण प्रकंपन के उल्लेख से श्रवणेन्द्रिय के विषय भी यहाँ उपस्थित हो गये है । शेष दो इन्द्रियो घ्राण तथा रसना के विषय निम्न-लिखित दो छन्दों मे चित्रित हुए है—

'धँसती धरा, धधकती ज्वाला,
ज्वालामुखियों के निश्वास,
और संकुचित क्रमशः उसके,
अवयव का होता था ह्रास ।"
"पवन पी रहा था शब्दों को
निर्जनता की उखड़ी साँस,
टकराती थी, बीन प्रतिध्वनि
बनी हिम-शिलाओं के पास ।"

धधकती ज्वाला में स्पर्शेन्द्रिय के अतिरिक्त, ज्वालामुखियों के निश्वास उठने के कथन में घ्राणेन्द्रिय तथा पवन के शब्दों को पीने के कथन में प्रकारान्तर से रसनेन्द्रिय की तृप्ति की योजना हुई है। जल-विप्लव का जो जीवंत एवं प्रभावकारी चित्रण प्रसाद ने किया है, उससे प्रलय की चपेट में ग्रस्त भूमंडल का अतीव भयोत्पादक एवं संश्लिष्ट बिम्ब उपस्थित हो गया है। कवि ने निश्चय ही प्रलय का दृश्य देखा नही लेकिन प्रवीण कल्पना के समाश्रयण से उसने जो रेखाये खींची तथा जैसे रंग उनमें भरे, उनसे जल-विप्लव का प्रस्तुत बिम्ब हमारे मानस पर अमिट छापे अंकित कर गया है।

प्रलय बिम्ब की पड़ोस में ही, वर्षा के बीत जाने से जलधि-लहरियों का नर्तन शनैः-शनैः घटते जाने के कारण, कवि ने पृथ्वी-रूपी वधू का जो चित्र अंकित किया है, उसमें एक अत्यन्त रमणीय बिम्ब उतर आया है :—

"सिंधु-सेज पर धरा-वधू अब
तनिक संकुचित बैठी-सी;
प्रलय-निशा की हलचल-स्मृति में
मान किये-सी, ऐंठी-सी।" (आशा)

ऐन्द्रियता की दृष्टि से इसमें केवल चक्षुरिन्द्रिय का विधान हुआ है, किन्तु बिम्ब नितान्त कल्पनापूर्ण तथा हृदयग्राही बन गया है। सोचिये ऐसी नव्यांगना वधू की अवस्था जिसके साथ, विश्राम एवं रमण की रात्रि में, प्रतिकूल, तनिक हिंसापूर्ण, आचरण किया गया हो! वह वधू अवश्य ही, उषा-लक्ष्मी के उदय लेने पर, विचित्र-खिन्नता एव अवसाद के भावों से भरकर मानवती हो, अपनी कोमल सेज पर संकुचित बैठी होगी! धरा-वधू की ऐसी ही अवस्था उस समय थी। कवि ने अपनी कल्पना के माधुर्य से प्रस्तुत बिम्ब को अनूठे माधुर्य तथा करुणा से ओतप्रोत कर दिया है।

'आशा' सर्ग के अंत में चंद्रिका-चर्चित विभावरी का जो रमणीय चित्राकन किया गया है, उसमें रजनी के मानवीकरण के माध्यम से, एक अत्यन्त मोहक एवं संश्लिष्ट बिम्ब की अवतारणा हुई है। संध्या सुनहली साड़ी में ताराओं का दीपक आकाश-रूपी सागर में तैराती हुई जब आती है, तब रजनी, मानों किसी अज्ञात ईर्ष्या से, उसकी रक्तवर्णा साड़ी फाड़ देती और शरारत से हँसने लगती है। वह अपनी संचित साँसों को छोड़ते हुए हाँफती है और पता नही, किस प्रियतम के पास अभिसरण कर रही है। खिलखिला कर वह व्यर्थ में अपनी हँसी का संचित कोष बिखेर रही है। कहीं ऐसा न हो कि तुहिन-कणों में एवं फेनिल लहरों में फिर अंधकार मच जाय। वह बावली ज्योत्स्ना की जो प्रचुर धूल उड़ाती जा रही है, कही वह उसमें भूल न जाय और अपना मार्ग

विस्मरण न कर बैठे । कवि रजनी के इस बावले स्वरूप एवं आचरण पर मुग्ध हो उठता है और सौन्दर्य-सज्जा का नितान्त स्निग्ध, ललित, निर्दोष तथा हृदयावर्जक चित्र उपस्थित करता है :—

"पगली ! हाँ, सम्हाल ले, कैसे
छूट पड़ा तेरा अंचल ?
देख, बिखरती है मणिराजी
अरी, उठा बेसुध चंचल ।
फटा हुआ था नील वसन क्या
ओ यौवन की मतवाली ?
देख, अकिंचन जगत लूटता
तेरी छवि भोली-भाली !"

रजनी यहाँ मुग्धा बनी है जिसे अपने नीले वसन के फटने का तथा उसमें से दीख पड़ने वाले सौन्दर्य के दरिद्र जगत के द्वारा लूटे जाने का कोई एहसास नहीं हो रहा है ।

इस मोहक बिम्ब में चक्षुरिन्द्रिय की तृप्ति के लिए पुष्कल भोजन परोसा गया है । रजनी के हाँफने (समीरण) तथा खिलखिलाकर हँसने में श्रवणेन्द्रिय की तृप्ति की भी कलात्मक योजना हुई है । ऐन्द्रिय विषयों के अतिरिक्त एक अन्य सूक्ष्म अन्तर्वृत्ति के अभ्यास के लिए भी कवि ने मौन निमन्त्रण दिया है : वह है सौन्दर्यास्वादन की वृत्ति । रजत-कुसुम के नव पराग के सदृश ज्योत्स्ना, नीलवसन, चमकीली मणि-राजियाँ, लापरवाही मे आँचल का छूट पड़ना तथा मणियों का बिखर जाना, नीले वसन का फटना तथा यौवन के मतवालेपन में उसकी ओर ध्यान का न जाना—ऐसी अभिसारिका मुग्धा का बिम्ब और चन्द्रिकाधौत रजनी के रूप में उस मुग्धा का दर्शन, ये सभी तत्त्व हमारी सौदर्य-वृत्ति को उद्बुद्ध करते है । निश्चित-ही, इस मधुर बिम्ब में कल्पना का प्रचुर अवदान है और इसके आस्वादन के लिए भी हमें सहृदयता के साथ अपनी कल्पना का अभ्यास करना पड़ेगा । चित्र-सुलभ रेखाओं का यहाँ प्राचुर्य नहीं है, यद्यपि कवि ने अपनी कुशल तूलिका से प्रचुर रंग भरा है । उसकी सौन्दर्य-प्यासी कल्पना ने रजनी को मानवी बनाकर तथा उससे अभिसार कराकर, मधुर विवरण जोड़ दिये है और पूरा बिम्ब गतिमान सौन्दर्य के सौरभ से सुरभित हो उठा है । चूँकि रचनी का यह बिम्ब मनु देख रहे हैं, इसलिए इसमें उल्लास के साथ-साथ करुणा तथा संयम का भी एक हलका पुट आ गया है ।

'श्रद्धा' सर्ग में प्रसाद जी ने श्रद्धा का रूप-चित्रण किया है । प्रसंग अत्यन्त मनोरम एवं प्रसिद्ध है, और उन्होंने "नयन का अभिराम इन्द्रजाल" प्रस्तुत

किया है । इस चित्रण में अत्यन्त मनोहर एवं चित्ताकर्षक दृष्टि-बिम्ब अवतीर्ण हो गया है । कामायनी की रूप-दीप्ति का जो विस्मयकारी बिम्ब कवि के मानस में छलछला उठा है, उसे शब्दार्थ के माध्यम से अभिव्यक्त करने में उसकी रंग-भावना की मोहक विवृत्ति हुई है । पाठक इस नयन-ग्राह्य रूप-सम्पदा को पकड़ने के लिए सतर्क भाव से अपनी कल्पना के पंख खोल देता है । निम्नोद्धृत छन्द में कामायनी के नील परिधान में से अधखुले दीख पड़ने वाले सुकुमार अंगों का बिम्ब देखें—

"नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग,
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ-वन-बीच गुलाबी रंग ।"

कवि ने अधखुले अंग की मोहक माया को भावित करने के लिए कल्पना से एक सहायक बिम्ब की सृष्टि की : बिजली का फूल श्यामल मेघ-पटल के बीच खिला हो और वह गुलाबी रंग में लिपटा हो । बिजली के सुमन में शायद दीप्ति अधिक प्रखर होगी, इसलिए उसे गुलाबी रंग में निमज्जित कर देना आवश्यक था । तब वह विस्मयकारी सुमन न केवल नेत्रों का आकर्षण होगा, बल्कि स्पर्श के लिए भी लोभनीय विषय बन जाएगा । श्रद्धा के अधखुले लुभावने गात्र के सौन्दर्य को संवेद्य बनाने के लिए कवि ने इस अभिनव प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध अर्थ की योजना की और इस कल्पित बिम्ब के सहारे, श्रद्धा के अधखुले सौन्दर्य का अभीष्ट चाक्षुष बिम्ब अंकित किया जिसमें स्पर्श की मसृणता एवं सुखदता का भी संकेत गर्भित है ।

श्रद्धा की मुसकान के माधुर्य का बिम्ब भी कितना मनोरम है—

"और उस मुख पर वह मुसक्यान !
रक्त किसलय पर ले विश्राम
अरुण की एक किरण अम्लान
अधिक अलसाई हो अभिराम ।"

यहाँ कवि ने एक प्रकृति-सुलभ बिम्ब की भावना की है : लाल पल्लव पर प्रत्यूष की एक चमकीली किन्तु अलसाई किरण पड़ी हो ! इस सहायक बिम्ब के नियोजन से श्रद्धा के रक्तिम मुख पर खिलने वाली मुसकान की माधुरी का अभीष्ट बिम्ब अंकित किया गया है । मुसकान से फूटने वाली मधुर चमक के संवेदन के लिए रक्त किसलय पर विश्राम करती हुई शिथिल रश्मि का उपमान अत्यन्त व्यंजनापूर्ण है । विश्राम करने तथा अलसाई पड़ी रहने में स्वतः एक अन्य बिम्ब, ऐसी मुग्धा का बिम्ब जो सुरति-श्रम से शिथिल होकर कोमल सेज

पर विश्राम कर रही हो, संकेतित हो गया है । अतः, यहाँ कवि ने पहले मानव-संसार से एक बिम्ब लिया; तब उससे प्रकृति-जगत् के एक दूसरे बिम्ब को सँवारा और तब, इस दूसरे बिम्ब से अपने अभीष्ट बिम्ब का अंकन किया । श्रद्धा की वह मुसकान उसके अन्तस् की किस भाव-माधुरी को आलोकित करती है, यह शब्दातीत है । मानव-सौन्दर्य से प्रकृति-सौन्दर्य का शृंगार और उस प्रकृति-सौन्दर्य से मानव-सौन्दर्य का प्रति-शृंगार—इस विनिमय-व्यापार की भावना कितनी रोमांटिक कितनी मधुर है ।

इसी संदर्भ में इड़ा के रूप-बिम्ब का उल्लेख भी आवश्यक प्रतीत होता है । कवि के उपचेतन में एक सर्वथा विलक्षण नारी की मूर्ति समायी हुई है जो श्रद्धा के लुभावने रूप के मूलतः विपरीत पड़ती है । "बिखरी अलकें ज्यों तर्क-जाल" की प्रारम्भिक पंक्ति से उपस्थित होने वाला यह रूप-बिम्ब मन को विस्मय में डाल देता है । तर्क-जाल के समान अलकों का बिखराव, स्पष्ट उन्नत भाल का विश्व-मुकुट-सा चमकना, पद्म-पलाश-निर्मित दो चषकों के समान दीखने वाले नयनों का युगपद अनुराग-विराग का आसव चुआना, शुकुले-सदृश आनन के भीतर भ्रमर-गुंजार—जैसी ध्वनि-तरंगों का छिपाव, उरोजों का संसार के सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान की धरोहर संभालना, एक हाथ का जीवन-रस से सरा-बोर कर्म-कलश लिये रहना और दूसरे का विचार-गगन को मधुर अवलम्ब दिये रहना, त्रिबली की तीन रेखाओं मे सत्त्व, रजस् एवं तमस् गुणों की तरंगों का लहराना, श्वेत चमकीले वस्त्र का शरीर पर तिरछे पड़ा होना और चरणों में ताल-भरी गति की वर्तमानता—कवि ने नखशिख-वर्णन की परिपाटी के आधार पर इड़ा के प्रत्येक अंग के लिए एक लघु बिम्ब की पृथक्-पृथक् योजना की है और उन विश्लिष्ट बिम्बों के गुंफन से एक जटिल संश्लिष्ट रूप-बिम्ब तैयार किया है जो हमें इस विस्मय में डाल देता है कि अन्तर्विरोधों से भरी यह नारी भारतीय नारीत्व की किसी स्पष्ट कक्षा (दुर्गा, लक्ष्मी, पार्वती, सरस्वती, उर्वशी इत्यादि) में बिठायी जा सकती है या नहीं । आपाततः यह चाक्षुष बिम्ब है, किन्तु स्पर्श, स्वाद एवं ध्वनि के तत्त्व भी इसमें अनुस्यूत हुए हैं । ऐसी मधुर-भाषिणी, ऐसी नृत्यलयधर्मी गति वाली, ऐसी मोहिनी तथा ऐसी डरावनी, जीवन-सुधा की ऐसी प्यासी तथा विचारों के आकाश में ऐसी उड़ने वाली—ऐसी बावली एवं विलक्षण नारी का प्रस्तुत बिम्ब इन्द्रिय-ग्राह्यता की सीमा पार कर हमें विचारों के नभ में थोड़ी देर तक संचरण करने के लिए छोड़ देता है । इस प्रकार, यह बुद्धिग्राह्यता की रेखा भी स्पर्श करने लगता है । "बिखरी अलकें ज्यों तर्कजाल" से इड़ा का बुद्धि-प्रतीकत्व ध्वनित होता है जबकि अन्य अप्रस्तुतों से उसकी जिजीविषा, कर्मप्रियता, विचारशीलता,

साहसिकता इत्यादि गुणों की व्यंजना होती है। 'कामायनी' का यह बिम्ब सामान्य अनुभव से अतीत होने के कारण सर्वथैव विस्मयकारक एवं लोकातिशायी बन गया है। काश ! कोई चतुर चितेरा इस रूप की तूलिका की माया में बन्दी बना लेता !

कामायनी का सबसे प्रभावशाली तथा दिव्योज्ज्वल बिम्ब अंकित हुआ है 'दर्शन' सर्ग के अन्त में। हमारा अभिप्राय है प्रसादजी द्वारा चित्रित शंकर के ताण्डव नृत्य से। हिन्दी काव्य में हम सूरसागर में वर्णित रास-नृत्य का अवलोकन कर चुके हैं। वह प्रणय-नृत्य जितना ही मधुर एवं सुकुमार है, प्रस्तुत ताण्डव-नृत्य उतना ही भव्य एवं विराट् है। शंकर आलोक-पुरुष हैं; सत्ता एवं शक्ति के अखंड पुंज हैं। उनका नृत्य केवल प्रकाश का कल्लोल है जिसमें मधुर लोल लहरियाँ उठ रही हैं। शून्यभेदिनी चैतन्य-सत्ता में मन्द्र-गंभीर ध्वनि उठ रही है। यह शंकर की लीला के स्पन्दनपूर्ण आह्लाद का व्यक्तीकरण है। और, इस मंगल-चेतन नटराज के आनन्दपूर्ण नर्तन से संहार तथा सृजन के प्रभावकारी दृश्य घटित हो रहे है---

"आनन्दपूर्ण ताण्डव सुन्दर
झरते थे उज्ज्वल श्रम-सीकर;
बनते तारा, हिमकर, दिनकर,
उड़ रहे धूलि-कण से भूधर;
संहार-सृजन से युगल पाद—
गतिशील अनाहत हुआ नाद।
बिखरे असंख्य ब्रह्माण्ड गोल
युग त्याग ग्रहण कर रहे तोल;
विद्युत कटाक्ष चल गया जिधर,
कंपित संसृति बन रही उधर;
चेतन परमाणु अनन्त बिखर,
बनते, विलीन होते क्षण भर;
यह विश्व झूलता महादोल,
परिवर्तन का पट रहा खोल।
उस शक्ति-शरीरी का प्रकाश,
सब शाप-पाप का कर विनाश—
नर्तन में निरत, प्रकृति गल कर,
उस कान्ति-सिन्धु में घुलमिल कर;

अपना स्वरूप धरती सुन्दर,
कमनीय बना था भीषणतर;
हीरक-गिरि पर विद्युत-विलास,
उल्लसित महा हिम-धवल हास ।"

शंकर के शरीर से गिरने वाली पसीने की बूँदों से हिमकर, दिनकर तथा तारकों का निर्माण; चरण-चाप से भूधरों का धूलि-कणवत् उड़ना; असंख्य ब्रह्माण्डों का अन्तरिक्ष में बिखर जाना; शिव के विद्युत-कटाक्ष से सृष्टि का कम्पायमान हो जाना; अनन्त चेतन परमाणुओं का बनना तथा विलीन होना; प्रकृति का गलकर उस कान्ति-सिन्धु में घुल-मिल जाना तथा सुन्दर स्वरूप ग्रहण कर लेना; शिव के मंगलमय कमनीय रूप का भीषण बन जाना और उनके हिम-धवलित, उल्लसित हास का ऐसा चमकना जैसे हीरे के पहाड़ पर बिजली छिटकी हुई हो-ये समस्त विन्दु इस कान्त-कमनीय तथा साथ-ही भीषण भयानक नृत्य के विवरण-रूप में गुफित हुए है। शकर की शाश्वत सत्ता की प्रकाशमयता एव शक्तिमत्ता का, उनकी सर्जन एवं संहार की अखंड सामर्थ्य का तथा उनके लीला-मूलक आनन्दपूर्ण नर्तन का ऐसा दिव्य एवं विराट् बिम्ब हिन्दी साहित्य मे अन्यत्र उपलब्ध नही है। चक्षुरिन्द्रिय की तृप्ति के साथ-साथ, श्रवणेन्द्रिय तथा स्पर्शेन्द्रिय की तृप्ति का विधान भी इस अलौकिक बिम्ब में हुआ है—

"स्वर लय होकर दे रहे ताल,
+ + +
गतिशील अनाहत हुआ नाद।" (श्रवण)
"तम-जलनिधि का बन मधु-मंथन,
ज्योत्स्ना-सरिता का आलिंगन।" (स्पर्श)

लेकिन, ऐन्द्रियता से बढ़कर इस विराट् बिम्ब का महत्त्व इस बात में सन्निहित है कि दर्शन की सूखी अस्थियों मे रक्त-मज्जा का संचार कर, कवि ने सृष्टि के सृजन एव संहार का ऐसा चित्र प्रस्तुत किया है जिसमें आस्तिक बुद्धि वाला पाठक जल्द असहमत नहीं होगा और हम भी यह सोचने के लिए तत्पर हो जाते हैं कि यदि चेतन शिव-तत्त्व से सृष्टि का आविर्भाव अथवा तिरोभाव होता है, तो वह ऐसी ही उल्लासपूर्ण नृत्य-शैली से होता होगा जिसमें कमनीयता एवं भीषणता का प्रभावकारी ग्रंथिबन्धन रहता होगा। दर्शन की मान्यता का इतना सुन्दर काव्यानुवाद शायद विश्व-साहित्य में भी कठिनाई से उपलब्ध होगा।

ख. मनोग्राह्य बिम्ब : भाव-बिम्ब

कामायनी में चिन्ता, आशा इत्यादि मानसिक वृत्तियों का स्वरूपण किया गया है। ये अन्तर्वृत्तियाँ बौद्धिक दृष्टि से समझी जा सकती हैं। लेकिन, प्रसाद जी ने इनका चित्रण ऐसे ढंग से किया है कि इनका स्पष्ट बिम्ब पाठक के मानस-नेत्रों के सम्मुख उतर आता है। चिन्ता को सम्बोधित करने में कवि ने उसे एक सजीव सत्ता का स्वरूप प्रदान किया है जिससे चिन्ता के अनिष्टकारी प्रभाव का प्रभावकारी बिम्ब उपस्थित हो जाता है। मनु की चिन्ता एक विशिष्ट पृष्ठभूमि से परिणमित है। अतएव, वैसी अवस्था में चिन्ता को सम्बोधित करके ही उसके स्वभाव का निरूपण किया जाना उचित एवं कलात्मक था। कवि ने रूपक तथा उपमा के प्रयोग से यह बिम्ब चित्रित किया है—

"ओ चिन्ता की पहली रेखा,
अरी विश्व-वन की व्याली;
ज्वालामुखी स्फोट के भीषण,
प्रथम कंप-सी मतवाली !
हे अभाव की चपल बालिके,
री ललाट की खल लेखा !
हरी-भरी-सी दौड़-धूप, ओ
जल-माया की चल रेखा !
+ + +
अरी व्याधि की सूत्रधारिणी !
अरी आधि, मधुमय अभिशाप !
हृदय-गगन में धूम-केतु-सी,
पुण्य सृष्टि में सुन्दर पाप।"

विश्व-वन की व्याली, ज्वालामुखी के भीषण कंप सी मतवाली तथा हृदय-रूपी आकाश में धूमकेतु-सी उठने वाली—इन उपमानों एवं प्रतीकों की योजना से चिन्ता का भयानक बिम्ब खिंच गया है। 'मधुमय अभिशाप' तथा 'पुण्य सृष्टि में सुन्दर पाप' बताकर कवि ने चिन्ता की अनिवार्यता का भी विज्ञापन कर दिया है : उसका रूप सुन्दर तथा मधुमय इस कारण बताया गया है कि मनुष्य, चिन्ता के कु-प्रभावों को समझता हुआ भी, चिन्ता-मग्न रहा करता है; जीवन के सुख-वैभव की कल्पना उसे निरन्तर ग्रसित किये रहती है और वह उसके चिन्तन-मनन में सदैव लीन रहता है, उस तल्लीनता में उसे एक प्रकार का आनन्द मिलता है जिससे वह चिन्ता के आकर्षण से मुक्त नहीं हो पाता।

आशा का बिम्ब निम्नोद्धृत दो छन्दों में अंकित किया गया है —

"यह क्या मधुर-स्वप्न-सी झिलमिल,
सदय हृदय में अधिक अधीर;
व्याकुलता-सी व्यक्त हो रही
आशा बन कर प्राण-समीर !
यह कितनी स्पृहणीय बन गयी
मधुर जागरण—सी छविमान;
स्मिति की लहरों-सी उठती है,
नाच रही ज्यों मधुमय तान ।"

प्रसादजी ने पहले प्रसंग में बताया है कि चिन्ता, बुद्धि, मति, मनीषा आशा सभी एक ही हैं, सगोत्री हैं। एक प्रकार की आकुली उन सबका घटक तत्त्व है; जीवन की भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में उनका स्वरूप भिन्न-भिन्न हो जाता है । इस मौलिक तथ्य को ध्यान मे रखकर, कवि आशा का जो बिम्ब यहाँ चित्रित करता है, उसमें उसके मधुर पक्ष के साथ-साथ व्याकुली का तत्त्व भी दिखाया गया है । आशा का उदय मधुर स्वप्न की झिलमिलाहट लिये, द्रवशील हृदय में अधीरता उत्पन्न करते हुए, प्राणों मे समीर की सुकुमार चचलता का जनन करते हुए तथा निश्चेष्ट, अवसाद-ग्रस्त अन्तःकरण में एक मधुर जागृति उत्पन्न करते हुए होता है—यह मनोवैज्ञानिक सत्य है जिसके विषय मे हम प्राय. साचने की चिन्ता नही करते । कवि ने यहाँ आशा के सचारियो अथवा सहचारियो का कथन कर उस मानसिक सत्ता का बिम्बन किया है । पुनः, उसके मधुर एवं जागरणशील स्वरूप की ओर भी पुष्ट विवृति के लिए कवि ने कहा है : "आशा वैसे उठ रही है । जैसे मधुर मुसकान की कोमल लहरें उठती है, आशा वैसे नाच रही है जैसे सगीत की मधुर तान हवा में नाचती है ।" यहाँ कवि ने हमारी रूप एवं ध्वनि ग्रहण करने वाली इन्द्रियो के लिए भी मधुर विषय प्रस्तुत किया है और इस प्रकार, आशा के आह्लादक तथा स्फूर्तिमय स्वरूप का अकन किया है । आशा का प्रस्तुत बिम्ब नितान्त सटीक एव अवितद्य समझा जाएगा ।

'लज्जा' सर्ग मे कामायनी के मन की लज्जा का चित्रण किया गया है । कामायनी मनु के नर्ममय उपचारो के प्रति आत्मसमर्पण करना चाहती थी, लेकिन तभी, उसके मन में लज्जा का सचार होता है जो उसे ऐसा करने से रोकती है । स्वभावतः समझा जा सकता है कि इस प्रसंग में कवि ने लज्जा का कोई अनन्य-साधारण बिम्ब अंकित किया होगा । लेकिन, ऐसा हुआ नही है । कारण यह है कि सर्ग के पिछले दो-तिहाई अश मे प्रसाद जी की लज्जा, मानवी का चरित्र ग्रहणकर, श्रद्धा को उपदेश देने लगी है । पहले पन्द्रह छन्दों मे ही

अतएव, लज्जा की मनोवृत्ति के स्वरूप का अंकन देखा जा सकता है क्योंकि इतने ही छन्दों में, श्रद्धा अपने भीतर उठने वाले लज्जा के मनोविकार को समझने की चेष्टा करती हुई चित्रित की गई है ।

लज्जा अत्यन्त सुकुमार मनोविकार है । तरुणियों के अन्तस् में, लुका-छिपी की मधुर शैली का अनुगमन करती हुई, लज्जा आविर्भूत होती है । उठते यौवन की मधुमय अभिलाषाओं के संदर्भ में जन्म ग्रहण करने के कारण, यह कोमलता, स्निग्धता, कुतूहल, हलका-सा उन्माद, मनोरम स्वप्नमयता एवं एक प्रकार की मधुर दीप्तिमत्ता के अनुषंगों से मंडित रहती है । प्रसाद जी ने प्रथम चार छन्दों में लज्जा के इस स्वरूप का बड़ा ही अभिराम चित्रण किया है—

"कोमल किसलय के अंचल में
नन्हीं कलिका ज्यों छिपती-सी,
गोधूली के धूमिल पट में
दीपक के स्वर में दिपती-सी;
मंजुल स्वप्नों की विस्मृति में
मन का उन्माद निखरता ज्यों,
सुरभित लहरों की छाया में
बुल्ले का विभव बिखरता ज्यों;
वैसी-ही माया में लिपटी
अधरों पर उँगली धरे हुए,
माधव के सरस कुतूहल का
आँखों में पानी भरे हुए;
नीरव निशीथ में लतिका-सी
तुम कौन आ रही हो बढ़ती ?
कोमल बाहें फैलाये-सी
आलिंगन का जादू पढ़ती ?"

इन पंक्तियों में कवि ने लज्जा का भाव-पेशल मानवीकरण किया है । नितान्त चतुर एवं कुशल चित्रकार ही इस किशोरी के रूप-माधुर्य को रंग तथा रेखा की माया मे बन्दी बना सकता है । लज्जा किस भाव-भंगी से आ रही है, देखने योग्य है : 'कोमल पल्लवों के अंचल मे जैसे छोटी-सी कली छिपती है, वैसे लज्जा छिप रही है; गोधूली के धूमिल आवरण में जैसे दीपक की लौ टिमटिमाती है, वैसे लज्जा स्निग्ध दीप्ति में लिपटी हुई है; भूले हुए सुन्दर स्वप्नों की छाया में मन जिस मधुर उन्माद से भर जाता है, उसी अनि-

वंचनीय मस्ती में लज्जा झूम-सी रही है; सुगन्धित लहरों के बीच जैसे बुल्ले का वैभव बिखर जाता है, वैसे-ही मधुर अभिलाषाओं की छाया में लज्जा अपने अस्तित्व को बिखराती हुई-सी दीखती है, अधरों पर उँगली रखे हुए, वसन्त के रसनिर्भर कुतूहल का पानी आँखों में भरे हुए, नीरव निशीथ में सुकुमार वल्लरी की नाईं, आलिंगन का मन्त्र पढ़ते हुए, अपनी कोमल बाहें लज्जा मंद-मंथर गति से समीप आती जा रही है ।'

लज्जा का यह मधुर मानवीकरण, राग-सिक्त मकरंद से पूर्ण इन्द्रजाली फूलों से अवनतमुखी होकर अभिराम माला गूँथती हुई के चित्र से, और भी सजीव एवं ध्वनिपूर्ण बन गया है :—

"किन इन्द्रजाल के फूलों से
लेकर सुहाग-कण राग-भरे,
सिर नीचा कर हो गूँथ रही
माला, जिससे मधु-धार ढरे ?"

लज्जा के उदय का इतना सटीक वर्णन, मनोवैज्ञानिकता के सौरभ से ओत-प्रोत, साधारण शैली में सम्भव नहीं होता । मानवीकरण की वैक्रोक्तिमयी वैदग्ध्य-भंगी-भंणिति का उसी कारण कवि ने अवलम्ब लिया है। "कोमल बाहें फैलाये-सी आलिंगन का जादू पढ़ती" का कथन कर, लज्जा के आविर्भाव की नैसर्गिकता की ओर कलात्मक संकेत किया गया है ।

अगले चार छन्दों में लज्जा के अनुभावों का वर्णन हुआ है । कदंब-कुसुम के समान पुलक, मन की डाली का झुक जाना, अंगों का मोम के समान पिघलनशील बन जाना, खिलखिलाहट-पूर्ण हँसी का नयनों की वक्रता के साथ मन्द मुसकान बन जाना—ये समस्त परिवर्तन लज्जा के सूचक अनुभाव हैं जिनका प्रादुर्भाव श्रद्धा में प्रदर्शित किया गया है ।

लज्जा संकोचक भाव है जो यौवन-सुलभ अभिलाषाओं तथा उमंगों की उठान को प्रतिरुद्ध कर देता है—इस तथ्य को चित्रित करने के लिए अगले पाँच छन्द नियोजित किये गये है । श्रद्धा, मनु की प्राप्ति के अनन्तर रस के निर्झर को तैर कर आनन्द के शिखर तक पहुँचना चाहती थी । इस आरोहण की प्रक्रिया में हर्ष एवं उत्साह की किरणें रज्जु का काम कर रही थीं । किन्तु, लज्जा ने अचानक प्रवेश कर इन किरण-रज्जुओं को समेट लिया और श्रद्धा के मन की साध मन ही में कुंठित हो गई है :—

"किरनों का रज्जु समेट लिया
जिसका अवलम्बन ले चढ़ती;

रस के निर्झर में धँस कर मैं
आनन्द-शिखर के प्रति बढ़ती ।"

और तब, प्रेमास्पद को छूने में हिचक हो रही है; उसका रूप-सौन्दर्य देखने में पलकें झुक जाती हैं; कलरव-भरी गूँजें अधरों तक आकर सहसा रुक जाती हैं; रोमावली चुपचाप संयमित रहने का संकेत करने लगती जिससे मनोभिलाषों को व्यक्त करने के लिए लालायित भाषा भौंहों की काली रेखा के रूप में प्रकट होकर, भ्रम में पड़ी रह जाती है कि यह क्या-से क्या हो गया—

"संकेत कर रही रोमाली
चुपचाप बरजती खड़ी रही;
भाषा बन भौंहों की काली
रेखा-सी भ्रम में पड़ी रही ।"

लज्जा के संकोचक प्रभाव का अनुभव करती हुई, श्रद्धा स्पष्टतया पूछती है :—

तुम कौन हृदय की परवशता ?
सारी स्वतन्त्रता छीन रही;
स्वच्छन्द सुमन जो खिले रहे
जीवन-वन से हो बीन रही ।"

'लज्जा' सर्ग का इस स्थल तक पहला भाग समाप्त होता है । दूसरे भाग के सत्रह छन्दों में लज्जा, यौवन की चपल तरंगों का वर्णन करती हुई, निज को उसकी धात्री तथा "देव-सृष्टि की रति रानी" एवं "रति की प्रतिकृति" बताती है ।[1] इस प्रसंग में उसने अपने कर्तृत्व का व्याख्यान करते हुए कहा है :—

"मैं रति की प्रतिकृति लज्जा हूँ,
मैं शालीनता सिखाती हूँ;
+ + +
लाली बन सरस कपोलों में
आँखों में अंजन-सी लगती;
कुंचित अलकों-सी घुँघराली
मन की मरोर बनकर जगती ।

---

१. "मैं उसी चपल की धात्री हूँ ।"
"मैं देव-सृष्टि की रति रानी ।"
"मैं रति की प्रतिकृति लज्जा हूँ ।"

चंचल किशोर सुन्दरता की
मैं करती रहती रखवाली;
मैं वह हलकी-सी मसलन हूँ
जो बनती कानों की लाली !"

ये समस्त छन्द अत्यन्त सुन्दर एवं आकर्षक है। किन्तु, इनमे लज्जा ने मानवी का स्पष्ट चरित्र ग्रहण कर लिया है और वह उपदेशक बन गई है। इसलिए, इनमें लज्जा-मनोभाव का बिम्ब उतारने की चेष्टा नही हुई है : "लाली बन सरस कपोलो में···" इत्यादि पंक्तियाँ ही लज्जा के बिम्बन में सहयोग देती समझी जाएँगी।

अन्तिम चौदह छन्दों मे लज्जा का मानवी चरित्र ही और अधिक उभारा गया है, यहाँ तक कि अन्तिम पक्तियो मे लज्जा का उपदेष्टा-रूप अत्यन्त साफ ढग से खुल गया है।[१]

ग. बुद्धि-ग्राह्य बिम्ब : धारणात्मक-बिम्ब

"त्रिदिक् विश्व", अर्थात्, इच्छा, ज्ञान एव क्रिया के तीन लोको का जो वर्णन 'रहस्य' सर्ग में हुआ है, उसमें तीन प्रत्ययों अथवा बोधों को सम्मूर्तित करने का स्पष्ट प्रयत्न लक्षित होता है; ये तोनो अरूप सत्ताएँ अथवा धारणाएँ है जिनका प्राजल बोध कराने के निमित्त ही कवि ने प्रत्येक लोक का कुछ विशिष्ट पैमाने पर रोचक वर्णन किया है। नीचे केवल तीन छन्द उद्धृत किये गये है।

"शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गंध की
पारदर्शिनी सुघड़ पुतलियाँ;
चारों ओर नृत्य करतीं ज्यों
रूपवती रगीन तितलियाँ।"

'इच्छा' नाम्नी अरूप धारणा का विभावन करने हेतु शब्द, स्पर्श, रस इत्यादि ऐन्द्रिय विषयों को सुघड़ पुतलियों-रूप मे अवतारणा की गई है जो उचित एवं उपयुक्त समझा जायेगा।

"नियति चलाती कर्म-चक्र यह
तृष्णा-जनित ममत्व-वासना;
पाणिपाद--मय पंचभूत की
यहाँ हो रही है उपासना।"

'कर्म' की भीषण धारणा का विभावन नियति द्वारा चलाये जाने तृष्णा-

---

१. "नारी तुम केवल श्रद्धा हो" इत्यादि।

मूलक कर्म-चक्र तथा पंचभतों की अन्धी उपासना के उल्लेख से कराया गया है।

"प्रियतम ! यह तो ज्ञान-क्षेत्र है
सुख--दुख से है उदासीनता;
यहाँ न्याय निर्मम चलता है
बुद्धि-चक्र जिसमें न दीनता।"

सुख-दुःख से उदासीनता एवं निर्मम न्याय के चलने के कथन से ज्ञान की अवधारणा कराई गई है।

प्रसाद ने अपनी मान्यता के अनुसार इच्छा, क्रिया तथा ज्ञान की तीन आरूप अवधारणाओ का सम्मूर्त्तन किया है। ये बिम्ब पूरी लम्बाई वाले बिम्ब है और प्रज्ञात्मक है। काण्ट ने कहा है कि ऐसे बिम्ब 'विचारों के रेखाचित्र' (diagrams of ideas) होते है जिन्हें विश्लेषणात्मक अथवा सैद्धान्तिक विचारण के लिए उपयोजित किया जाता है। लेकिन, प्रसाद ने इन रेखाचित्रों मे ठोस तथ्यों का ऐसा रग भर दिया है कि ये प्रमेय इन्द्रियग्राह्य बिम्बों-जैसे प्रतिभासित होते है।

घ. स्मृति-बिम्ब

अनुभूतियों की सरलता, संकुलता एवं जटिलता के आधार पर 'कामायनी' के अनेक बिम्ब संकुल तथा जटिल सिद्ध होंगे। 'लज्जा' तथा 'वासना' सर्गों के बिम्बों में अनुभूति की ऋजुता के बदले सकुलता अथवा जटिलता के ही दर्शन होते हैं। प्रसाद ने बिम्ब-विधान मे मुक्त आसंग (Free Association) के आधार पर स्मृति-बिम्बों का भी नियोजन किया है जिन्हें इन्द्रियग्राह्य अथवा मनोग्राह्य की परिधि मे रखा जा सकता है। 'चिन्ता' सर्ग के सभी बिम्ब 'स्मृति-बिम्ब' कहे जायेंगे। "चिन्ता करता हूँ मैं जितनी" से प्रारम्भ होने वाले बयालीस छन्दों मे कवि ने मनु द्वारा अतीत के भोगैश्वर्यों तथा प्रलय के दुर्दान्त दृश्यो का स्मरण कराया है। ये बिम्ब नितान्त स्वाभाविक गति-रीति से देव-दम्भ, देव-विलास, तथा पंचभूत के ताण्डव-नृत्य का प्रभावकारी स्वरूप उपस्थित करते चले गये है। इनमे इन्द्रियग्राह्यता एवं मनोग्राह्यता के सघन तत्त्व गुंफित हुए है। कतिपय बिम्ब नीचे देखें :—

"ककण क्वणित, रणित नूपुर थे,
हिलते थे छाती पर हार;
मुखरित था कलरव, गीतों में
स्वर-लय का होता अभिसार।

सौरभ से दिगन्त पूरित था,
अन्तरिक्ष आलोक-अधीर;
सबमें एक अचेतन गति थी,
जिससे पिछड़ा रहे समीर।
वह अनंग--पीड़ा--अनुभव--सा
अंग-भंगियों का नर्तन,
मधुकर के मरंद-उत्सव-सा
मदिर भाव से आवर्त्तन।"

इन छन्दो मे ध्वनि, दृष्टि, गध, स्पर्श ('समीर') तथा स्वाद ('मधुकर के मरद-उत्सव')—इन समस्त ऐन्द्रिय बिम्बों का युगपद् ग्रंथन हुआ है। साथ-ही, देवो के ऐश्वर्य-विलास का एक सान्द्र, घनीभूत समन्वित बिम्ब पाठक के मनस्पटल पर अवतीर्ण हो जाता है। "सबमे एक अचेतन गति थी"—इस कथन से देवों की विलास-मग्नता का मनोग्राह्य भाव-बिम्ब भी छलक पड़ता है। वास्तव मे, इन बिम्बों के प्रकाश मे आग्ल कवि कीट्स के बिम्ब भी 'कामायनी' के बिम्बों से पीछे छूट जाते है। 'चिन्ता' सर्ग के इन बिम्बों की विशेषता यह है कि ये मनु के स्मृति-पटल के पर्दो को एक-एक कर चीरते हुए पाठक के सामने आते चलते है जैसे सिनेमा के चित्रपटीय दृश्य दर्शक के नेत्रों को उलझाते हुए, एक-एक कर क्रमिक गति से उघरते जाते है। आग्ल समीक्षक लिविंग्स्टन लोवेस ने स्मृति को एक कूप बनाया है जिसमे बाह्य ससार के समस्त अनुभव उलझे रूप में पड़े रहते हैं। कवि इस स्मृति कूप में पड़े अनुभव-खण्डों को सर्जना के क्षणों मे सुलझे अर्थमय बिम्बो का स्वरूप प्रदान करता है। प्रसाद द्वारा अंकित प्रस्तुत बिम्ब-मालिका, कवि-कल्पना की रचनात्मक शक्ति के सस्पर्श से, मनु के वैभवमय अतीत का अत्यन्त जीवन्त समन्वित बिम्ब उपस्थित करती है। प्रलय-बिम्बों का उल्लेख पहले हो हो चुका है। 'काम सर्ग के प्रथम आठ छन्दों में भी स्मृति बिम्ब उभर आये है जिनमे वसन्त के प्रतीक के सहारे मनु के विगत सुखोपभोग का मधुर चित्रण हुआ है। बाद वाले छन्दों मे भी स्वतःचालित पद्धति से सौन्दर्य-बिम्बो (Automatic imagery) की एक शृखला उतर आई है जिसमे चाँदनी रात के मोहक वातावरण से अनुप्रेरित मनु की अध्यान्तरिक अनुभूतियाँ प्रत्यक्ष हो उठी है जो रहस्य एवं जिजीविषा के अनेक आयामों को स्पर्श करती है, यथा—

"चाँदनी-सदृश खुल जाय कहीं
अवगुंठन आज सँवरता-सा,

जिसमें अनन्त कल्लोल भरा
लहरों में मस्त विचरता-सा।
+ + +
पीता हूँ, हाँ, मैं पीता हूँ
यह स्पर्श--रूप--रस--गंध--भरा;
मधु लहरों के टकराने से
ध्वनि में है क्या गुंजार भरा ?" (काम)

ङ. आद्य (आदिम) बिम्ब

आधुनिक मनोविज्ञान में सिगमड फ्रायड ने 'मनोविश्लेषण' नामक एक नया अध्याय जोड़ा है जिसके अन्तर्गत उसने मन के चेतन स्तर के नीचे एक अवचेतन की स्थापना की है जो चेतन मन द्वारा अवदमित वासनाओं, इच्छाओं तथा प्रेरणाओं का संचित पुंज बताया गया है। कार्ल जुग ने इस अवचेतन को "चेतना की शाश्वत सृष्टि करने वाली जननी" ("The eternally creative mother of consciousness") कहा है। फ्रायड ने सम्पूर्ण कला या कविता, सम्पूर्ण धर्म तथा सम्पूर्ण मिथकों (पौराणिक कथाएँ) को इसी अवचेतन की सृष्टि बताया है। लेकिन, उसके शिष्य एवं सहयोगी जुंग ने व्यक्तिगत अवचेतन के समानान्तर 'सामूहिक अवचेतन' (Collective unconscious) की स्थापना की है। व्यक्तिगत अवचेतन में जिस प्रकार व्यक्ति की अवदमित वासनाएं सोयी पड़ी रहती है, उसी प्रकार 'सामूहिक अवचेतन' मे (जो उसी व्यक्ति के अवचेतन का एक महत्त्वमय अंश है) 'समूह' अथवा 'जाति' (मानव-जाति) के आदिम अनुभव भी अवचेतन भाव से संचित रहते हैं। वस्तुतः, भारतीय रस-शास्त्र में स्थायी भावों की वासनात्मतया स्थिति की जो कल्पना की गई है, उससे जुंग के जातिगत अवचेतन का एक स्तर पर घनिष्ठ साम्य है। आदिम मानव के अनुभव के विषय ही इस सामूहिक अवचेतन का निर्माण करते है। इन अनुभवों की शाश्वत स्मृतियाँ हमारे जातिगत अवचेतन में सुरक्षित बनी हुई है। ये अनुभव वस्तुनिष्ठ एवं आत्मनिष्ठ दोनो प्रकार के हैं। नदी, पर्वत, निर्झर, पेड़, लता-वीरुध, पशु-पक्षी, सूर्योदय, सूर्यास्त, रात, आँधी-वर्षा इत्यादि वस्तुओं का प्रत्यक्ष आदि मानव को पहले हुआ होगा। जन्म, मृत्यु, यौन-संसर्ग इत्यादि सैकड़ों अनुभव आदिम मानव के लिए कुतूहल के विषय रहे होंगे। इसी प्रकार, क्रोध, प्यार, घृणा, करुणा इत्यादि मनोनिष्ठ अनुभव भी हैं जो अपनी प्राथमिकता में सर्वथा अनूठे रहे होंगे। इन समस्त अनुभवों की स्मृतियाँ, कभी सहज तथा कभी प्रतीकात्मक भाव से, हमारे सामूहिक अवचेतन में दबी सचित होती है। ये स्मृतियाँ किसी-न-किसी

'आकृति' अथवा 'बिम्ब' के रूप में सुरक्षित रहती हैं । मिथकों की सृष्टि इन्हीं आदिम अनुभवों का मूर्त्तीकरण है । जन्म-मृत्यु का आदिम अनुभव जीवन-यात्रा की कल्पना में संचित है । सूर्योदय, सूर्यास्त इत्यादि प्राकृतिक घटनाओं तथा वस्तुओं के बिम्बात्मक अनुभव भी अनेक देवी-देवताओं, दैत्यों-दानवों, परियों-जादूगरनियों के रूप में विश्व-साहित्य में सुरक्षित हैं । जुंग की मान्यता है कि जादू-टोना, धार्मिक रीति-रिवाज, दन्तकथाओ तथा पौराणिक कथाओं में आदिम बिम्ब विभिन्न रूपों में जीवित है । प्रतीकात्मक के अलावा, मनुष्य के वस्तुनिष्ठ आदिम अनुभवों का यथेष्ट अनुपात मूल रूप में भी संचित होता है । नदी-पर्वत, पशु-पक्षी लता-विटप इत्यादि के बिम्ब अज्ञात भाव से हमारे सामूहिक अवचेतन में संचित हैं जिस कारण, इनके साक्षात्कार से हमें आज भी अभिनव कुतूहल अथवा आनन्द मिलता है । वैसे-ही, प्रेम, घृणा, क्रोध, करुणा प्रभृति भावों का अनुभव जब आदिम मानव को हुआ होगा, तब उस भाव का भी एक ढाँचा, एक 'पैटर्न', एक पद्धति, अर्थात्, एक बिम्ब उसके मानस मे निर्मित हुआ होगा । अतएव, प्रेम, क्रोध अथवा करुणा इत्यादि के अभ्यास का एक विशिष्ट रूप वा 'पैटर्न', मानव-जाति की वंश-परम्परा में, सामूहिक अवचेतन में सुरक्षित हो गया है । निष्कर्ष यह है कि मनुष्य के संपूर्ण आदिम अनुभवो की स्मृतियाँ, ऐन्द्रिय अथवा मानसिक, सहज रूप में अथवा प्रतीकात्मक रूप में, हमारे सामूहिक अवचेतन में संचित है और ये स्मृतियाँ, अज्ञात अचेतन भाव से, किसी-न-किसी ढाँचे अथवा बिम्ब के रूप में सुरक्षित है । ये ही आद्य, आदिम बिम्ब हैं ।

कला अथवा कविता में जब ये बिम्ब अंकित होते है, तब वे वैयक्तिक न होकर सामान्य एव सार्वभौम बन जाते है क्योकि उनमे मानव-अनुभव के आदि मौलिक स्वरूप ही सचित होते हैं । मिथकीय कहानियो में मनुष्य के आदिम अनुभव प्रतीक-रूप मे सन्निविष्ट रहते है । इसी कारण, जब कवि अपनी रचनाओं में ऐसी कथाओं का निबधन करता है, तब वह समग्र जाति का प्रतिनिधि बनता है और उसकी व्यक्तिगत अनुभव-स्मृतियाँ भी जातिगत स्मृतियों में मिश्रित हो जाती है जिससे पूरा काव्य व्यापक मानवीय आकर्षण एवं अर्थ-वत्ता का संवाहक बन जाता है । आदिम बिम्बों की संख्या अपेक्षया सीमित होती है और उनके विषय प्रायः समान होते हैं । जैसा अभी कहा है, जन्म, मृत्यु, प्रेम, संघर्ष, पुनर्जन्म इत्यादि घटनाओ और नदी, पर्वत, पहाड़, विटप, सूर्य, चन्द्र, सिंह, हिरण, मत्स्य, शुक, पपीहा, बुलबुल, वर्षा, जलविप्लव, आँधी-तूफान इत्यादि वस्तुओं जैसे आदिम बिम्ब प्रायः प्रत्येक देश अथवा जाति के काव्य में समानरूपेण उपलब्ध होते हैं । वैसे-ही, स्वर्ग, नरक, जादू, पाप, पुण्य

इत्यादि की आदिम अवधारणाएँ भी सभी संस्कृतियों में तथा सभी साहित्यों में समान भाव से प्रतिबिम्बित हुई हैं ।

'कामायनी' में आदिम बिम्बों की भी योजना हुई है । वस्तुतः उसका मूल विषय ही 'काम' से लिपटा हुआ है और काम मनुष्य का प्रमुख आदिम अनुभव है । इस मौलिक वृत्ति का एक शाश्वत बिम्ब मानव-मात्र में अनादि काल से संचित चला आया है । काम का प्रकाशन वासना, लज्जा, प्रेम इत्यादि रूपों में होता है । 'कामायनी' में इनके जो भावात्मक बिम्ब चित्रित हुए हैं, वे आद्य बिम्ब की कोटि में आयेंगे । प्रसाद ने व्यक्तिगत अनुभव-स्मृतियों को जातिगत स्मृति-बिम्बों में इस कौशल से घुला-मिला दिया है कि उनका पाठक के लिए गहरा आकर्षण बन गया है । 'वासना' सर्ग के बिम्ब विशेष रूप से अवलोक्य हैं। श्रद्धा के वियोग-वर्णन में जो बिम्ब उभारे गये हैं, वे भी आदिम बिम्ब हैं । श्रद्धा वियोग-वेदना में मन्दाकिनी को सम्बोधित करती है; नभ के ताराओं, व्यापक नील-पट में बनने-बिगड़ने वाले असंख्य चित्रों, कोकिल की कूक, संध्या का आगमन, फूलों की भरमार, मधुमास की रातों, वेणु के मधुर स्वर से निकुंजों के भरने, दीपशिखा तथा शलभ इत्यादि का कथन करती है । ये समस्त वस्तुएँ उसके वियोग-दुःख से घनिष्ठतया जुड़ गई हैं और उसे अधिक स्पष्ट एवं सुस्फीत बनाती हैं । कवि ने सचेतन भाव से कल्पना का जो उपयोग किया है, उससे श्रद्धा की विरह-वेदना की तीव्रता एवं तीक्ष्णता, सुकुमारता एवं सान्द्रता शक्तिशाली ढंग से व्यंजित हो गई है । उसमें कवि के नितान्त निजी अनुभवों का भी सहयोग वर्तमान हो सकता है, किन्तु विश्लेषित प्रणय का जो बिम्ब हमारे सामूहिक अवचेतन में अज्ञात भाव से संचित है, वह मौलिक बिम्ब ही यहाँ उभार में आया है ।[१]

सृष्टि के उद्भव की प्रसाद द्वारा गढ़ी गई कहानी एक रोचक एवं सर्वथा सटीक बैठने वाली लघु मिथक है । यह कहानी काम ने स्वप्न में मनु से कही है । यद्यपि इसमें कवि ने सांख्य, शैवादि दार्शनिक स्रोतों से सहायता ली है, तथापि 'अनादि वासना', 'प्रकृति-लता', 'मूल शक्ति' इत्यादि का उल्लेख काम-विषयक आद्य बिम्ब से लिपटा हुआ है । "ऋतुपति के घर में कुसुमोत्सव" का बिम्ब, विद्युत्कणों के गले मिलने का बिम्ब आकर्षण-मिलन का बिम्ब, शैलों के गले में सरिताओं की भुज-लता के पड़ने का बिम्ब, रति-काम के आकांक्षा-तृप्ति के समन्वय में जाग उठने का बिम्ब—ये समस्त लघु बिम्ब परस्पर अनुस्यूत होकर, सृष्टि के उद्भव के व्यापक बिम्ब का निर्माण करते हैं । इस

---

१. दे० 'स्वप्न' सर्ग के आरम्भिक छन्द ।

संदर्भ में, प्रसाद ने काम (वृत्ति) के आदिम बिम्ब का, दार्शनिक भूमिका में अत्यन्त मनोहर तथा विश्वासोत्पादक अंकन किया है।[१]

इसी प्रसंग में यह कह देना उचित होगा कि काम के उज्ज्वल, मांगलिक स्वरूप का जो बिम्ब अन्ततः उतारने का प्रयास किया गया है, वह 'आद्य बिम्ब' की कोटि में परिगणित नही किया जा सकता क्योंकि उसमें विवेक-तत्त्व का समावेश हुआ है जबकि आद्य बिम्ब मौलिक प्रवृत्तियों से सम्बन्धित होते हैं।

'इड़ा' सर्ग के प्रारम्भिक छन्दों मे वस्तुनिष्ठ आदिम बिम्बों की योजना हुई है। जीवन की पहेली पर चिन्तन करते हुए, मनु आदिम मानव के प्राथमिक अनुभव-कोष मे समाविष्ट वस्तुओं का कथन करते है। नीचे की कतिपय पंक्तियाँ देखी जा सकती है :--

"किस गहन गुहा से अति अधीर,
झंझा-प्रवाह-सा निकला यह जीवन विक्षुब्ध महासमीर ?"
"जीवन-निशीथ के अन्धकार !
तू नील तुहिन जलनिधि बनकर फैला है कितना वार-पार !"
"जीवन-समाधि के खंडहर पर जो जल उठते दीपक अशांत,
फिर बुझ जाते वे स्वयं शान्त।"

—गहन गुहा, झंझा-प्रवाह, निशीथ का अन्धकार, नील तुहिन, जलनिधि, समाधि का खंडहर—ये सभी बिम्ब हमारे सामूहिक अवचेतन के गहरे कूप में संचित पड़े हुए है।

प्रकृति के जो अनेक चित्र अंकित उपलब्ध है, उनमें कवि की संपूर्ण कला के भीतर उन रागात्मक संबंधों के स्पन्दन सुनायी पडेगे जो आदिम मानव ने अपनी आदि सहचरी (प्रकृति) के साथ स्थापित कर लिये थे और जो समय-प्रवाह मे हमारे जातिगत वा समूहगत अवचेतन में अज्ञात भाव से सुरक्षित चले आ रहे है। विश्व-साहित्य में प्रकृति के साथ मनुष्य के सम्बन्ध के जितने स्वरूप चित्रित हुए है, उन सबका मूल मानव-जाति की प्रकृतिविषयक आदिम अनुभव-स्मृतियों मे खोजा जा सकता है। ये स्मृति-अवशेष बिम्ब-रूप मे संचित होते हैं। प्रसाद ने 'कामायनी' मे प्रकृति का जो चित्रण किया है, उसमें आद्य बिम्बो की एक प्रमुख कोटि अवतीर्ण हुई है।

च. दार्शनिक बिम्ब

'कामायनी' की प्रेरणाओं में दर्शन का प्रमुख स्थान है। अतएव, इसमे

---

१. दे० 'काम' सर्ग के मध्य में निबद्ध छन्द।

दार्शनिक बिम्बों का बड़ा रसमय एवं मनोरम गुंफन हुआ है। ये बिम्ब ग्राह्यता के आधार पर इन्द्रियग्राह्य तथा मनोग्राह्य दोनों प्रकार के दिखाई पड़ेंगे। शंकर के ताण्डव का बिम्ब दार्शनिक है जिसकी चर्चा हमने ऐन्द्रिय बिम्बों में की है। 'काम' सर्ग के अनेक बिम्ब दार्शनिक हैं। "चाँदनी-सदृश खुल जाय कहीं" से आरम्भ होने वाले छन्द तथा उसके पूर्वापर के छन्दों में जो बिम्ब आये हैं वे दार्शनिक हैं—यद्यपि रचना-प्रक्रिया की दृष्टि से हमने उन्हें पहले स्मृति-बिम्बों में सन्निविष्ट किया है। 'श्रद्धा' सर्ग में अंकित निम्न बिम्ब स्पष्टतः शैवागमों पर आधारित है :—

"कर रही लीलामय आनन्द,
महाचिति सजग हुई-सी व्यक्त;
विश्व का उन्मीलन अभिराम,
इसी में सब होते अनुरक्त।"[1]

महाचिति के लीलामय आनन्द से विश्व का प्रकटन हुआ और इसी में सभी अनुरक्त हो रहे है—यह प्रत्यभिज्ञा का काव्यानुवाद ही है। 'त्रिदिक् विश्व' के बिम्ब भी दार्शनिक हैं जिन्हें प्रज्ञात्मक बिम्बों में परिगणित कराया गया है। 'आनन्द' सर्ग में दार्शनिक बिम्ब अनेक गुंफित हुए हैं। दो उदाहरण यहाँ देखे जा सकते हैं—

"चेतन--समुद्र में जीवन
लहरों-सा बिखर पड़ा है;
कुछ छाप व्यक्तिगत, अपना
निर्मित आकार खड़ा है।"
"चिर-मिलित प्रकृति से पुलकित
वह चेतन पुरुष पुरातन,
निज---शक्ति---तरंगायित था
आनन्द--अम्बुनिधि शोभन।"

---

१. मिलाइये—
"चिति का स्वरूप यह नित्य जगत,
वह रूप बदलता है शत-शत;
कण विरह-मिलन-मय नृत्य-निरत,
उल्लासपूर्ण आनन्द सतत;
तल्लीन पूर्ण है एक राग,
झंकृत है केवल जाग जाग!" (दर्शन)
—यह भी दार्शनिक बिम्ब है।

'आनन्द' सर्ग के अन्तिम उन्नीस छन्दों में पृथकशः रसपेशल ऐन्द्रिय बिम्बों की अवतारणा हुई है जिनमें नेत्र, कर्ण, स्पर्श, रसना तथा घ्राण सभी इन्द्रियों के विषय समाहित हो गये हैं। समग्रतः, वसन्त का एक संश्लिष्ट बिम्ब निर्मित हुआ है जिसमें विश्व-कमल के अणु-अणु आनन्द-सुधारस से छलक पड़े हैं; असंख्य मुकुलों में मादन विकास आ गया है; वन लक्ष्मी ने सर्वत्र केसर-रज बिखरा दिया है; वल्लरियाँ नृत्य-निरत हो गई हैं; वेणु-रन्ध्रों से संगीत की लहरें फूट पड़ी हैं; मदमाते मधुकर; नूपुर की-सी मधुर गुंजार करते हुए उन्मद माधव-मलयानिल में गिरते-पड़ते दौड़ने लगे है;[1] डाल-डाल पर मधुमय मुकुलों की झालरें लटक रही है; रस-भार से दबे प्रफुल्ल सुमन धीरे-धीरे पृथ्वी पर बरस रहे है; चन्द्र-रश्मियाँ अप्सरियाँ बनकर अन्तरिक्ष में नाचने लगी हैं; संपूर्ण सृष्टि मदन के मृदुतम कंपन से चचल बन रही है; किंबहुना, हिमवती पाषाणी प्रकृति भी उस वासन्ती लास-रास में विह्वल होकर हँसती-सी दीख पड़ रही है :—

"मांसल-सी आज हुई थी
हिमवती प्रकृति पाषाणी;
उस लास-रास में विह्वल
थी हँसती-सी कल्याणी।" (आनन्द)

अनेक लघु ऐन्द्रिय बिम्बों की योजना से कवि ने आकस्मिक रूप से प्रस्फुट वसन्त-विभव[2] का मनोज्ञ संश्लिष्ट बिम्ब अंकित किया है। श्रद्धा की मुसकान-रेखाओं से सद्योजात वसन्त-श्री का प्रस्तुत वर्णन कालिदास के 'कुमारसंभव' में वर्णित वसन्त-शोभा का स्मरण दिलाता है जो कामदेव के अनुरोध पर, संयमी मुनियों की तपः-समाधि को विचलित करने वाले वसन्त के असमय अपना पूर्ण

---

१. "गूँजते मधुर नूपुर से
मदमाते होकर मधुकर;
+ + +
उन्मद माधव--मलयानिल
दौड़े सब गिरते-पड़ते।" (आनन्द)

मिलाइये :

"छकि रसाल-सौरभ, सने मधुर माधुरी-गंध।
ठौर-ठौर झौंरत झपत, भौंर-भौंर मधु-अंध॥" (बिहारी)

२. "क्षण भर में सब परिवर्तित
अणु-अणु थे विश्व-कमल के।" (आनन्द)

स्वरूप उन्मीलित करने के कारण, हिमालय के उस प्रान्त में अचानक फूट पड़ी थी जहाँ शंकर समाधि-मग्न थे।[1] वस्तुगत दृष्टि से यह वसन्त-बिम्ब इन्द्रिय-ग्राह्य है जिसमें, जैसा अभी कहा है, समस्त ज्ञानेन्द्रियों की तृप्ति के लिए मधुर, मादक भोज्य पदार्थ एकत्र संगृहीत हुए हैं। लेकिन, इस बिम्ब की आत्मा दर्शन की आत्मा है, प्रत्यभिज्ञा की विज्ञप्ति जिसका आस्वाद अद्भुत है, विस्मयावह है--

"समरस थे जड़ या चेतन
सुन्दर साकार बना था;
चेतनता एक विलसती
आनन्द अखण्ड घना था।" (आनन्द)

इस प्रकार, समग्र प्रकृति की समरसता, वास्तविक सौन्दर्य की साकारता, एक मौलिक चैतन्य के प्रस्फुट विलास तथा अखण्ड रसपूर्ण आनन्द के उच्छलन की व्यंजना प्रस्तुत बिम्ब का अभीष्ट रहा है। अतएव, यह बिम्ब भी दार्शनिक बिम्ब है।

छ. प्रकीर्ण बिम्ब

प्रसाद ने बिम्ब-विधान मे सभी प्रकार की शिल्पविधियों का और कल्पना की पूरी शक्तियों का उपयोग किया है। इसी कारण, 'कामायनी' के यावत् बिम्ब नितरां प्रस्फुट एवं सुस्पष्ट बन गये है। हमने ऊपर केवल पूरे पैमाने वाले बिम्बों की ही विवेचना की है। लेकिन, इसमें ऐसे लघु-काय बिम्ब भी अनुस्यूत हुए हैं जो जीवन के एक व्यापक सत्य को इने-गिने पदों में ही खोल देते हैं। उदाहरणार्थ, कुछ उद्धरण निम्नाकित है :--

"जीवन-निशीथ के अन्धकार" (इड़ा)
"यौवन-मधुवन की कालिन्दी" (वही)
"लू-सा झुलसाता दौड़ रहा" (वही)
"माया-रानी के केश-भार" (वही)
"जीवन-समाधि के खंडहर × × ×" (वही)
"तृष्णा-ज्वाला का पतंग" (वही)
"नयन-महोत्सव की प्रतीक" (वही)

---

१. "तस्मिन्वने संयमिनां मुनीनां तपः समाधेः प्रतिकूलवर्ती।
संकल्पयोनेरभिमानभूतमात्मानमाधाय मधुर्जजृम्भे॥"
--कुमारसंभव, ३।२४

"सौन्दर्य-जलधि से भर लाये केवल तुम अपना
गरल-पात्र ।" (इड़ा)
"बुद्धि-तर्क के छिद्र हुए थे" (निर्वेद)
'बुद्धि, मनीषा, मति, आशा, चिन्ता,
तेरे हैं कितने नाम !" (चिन्ता)

--अस्तु ।

अन्ततः मै यह टिप्पणी करना चाहूँगा कि 'कामायनी' का एक प्रधान आकर्षण उसकी बिम्ब योजना है ।

१७ | शिल्प-विधान

अ. विविध शिल्प

छायावादी काव्य भाव तथा अभिव्यंजना दोनों ही दृष्टियों से हिन्दी कविता के इतिहास में एक सर्वथा नवीन अध्याय का उद्‌घाटन करता है। स्वच्छन्दता की कील से बँधी होने पर भी, इसकी अन्तरंग चेतना सौष्ठववादी रही है। इस कारण, अभिव्यक्ति को सँवारने, तराशने तथा सजाने की सावधान चेष्टा इसके समस्त उन्नायक कवियों में प्रायः समान भाव से परिलक्षित होती है। शक्तिशाली भावों अथवा संवेगों के सहज उच्छल प्रवाह को जितनी बारीकी एवं सूक्ष्म सजगता के साथ मर्यादित, अभिजात शैली में बाँधने तथा खोलने का प्रयास इन कवियों ने किया है, वैसी अन्यत्र उपलब्ध नही होती। छायावादी काव्य के आन्तर प्रकोष्ठों में प्रवेश करने पर सावधान पाठक को शिल्प-सौन्दर्य की नाना छवियों के दर्शन होते है। काव्य-भाषा की संभावनाओं की खोज तथा उन्मीलना का जो श्लाघ्य प्रयत्न एक निश्चित भाव-सीमा के भीतर यहाँ किया गया दिखाई पड़ता है, वह हिन्दी साहित्य के लिए गर्व एवं परम संतोष का आस्पद है। 'कामायनी' छायावाद की सर्वश्रेष्ठ रचना है और स्वभावतः ही, इसकी अभिव्यंजना में शिल्प की सजगता एवं सुघड़ता का रसपेशल समावेश हुआ है।

शिल्प-विधान के तीन पक्ष होते हैं, प्रथम, रचनात्मक अथवा वस्तु-शिल्प द्वितीय, शैली-शिल्प; तृतीय, अभिव्यक्ति-शिल्प। 'वस्तु-शिल्प' से हमारा अभिप्राय कथा-वस्तु की गठनात्मक योजना से है जिसे अंग्रेजी में 'Orchi kcton-ics' कहा जाता है। वस्तुकार कोई भवन बनाता है तो पहले यह योजना बना लेता है कि उसमें कितने कक्ष अथवा प्रकोष्ठ होगे, कितने गवाक्ष अथवा वातायन होंगे उसकी छतें कितनी ऊँची होंगी, कितने आवागमन के द्वार होंगे, कैसी तथा किस परिमाण में उसमें चित्रकारी, रँगाई-पुताई होगी, इत्यादि। यह पूर्व-योजना 'वस्तु-शिल्प' कहलायेगी। 'शैली-शिल्प' से हमारा तात्पर्य है, कथ्य वस्तु को कहने के लिए अपनायी गयी शैली वा पद्धति। किसी कथ्य को

सीधी, प्रत्यक्ष शैली में कहा जा सकता है जिसमें कवि संपूर्ण दायित्व अपनी वर्णनक्षमता पर ओढ़ लेता है; अथवा वह अपने पात्रों के मुख से कथ्य का विज्ञापन करता है और स्वयं नेपथ्य में पात्रों की भणिति-भंगी का नियमन करता रहता है। 'अभिव्यक्ति शिल्प' का अभिप्राय कथ्य की अभिव्यंजना अथवा विशुद्ध कला पक्ष से है जिसमें भाषा, छन्द, अलंकार तथा लक्षणा-व्यंजना का सन्निवेश होता है। 'कामायनी' के शिल्प-विधान का पर्यालोचन इन्हीं तीन शीर्षकों के अन्तर्गत करना समीचीन होगा।

आ. त्रिविध शिल्प का परीक्षण

(क) वस्तु-शिल्प—वस्तु संघटन वाले प्रकरण मे हमने वस्तु शिल्प का विस्तृत विवेचन किया है। अतः उसका पिष्ट-पेषण—यहाँ करना निरर्थक होगा। प्रसाद शायद कथा कहना नही जानते। उनकी निजी काव्य-रुचि कथा के वस्तु-निर्माण की ओर उन्मुख नही है। 'कामायनी' का मधुर-मोहक भवन अपने आकर्षण के बावजूद सुनियोजित नही है। उसकी वास्तु रचना में कई 'छिद्र' हैं, कई पेबन्द लगे हुए है, कई मोड़ वा कोण है जो अस्वाभाविक से प्रतीत होते हैं। हाँ, इतना अवश्य कहा जायेगा कि जैसे राजप्रासादों में शृंगार के कई मधुर अन्तरग कक्ष बने होते है, वैसे-ही प्रस्तुत काव्य-प्रासाद में 'लज्जा', 'वासना', 'त्रिदिक् विश्व' इत्यादि एक-से अधिक इन्द्रजाली प्रकोष्ठ निर्मित हुए हैं जहाँ पाठक की चित्तवृत्तियाँ वैसे-ही मुग्ध हो जाती हैं जैसे 'मृच्छकटिक' में वर्णित वसन्तसेना के भवन के अन्तरग प्रकोष्ठों मे प्रवेश करने वाले, चारुदत्त के अनुचर विदूषक मैत्रेय की हुई थी।[1] तथापि, 'कामायनी' का वस्तु-शिल्प एकान्त श्लाघा का आस्पद नही है।

(ख) शैली शिल्प वर्णनात्मक शैली का तिरस्कार—सबसे पहला विन्दु जो पाठक को आकर्षित करता है, वह सुपरिचित वर्णनात्मक अथवा कथनात्मक शैली की लगभग उपेक्षा प्रबन्धो में कवि अपनी ओर से कहानी कहता जाता है और जहाँ वह अपने पात्रो अथवा नायक नायिकाओ को आत्माभिव्यक्ति का अवसर प्रदान करता है, वहाँ भी कथनात्मक दृष्टिभंगी का अनुशासन प्रायः बना रहता है। पुराना कवि जैसे अपने निजी भावों तथा सवेगो को, वैसे-ही अपने पात्रों के भावों तथा संवेगों को भी, संतुलित एव मर्यादित अभिव्यक्ति ही प्रदान करता था। छायावाद का कवि न तो अपने विषय में और न अपने पात्रो के विषय में ही आत्म-गोपन का कायल है। वह खोलता और छितराता है, बिखराता और लुटाता है। छिपाना और समेटना उसका स्वभावज अलं-

---

१. 'मृच्छकटिकम्', चतुर्थ अंक

कार नही है । 'कामायनी' में प्रसाद ने खोलने तथा बिखेरने की परिपाटी अपनायी है । उनके प्रस्तुत प्रबन्ध की यही व्यवच्छेदक विशेषता है ।

"हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर बैठ शिला की शीतल छाँह" से प्रारंभ कर, केवल नौ छन्दों में ही कवि अपनी ओर से भूमिका-रूप में वातावरण का कथन करता है, और तदनंतर सरसठ छन्द अपने नायक मनु के मुख में रख देता है । अन्त के चार छन्द पुनः वातावरण की व्यंजना के हेतु नियोजित हुए हैं । 'आशा' सर्ग में भी यही अवस्था है । प्रथम नौ छन्द वातावरण के परिवर्तन का कथन करते है और तदनन्तर पन्द्रह छन्द मनु के आत्म-कथन हैं । वास्तव में, यह सर्ग स्वभाव से वर्णनात्मक था क्योंकि प्रलय-प्रवाह के हट जाने के बाद वातावरण में जो सुखद परिवर्तन घटित हुआ, उसके संदर्भ में मनु को नये जीवन का नया प्रयोग प्रारंभ करने का सम्यक् अवसर देना चाहिए था, और वैसी हालत में, इस सर्ग का नवदशाश कवि का निजी वर्णनात्मक कथन होता । किन्तु, कवि का अभीष्ट वर्णन नही, प्रत्युत मनु के अन्तरंग भाव-प्रवाह का उन्ही के मुख से अभिव्यंजन है । प्रलय-प्रवाह का तात्थिक वर्णन कवि स्वयं कर सकता था किन्तु वह मनु के अन्तस् मे उमड़ने वाले भावों एवं स्मृतियों को उन्ही की वाणी में खोलना तथा उघारना चाहता था । 'आशा' सर्ग में भी वह अपनी ओर से, जितना संभव था, उतना स्वल्प कथन करने के उपरांत, मनु को "प्राण-समीर" बनने वाली आशा की मधुर स्वप्निल 'झिलमिलाहटें' स्वयमेव विवृत करने का अवसर प्रदान कर देता है । 'आशा' सर्ग के अस्सी छन्दों मे तैतीस मनु के आत्म-कथन है और सैतालीस कवि-कथन, जबकि यहाँ कवि कथनों का प्रतिशत बहुत अधिक होना चाहिए था । जैसा हमने वस्तु-संघटन की समीक्षा वाले प्रकरण में दिखाया है, 'कर्म,' तथा 'संघर्ष' सर्गों में प्रबंध का कथा-सूत्र आगे बढ़ा है । वहाँ कवि को वर्णनात्मक विधा अपनाने का प्रचुर अवकाश उपलब्ध था । लेकिन, उसने ऐसा नही किया, और कभी मनु तथा कभी कामायनी से उनके निजी भावों का प्रकाशन ही बहुधा कराया है। 'कर्म' सर्ग में पचास कवि-कथन तथा अठहत्तर स्वगत-कथन और 'संघर्ष' में सत्रह कवि-कथन तथा चौवालीस स्वगत-कथन उपनिबद्ध हुए है । केवल 'आनंद' सर्ग ही ऐसा है जहाँ उनचास कवि-कथन हैं और इकतीस स्वगत हैं, अर्थात्, पहले की संख्या दूसरे से अपेक्षाकृत कुछ अधिक है । लेकिन, वहाँ कवि को इड़ा की शोभा-यात्रा का, पार्वत्य प्रदेश का तथा "पाषाणी प्रकृति" में सद्योघटित स्निग्ध-सुरम्य परिवर्तन का वर्णन करना था और वह यह अंतिम अवसर हाथ से छोड़ना नही चाहता था । काव्य के १०३५ छन्दों में वह ६५८ बार अब तक किसी-न-किसी पात्र को आत्मकथन का अवसर दे चुका था ।

अब अंतिम चरण में, श्रद्धा के मधु-अधरों की रागारुण स्मिति-लेखाओं से छलकने वाले "आनंद-सुधारस" की ऊर्म्मियों का स्वयमेव वर्णन करने का लोभ वह संवरण नहीं कर सका--उल्लेख्य है कि 'आनंद' सर्ग के उनचास कवि-कथनों में तेईस, लगभग आधा, इसी "मादन विकास" की व्यंजना में नियोजित हैं।

कहने का अभिप्राय यह है कि 'कामायनी' के शिल्प-विधान की सबसे उल्लेखनीय विशेषता स्वगत-कथनों एवं स्वगत-चिन्तनों की भरमार है।[1] यही उसकी शैली में नाटकीयता का अनुप्रवेश कराता है।

'मुक्त वा सहज साहचर्य' पद्धति का अनुगमन

'कामायनी' में प्रसाद ने मनोविज्ञान का प्रचुर अवलंब लिया है। कथा-सूत्र की प्रक्षीणता की पूर्ति मनोवृत्तियों के अंतरंग चित्रण एवं मनु के स्मृति-कोष को कुरदने की सावधान चेष्टा से हुई है। मनोविश्लेषण में रोगियों के उपचार के लिए 'Free Association' की पद्धति का प्रयोग किया जाता है, जिसे हिन्दी में 'मुक्त आसंग', 'मुक्त साहचर्य' 'सहज साहचर्य', इत्यादि कतिपय अभिधाएँ दी गयी है। यह पद्धति रोगी के अन्तर्मानस अथवा अवचेतन-उपचेतन में दबी भावनाओं एवं विचारों की जानकारी प्राप्त करने के हेतु अपनायी जाती हैं। इसमें रोगी को एक 'शब्द उत्तेजक' (a word stimulus) अर्थात् उत्तेजना के रूप मे एक शब्द कह दिया जाता है और तब उस शब्द से जो विचार उसके मन या मानस में आते है, उन्हें वह लगातार प्रकट करता जाता है। इस प्रयोग को "विचारों की शृंखला" (train of ideas) वाला 'साहचर्य प्रयोग' कहा जाता है।[2] इसमें एक के बाद एक विचार लगातार परस्पर शृंखलित रूप से, मानस में आते जाते है और रोगी उन्हें तब तक व्यक्त करता जाता है जब तक किसी अवाछित बात को प्रकट न करने की चेतन इच्छा अथवा 'सुपर-ईगो' (अति-अहं) के अचेतन प्रभाव के कारण विचार-प्रवाह में कोई प्रतिरोध उत्पन्न न हो जाय। इस प्रकार स्वत: आने वाले, उपरित: विशृंखल प्रतीत होने वाले विचारों की मुक्त, निर्बाध अभिव्यक्ति को 'सहज साहचर्य' कहा गया है।

वस्तुत: ऐसे विचार-प्रवाह का संबंध मनुष्य की स्मृति से है जिससे हम

---

१. १०३५ छन्दों में ६८९ स्वगत कथन तथा शेष ३४६ कवि कथन हैं।

२ जेम्स ड्रेवर : 'A Dictionary of Psychology' (1958)

पृ० ९००.

किसी पूर्वानुभव को उचित परिस्थितियों में फिर से स्मरण कर लेते हैं। यह 'प्रत्यास्मरण' (Recall) की दशा है जिसमें मनुष्य किसी पूर्वानुभव की थोड़ी-बहुत पुनर्रचना भी करता है। दैनिक जीवन में प्रायः देखा जाता है कि एक वस्तु को देखकर दूसरी अनुकूल वा प्रतिकूल वस्तु का स्मरण हो जाता है। यदि सड़क के किसी स्थल विशेष पर कोई दुर्घटना पहले हुई हो, तो उस स्थान पर पहुँचने पर हमें वह पुरानी घटना याद हो जाती है। यहाँ 'साहचर्य का नियम' कार्यशील होता है। अतीत की वस्तुओं तथा अनुभवों का पुनः स्मरण (Recall) साहचर्य (Association) के आधार पर ही होता है जिसके लिए मन.शक्तियों ने 'सान्निध्य का नियम' (Law of contiguity), 'सादृश्य का नियम' (Law of similaripty), 'विरोध वा प्रतिकूलता का नियम, (Law of contrast) इत्यादि कई नियम निर्धारित किये है। उपर्युक्त 'मुक्त साहचर्य' वाली अवस्था में भी अतीत के अनुभवों का 'प्रत्यास्मरण' (पुनः स्मरण) होता है जिसमें रोगी को कोई उत्तेजक शब्द देकर उसके द्वारा मन मे उठने वाले स्वच्छन्द विचार-प्रवाह का अध्ययन तथा विश्लेषण किया जाता है। इस स्वच्छन्द विचार-प्रवाह में भी साहचर्य के ये नियम लागू होते है।

प्रसाद ने 'कामायनी' में मनु की स्मृतियों का संचित कोष कुरेदते समय इसी 'सहज साहचर्य' का प्रयोग किया है जो उसके शिल्प-विधान की दूसरी उल्लेख्य विशेषता है।

'चिन्ता' सर्ग वस्तुतः 'प्रत्यास्मरण', अतीत का स्मरण, ही है। 'चिन्ता' शब्द का प्रयोग शायद इस सर्ग की कथ्य वस्तु को देखते हुए सामान्यत. बहुत उचित प्रतीत नही होता। प्रलय-प्रवाह के सान्निध्य में मनु अतीत के विलास, ऐश्वर्य इत्यादि का स्मरण करते है। वह 'विस्मृति" का आह्वान करते है, किन्तु कवि जानबूझ कर उनका स्मृति-कोष कुरेदता है। तब, उस प्रत्यास्मरण में बिजली का नर्तन, सर्वदा के लिए बुझे मणिदीप, दम्भी देवों के व्यर्थ सिद्ध होने वाले जयनाद, देवांगनाओं के सुरभित अंचलों में चलने वाले मधुमय निश्वास, कुसुमित कुंजों में सम्पन्न होने वाले प्रेमालिंगन, साथ-ही "पंचभूत का भैरव मिश्रण" इत्यादि अनेक संबद्ध तथ्यों वा घटनाओं का समावेश हो जाता है। इन छन्दों को ध्यान से पढ़ने पर साहचर्य के उपर्युक्त नियम लागू दिखायी देगे। उदाहरणतः, जब मनु को "चिरकिशोरवय नित्यविलासी" देवों का स्मरण होता है, तब देवागनाओं के दैहिक शृंगार के सभी विलास एवं उपकरण याद आ जाते है।[1] यहाँ 'सान्निध्य का नियम' (कालिक सान्निध्य—temporae

१. "चिरकिशोरवय नित्यविलासी" वाले छन्द के बाद आने वाले पाँच छः छन्द द्रष्टव्य हैं।

contiguity) लागू हो रहा है । "अमरता के चमकीले पुतलों" के बीते जय-नादों के स्मरण से प्रकृति की दुर्जेयता का स्मरण हो जाता है—'प्रकृति रही दुर्जेय, पराजित हम सब थे भूले मद में ।" यहाँ 'विरोध का नियम' (Law of contrast) लागू होता है । प्रलय के संदर्भ में मनु को अतीत जीवन का जो उद्वेगजनक स्मरण हो रहा है, उसमें 'नवीनता का नियम' (Law of Receney) लागू हुआ है क्योंकि देव-विलासों के उपभोग में उनकी साझेदारी अभी बिलकुल नयी है, बहुत पुरानी नहीं पड़ी है ।

'आशा' सर्ग में सुनहले वीर बरसाने वाली उषा के सम्पर्क में मनु के भीतर जो रहस्यात्मक जिज्ञासा जगी है, उसमें संबंधित छन्दों में स्वच्छन्द साहचर्य की पद्धति अपनायी गयी है । "अनंत रमणीय","जीवन ! जीवन ! की पुकार" तथा "इन्द्रजाल-जननी" रजनी के माया-प्रसार में मनु का बेसुध हो जाना-इन सब बातों के कथन में 'मुक्त साहचर्य' घटित हुआ है और सावधान पाठक साहचर्य का कोई-न-कोई नियम अब खोज लेगा । 'काम' सर्ग मे मनु को जो प्रत्यास्मरण हुए है, उनमें भी मुक्त आसंग दृष्टिगोचर होता है, जिसमें नवयुवती श्रद्धा के साक्षात्कार के मधुर सस्कार, अतीत विलास के उद्वेगमय संस्कार तथा जीवन-प्यास की छटपटाहटें एक प्रवाह में गूथमगूथ हो गयी है । मनु के इस मनोविश्लेषण मे एक कृत्रिमता अवश्य आ गयी है--वह है कवि की शैवदर्शन-विषयक आस्थाओं के विज्ञापक बिम्बों का गुफन : "चाँदनी-सदृश खुल जाय कहीं" इत्यादि । वस्तुतः स्वाभाविक सहज साहचर्य मे ऐसे सायास आनीत विचारो का कोई अवकाश नही होना चाहिए । किन्तु, कवि की प्रति-बद्धता तो केवल मनोविज्ञान के प्रति ही नही, प्रत्युत शैव दर्शन के प्रति भी है और शायद मनु ही ऐसे दुर्बल मेधा के पात्र है जिनके ऊपर सभी तरह के परिधान आसानी से लटकाये अथवा ओढाये जा सकते हैं । 'इड़ा' सर्ग मे मनु ने जो निराशापूर्ण कथन किये हैं, उनमे भी मुक्त साहचर्य की परिपाटी अप-नायी गयी है । वस्तु की दरिद्रता को ढकने के लिये कवि को यह मनोविश्लेष-णीय प्रणाली खोजनी पड़ी । गाँधीवाद में अन्तर्मुखता एवं बहिर्मुखता दोनों तत्त्वों का उचित सामंजस्य था । प्रसाद इस सामंजस्य के पालन की चेष्टा करते हुए भी, मनु को छायावादी मनोवृत्ति के कारण अधिक अन्तर्मुख ही बना गये ।

ऊपर हमने वर्णनात्मक पद्धति के तिरस्कार का जो उल्लेख किया है, वह प्रसाद की अपनी नाना प्रतिबद्धताओ का ही परिणाम है । यों, छायावाद की विषयिप्रधान व्यक्तिनिष्ठ मनोवृत्ति से मुक्तिलाभ वह कर ही कैसे सकते थे ?

प्रगीत-तत्त्व का प्राचुर्य

'कामायनी' में प्रबंधात्मकता का सूत्र क्षीण तथा प्रगीतात्मकता के तत्त्व अतिशय बन गये हैं। वस्तुतः छायावाद की अन्तरात्मा ही प्रगीतोन्मुख रही है। 'कामायनी' के अन्तस्प्राण भी, प्रबंध की खोल के भीतर, प्रगति अथवा गीति की प्रेरणा से फड़फड़ाते रहे है। अन्य कारणों के साथ एक कारण यह भी रहा है जिससे कवि को आत्मकथनात्मक प्रणाली अपनानी पड़ी है। विषयि-प्रधान रचनाओं में ही प्रगीत पनपता एवं पल्लवित होता है।

प्रगीत-तत्त्वों का परिभाषण यों हो सकता है--

(क) भावों एवं संवेगों की सान्द्रता, तरलता, एवं क्षिप्रता की तलस्पर्शी अभिव्यक्ति।

(ख) अनुभूति की सच्चाई के साथ कल्पना के माधुर्य एवं लालित्य का रमणीय संयोग।

(ग) इतिवृत्तवर्णन अथवा वस्तुनिष्ठता के प्रति उदासीनता तथा आत्मानुभूति की सूक्ष्मता के प्रति व्यामोह।

(घ) प्रेम, स्नेह, ममता, करुणा प्रभृति सुकुमार भावों की प्रधानता।

(ङ) प्रकृति की वस्तुओं के प्रति आत्मीयतापूर्ण रागात्मक संबंध की विवृति।

(च) जीवन के साधना-पक्ष से विमुखता वा विरक्ति।

(छ) काल्पनिक सौन्दर्य-लोक में पलायन की प्रवृत्ति।

(ज) गेयता अथवा सांगीतिकता का प्राधान्य।

प्रगीत की इन विशेषताओं के कारण, प्रायः ऐसी रचनाएँ मुक्तकीय आस्वाद से समन्वित होती है।

एक बात यहाँ ध्यान में रखनी है कि यद्यपि लगभग सभी प्रकार की कविताओं में कुछ-न-कुछ गेयता रहती है, तथापि प्रगीत में गेयता का अंश मुख्यतः उभार में आ जाता है। वैसे-ही, यह भी ध्यातव्य है कि यद्यपि व्यक्तिगत अनुभवों की अभिव्यक्ति प्रगीत का मौलिक गुण है, तथापि जहाँ कवि प्रबंध के भीतर किसी पात्र की अनुभूति का अन्यपुरुषात्मक कथन कर रहा है अथवा किसी दृश्य या घटना का अपनी ओर से ही वर्णन कर रहा है, वहाँ भी प्रगीत हो सकता है, यदि उसमें कोरी वर्णनात्मकता न हो। 'कामायनी' के अन्तर्लोक में प्रगीत का मंद्र प्रवाह प्रायः आद्योपान्त प्रतिफलित हुआ है।

'श्रद्धा' सर्ग के श्रद्धा-सौन्दर्य वाले छन्दों में से कई छन्दों में--यद्यपि वे वस्तुनिष्ठ है--प्रगीत का सौन्दर्य समाविष्ट हो गया है। पहली बात तो यह है कि ये छन्द मुक्तकीय आस्वाद से परिपूर्ण हैं क्योंकि उनमें से प्रायः प्रत्येक

का स्वतन्त्र आस्वादन किया जा सकता है। इन छन्दों में सौन्दर्य एवं माधुर्य का जो संस्कार समाविष्ट हुआ है, वह गीति का गुण है।

'काम' सर्ग के अनेक छन्द प्रगीत के ऐश्वर्य से परिपूर्ण है। वस्तुतः मनु की स्मृतियों को कुरेद कर, कवि गीत ही गा रहा है। इन छन्दों में प्रत्यास्मरण की सिहरन अनुपम माधुर्य एवं कसकती वेदना के स्निग्ध, झिलमिलाते आवरण से युक्त होकर अभिव्यक्त हुई है, यथा -

"मधुमय वसन्त जीवन-वन के,
बह अंतरिक्ष की लहरों में,
कब आये थे तुम चुपके-से
रजनी के पिछले पहरों में ?
क्या तुम्हें देखकर आते यों,
मतवाली कोयल बोली थी ?
उस नीरवता में अलसाई
कलियों ने आँखें खोली थीं ?" इत्यादि।

इन छन्दों मे मनु की आत्मानुभूति उन्ही की वाणी मे व्यक्त हुई है। लाक्षणिक पद-विन्यास से, भोगे गये अतीत का समन्वित बिम्ब, अनुप्रासमयी अभिव्यंजना के साहचर्य से विलक्षण सौन्दर्य की सृष्टि करता है--

"जब लिखते थे तुम सरस हँसी
अपनी, फूलों के अंचल में,
अपना कलकंठ मिलाते थे
झरनों के कोमल कल-कल में
निश्चिन्त आह ! वह था कितना
उल्लास, काकली के स्वर में !
आनन्द-प्रतिध्वनि गूँज रही
जीवन-दिगंत के अम्बर में !"

'वासना' सर्ग प्रायः पूरा-का-पूरा गीत्यात्मक है। श्रद्धा द्वारा पशु के प्रति प्रदर्शित प्यार तथा उसके प्रतिक्रिया-स्वरूप मनु का ईर्ष्याभिभूत होना--इतना ही है इसमें तथ्यकथन। मनु और श्रद्धा को चारु चन्द्रिका के सम्मोहक वितान में परस्पर सान्निध्य में उपस्थित करना तथा मनु की वासना-विह्वलता एवं श्रद्धा का आत्मसमर्पण चित्रित करना ही इस सर्ग का उद्देश्य है। व्यक्ति का आत्मकेन्द्रण, प्रकृति की मोहिनी का रहस्यपूर्ण उद्दीपन, मनु की पिघलावपूर्ण आत्म-विवृति एवं नारी-हृदय की सहज स्नेह-परवशता--इन अनेक विन्दुओं का 'रूपमाला' अथवा 'मदन' छन्द की मादनता में संसिक्त अभिव्यंजन 'वासना'

सर्ग को प्रगीत के सौष्ठव से सुरभित कर रहा है। निशा की अलसाई शिथिल छाया को मनु की हृदय-भावना से कितनी सहजता के साथ कवि ने जोड़ दिया है, इसे निम्नोद्धृत छन्द में देखिये—

"शिथिल अलसाई पड़ी छाया निशा की कांत—
सो रही थी शिशिर-कण की सेज पर विश्रांत।
उसी झुरमुट में हृदय की भावना थी भ्रांत,
जहाँ छाया सृजन करती थी कुतूहल कांत।"

शिशिर-कणों की स्निग्ध सेज पर रात्रि की छाया थकी हुई, अलसाई-सी सो रही है। सुरति-श्रान्ता कोमलाङ्गी नायिका का बिम्ब उभर आता है। 'झुरमुट' में ऐसे कक्ष की व्यंजना है जिसके झीने परदों मे से झाँका जा सकता है। मनु "द्वन्द्व-सुख" की कातर खोज में आतुर हो रहे है। हृदय-कुसुम की मधु-भीगी पाँखे तो पहले ही खिल चुकी है। अब, उस झुरमुट मे शय्यालीन सुकुमार छाया मनु के हृदय की भावना को भटकाती हुई कान्त कुतूहल की सृष्टि करने लगी है। प्रकृति के दृश्यों के साथ मानव का अन्तःतंत्र कैसे लिपट जाता है, इस तथ्य का मनोरम अंकन प्रस्तुत छन्द को अनूठे गीत्यात्मक माधुर्य से मंडित कर देता है। मनु ने अपनी मन.कातरता का जो स्वयं कथन किया है, वह प्रगीत की अन्तरात्मा के स्निग्ध रस से सराबोर है, यथा—

"मधु बरसती विधु-किरन है काँपती सुकुमार;
पवन में है पुलक, मंथर चल रहा मधु-भार।
तुम समीप अधीर इतने आज क्यों है प्राण?
छक रहा है किस सुरभि से तृप्त होकर प्राण?"

विधु-रश्मियों का कम्पन, उनका मधु बरसाना, पुलकित पवन का मंथर प्रवाह—ये कामार्त्त मनु के प्राणों को अधीर बनाते है, साथ-ही किसी अलौकिक सौरभ से उन्हे तृप्त भी बना रहे हैं। अधीरता एवं तृप्तता के परस्पर विसंवादी गुणों का यह संयोग, छन्द के मन्दप्रवाही संगीत में, अपूर्व प्रगीतात्मक माधुर्य की सृष्टि करता है।

'लज्जा' सर्ग के प्राय. समस्त छन्द श्रेष्ठ प्रगीत के उदाहरण हैं जिनका सौन्दर्य अन्यत्र अनावृत किया गया है। 'आनन्द' सर्ग के अन्तिम छन्दों में कवि की गीति-लिप्सा उसकी आनन्द-प्रवणा अन्तश्चेतना के साथ समरस होकर व्यक्त हुई है।

आरम्भ में कहा है कि कवि द्वारा स्वयं किये गये कथन में भी प्रगीत का निर्झर फूट पड़ सकता है, यदि उसमें एकान्त तथ्य-कथन न हो। ऐसे स्थल 'कामायनी' में अनेक है। आप थोड़ा पीछे खिसककर 'आशा' सर्ग का अव-

लोकन करें। केवल एक छन्द देखें—

"खुलीं उसी रमणीय दृश्य में
अलस चेतना की आँखें;
हृदय-कुसुम की खिलीं अचानक
मधु से वे भींगी पाँखें।"

यह कवि का कथन है निस्सन्देह, किन्तु गीति की आत्मा यहाँ पूर्णतया सुरक्षित है क्योंकि इसमें—

(क) दृश्य की मोहकता का मधुर संकेत है।

(ख) अलसायी चेतना की आँखें खुलने में व्यंजना का सौन्दर्य है। नींद के बाद मनुष्य, जगते-उठते समय, अंगों को ऐंठता-मरोड़ता है, तब शनैः-शनैः आँखें खोलता है। मनु की चेतना जड़ीभूत बनी हुई थी। अब वह चेतना धीरे-धीरे 'जगती' है, मानो अपनी बन्द आँखें खोलती है। चेतना जैसे स्वयं अचेत पड़ी हुई थी और अब उसमें चेतनत्व आ रहा है। चेतना का 'चेतन' बनना मानसिक जीवन का एक रहस्य है जिसकी सम्यक् व्याख्या मनोविज्ञान भी नहीं कर सकता।

(ग) 'हृदय-कुसुम की भींगी पाँखें खिलने' की व्यंजना और भी मधुर है। पहली बात तो यही ध्यातव्य है कि कवि ने जगी हुई चेतना को विवक्ष्यार्थ के अनुकूल, हृदय-तत्त्व से जोड़ दिया, अन्यथा चेतना की व्याप्ति कहीं अधिक है। हृदय पर कुसुम का आरोप और कुसुम की मधु से आर्द्र पाँखें—यहाँ व्यंजना और भी गहरी हो गयी है। कुसुम में मधु रहता है जिससे उसकी पँखुड़ियाँ भींगी होती हैं। जब तक पँखुड़ियाँ बन्द रहती हैं, तब तक मधु का पता नहीं चलता। किन्तु, खिल जाने पर मधु से लिपटी पँखुड़ियाँ एक साथ हमारे स्पर्श एवं आस्वाद की वृत्तियों को तृप्त होने का निमन्त्रण देती हैं। 'पाँखें' की सूक्ष्म व्यंजना भी अवलोक्य है। पाँखें भ्रमर की हैं। कुसुम-कोष में बन्दी बना भ्रमर फूल खिलने पर जब बाहर आता है, तब उसकी पाँखें, मधु से लिपटी हुई, विचित्र मन्दध्वनि के साथ फड़फड़ाती हैं। ऐसा लगता है जैसे कुसुम की पँखुड़ियाँ तथा भ्रमर की पाँखें एक-साथ, फड़फड़ करती हुई खिल-खुल गईं। और, कवि की कल्पना का यह सम्पूर्ण ऐश्वर्य मनु के हृदय के नवस्फुरित ऐश्वर्य की व्यंजना के हेतु नियोजित हुआ है। नवजाग्रत चेतना को समेटने वाले हृदय के अन्तरतम कोष में जीवन-मधु का कौन-सा सुषुप्त स्रोत अचानक फूट पड़ा, जिससे उसके कोमल तन्तु भींग गये तथा उनमें अभिनव स्पन्दन आ गया—यह सहृदय पाठक के अनुभव करने की वस्तु है।

(घ) पूरे छन्द में जो बिम्ब बनता है, उसमें अनुभूति एवं कल्पना का

मोहक संयोग है; हृदय के आकस्मिक पिघलाव की व्यंजना है; प्रकृति की बदलती छवियों के मानव-हृदय के लिए रागात्मक महत्त्व का मधुर संकेत है; काल्पनिक सौन्दर्य-लोक में सूक्ष्म शोध करने का मौन निमन्त्रण है। 'ल', 'ख' तथा 'म' जैसे कोमल वर्णों की आवृति नाद-माधुर्य की सृष्टि करती है और 'लावनी' छन्द से गेयता का वैभव फूट पड़ा है।

उक्त सर्ग के अन्तिम छन्दों में ज्योत्स्नामयी विभावरी के जो बिम्ब गुंफित हुए है, वे प्रगीत के श्रेष्ठ उदाहरण हैं।

वस्तु की विरलता, भावों तथा संवेगों की सान्द्रता, वेदना एवं अतीत-स्मरण की सिहरन, कर्म-कोलाहल की कठोर अवनी से पलायन, श्रद्धा तथा इड़ा के रूप में नारी-तत्त्व की प्रधानता, 'आदि' मानव-मानवी की परिकल्पना के अनुरूप पर्यावरण में प्रकृति-नटी का एकान्त "स्वप्न-शासन" अथच समरसता-जन्य आनन्द की सिद्धि का लक्ष्य—ये सभी विन्दु 'कामायनी' मे परस्पर अनुस्यूत होकर, उसके शिल्प-विधान मे प्रगीत-तत्त्व के अनुप्रवेश-हेतु पथ प्रशस्त कर गये है। इन सबकी अभीष्ट अभिव्यक्ति गीति शैली में ही हो सकती थी।

(ग) अभिव्यक्ति-शिल्प भाषा—अभिव्यंजना शिल्प में भाषा का सर्वोपरि महत्त्व है। भाषा, भाव तथा विचार का वाहन है। शास्त्र की भाषा में विचारों की सीधी, स्पष्ट तथा निश्चयात्मक अभिव्यक्ति होती है क्योंकि वह "विचारित सुस्थ" होता है। काव्य की भाषा प्रायः बिम्ब-विधायिनी होती है। सीधी, प्रत्यक्ष अभिव्यंजना काव्य के रमणीयत्व का पोषण नही कर पाती। उसके पद-विन्यास में वक्रता, लाक्षणिकता, एक प्रकार की वाग्विच्छित्ति का समावेश होता है क्योकि कविता, विचारो से लिपटी होने पर भी, किसी-न-किसी भाव अथवा संवेग का सप्रेषण करती है। अतएव, सभी समर्थ कवि भाषा का परिष्कार-सस्कार करने में सावधान दिखाई पड़ते है। इसी कारण, सुप्रसिद्ध इटैलियन कवि दाँते ने कहा था कि कविता एवं उसकी भाषा एक जटिल तथा कष्ट-साध्य व्यापार है।[1] ऋग्वेद के भाषा-सूक्त में कहा गया है कि जिस प्रकार छलनी से सत्तू का परिष्कार किया जाता है, उसी प्रकार धीर पुरुष मनन एवं चिन्तन के द्वारा वाणी का परिष्कार करते है; ऐसे पुरुष की वाणी में लक्ष्मी निवास करती है।[2]

'कामायनी' की भाषा कविता की भाषा है। इसी से उसमे सीधे-सपाट

१. "Poetry and the language for is, are, am elaborate and painful toil." (Dante)

२. ऋग्वेद, १०।७१।२

तथ्य-कथनों का प्रतिशत न्यून और बिम्ब-विधायिनी पद-संघटना का परिमाण प्रचुर है । यद्यपि 'कामायनी' विचारों का काव्य है और कवि ने अनेक विचारों का सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया है, तथापि इन विचारों की सिद्धि के लिए भाव एवं संवेग का माध्यम अपनाया गया है जिस कारण इसकी भाषा में मुख्यतः "अविचारित रमणीय" का सौन्दर्य अवतीर्ण हो गया है । प्रसाद भाषा-प्रयोग के कुशल एवं सावधान शिल्पी थे । शब्द एवं अर्थ के समंजस लालित्य को वह कविता में महत्त्व देते थे । 'काव्य और कला तथा अन्य निबंध' पुस्तक में उनकी कतिपय अध्युक्तियाँ उनके दृष्टिकोण पर आलोक डालती है : "शब्द और अर्थ की यह स्वाभाविक वक्रता विच्छित्ति, छाया और कान्ति का सृजन करती है । इस वैचित्र्य का सृजन करना विदग्ध कवि का ही काम है ।" छायावाद की शैलीगत विशेषताओं का उन्होंने यों कथन किया है– "ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक-विधान तथा उपचार-वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृति छायावाद की विशेषताएँ हैं । अपने भीतर से मोती के पानी की तरह आन्तर स्पर्श करके भाव-समर्पण करने वाली अभिव्यक्ति-छाया कान्तिमयी होती है ।" 'कामायनी' की भाषा में ऐसी-ही कान्तिमयी, वक्रतापूर्ण अभिव्यक्ति के प्रायः दर्शन होते हैं । उसमें ध्वन्यात्मकता है, लाक्षणिकता है, सुष्ठु प्रतीक-योजना है और वाग्विदग्धता की अपूर्व छटाएँ हैं । भाषा के लचर प्रयोग भी 'कामायनी' में उपलब्ध हैं जिनका उल्लेख पुस्तक के अन्तिम अध्याय में किया गया है ।

बिम्ब-विधान के अन्तर्गत हमने जो विवेचन प्रस्तुत किया है, उसके अवलोकन से प्रसाद की बिम्ब-विधायिनी प्रतिभा का परिचय मिलेगा । अतएव, इस प्रसंग में उसे दुहराना अनावश्यक प्रतीत होता है । काव्य के अभिव्यंजना-पक्ष के अन्तर्गत भारतीय साहित्य-शास्त्र में गुण, रीति, अलंकार, वक्रोक्ति तथा लक्षणा-व्यंजना का विवेचन किया गया है । वस्तुतः ये समस्त उपादान काव्य की आत्मा रस के उपकारक माने गये हैं और इन सबका आधार कवि द्वारा अवलंबित भाषा-प्रयोग ही है ।

गुण तथा रीति एवं वृत्ति

गुणों के मुख्यतः तीन भेद किये गये है, यथा, 'माधुर्य', 'ओज' तथा 'प्रसाद' । ऐसा आह्लाद जिसमें चित्त का द्रवीभाव संयुक्त हो, 'माधुर्य' कहलाता है ।[1] रति इत्यादि के प्रसंगों मे सहृदय पुरुष के चित्त का पिघलाव 'द्रवीभाव' अथवा 'द्रुति' कहा गया है । शृंगार, करुण तथा शान्त रसों में क्रमशः यह

---

१. "चित्तद्रवीभावमयो ह्लादो माधुर्यमुच्यते ।" (साहित्यदर्पण, ८।२)

द्रवीभाव अथवा माधुर्य अधिकाधिक परिमाण में वर्तमान होता है। इन रसों की पूर्ण निष्पत्ति में ही नहीं, अपितु इनके रसाभास, भाव-व्यंजना इत्यादि की अवस्था में भी माधुर्य का प्रस्फुटन होता है। कतिपय कर्ण-मधुर अक्षर माधुर्य की सृष्टि करते है। ट, ठ, ड, ढ से अतिरिक्त वर्ण जब अपने वर्गों (कवर्ग इत्यादि) के पंचम वर्ण (ङ, ञ इत्यादि) से संयुक्त होते है, तब वे 'माधुर्य' की व्यंजना करते है। लघु र तथा ण भी माधुर्य के व्यंजक हैं। समास-रहित अथवा अल्प अर्थात् छोटे-छोटे समासों वाली मधुर रचना भी माधुर्य की सृष्टि करती है।[1] चित्त के दीप्त होने की वह अवस्था जिसमें चित्त का विस्तार होता है, 'ओज' कहलाता है।[2] वीर, वीभत्स एवं रौद्र रसों में क्रमेण इसकी अधिकता होती है। इन रसों के रसाभासों, भाव-व्यंजना इत्यादि में भी ओज की उपस्थिति होती है। वर्गों (कवर्ग, चवर्ग इत्यादि) के पहले अक्षर के साथ मिला हुआ उसी वर्ग का दूसरा अक्षर (क्ख, ट्ठ आदि), तीसरे अक्षर के साथ मिला हुआ उसी वर्ग का चौथा अक्षर (ग्घ, ज्झ इत्यादि), ऊपर या नीचे अथवा दोनों ओर रेफ से संयुक्त अक्षर (र्क, र्क इत्यादि) तथा ट, ठ, ड, ढ, श एवं ष—ये सब ओज के व्यंजक होते है। इसी प्रकार, लम्बे-लम्बे समास वाली एवं उद्धत-भाव की प्रकाशिका रचना भी ओज की सृष्टि करती है।[3] जैसे सूखे इंधन में अग्नि झंटिति व्याप्त हो जाती है, वैसे-ही जो गुण चित्त में क्षिप्रता से व्याप्त हो जाता है, वह 'प्रसाद' कहलाता है।[4] यह गुण समस्त रसों एवं रचनाओं मे विद्यमान रह सकता है। सुनने-मात्र से ही जिनका अर्थ समझ में आ जाय, ऐसे सरल-सुबोध पद-विन्यास प्रसाद के व्यंजक होते है। वस्तुतः ये सभी गुण रस के स्वाभाविक धर्म है, रस के साथ अविच्छेद्य भाव से लिपटे

---

१. "मूर्ध्नि वर्गान्त्यवर्णेन युक्ताष्टठडान्विना।
रणौ लघू च तद्व्यक्तौ वर्णाः कारणतां गताः॥
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा मधुरा रचना तथा।" (साहित्यदर्पण, ८।३-४)

२. "ओजश्चित्तस्य विस्तारस्वरूपं दीप्तत्वमुच्यते॥" (वही, ८।४)

३. "वीरबीभत्सरौद्रेषु क्रमेणाधिक्यमयस्य तु।
वर्गस्याद्यतृतीयाभ्यां युक्तौ वर्णौ तदन्तिमौ॥
उपर्यधो द्वयोर्वा सरेफाष्टठडढैः सह।
शकारश्च षकारश्च तस्य व्यञ्जकतां गताः॥
तथा समासो बहुलो घटनौद्धत्यशालिनी।" (वही, ८।५,६,७)

४. "पदसंघटना रीतिरङ्गसंस्थाविशेषवत्। उपकर्मी रसादीनां।"
(साहित्यदर्पण, ९।१)

रहते हैं; तथापि लक्षणा से (औपचारिक रूप से) इन्हें शब्द अथवा अर्थ का गुण कहा गया है ।

इन गुणों से सम्बन्धित 'रीति' की स्थापना की गयी है । पदों की संघटना को 'रीति' कहा गया है । जैसे अंगों के संघटन से मनुष्य के शरीर की रचना होती है, वैसे-ही शब्दों तथा अर्थों के संघटन से काव्य-शरीर की रचना होती है । रसों, भावों इत्यादि की इसे उपकर्त्री बताया गया है । यह चार प्रकार की होती हैं, यथा—वैदर्भी, गौड़ी, पाञ्चाली तथा लाटिका । माधुर्य-व्यंजक वर्णों के द्वारा की गयी समास-रहित अथवा छोटे-छोटे समासों से युक्त ललित रचना को 'वैदर्भी रीति' कहते है । ओज के प्रकाशक कठिन वर्णों से रचित, अधिक समासों से युक्त, उद्‌भट बन्ध (रचना) को 'गौड़ी रीति' कहा गया है । इन दोनों रीतियों से अतिरिक्त, अर्थात्, इनकी रचना में प्रयुक्त होने वाले वर्णों से अतिरिक्त अक्षरों की योजना से जो रचना की जाय तथा जिसमें पाँच-छः पदों तक का समास हो, वह 'पाञ्चाली' कहलाती है । वैदर्भी तथा पाञ्चाली के मध्य की स्थिति वाली, अर्थात्, दोनों के लक्षणों से कुछ-कुछ संयुक्त रीति 'लाटी' कही गयी है ।[१] कतिपय काव्यशास्त्रियो ने 'लाटी का लक्षण यों किया है—"जो कोमल पदों तथा समासों के प्रयोग से सुन्दर हो, बहुत-से संयुक्त अक्षरो से युक्त न हो तथा समुचित विशेषणों के प्रयोग से जिसमें वस्तु का वर्णन किया गया हो, उसे 'लाटी' कहते है ।"[२]

'वृत्ति' लगभग 'रीति' का ही पर्याय है । जैसे रीति वैसे-ही वृत्ति भी गुणों से लिपटी हुई है । आचार्य उद्‌भट ने काव्य में तीन वृत्तियों—'उपःनागरिका', 'परुषा' तथा 'कोमला'—की सत्ता स्वीकार की है । माधुर्य-व्यजक वर्णों की ललित रचना में 'उपनागरिका वृत्ति' मानी गयी है । शृंगार, करुण, वात्सल्य, हास्य तथा शान्त रसों में यह अपेक्षया अधिक विद्यमान होती है । ओज के व्यंजक वर्णों की प्रचुरता वाली रचना में 'परुषावृत्ति' मानी जाती है और कोमल वर्णों की प्रचुरता होने पर 'कोमलावृत्ति' की सत्ता स्वीकार की गयी है । तनिक विचार करने पर प्रतीत होगा कि 'वैदर्भी रीति' 'उपनागरिका वृत्ति' बन गयी है, 'गौड़ी रीति' 'परुषा वृत्ति' हो गयी है और 'लाटी' अथवा 'लाटिका' 'कोमला' की पर्याय-सी अवभासित होती है ।

वस्तुतः रीतियों एवं वृत्तियों की उत्थापना में विभिन्न प्रकार के वर्णों की

---

१. साहित्य-दर्पण ९।२--५ ।

२. "मृदुपदसमाससुभगा युक्तं वर्णैर्न चातिभूयिष्ठा ।
उचितविशेषणपूरितवस्तुन्यासा भवेल्लाटी ॥" (वही)

योजना से उत्पन्न माधुर्यादि गुणों का विचार ही प्रमुख रहा है। अतएव, गुण-रीति-वृत्ति का त्रिकोण मूलतः या मुख्यतः कवि-नियोजित अभिव्यक्ति-पद्धति का ही अंग है।

'कामायनी' में गुणों, रीतियों एवं वृत्तियों का मनोरम सन्निवेश उपलब्ध होता है। वर्ण्य वस्तु के अनुकूल ही, माधुर्य गुण का प्राचुर्य दिखाई पड़ता है। नीचे दो छन्द उदाहरणार्थ उद्घृत किये गये हैं—

"लाली बन सरस कपोलों में
आँखों में अंजन-सी लगती;
कुंचित अलकों-सी घुँघराली
मन की मरोर बन कर जगती।" (लज्जा)

"क्षण-भर में सब परिवर्तित
अणु-अणु थे विश्व-कमल के;
पिंगल पराग से मचले
आनन्द-सुधारस छलके।" (आनन्द)

पहले छन्द में र, ल की आवृत्ति, अनुनासिक ध्वनियों की वर्तमानता तथा समास का अभाव—ये सभी तत्त्व पाठक के चित्त को द्रवीभूत करते हैं और शृंगार के संदर्भ में यह मनः-पिघलाव अतीव आह्लादकारी बन गया है। दूसरे छन्द में र, ल, ण की अधिकता, अनुनासिक की वर्तमानता तथा अल्प समासों की योजना पाठक के चित्त में द्रवीभावमय आह्लाद की सृष्टि करते हैं। यद्यपि संदर्भ अद्भुत रस का मै मानता हूँ, तथापि इस छन्द की पूरी पद-योजना ललित एवं स्निग्ध है और इसमें माधुर्य गुण साफ छलकता है। साथ-ही इन दोनों छन्दों में 'वैदर्भी रीति' एवं 'उपनागरिका वृत्ति' का सुन्दर समायोजन हुआ है।

ओज गुण के उदाहरण ऐसे प्रसंगों में दृष्टव्य हैं जहाँ वीर, रौद्र, वीभत्स इत्यादि को स्पर्श करने वाले स्थल आये है। 'संघर्ष' सर्ग की निम्न पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं—

"उठा तुमुल रणनाद, भयानक हुई अवस्था,
बढ़ा विपक्ष-समूह, मौन पद-दलित व्यवस्था।
आहत पीछे हटे, स्तम्भ से टिक कर मनु ने,
इवास लिया, टंकार किया दुर्लक्ष्यी धनु ने।
बहते विकट अधीर विषम उंचास वात थे,
मरण-पर्व था; नेता आकुलि औ किलात थे।"

ट, श, ष तथा रेफ और औद्धत्य-भाव की प्रकाशिका सम्पूर्ण पद-योजना पाठक के चित्त को दीप्त करती एवं उसका विस्तार करती है । अतः यहाँ ओज गुण प्रतिफलित हुआ है । वीर रस की भाव-धारा साफ दिखायी पड़ती है । 'रीति' की भाषा में यहाँ 'गौड़ी रीति' है, यद्यपि पद-योजना समास-बहुला नहीं है । 'वृत्ति' की दृष्टि से इन पंक्तियों में 'परुषा वृत्ति' की विद्यमानता है ।

'चिन्ता', 'इड़ा' तथा 'संघर्ष' सर्गों से ऐसे स्थल चुने जा सकते हैं जहाँ रौद्र, भयानक तथा वीभत्स रसों की व्यंजना हुई है, और वहाँ ओज गुण की निष्पत्ति देखी जा सकती है । ऐसे संदर्भों में 'परुषा वृत्ति' भी दिखायी पड़ेगी ।

'कामायनी' में ऐसे छन्द भी उपलब्ध है जिनमें माधुर्य तथा ओज का विलक्षण संयोग हुआ है । उदाहरणार्थ दो संदर्भ निम्नोद्धृत हैं—

(१) "कुसुम-कानन-अंचल में मन्द—
पवन-प्रेरित सौरभ साकार
शक्ति—परमाणु—पराग-शरीर
खड़ा हो, ले मधु का आधार !
और पड़ती हो उस पर शुभ्र
नवल मधु-राका मन की साध;
हँसी का मद-विह्वल प्रतिबिम्ब
मधुरिमा-खेला-सदृश अबाध ।" (श्रद्धा)

(२) "बिखरीं अलकें ज्यों तर्क-जाल !
वह विश्व-मुकुट-सा उज्ज्वलतम शशि-खंड-सदृश था स्पष्ट भाल ।
दो पद्म-पलाश-चषक-से दृग देते अनु अनुराग-विराग ढाल ।
गुंजरित मधुप से मुकुल-सदृश वह आनन जिसमें भरा गान,
वक्षस्थल पर एकत्र धरे संसृति के सब विज्ञान-ज्ञान ।
था एक हाथ में कर्म-कलश वसुधा-जीवन-रस-सार लिये,
दूसरा विचारों के नभ को था मधुर अभय अवलम्ब दिये ।
त्रिबली थी त्रिगुण तिरंगमयी, आलोक-वसन लिपटा अराल—
चरणों में थी गीत भरी-ताल !" (इड़ा)

पहले उद्धरण में श्रद्धा के और दूसरे में इड़ा के सौन्दर्य की विवृति कवि का अभीष्ट है । किन्तु, पहले में श तथा रेफ का और सायास नियोजित समासान्त पदावली का प्रयोग विवक्ष्यार्थ की माधुरी को विघ्नित करता है । इसमें 'परुषा वृत्ति' का 'उपनागरिका' के साथ विचित्र गठबंधन हुआ है । माधुर्य-व्यंजक वर्णों की योजना के बावजूद, पाठक के चित्त का द्रवीभावमय आह्लाद नहीं होता, अपितु उसका दीप्तिमय विस्तार ही—जैसा होता है जो ओज का

लक्षण है । इन पंक्तियों को आप सस्वर पढ़ें और तब लगेगा कि आपके चित्त का "विस्तारूप दीप्तत्व" ही घटित होता है, न कि उसका आह्लादमय द्रवीभाव या पिघलाव । मै इसे कवि की कला का दोष मानता हूँ । समास-योजना में उसे बिहारी की 'सतसई' ('बिहारी रत्नाकर') से प्रेरणा मिली होगी ।

दूसरा उद्धरण भी परुषा तथा उपनागरिका का विचित्र घोलमेल है । र, ल तथा अनुनासिक के साथ श, ष तथा रेफ की सहयोजना में नारी-सौन्दर्य का सरस सस्पर्श एकदम तिरोहित हो गया है और उभार में आ गया है, ओज का विस्मयपूर्ण दीप्तत्व । शायद, कवि ने अपनी विवक्षा के परिपोष में ही ऐसा किया है । अतएव, मै इसे कवि-कला का अभिनव प्रयोग समझता हूँ । पहले उद्धरण मे वैदर्भी के साथ गौड़ी रीति की स्पष्ट, प्रबल प्रतिस्पर्धा दीखती है और दूसरे मे वैदर्भी, गौड़ी से प्रायः अभिभूत होकर, जीवन की दुर्बल साँसें ले रही है ।

खोजने पर 'कामायनी' मे पाचाली रीति के उदाहरण भी मिल जायँगे । लाटी रीति के उदाहरणों की तो इसमे बहुलता ही लक्षित होती है । नीचे कतिपय पंक्तियाँ उद्वृत की गयी हैं---

"नव कोमल अवलम्ब साथ में
वय किशोर, उँगली पकड़े,
चला आ रहा मौन धैर्य-सा
अपनी माता को जकड़े ।
थके हुए थे दुखी बटोही
वे दोनों ही माँ-बेटे,
खोज रहे थे भूले मनु को
जो घायल होकर लेटे ।
इड़ा आज कुछ द्रवित हो रही
दुखियों को देखा उसने,
पहुँची पास और फिर पूछा
तुमको बिसराया किसने ?
इस रजनी में कहाँ भटकती
जाओगी तुम ? बोलो तो,
बैठो, आज अधिक चंचल हूँ,
व्यथा-गाँठ निज खोलो तो ।" (निर्वेद)

ट तथा ठ के प्रयोग से यहाँ पाठकों को घबड़ाना नही चाहिए क्योंकि ये देशज, प्रयोग हैं और इनमें अपनी मधुरता भरी हुई है जहाँ संस्कृत के आचार्यों

का "सरेफाष्टठडढैः सह" वाला फार्मूला लागू नहीं होगा । वैसे-भी, लाटिका में माधुर्य गुण वाली वैदर्भी तथा ओज गुण वाली गौड़ी अथवा पाञ्चाली की मध्यवर्ती स्थिति होती है । उपर्युक्त छन्दों मे 'कोमला वृत्ति' की निष्पत्ति हुई है ।

जैसा ऊपर कहा गया है, सरल, सुबोध पदों की योजना में 'प्रसाद गुण' होता है । आनन्दवर्धन ने शब्द एवं अर्थ की 'स्वच्छता' में प्रसाद की स्थिति स्वीकार की है–"प्रसादस्तु स्वच्छता शब्दार्थयोः ।" 'कामायनी' मे यद्यपि लाक्षणिक एवं ध्वन्यात्मक पद-विन्यास का प्राचुर्य है, तथापि अनेक स्थलों पर प्रसादमयी पद्योजना के दर्शन होते है जिनके उदाहरण आसानी से खोजे जा सकते है ।[1] कुल मिलाकर, माधुर्य गुण, वैदर्भी रीति और कोमला-उपनागरिका वृत्तियों के संगुंफन की छाप ही पाठक के मनस्पटल पर पड़ती है । और उसकी प्रायः समानान्तर छाप पड़ती है ऐसे स्थलो की, जहाँ कवि ने सचेष्ट भाव से अपने कथ्य को शब्दाडम्बर में उपगूहित कर दिया है ।

अलंकार-योजना

"शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः ।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलङ्कारास्तेऽङ्गदादिवत् ॥"

(साहित्यदर्पण, १०।१)

—शोभा की अतिशय वृद्धि करने वाले, रसभावादि के उपकारक, जो शब्द एवं अर्थ के अस्थिर धर्म है, वे, बाजूबन्द (अंगद) इत्यादि भूषणों के समान, (काव्य मे) अलंकार कहलाते है । यदि रस, भाव इत्यादि से रहित किसी प्रसंग मे किसी विशेष अलकार का प्रयोग हुआ हो, तो काव्यमर्मज्ञों की दृष्टि में वह अलंकार नही समझा जायेगा । शब्द तथा अर्थ रसादि के अंग हैं और अलंकार इन्ही के आश्रित होकर काव्य की शोभा वैसे-ही बढ़ाते है, जैसे हार,

१. "इसे दंड देने मै बैठी
या करती रखवाली मैं,
यह कैसी है विकट पहेली,
कितनी उलझन वाली मैं ?
एक कल्पना है मीठी यह,
इससे कुछ सुन्दर होगा,
हाँ कि वास्तविकता से अच्छी--
सत्य इसी को वर देगा ।" —इत्यादि (निर्वेद)

कंकण इत्यादि आभूषण मनुष्य की शोभा बढ़ाते हैं ।[1]

इस प्रकार अलंकारों के मुख्य दो भेद होते हैं, 'शब्दालंकार' तथा 'अर्थालंकार' । जहाँ दोनों प्रकार के अलंकार उपलब्ध हों, वहाँ 'उभयालंकार' माना जाता है । शब्दालंकार में सौन्दर्य शब्दों पर टिका रहता है । उसके मुख्य भेद हैं—अनुप्रास, यमक, श्लेष, वीप्सा तथा पुनरुक्ति । 'कामायनी' में इन सभी अलंकारों की सुन्दर योजना हुई है ।

आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने **अनुप्रास** को "भावावेग के वेग में नृत्य का छन्द" जोड़ने वाला अलंकार कहा है ।[2] नाद-सौन्दर्य की सृष्टि में यह सहायक होता है । कतिपय पंक्तियाँ 'कामायनी' से नीचे उद्धृत की गयी हैं—

"कंकण क्वणित, रणित नूपुर थे,
हिलते थे छाती पर हार;
मुखरित था कलरव, गीतों में
स्वर-लय का होता अभिसार ।" **(चिन्ता)**

"नारी माया-ममता का बल,
वह शक्तिमयी छाया शीतल;
फिर कौन क्षमा कर दे निश्छल,
जिससे यह धन्य बने भूतल ।" **(दर्शन)**

इन छन्दों मे क, ण, र, ल, म, त, छ की आवृत्ति नाद-माधुर्य की सृष्टि करती है । इनमें अनुप्रास के भिन्न-भिन्न भेद देखे जा सकते हैं । अनुप्रास का प्रयोग बिलकुल सहज भाव से किया गया 'कामायनी' में दिखायी पड़ता है ।

श्लेष तथा यमक के प्रयोग प्रसाद ने प्रायः नही किये है । तथापि, कतिपय उदाहरण नीचे दिये जा रहे है—

"विश्व-मर सौरभ से भर जाय ।" **(यमक)**

"सचमुच मैं हूँ श्रद्धा-विहीन ।" **(श्लेष)**

('श्रद्धा' के दो अर्थ है—श्रद्धा का भाव और श्रद्धा वा कामायनी ।)

"दे रहा हो कोकिल सानन्द सुमन को ज्यों मधुमय संदेश ।"

(श्लेष)

('सुमन' के दो अर्थ अभिप्रेत हैं, फूल तथा सुन्दर मन; 'मधुमय' के भी दो अर्थ हैं, पुष्परस से युक्त और आनन्द से युक्त ।)

---

१. **"अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्या कटकादिवत् ।"**
(ध्वन्या०, उद्योत २, कारिका ६)

२. **'साहित्य का मर्म'**

आदर, घृणा उद्वेग, आकांक्षा इत्यादि मनोभावों की व्यंजना के लिए शब्दों की आवृत्ति वीप्सा अलंकार है । 'कामायनी' में इसके सुन्दर उदाहरण उपलब्ध होते हैं, यथा—

"सब कहते हैं, खोलो, खोलो,
छवि देखूँगा जीवन-धन की ।" (काम)
"पीता हूँ, हाँ मैं पीता हूँ,
यह स्पर्श-रूप-रस-गंध-भरा ।" (काम)
"गया, सभी कुछ गया, मधुरतम
सुर-बालाओं का शृंगार ।" (चिन्ता)

पाश्चात्य साहित्य में उपलब्ध दो शब्दालंकारों, **'विशेषण-विपर्यय'**, तथा **'अर्थध्वनन'**,[1] का प्रयोग छायावाद में बहुलतया हुआ है । पहले में विशेषण को उसके वास्तविक स्थल से हटाकर अन्य स्थल पर प्रयुक्त किया जाता है, अर्थात्, यहाँ विशेषण का स्थानान्तरण हो जाता है । कथन की यह भंगिमा भारतीय काव्यशास्त्र में 'लक्षणा' के अन्तर्गत समाहित है । दूसरे में ऐसे शब्दों का प्रयोग किया जाता है जो अपनी ध्वनि से अभीष्ट भाव की व्यंजना करते हैं : 'कामायनी' से इनके उदाहरण निम्न हैं—

"छूटतीं चिनगारियाँ, उत्तेजना उद्भ्रान्त;
धधकती ज्वाला मधुर, था वक्ष विकल अशान्त ।" (वासना)

यहाँ 'उद्भ्रान्त', 'उत्तेजना' का विशेषण बना है और 'विकल-अशान्त' 'वक्ष' के विशेषण बने है जबकि ये तीनों विशेषण वस्तुतः वासना-विह्वल मनु के विशेषण है । इस प्रकार, यहाँ विशेषण का स्थानान्तरण हो गया है ।

"उजले उजले तारक झलमल ।"
"सिंह-द्वार अरराया जनता भीतर आई ।" (संघर्ष)

इन उदाहरणों मे 'झलमल' तथा 'अरराया' शब्दों की ध्वनि से अभीष्ट भाव का द्योतन हो जाता है ।

अंग्रेजी का एक अन्य अलंकार भी है जो 'कामायनी' में नियोजित हुआ है । उसे 'विशेषण-विरोध' कहा जा सकता है जो अंग्रेजी के Oxymoron (आक्सीमोरन) का पर्याय है । ऊपर उद्धृत "ज्वाला मधुर" में शब्द-विरोध है क्योंकि ज्वाला 'मधुर' नही होती । दूसरा उदाहरण 'चिन्ता' सर्ग से नीचे उद्धृत है ।

---

१. **'विशेषण-विपर्यय'** अंग्रेजी का Transferred Epithet और **'अर्थ-ध्वनन'** Onomatopoeia है ।

"अरी आधि, मधुमय अभिशाप !
+ + +
पुण्य सृष्टि में सुन्दर पाप !"

'अभिशाप' तथा 'मधुमय' में और 'सुन्दर' तथा 'पाप' में स्पष्ट, आपातिक विरोध है ।

अर्थालंकारों की गणना दण्डी[1] तथा वामन ने उपमा से और भामह[2] तथा उद्भट ने रूपक से प्रारम्भ की है । परवर्ती आचार्य अप्पयदीक्षित ने उपमा को समस्त अर्थालंकारों का मूल बताया है—

"उपमैका शैलूषी सम्प्राप्ता चित्रभूमिकाभेदान् ।
रञ्जयति काव्यरङ्गे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः ॥"

(चित्रमीमांसा)

—उपमा एक ऐसी नटी है जो विभिन्न भूमिकाएँ प्राप्त कर काव्य के रंग-मंच पर नाचती हुई सहृदयों के चित्त का अनुरंजन करती है । वस्तुतः उपमा को समस्त अलंकारों की प्राणभूत कहा जा सकता है । 'कामायनी' में उपमा का सर्वाधिक प्रयोग हुआ है । यह अन्य महत्त्वपूर्ण अलंकारों की भाँति सादृश्य पर आधारित है । सादृश्य रंग, आकृति, भाव इत्यादि कई प्रकार का होता है । 'कामायनी' में ये सभी प्रकार दिखायी पड़ते हैं । दो-तीन उदाहरण देखिये :—

"उधर गरजतीं सिन्धु-लहरियाँ कुटिल काल के जालों सी ।
चली आ रही फेन उगलती फन फैलाये व्यालों सी ॥"

(चिन्ता)

यहाँ आकृति-साम्य वाली उपमा हुई है ।

"मृत्यु-सदृश शीतल निराश ही आलिंगन पाती थी दृष्टि ।"

यहाँ भाव-साम्य मूलक उपमा का प्रयोग हुआ है । क्योंकि निराशा को मृत्यु के समान शीतल बताया गया है । "केतकी-गर्भ-सा पीला मुँह" (ईर्ष्या) में रंग-साम्य वाली उपमा है ।

---

१. दण्डी ने पहले स्वभावोक्ति, तब उपमा और तब रूपकादि का परिगणन कराया है—

"स्वभावाख्यानमुपमा रूपकं दीपकावृती ।"

(काव्यादर्श, २१४)

२. "उपमानेन यत् तत्त्वमुपमेयस्य रूप्यते ।
गुणानां समतां दृष्ट्वा रूपकं नाम तद्विदुः ॥"

(काव्यालङ्कार, १ । २१)

मूर्त्त उपमेय के लिए मूर्त्त उपमान तो प्रायः नियोजित होते हैं । 'कामायनी' में अन्य छायावादी रचनाओं की तरह मूर्त्त उपमेय के लिए अमूर्त्त उपमान, अमूर्त्त उपमेय के लिए मूर्त्त उपमान और अमूर्त्त उपमेय के लिए अमूर्त्त उपमान भी प्रयुक्त हुए हैं । नीचे की पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं–

"ऊषा सुनहले तीर बरसती जयलक्ष्मी-सी उदित हुई ।" (आशा)

यहाँ मूर्त्त उषा के लिए अमूर्त्त जयलक्ष्मी का उपमान प्रयुक्त है ।

"यह कितनी स्पृहणीय बन गयी मधुर जागरण-सी द्रुविमान;
स्मिति की लहरों-सी ऊठती है नाच रही ज्यों मधुमय तान ।"

(आशा)

यहाँ अमूर्त्त आशा के लिए जागरण, स्मिति की लहरों तथा मधुमय तान जैसे मूर्त्त उपमानों का प्रयोग हुआ है ।

' अन्धकार के अट्टहास-सी मुखरित सतत चिरंतन सत्य ।"

यहाँ अमूर्त्त मृत्यु के लिए अन्धकार के अट्टहास जैसा अमूर्त्त उपमान प्रयुक्त हुआ है ।

मूर्त्त-अमूर्त्त की अनेक सूक्ष्म सरणियाँ हो सकती है जिनमें दृष्टि-भेद से मत-भेद भी हो सकता है । 'कामायनी' मे मूर्त्त-अमूर्त्त सादृश्य-विधान के अनेक प्रकार खोजे जा सकते है ।

मालोपमा मे एक उपमेय के लिए अनेक उपमान निबद्ध किये जाते हैं । इससे भाव-सौन्दर्य की स्पष्ट विवृति में सहायता मिलती है । 'कामायनी' में मालोपमा के अभिराम चित्र अनुस्यूत हुए है । निम्न छन्द देखिये—

"चन्द्र की विश्राम-राका-बालिका-सी कान्त,
विजयिनी-सी दीखती तुम माधुरी-सी शान्त ।
पद-दलित-सी थकी व्रज्या ज्यों सदा आक्रान्त,
शस्य-श्यामल भूमि में होती समाप्त अशान्त ।" (वासना)

"माधवी-निशा की अलसाई अलकों में लुकते तारा-सी;
क्या हो सुने मरु-अचल में अंतः सलिला की धारा-सी ?"

(काम)

इन छन्दों में एक-एक उपमेय के लिए अनेक उपमानों की योजना साफ दिखायी देती है । अतः इनमें मालोपमा हुई है ।

उत्प्रेक्षा में उपमेय की उपमान-रूप में सम्भावना की जाती है । यह अलंकार काव्य में अतिशय भाव-चारुत्व की सृष्टि करता है । नीचे उत्प्रेक्षा के उदाहरण दिये गये हैं।

"उस असीम नीले अंचल में देख किसी की मृदु मुसकान,
मानो हँसी हिमालय की है फूट चली करती कल गान।"

(आशा)

यहाँ 'किसी की मृदु मुसकान' (उपमेय) की 'हिमालय की हँसी' (उपमान) रूप में सम्भावना की गयी है। यह **वस्तूत्प्रेक्षा** है। "नील परिधान बीच सुकुमार" वाले प्रसिद्ध छन्द में भी वस्तूत्प्रेक्षा का सौन्दर्य खिल गया है।

"बार बार उस भीषण रव से कँपती धरती देख विशेष,
मानो नील व्योम उतरा हो आलिंगन के हेतु अशेष।"

(चिन्ता)

जल-वृष्टि के रूप मे आकाश के पृथ्वी के आलिंगन के लिए नीचे उतरने का कारण (हेतु) पृथ्वी का काँपना बताया गया है जबकि वास्तव में ऐसा कारण नही है। अतएव, यहाँ **हेतूत्प्रेक्षा** हुई है। (दूसरी पंक्ति में प्रयुक्त 'हेतु' का अर्थ 'लिए' है, 'कारण' नही।)

"घिर रहे थे घुँघराले बाल, अंस अवलम्बित मुख के पास;
नील घन-शावक से सुकुमार, सुधा भरने को विधु के पास।"

(श्रद्धा)

श्रद्धा के काले घुँघराले केश उसके कन्धे के ऊपर मुख के समीप लटक रहे हैं। उसे देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो नीले-नीले सुकुमार घन-शावक (मेघों के शिशु) चन्द्रमा के पास सुधा भरने के निमित्त आये हों। यहाँ नीले घन-शावकों के चन्द्रमा के पास अमृत भरने के फल की सम्भावना की गयी है। अतएव, यह **फलोत्प्रेक्षा** है।

उपमा के समान उत्प्रेक्षा की भी माला होती है जहाँ एक ही प्रस्तुत के लिए एक से अधिक कल्पनाएँ की जाती हैं—"मालारूपाऽप्येषा सम्भवति।" ('रसगंगाधर', द्वि॰ आनन)। 'कामायनी' का निम्न उदाहरण लीजिये—

"मातृत्व-बोझ से झुके हुए बँध रहे पयोधर पीन आज;
कोमल काले ऊनों की नव पट्टिका बनाती रुचिर साज।
सोने की सिकता में मानो कालिन्दी बहती भर उसास;
स्वर्गंगा में इन्दीवर की या एक पंक्ति कर रही हास।"

(ईर्ष्या)

गर्भवती श्रद्धा का चित्र है। दुग्ध-भरे पयोधरों पर श्रद्धा ने कोमल काली ऊन की नयी पट्टी बाँध ली है। उसे देख कर ऐसा प्रतीत होता है मानो स्वर्णमयी बालू की रेत में काले रंग वाली यमुना प्रवाहित है, अथवा मानों

आकाश-गंगा में नील कमलों की एक अटूट पंक्ति खिल रही है। श्रद्धा का शरीर (वक्षस्थल) गर्भ के भार से पीला पड़ गया है। अतः उसे स्वर्णमयी सिकता अथवा आकाश-गंगा बताया गया है और काली ऊन की पट्टी को रंग साम्य के आधार पर पहले काली यमुना और पीछे नील-कमल पंक्ति बताया गया है। यहाँ एक ही वस्तु के लिए दो उत्प्रेक्षाएँ की गयी हैं। अतः यह **मालोत्प्रेक्षा** है। एक लेखक ने प्रस्तुत संदर्भ मे 'सन्देह' अलंकार बताया है[1] जो उचित नही क्योकि 'सन्देह' में उपमान तथा उपमेय में ही सन्देह बना रहता है। यहाँ इस प्रकार का कोई संदेह नही है।

रूपक सांग, निरंग तथा परम्परित, तीन प्रकार का होता है। 'कामायनी' में ये तीनों सुन्दररीत्या नियोजित हुए हैं। निम्न छन्द द्रष्टव्य है—

"यौवन-मधुवन की कालिन्दी बह रही चूमकर सब दिगन्त,
मन-शिशु की क्रीड़ा-नौकाएँ बस दौड़ लगाती हैं अनन्त।"

(इड़ा)

यहाँ **सांग (सावयव) रूपक** की अवतारणा हुई है।

"ओ चिन्ता की पहली रेखा! अरी विश्व-वन की व्याली!
+ + +
ह अभाव की चपल बालिके! री ललाट की खल लेखा।"

(चिन्ता)

यहाँ **निरंग (निरवयव) रूपक** हुआ है।

रूपक में उपमेय के ऊपर उपमान का आरोप होता है। उपर्युक्त साग-निरंग में यह आरोप क्रमशः अवयवों के साथ और अवयवों से रहित होता है जो संबंधित उदाहरणों से स्पष्ट है। किन्तु, रूपक की एक ऐसी स्थिति भी होती है जहाँ एक आरोप दूसरे आरोप का कारण बनता है। वहाँ **परम्परित रूपक** होता है। 'कामायनी' में ऐसे रूपक अपेक्षया अधिक उपलब्ध होते हैं। नीचे के उदाहरण देखिये—

"विश्व-कमल की मृदुल मधुकरी रजनी तू किस कोने से।"

(आशा)

यहाँ 'विश्व' के ऊपर पहले 'कमल' का आरोप किया गया और इस आरोप से संगति बिठाने के लिए 'रजनी' पर 'मधुकरी' (भ्रमरी) का आरोप किया गया, अर्थात्, एक आरोप दूसरे आरोप का कारण बना है। अतएव, यहाँ **परम्परित रूपक** है। अन्य उदाहरण भी नीचे देखे जा सकते हैं—

---

१. **'कामा० में काव्य, संस्कृति और दर्शन' (द्वितीय संस्करण, पृ० २१७)**

"भुज-लता फँसा कर नर-तरु से झूले सी झोंकें खाती हूँ ।"

(लज्जा)

"नयनों की नीलम की घाटी जिस रस-घन से छा जाती हो ।"

(लज्जा)

"आनन्द-प्रतिध्वनि गूँज रही जीवन-दिगंत के अम्बर में ।"

(काम)

उक्त पंक्तियों में एक आरोप के दूसरे आरोप का कारण बनने से **परम्परित रूपक** हुआ है ।

जहाँ उपमेय उपमान का रूप ग्रहण कर लेता है, पर उससे भिन्न कहा जाता है, वहाँ **तादूप्य रूपक** होता है । 'कामायनी' के निम्न छंद लीजिये—

"कामायनी-कुसुम वसुधा पर पड़ी, न वह मकरन्द रहा;
एक चित्र बस रेखाओं का, अब उसमें है रंग कहाँ ?
वह प्रभात का हीनकला शशि, किरन कहाँ चाँदनी रही,
वह संध्या थी, रवि-शशि-तारा ये सब कोई नहीं जहाँ ।
जहाँ तामरस, इन्दीवर योसित शतदल हैं, मुरझाये—
अपने नालों पर, वह सरसी श्रद्धा थी, न मधुप आये ;
वह जलधर जिसमें चपला या श्यामलता का नाम नहीं,
शिशिर-कला की क्षीण स्रोत वह, जो हिमतल में जम जाये ।"

(स्वप्न)

इन पंक्तियों में विरहिणी श्रद्धा को क्रमशः चित्र, प्रभात का शशि, संध्या तथा सरसी (तलैया) बताया गया है, लेकिन साथ-ही इन उपमानों से उसकी न्यूनता भी दिखायी गयी है । 'रंग', 'मकरंद', 'किरन', 'चाँदनी', 'रवि-शशि-तारा', 'तामरस' इत्यादि में रूपकातिशयोक्ति है । अतः इन छन्दों में रूपकातिशयोक्ति के सहारे **तादूप्य रूपक** हुआ है ।

लोक-प्रचलन के विरुद्ध वर्णन करना, अर्थात्, प्रस्तुत को बढ़ा-चढ़ा कर कहना **अतिशयोक्ति** अलंकार कहलाता है । 'कामायनी' में कई प्रकार की अतिशयोक्तियाँ उपलब्ध होती हैं ।

जहाँ केवल उपमान के कथन से उपमेय का बोध कराया जाता है, वहाँ **रूपकातिशयोक्ति** होती है । नीचे का छन्द देखिये—

"नवनील कुंज हैं झीम रहे, कुसुमों की कथा न बन्द हुई;
है अन्तरिक्ष आमोद-भरा, हिम कणिका ही मकरन्द हुई ।"

(काम)

यहाँ आकाश के वे भाग जहाँ नक्षत्र सघन भाव से एकत्र उगे हुए हैं, 'नवनील कुंज' के कथन से तथा नक्षत्र 'कुसुम' के कथन से व्यंजित किये गये हैं, उपमानों के कथन से उपमेय का बोध कराया गया है। अतः यह **रूपकातिशयोक्ति** है।

"मैं था, सुन्दर कुसुमों की वह सघन सुनहली छाया थी,
मलयानिल की लहर उठ रही उल्लासों की माया थी।"

(निर्वेद)

यहाँ 'कुसुमों की सुनहली छाया' तथा 'मलयानिल की लहर' उपमान हैं जो मनु के सुखमय अतीत की अभिलाषाओं, स्वप्नों तथा उत्कंठाओं (उपमेय) का बोध कराते हैं। अतः यहाँ **रूपकातिशयोक्ति** है।

'इड़ा' सर्ग की निम्न पंक्ति में प्रयुक्त 'कमल' अरुणोदय के सुनहले बिम्ब के व्यंजनार्थ आया है ---

"प्राची में फैला मधुर राग
जिसके मंडल में एक कमल खिल उठा सुनहला भर पराग।"

यहाँ भी उपमान 'कमल' के कथन से उपमेय नवोदित रवि-बिम्ब का बोध कराया गया है; अतः **रूपकातिशयोक्ति** हुई है।

जहाँ असंबंध में संबध की कल्पना की जाय, वहाँ **सम्बन्धातिशयोक्ति** होती है। 'कामायनी' का निम्न छन्द देखें—

"सुरा सुरभिमय वदन अरुण वे नयन भरे आलस अनुराग;
कल कपोल था जहाँ बिछलता कल्पवृक्ष का पीत पराग।"

(चिन्ता)

यहाँ देवांगनाओं के सुन्दर, स्निग्ध कपोलों पर कल्पवृक्ष के पीत पराग का जो स्वतः अत्यन्त चिकना होगा—बिछलना कहा गया है, असम्बन्ध में **सम्बन्ध** की कल्पना की गयी है। अतः यहाँ **सम्बन्धातिशयोक्ति** है। इसी प्रकार, निम्न पंक्तियाँ भी अवलोक्य है :–

"सबमें एक अचेतन गति थी, जिससे पिछड़ा रहे समीर।"
"देव-कामिनी के नयनों से जहाँ नील नलिनों की सृष्टि,
होती थी, अब वहाँ हो रही प्रलयकारिणी भीषण वृष्टि।"

(चिन्ता)

प्रथम उद्धरण में कहा गया है कि देव-गण भोग-विलास में अचेतन भाव से लीन होकर आगे बढ़ते जा रहे थे जिससे समीर भी, जिसकी गति तीव्र होती है, पिछड़ जाता था। असम्बन्ध में सम्बन्ध की कल्पना होने से यह **सम्बन्धा-**

तिशयोक्ति है । इसी प्रकार, दूसरे उद्धरण में देवकामिनियों के नयनों, अर्थात्, कटाक्षों से नीचे कमलों का उत्पन्न होना बताया गया है जो असम्बन्ध में सम्बन्ध की कल्पना है। अतः यह भी **सम्बन्धातिशयोक्ति** है ।

कार्य तथा कारण के पूर्वापर (एक के बाद दूसरे का होना) की विपरीतता में **कारणातिशयोक्ति** होती है । निम्न प्रसिद्ध छन्द देखें--

"उषा सुनहले तीर बरसती जयलक्ष्मी-सी उदित हुई;
उधर पराजित काल-रात्रि भी जल में अन्तर्निहित हुई ।"

(आशा)

उषा के उदित होते प्रकाश-किरणे पृथ्वी पर छितरा गयीं और उसके साथ ही काल-रात्रि का अवसान भी हो गया । प्रत्यूष होने से रात बीत जाती है । यहाँ कारण (उषा का उदय) तथा कार्य (रात्रि का अवसान) दोनों का एक साथ होना दिखाया गया है । अतएव, यह **कारणातिशयोक्ति** है ।

जहाँ प्रस्तुत, अर्थात्, उपमेय का निषेध कर अप्रस्तुत, अर्थात्, उपमान का स्थापन किया जाता है, वहाँ **अपह्नुति** अलंकार होता है । 'अपह्नुति' का अर्थ है छिपाना । यहाँ सत्य वस्तु को अनेक प्रकार से छिपाया जाता है । कहीं-कहीं उपमेयोपमान, भाव के बिना भी अपह्नुति होती है । नीचे के उद्धरणों में कई प्रकार की अपह्नुति हुई है ।

"देव न थे हम और न ये हैं,
सब परिवर्तन के पुतले ।" **(चिन्ता)**

--यहाँ **शुद्धापह्नुति** या **शाब्दी अपह्नुति** है ।

"यों समीर मिस हाँफ रही-सी
चली जा रही किसके पास ?" **(आशा)**

--यहाँ **कैतवापह्नुति** या **आर्थी अपह्नुति** हुई है ।

"फटा हुआ था नील वसन क्या;
ओ यौवन की मतवाली !
देख, अकिंचन जगत लूटता
तेरी छबि भोली-भाली !" **(आशा)**

--प्रथम दो पंक्तियों में **विशेषापह्नुति** है ।

"तारों के फूल बिखरते हैं, लुटती है अस फलता तेरी ।" **(काम)**

--यहाँ **भ्रान्तापह्नुति** हुई है ।

जहाँ अप्रस्तुत के वर्णन से प्रस्तुत का वर्णन अभीष्ट होता है, वहाँ **'अप्रस्तुतप्रशंसा'** अलंकार होता है । 'कामायनी' के निम्न छन्द देखें :--

"संध्या अरुण-जलज-केसर ले अब तक मन थी बहलाती,
मुरझा कर कब गिरा तामरस, उसको खोज कहाँ पाती ?
क्षितिज भाल का कुंकुम मिटता मलिन कालिमा के कर से,
कोकिल की काकली वृथा ही अब कलियों पर मँड़राती ।"

(स्वप्न)

यहाँ संध्या के अवसान (अप्रस्तुत) का वर्णन है, किन्तु कवि की विवक्षा श्रद्धा की विरह-दशा की व्यंजना है जिसके लिए 'तामरस', 'केसर', 'कुंकुम' इत्यादि श्लिष्ट शब्दों का प्रयोग हुआ है । अतः यहाँ **अप्रस्तुत प्रशंसा** हुई है ।

प्रस्तुत के वर्णन से, समान श्लिष्ट पदों के प्रयोग के सहारे, जहाँ अप्रस्तुत का बोध हो, वहाँ **'समासोक्ति अलंकार** होता है निम्न पंक्तियों में बड़े सुन्दर ढंग से समासोक्ति हुई है :--

"क्या तुम्हें देखकर आते यों,
मतवाली कोयल बोली थी ?
उस नीरवता में अलसाई
कलियों ने आँखें खोली थीं ?" **(काम)**

यहाँ प्रस्तुत वसंत का वर्णन हो रहा है । किन्तु श्लिष्ट पदों के प्रयोग से यौवन की भी व्यंजना की गयी है । 'मतवाली कोयल' का अपर अर्थ 'मतवाला मन', 'नीरवता' का अपर अर्थ 'कैशोर का भोलापन', 'कलियों' का अर्थ 'मन की रागमूलक वृत्तियाँ' है । ये अर्थ लक्षणा से यहाँ उपपन्न हैं । अतः वसंत के वर्णन से अप्रस्तुत यौवन का प्रस्फुरण होने के कारण **'समासोक्ति'** हुई है ।

जहाँ परस्पर अनुरूप पदार्थों के संसर्ग का वर्णन होता है, वहाँ **'सम'** अलंकार होता है–"समं स्यादनुरूप्येण श्लाघा योग्यस्य वस्तुनः ।"(साहित्यदर्पण)

'वासना' सर्ग के निम्न छन्द में **सम** अलंकार का चारु प्रतिफलन है—

"एक जीवन-सिन्धु था, तो वह लहर लघु-लोल,
एक नवल प्रभात, तो वह स्वर्ण-किरण अमोल ।
एक था आकाश वर्षा का सजल उद्दाम,
दूसरा रंजित किरण से श्री-कलित घनश्याम ।" **(वासना)**

यहाँ मनु तथा श्रद्धा की एक-दूसरे के प्रति अनुरूपता ललित रीति से व्यंजित की गई है, अतः **समालंकार** है ।

विरोधमूलक अलंकार भी 'कामायनी' में उपलब्ध होते हैं । जहाँ यथार्थतः विरोध न होकर, विरोध के आभास का वर्णन हो, वहाँ **विरोधाभास** होता है । इड़ा के रूप-वर्णन की प्रसिद्ध निम्न पंक्तियों में **विरोधाभास** हुआ है--

"दो पद्म-पलाश-चषक से दृग देते अनुराग-विराग ढाल।
+ + +
था एक हाथ में कर्म-कलश वसुधा-जीवन-रस सार लिये,
दूसरा विचारों के नभ को था मधुर अभय अवलंब दिये।" (इड़ा)

जहाँ विषम या बेमेल वस्तुओं का एकत्र वर्णन हो, वहाँ '**विषम**' अलंकार होता है। नीचे के छन्द में इच्छा-लोक का वर्णन देखिए—

"चिर वसंत का यह उद्गम है,
पतझर होता एक ओर है;
अमृत-हलाहल यहाँ मिले है,
सुख-दुख बँधते एक डोर हैं।" (रहस्य)

वसंत-पतझड़, अमृत-हलाहल तथा सुख-दुख जैसे बेमेल पदार्थों का एक-साथ वर्णन होने से **विषमालंकार** हुआ है।

विरोध के आभास-सहित कारण-कार्य की स्वाभाविक संगति के अभाव को '**असंगति**' अलंकार कहा गया है। निम्न छन्द द्रष्टव्य है—

"जागृत था सौन्दर्य, यद्यपि वह सोती थी सुकुमारी;
रूप-चन्द्रिका में उज्ज्वल थी आज निशा-सी नारी।" (कर्म)

श्रद्धा सोई हुई थी, किन्तु उसका सौन्दर्य जाग रहा था। श्रद्धा के सोने पर उसके सौन्दर्य को भी, लगता है, सोना चाहिए था जबकि स्थिति विपरीत है। अतः, यहाँ कारण-कार्य की स्वाभाविक संगति का परित्याग है, यद्यपि विरोध असली नहीं, केवल आभास-सुलभ है। इस प्रकार पहली पंक्ति में **असंगति** अलंकार है। दूसरी पंक्ति में **विरोधाभास** है।

प्रबल कारण के होते हुए भी कार्य सिद्ध नहीं होने का वर्णन '**विशेषोक्ति**' अलंकार होता है। निम्न छन्दों में विशेषोक्ति हुई है—

"अग्निकीट-समान जलती है भरी उत्साह,
और जीवित है, न छाले हैं, उसमें दाह।" (वासना)

"प्यासा हूँ, मैं अब भी प्यासा,
संतुष्ट ओघ से मैं न हुआ।" (काम)

'**विभावना**' अलंकार भी कारण-कार्य की सरणी में घटित होता है। कहीं प्रसिद्ध कारण के अभाव में कार्य होने, कहीं कारण के अपूर्ण रहने पर भी कार्य होने, कहीं प्रतिबंधक कारण के होने पर भी कार्य होने, कहीं कारण नहीं होने पर भी कार्य होने, कहीं विरुद्ध कारण से कार्य होने और कहीं कार्य से कारण के उत्पन्न होने का वर्णन विभावना में किया जाता है। 'कामायनी' के निम्नोद्धृत छन्दों में इस अलंकार के रूप में देखे जा सकते हैं—

"ऐसे अतुल अनंत विभव में,
जाग पड़ा क्यों तीव्र विराग ?" (आशा)

यहाँ विरुद्ध कारण (अनंत विभव) के होने पर भी कार्य (तीव्र विराग) हुआ है। अत: यहाँ **पाँचवीं विभावना** है।

"धीर-समीर-परस से पुलकित विकल हो चला श्रान्त शरीर;
आशा की उलझी अलकों से उठी लहर मधु-गंध अधीर।"

मन्द समीर के स्पर्श (प्रतिबंधक कारक) से शरीर के विकल (कार्य) होने के कथन से और फिर व्यग्रता की स्थिति (अन्य प्रतिबंधक कारण) के बावजूद आशा के अभ्यु- दय (अन्य कार्य) के कथन से यहाँ **तीसरी विभावना** हुई है।

दो उदाहरण और लें—

"आलिंगन ! फिर भय का क्रन्दन ! वसुधा जैसे कांप उठी।"
(स्वप्न)

"प्रकृति त्रस्त थी, भूतनाथ ने नृत्य-विकम्पित पद अपना,
उधर उठाया, भूत सृष्टि सब होने जाती थी सपना।" (स्वप्न)

प्रथम उद्धरण में 'आलिंगन' तथा 'भय का क्रन्दन' जैसी स्थिति में, अर्थात् अपूर्ण कारण से वसुधा का काँपना (कार्य) बताया गया है। अत. यह **द्वितीय विभावना** है। दूसरे उद्धरण मे, नृत्यविकम्पित पद' का उठना भौतिक सृष्टि के नष्ट होने की संभावना का कारण नही बन सकता। अत: यहाँ 'प्रथम विभावना' है।

जहाँ विशेष का सामान्य से अथवा सामान्य का विशेष से, साधर्म्य अथवा वैधर्म्य के द्वारा, समर्थन हो, वहाँ '**अर्थान्तरन्यास**' होता है। 'कामायनी' के निम्न उद्धरण देखे—

"जलनिधि के तल-वासी जलचर विकल निकलते उतराते ;
हुआ विलोड़ित गृह, तब प्राणी कौन! कहाँ! कब! सुख पाते ?"
(चिन्ता)

यहाँ विशेष (जलचरों के बाहर निकलने) का समर्थन दूसरी पंक्ति में निबद्ध एक सामान्य कथन से साधर्म्य के द्वारा हुआ है। अत: यह **अर्थान्तरन्यास** है।

"विनिमय प्राणों का वह कितना भय-संकुल व्यापार अरे !
देना हो जितना दे दे तू लेना ! कोई यह न करे !
परिवर्तन की तुच्छ प्रतीक्षा पूरी कभी न हो सकती;
संध्या रवि देकर पाती है इधर-उधर उडुगन बिखरे।" (स्वप्न)

इस छन्द की प्रथम तीन पंक्तियों मे एक सामान्य कथन हुआ है और चौथी

पंक्ति मे एक विशेष कथन से साधर्म्य के द्वारा उसका समर्थन किया गया है। अतः यहाँ 'अर्थान्तरन्यास' है।

किसी कथन को सिद्ध करने के लिए जहाँ उसका कारण बताया जाय, वहाँ **'काव्यलिंग अलंकार** होता है। निम्न पंक्तियों में यह अलंकार उपपन्न है–

"क्षुद्र पात्र ! तुम उसमें कितनी मधु-धारा हो ढाल रही।
सब बाहर होता जाता है, स्वगत उसे मैं कर न सका;
बुद्धि-तर्क के छिद्र हुए थे, हृदय हमारा भर न सका।" (निर्वेद)

प्रथम दो पंक्तियों के कथन का अंतिम पंक्ति में कारण बताने से यहाँ 'काव्य लिंग' हुआ है।

जब पूर्वानुभूत वस्तु के समान किसी वस्तु (उपमान) के देखने इत्यादि से उस वस्तु (उपमेय) का स्मरण हो जाय, तब **'स्मरण' अलंकार** होता है।

केवल अतीत का स्मरण 'स्मरण' अलंकार नहीं होगा, इसे ध्यान में रखना आवश्यक है। मनु के निम्न कथन मे इसी प्रकार का स्मरणालंकार है—

"कर पकड़ उन्मत्त से हो लगे कहने, आज
देखता हूँ दूसरा कुछ मधुरिमामय साज!
वही छवि ! हाँ, वही जैसे ! किन्तु क्या यह भूल !
रही विस्मृति-सिन्धु में स्मृति-नाव विकल अकूल।" (वासना)

मनु को, किसी पूर्व-परिचित एवं पूर्वानुभूत युवती-साहचर्य के समान वर्तमान संदर्भ में प्राप्त श्रद्धा-साहचर्य से उस पूर्वानुभव का स्मरण हो जाता है। अतः यहाँ **'स्मरणालंकार'** हुआ है।

जहाँ अचानक अन्य कारणों के आ जाने से कार्य-सिद्धि सुगम बन जाय, वहाँ **'समाधि' 'समाहित'** अलंकार होता है। निम्न छन्द में यह अलंकार स्वाभाविक रीति से घटित है—

"सृष्टि हँसने लगी आँखों में खिला अनुराग;
राग-रंजित चन्द्रिका थी, उड़ा सुमन-पराग।
और हँसता था अतिथि मनु का पकड़ कर हाथ,
चले दोनों स्वप्न-पथ में स्नेह-संबल साथ।" (वासना)

राग-रंजित चन्द्रिका इत्यादि कारणों से मनु का श्रद्धा-प्राप्ति वाला कार्य आसानी से सम्पन्न हो गया है—"चले दोनों ··· ··· ··· ···।" अतः यहाँ **समाधि** अलंकार हुआ है।

प्रस्तुत प्रकरण में केवल कतिपय प्रसिद्ध वा प्रचलित अलंकारों का ही 'कामायनी' में प्रतिफलन प्रदर्शित किया गया है। वास्तव में समस्त अलंकार विवेच्य रचना में खोजे जा सकते हैं। अनेक छन्दो में कई-कई, भिन्न-भिन्न, अलं-

कारों का युगपद् निबन्धन हुआ है । विशेष उल्लेख्य यह है कि प्रसाद की अलंकार-योजना कथ्य की प्रभविष्णुता के लिए नियोजित हुई है, चमत्कार-प्रदर्शन के लिए नहीं ।

छन्दोयोजना

काव्य में छन्द का महत्त्व प्रायः सर्वस्वीकृत रहा है। भरत ने 'नाट्यशास्त्र' में वृत्त की छन्दोयुक्त बताया है--"छन्दोयुक्तं समासेन निबद्धं वृत्तमिष्यते" और पुनः काव्यगत शब्द में छन्द की स्थिति आवश्यक बतायी है-"छन्दहीनो न शब्दोऽस्ति न शब्दः छन्दवर्जितः ।" छन्दों का वर्गीकरण क्रमशः वर्णों तथा मात्राओं के आधार किया गया है, यथा, वर्णवृत्त एवं मात्रिक वृत्त । संस्कृत साहित्य में वर्णवृत्तों (वार्णिक छन्दों) का प्रयोग हुआ है । आचार्य पिंगल ने[1] एक करोड़ सरसठ लाख, सतहत्तर हजार दो सौ सोलह वर्णवृत्तों का उल्लेख किया है जिनमें से लगभग पचास वृत्त संस्कृत काव्य में प्रयुक्त हुए हैं । हिन्दी काव्य में वर्णवृत्तों के अलावा अनेक मात्रिक छन्दों का व्यवहार हुआ है । शायद हिन्दी की प्रकृति मात्रिक वृत्तों के अधिक अनुकूल पड़ती है । 'कामायनी' में मात्रिक छन्दों का ही प्रयोग हुआ है ।

'चिन्ता' सर्ग मे 'वीर' तथा 'लावनी' छन्दो का व्यवहार है । "हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर" वाले प्रथम छन्द मे 'वीर' है । 'वीर' के प्रत्येक चरण में ३१ मात्राएँ होती है और १६ तथा १५ मात्राओं पर विराम होता है। 'लावनी' में ३० मात्राएँ होती है और १६ तथा १४ पर विराम होता है । प्रसाद ने इस सर्ग में इनके चारों चरणों का प्रयोग न कर, दो चरणों को ही चार चरणों के समान व्यवहृत किया है । लखनी का एक छन्द देखे--

"इस ग्रह-कक्षा की हलचल, री !
तरल गरल की लघु लहरी,
जरा अमर जीवन की, और
न कुछ सुनने वाली बहरी ।"

इसमें पहली तथा तीसरी पंक्ति में १६ और दूसरी तथा चौथी पक्ति में १४

---

१. छन्दशास्त्र के आदि प्रवर्त्तक शंकर माने जाते हैं और उन्हीं की शिष्य-परम्परा में पिंगल मुनि का नाम आया है जिन्होंने वैदिक एवं लौकिक छन्दों का प्रणयन किया है । वेद की कल्पना एक पुरुष के रूप में करते हुए उसके पैरों को छन्द, हाथों को कल्प, नेत्रों को ज्योतिष, कानों को निरुक्त, नासिका को शिक्षा और मुख को व्याकरण कहा गया है । (वृत्तरत्नाकर भूमिका)

मात्राएँ आई हैं। 'आशा' सर्ग में ये ही दो दो छन्द व्यवहृत हुए हैं। 'श्रद्धा' सर्ग में 'प्रसाद' या 'शृंगार' नामक छन्द का प्रयोग है। इस छन्द के प्रत्येक चरण में १६ मात्राएँ होती है तथा आरम्भ में द्विकल अथवा त्रिकल का होना आवश्यक होता है। इस छन्द में संगीत की लय सुन्दर ढग से फूट पड़ती है, यथा–

"कौन तुम ? संसृति-जलनिधि-तीर
तरंगों से फेंकी मणि एक,
कर रहे निर्जन का चुपचाप
प्रभा की धारा से अभिषेक।"

'वासना' सर्ग में 'रूपमाला' छन्द प्रयुक्त है जिसे 'मदन' भी कहा गया है। इसके प्रत्येक चरण में २४ मात्राएँ होती है और १४ तथा १० पर विराम होता है। पादान्त में गुरु-लघु का क्रम रहता है। उदाहरण ले––

"एक जीवन-सिन्धु था, तो वह लहर लघु लोल,
एक नवल प्रभात था तो वह स्वर्ण-किरण अमोल।
एक था आकाश वर्षा का सजल उद्दाम,
दूसरा रंजित किरण से श्री-कलित घनश्याम।"

मात्राएँ गिनी जा सकती हैं। पादान्त मे गुरु-लघु का क्रम स्पष्ट है, यथा, 'लोल'=ऽ।; 'उद्दाम'=ऽ। इत्यादि।

'लज्जा' सर्ग का मोहक छन्द 'इन्दुकला' नामक छन्द है जिसे 'पद-पादाकुलक' भी कहा जाता है। इसके प्रत्येक चरण में १६ मात्राएँ होती हैं। किसी भी छन्द का सस्वर पाठ कर 'इन्दुकला' का सौरस्य समझा जा सकता है। 'रहस्य' सर्ग में भी यही छंद प्रयुक्त हुआ है। 'ईर्ष्या', 'इड़ा' तथा 'दर्शन' सर्गों में 'पद्धरि' छंद उपयुक्त हुआ है। इस छंद के प्रत्येक चरण में १६ मात्राएँ होती हैं और ८, ८ पर विराम रहता है तथा अन्त में जगण (।ऽ।) होता है। 'स्वप्न' सर्ग में पुनः 'लावनी' छन्द का प्रयोग है। 'आनन्द' सर्ग में 'सखी' नामक छंद व्यवहृत हुआ है। इसके प्रत्येक चरण में १४ मात्राएँ होती हैं और अन्त में मगण (ऽऽऽ) यगण (।ऽऽ) होता है। प्रसाद ने शास्त्रीय नियमों में यत्र तत्र शिथिलता भी बरती है।

वस्तुतः, छायावादी काव्य में संगीत के आनयन के निमित्त छंदों को अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया गया है। पंत ने लिखा है––"कविता तथा छंद के बीच बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। कविता हमारे प्राणों का संगीत है, छंद हृत्कंम्पन कविता का स्वभाव ही छंद में लयमान होता है।" ('पल्लव' की भूमिका)। प्रसाद भी कविता में संगीतात्मकता के अनुप्रवेश के पक्षधर थे। 'चित्राधार' 'कानन-कुसुम', 'झरना', 'लहर' इत्यादि कृतियों में प्राचीन-नवीन, तुकान्त-अतु-

कान्त विविध प्रकार के छंदों का प्रयोग हुआ है, किन्तु 'कामायनी' मे प्रायः तुकान्त तथा अन्त्यानुप्रसाद-युक्त छंदों का ही व्यवहार हुआ है ।

प्रसाद काव्य को "आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति" मानते तथा उस अनुभूति को महत्त्व प्रदान करते हुए भी, अनुभूति की 'रमणीय' व्यंजना को स्वीकार करते हैं—"काव्य में जो आत्मा की मौलिक अनुभूति की प्रेरणा है, वही सौन्दर्यमयी और संकल्पात्मक होने के कारण, अपनी प्रेयस्थिति में रमणीय आकार में प्रकट होती है ।"[1] 'कामायनी' मे अपने नायक मनु को "अनन्त रमणीय" की जिज्ञासा से अनुप्राणित करते हुए, प्रसाद ने अपनी अनुभूति को स्वतः रमणीय बनाने का भरपूर प्रयत्न किया है--यद्यपि वह इस उद्देश्य-बोझिल काव्य में कई स्थलों पर "शिथिलसमाधि" भी हो गये हैं ।

---

१. 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' छठवीं आवृत्ति (२०२६) पृ० ४३

१८ | लक्षणा-लक्ष्यार्थ की योजना

क. लक्षणा-लक्ष्यार्थ-निरूपण

'अभिधा', 'लक्षणा' तथा 'व्यंजना' नाम से शब्दों की तीन शक्तियाँ आचार्यों द्वारा मानी गई है। किसी शब्द के सामान्य अर्थ का बोध अभिधा का व्यापार होता है और उससे उपपन्न अर्थ 'वाच्यार्थ', 'मुख्यार्थ' अथवा 'अभिधेयार्थ' कहलाता है। जहाँ शब्द का मुख्यार्थ बाधित होता है, और उससे मिले-जुले अन्य अर्थ का बोध होता है, वहाँ लक्षणा होती है और वह अर्थ 'लक्ष्यार्थ' कहलाता है। लक्षणा को 'उपचार' अथवा 'भक्ति' नाम भी दिया गया है। लक्षणार्थ की उपपत्ति मुख्यार्थ अथवा वाच्यार्थ के बोध के उपरान्त ही होती है। लक्ष्यार्थ में मुख्यार्थ का बाध आवश्यक होता है। लक्षणा से प्राप्त होने वाले अर्थ का या तो सम्बन्ध मुख्यार्थ से बना रहता है, अथवा किसी अर्थ-विशेष की सिद्धि के लिए वह शब्द रूढ़ या प्रसिद्ध हो गया रहता है, अथवा किसी विशेष प्रयोजन की पूर्ति के निमित्त वह शब्द अपने वाच्यार्थ को छोड़कर किसी अन्य अर्थ को लक्षित करता है।[1] जहाँ अभिधा तथा लक्षणा अपने-अपने अर्थ का बोध कराने के बाद शान्त हो जाती हैं और जहाँ वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ से भिन्न अन्य अर्थ अभीष्ट होता है, वहाँ व्यंजना शक्ति होती है[2] और वह अर्थ 'व्यंग्यार्थ', 'ध्वन्यार्थ' अथवा 'प्रतीयमान अर्थ' कहलाता है।

लक्षणा के भेद

लक्ष्यार्थ की उत्पत्ति के दो ही हेतु हैं—रूढ़ि तथा **प्रयोजन**[3]। "भारत

---

१. 'मुख्यार्थबाध तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपिता क्रिया॥"
(काव्यप्रकाश, २।९)

२. "विरतास्वभिधाद्यासु ययाऽर्थो बोध्यते परः,
सा वृत्तिर्व्यञ्जना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च।"
(साहित्यदर्पण, २।१२-१३)

३. स्मरणीय है कि इन दो हेतुओं (कारणों) में से यदि कोई न रहेगा,

शान्तिप्रिय है," ऐसा कहने का अर्थ होगा कि भारत के निवासी शान्तिप्रिय हैं, न कि 'भारत' नामक निर्जीव भू-खण्ड । किन्तु, इस निर्जीव पदार्थ से सजीव निवासियों का बोध कराना एक प्रकार की रूढि-सा बन गया है । अतएव, इस वाक्य में **'रूढ़ि लक्षणा'** वा **'निरूढ़ा लक्षणा'** हुई है । वैसे-ही, अनेक लोक-प्रचलित मुहावरों एवं लोकोक्तियों में भी रूढ़ि लक्षणा उपपन्न हुई है । प्रायः हम कहते हैं कि "हमारा मन प्रफुल्ल हो गया;" "उसके मुंह में ताला लगा है ।" किन्तु मन नहीं, फूल खिलता है और मुंह में नहीं, कमरे में ताला लगता है । तथापि, ऐसे मुहावरों का प्रयोग रूढ़ बन गया है । यहाँ, भी मुख्यार्थ के बाधित होने तथा उससे संबंधित अन्यार्थ के उपपन्न होने के कारण लक्षणा हुई है और वह 'रूढ़ि लक्षणा' है ।

प्रयोजन-मूलक लक्षणा को **'प्रयोजनवती लक्षणा'** कहा जाता है । जहाँ किसी विशेष प्रयोजन अथवा उद्देश्य के हेतु लक्षणा का प्रयोग होता है, वहाँ 'प्रयोजनवती लक्षणा' होती है । उदाहरणतः, यदि यह कहा जाय कि "सामने एक हड्डियों का ढाँचा खड़ा है", तो इसका अभिधेयार्थ नहीं, लक्ष्यार्थ अभीष्ट है और वह लाक्षणिक अर्थ होगा कि 'एक अत्यंत दुबला-पतला व्यक्ति खड़ा है जिसके शरीर में केवल हड्डियाँ दीख पड़ रही हैं ।' यहाँ उसका दुबलापन दिखाना प्रयोजन है । अतः, यहाँ, 'प्रयोजनवती लक्षणा' हुई है ।[1] प्रयोजनवती में व्यंग्यार्थ भी छिपा रहता है । अतः व्यंजना शक्ति का संबध प्रयोजनवती लक्षणा से रहता है, लेकिन रूढ़ि लक्षणा से नही क्योंकि वहाँ प्रयोजन बहु-प्रचलन के कारण घिस-घिसाकर, नष्ट-जैसा हो गया होता है ।

प्रयोजनवती लक्षणा के दो भेद होते हैं, **गौणी** तथा **शुद्धा** । गौणी लक्षणा वहाँ होती है जहाँ सादृश्य-संबंध से, अर्थात्, समान गुण या धर्म के कारण लक्ष्यार्थ का ग्रहण किया जाता है । जैसे, "उसके मुखचन्द्र को देखकर हमारा मन हर्षित हो गया"—इस वाक्य में मुख तथा चन्द्रमा दो भिन्न पदार्थ हैं, किन्तु दोनो को एक-ही माना गया है क्योंकि मुख और चन्द्रमा में चमक का गुण समान बताना वक्ता का प्रयोजन है । यहाँ मुख्यार्थ बाधित है क्योंकि

तो लक्षणा नहीं होगी ।

वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ के अवबोधन में जो प्रक्रिया काम करती है, उसे "लक्षणा-बीज" कहा गया है । ये बीज तीन होते हैं, यथा—

(क) मुख्यार्थ का बाध (ख) मुख्य या वाच्य अर्थ से संबंध तथा (ग) रूढ़ि अथवा प्रयोजन । (लेखक)

१. प्रयोजनवती लक्षणा को 'स्वारसिका' तथा 'फललक्षणा' भी कहा गया है । —लेखक

अभिधा से निकलने वाला अर्थ असंगत है। अतः, यहाँ लक्ष्यार्थ उपपन्न है, चन्द्रमा के समान चमकीला मुख। यह 'गौणी लक्षणा' है।

'शुद्धा लक्षणा' वहाँ होती है जहाँ सादृश्य के अतिरिक्त अन्य प्रकार के संबंध से लक्ष्यार्थ की प्रतिपत्ति होती है। "आँचल में है दूध, भरा आँखों में पानी", इस प्रसिद्ध उक्ति में 'आँचल' से भाव हैं 'स्तन' का क्योंकि आँचल (कपड़े) में दूध नहीं होता। यहाँ आँचल तथा पयोधर की समीपता के कारण, आँचल से स्तन का बोध कराया गया है। माता के वात्सल्य का संकेत करना प्रयोजन है। "दशरथ के निधन से अयोध्या का संपूर्ण राजमहल रोने-विलपने लगा"—इसमें 'राजमहल' से अभिप्राय है राजमहल में रहने वाले-व्यक्तियों से। यहाँ लक्ष्यार्थ आधार-आधेय संबंध से उपपन्न हुआ है (राजमहल आधार है और उसमे रहने वाले आधेय हैं)। विषाद की व्यापकता प्रकट करना प्रयोजन है। जब पद्माकर की वियोगिनी नायिका चन्द्रमा को यों कोसती है, "रे मतिमन्द चन्द्रमा ! तुम्हें लाज नहीं आती ? द्विजराज होते हुए भी तुम कसाई का काम करते हो;" तब वह चन्द्रमा और कसाई में समान कर्म करने का संबंध स्थापित करती है और अभीष्ट लक्ष्यार्थ है, चन्द्रमा का निर्मम-निष्करुण होना। विरहिणी की, चन्द्र-दर्शन से जन्य अत्यधिक पीड़ा का द्योतन प्रयोजन है। यहाँ समान कर्म, 'तात्कर्म्य', संबंध से लक्षणा हुई है।[1]

शुद्धा लक्षणा के दो भेद किये गये है, 'उपादान लक्षणा' और **लक्षणलक्षणा'**। जहाँ शब्द अपना मूल अर्थ न छोड़ते हुए अन्य अर्थ का आक्षेप कर लेता है, वहाँ उपादानलक्षणा होती है। 'उपादान' का अर्थ होता है, ग्रहण करना। यहाँ वह शब्द अन्यार्थ (अभीष्ट लक्ष्यार्थ) का द्योतन करता हुआ भी, अपने मुख्य अर्थ का किसी-न-किसी प्रकार ग्रहण (उपादान) किये रहता है—यद्यपि वाच्यार्थ बाधित होता ही है। इसी कारण, इस लक्षणा को **'अजहत्स्वार्था'** भी कहा गया है, अर्थात्, जिसमें शब्द अपने मुख्य अर्थ (स्वार्थ) का परित्याग न करे। लक्षणलक्षणा वहाँ होती है जहाँ कोई शब्द अभीष्ट लक्ष्यार्थ की सिद्धि के लिए अपने को समर्पण कर देता है, अर्थात्, अपना मूल अर्थ एकदम छोड़ देता है। इसी कारण, इसे **'जहत्स्वार्था'** भी कहा गया है, अर्थात्, जिसमें शब्द अपने अर्थ का परित्याग कर दे [2] (हा + शतृ = जहत्; 'हा' = छोड़ना)

---

१. देखिये, **'काव्य-दर्पण'** (रामदहिन मिश्र),
चतुर्थ संस्करण, पृ० २३-२४.

२. **"स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थं स्वसमर्पणम्।**
उपादानं लक्षणं चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा॥" (काव्यप्रकाश, २।१०)

उपादानलक्षणा अथवा अजहत्स्वार्था लक्षणा का एक उदाहरण यह लिया जा सकता है; "मैं हूँ बहन किन्तु भाई नही है । राखी सजी पर कलाई नही है ।" सुभद्राकुमारी चौहान की इन पंक्तियों मे 'कलाई' का अभिप्राय 'भाई की कलाई' से है । अर्थात् 'कलाई' शब्द 'भाई की कलाई' के अर्थ का उपादान (ग्रहण) करता है । ऊपर दिये गये उदाहरण, "दशरथ के निधन से अयोध्या का सम्पूर्ण राजमहल रोने-विलपने लगा", मे 'राजमहल' शब्द राजमहल में रहने वाले व्यक्तियों का अन्यार्थ ग्रहण कर लेता है । इन दोनों उदाहरणों में 'कलाई' तथा 'राजमहल' शब्द अन्य अर्थ का ग्रहण करते हुए भी अपने अर्थ (स्वार्थ) का परित्याग नही करते । अतः इनमें उपादानलक्षणा हुई है । **लक्षण लक्षणा अथवा जहत्स्वार्था** का एक दृष्टान्त होगा, "पेट में आग लगी है ।" यहाँ यह वाक्य अपना अर्थ छोड़ देता है तथा मुख्यार्थ बाधित होता है क्योकि पेट में सचमुच आग नही लगती । तब, इस लक्ष्यार्थ की उपपत्ति होती है कि 'अत्यधिक भूख लगी है ।'

उपादानलक्षणा तथा लक्षणलक्षणा को समझने में सम्यक् सावधानी की आवश्यकता है । वस्तुतः लक्षणा का स्वरूप बहुत-कुछ वक्ता की इच्छा पर निर्भर करता है कि वह किस अर्थ का द्योतन करना चाहता है । इसीलिए, विश्वनाथ ने लक्षणा की परिभाषा में उसे "शक्तिरर्पिता" (जिसे वा जिसमें शक्ति अर्पित की गयी हो) कहा है--

"रूढ़ेः प्रयोजनाद्वाऽसौ लक्षणा शक्तिरर्पिता ।"

—(सा० द०, २।५)

यह शक्ति उसे वक्ता के द्वारा, अपनी इच्छा के अनुसार, अर्पित की जाती है । उपादान लक्षणा में इतना स्मरण रखना है कि उसमें मुख्यार्थ का भी उपादान (ग्रहण) होना चाहिए जैसा विश्वनाथ ने स्पष्ट कहा है--

"मुख्यार्थस्येतराक्षेपो वाक्यार्थोऽन्वयसिद्धये ।
स्यादात्मनोऽप्युपादानादेषोपादानलक्षणा ।।" (सा० द०, २।६)

—मुख्यार्थ के अन्वय की सिद्धि के लिए जहाँ अन्य अर्थ का आक्षेप होता

"मुख्यार्थस्येतराक्षेपो वाक्यार्थोऽन्वयसिद्धये ।
स्यादात्मनोऽप्युपादानादेषोपादान लक्षणा ।।
अर्पण स्वस्य वाक्यार्थे परस्यान्वय सिद्धये ।
उपलक्षणहेतुत्वादेषा लक्षण लक्षणा ।।" (साहित्यदर्पण, २।६-७)
--'जहत्स्वार्था' तथा 'अजहत्स्वार्था' नाम मुख्यतः वेदान्तशास्त्र में प्रयुक्त होते हैं । **(लेखक)**

हो और 'आत्मा' का भी, अर्थात्, मुख्यार्थ का भी 'उपादान' (ग्रहण) हो, वहाँ उपादानलक्षणा होती है।

अतएव, वक्ता की इच्छा पर है कि वह मुख्यार्थ का अन्वय करे या न करे। जब वाक्यार्थ में मुख्यार्थ अन्वित (संयुक्त) होगा, तब उपादानलक्षणा होगी और जब मुख्यार्थ का अन्वय (संयोग) न होगा, तब लक्षणलक्षणा होगी। "गंगाया घोषः" के प्रसिद्ध उदाहण में जब 'गंगा तट पर स्थित बस्ती' का अर्थ गृहीत होगा, तब वहाँ उपादानलक्षणा होगी और जब 'गंगा' शब्द से केवल 'तीर' या 'तट' का बोध होगा, तभी यहाँ लक्षणलक्षणा होगी। "जहत्स्वार्था" और "अजहत्स्वार्था" वाला मुख्यभेद ही निरन्तर स्मरणीय है।[1]

---

१. "गङ्गायां घोषः" उदाहरण का प्रयोग साहित्यशास्त्र में व्याकरण-शास्त्र से गृहीत किया गया है। पतंजलि ने अपने महाभाष्य में "गङ्गायां घोष." तथा "कूपे गर्गकुलम्" ये दो उदाहरण लक्षणा के दिये हैं। मुकुलभट्ट तथा मम्मट ने "गङ्गायां घोष." का उदाहरण लक्षणलक्षणा के संदर्भ मे दिया है। 'गंगा' शब्द के मुख्यार्थ, 'जल-प्रवाह', के बाधित होने तथा 'तट' का बोध ग्रहण करने पर भी, यह शंका बनी रहती है कि तट से गगा-तट का या किसी भी अन्य तट का बोध अभीष्ट है। यद्यपि मुकुलभट्ट ने समाधान प्रस्तुत करने की चेष्टा की है तथापि वह संतोषजनक नहीं है। मम्मट ने काव्यप्रकाश में मुकुलभटट के सिद्धान्त का खण्डन करते हुए, 'गंगा-त्वेन', अर्थात्, गगा के साथ अभेद-सबंध से ही, तट की उपस्थिति मानी है। विश्वनाथ ने भी इसे लक्षणलक्षणा का उदाहरण माना है। किन्तु, जागरूक विद्यार्थी की कठिनाई, संपूर्ण सूक्ष्म तर्क-वितर्क के बावजूद, बनी रह जाती है; जब तट गंगा का ही है, तब लक्षण-लक्षणा नहीं, उपादानलक्षणा होनी चाहिए क्योंकि 'गंगा' शब्द अपने मुख्यार्थ का उपादान (ग्रहण) तो किये ही रहना है। इसे लक्षन-लक्षणा का बहुत स्पष्ट उदाहरण नहीं माना जा सकता जिसकी ओर संकेतमात्र आचार्य विश्वेश्वर ने काव्यप्रकाश की अपनी टीका में किया है—
(तृ० संस्करण, पृ० ५९) रामदहिन मिश्र ने सुबोध रीति से 'काव्य-दर्पण' में इस प्रश्न का विश्वसनीय, समाधान प्रस्तुत किया है—देखिये, 'का० द०', चतुर्थ संस्करण, पृ० २६-२७।

इसी संदर्भ में, **'सारोपा'** और **'साध्यवसाना'** लक्षणा का भी उल्लेख आवश्यक है । जिस लक्षणा में स्पष्ट 'आरोप' हो, अर्थात्, आरोप का विषय (उपमेय) तथा आरोपित की जाने वाली वस्तु (उपमान) दोनो का स्पष्ट कथन हो, **वहाँ** 'सारोपा लक्षणा' होती है । उदाहरणतः, 'मुखसरोज' पद मे मुख पर सरोज का आरोप किया गया है । यहाँ 'मुख' आरोप का विषय (उपमेय) है और 'सरोज' आरोपित की जाने वाली (आरोप्यमाण) वस्तु (उपमान) है । यह 'सारोपा लक्षणा' है । रूपक अलंकार में सारोपा होती है ।

जहाँ आरोप का विषय, अर्थात्, उपमेय लुप्त रहे, अर्थात्, उसका स्पष्ट कथन न हो और आरोप्यमाण, अर्थात्—उपमान के निर्देश से ही उसका बोध कराया गया हो, वहाँ 'साध्यवसाना लक्षणा' होती है । किसी सुन्दरी नारी के मुख की द्युति की व्यंजना के लिए यदि यह कहा जाय कि "देखो, सामने चाँद उग आया है", तब वहाँ साध्यवसाना लक्षणा होगी क्योंकि 'चाँद' आरोप्यमाण के कथन-मात्र से आरोप के विषय 'मुख' की सुषमा द्योतित की गयी है । सूर के प्रसिद्ध कूट पद "देखत एक अनूपम बाग" मे साध्यवसाना लक्षणा हुई है क्योकि राधा के अगों (उपमेय) का स्पष्ट कथन न कर, आरोप्यमाण (उपमान) बाग के निर्देश से ही उनका पूर्ण नखशिख-वर्णन किया गया है । (उपमान को इस संदर्भ मे 'विषयी' और उपमेय को 'विषय' भी कहा गया है ।) [१] अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा, अपह्नुति इत्यादि अलंकारों मे साध्यवसाना होती है ।

सारोपा और साध्यवसाना, दोनों लक्षणाएँ गौणी मे तथा शुद्धा के दोनों भेदों, उपादान लक्षणा एवं लक्षणलक्षणा, में समानरूप, से होती है । इस प्रकार, प्रयोजनवती लक्षणा के छः भेद हो जाते है ।

मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' में रूढ़ि तथा प्रयोजन को लक्षणा के दो हेतु मानते हुए, प्रयोजनवती लक्षणा के ही भेदों का निरूपण किया है । गौणी तथा शुद्धा के दो भेद स्वीकार करते हुए भी, वे उपादान लक्षणा तथा लक्षणलक्षणा को शुद्धा के ही दो भेद मानते हैं । पुनः, सारोपा तथा साध्यवसाना का विवेचन करते हुए, वे इन्हें पहले गौणी का भेद बताते है और फिर सद्यः इन दोनों भेदों को गौणी के साथ-साथ शुद्धा मे भी निर्दिष्ट करते है—

"भेदाविमौ च सादृश्यात् सम्बन्धान्तरतस्तथा ।
गौणौ शुद्धौ च विज्ञेयौ ।" (क० प्र०, का० १२, सू० १६)

---

१. **"सारोपान्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा ।**
विषय्यन्तः कृतेऽन्यास्मिन सा स्यात् साध्यवसानिका ।।"
(काव्यप्रकाश, २।११)

इस प्रकार, संदर्भ का समाहार करते हुए मम्मट ने लक्षणा के छः भेद कहे हैं–"लक्षणा तेन षड्विधाः ।" (सू० १७)

किन्तु, वस्तुतः ये छः भेद प्रयोजनवती लक्षणा के ही हैं । इन भेदों को इस प्रकार दिखाया जा सकता है––

प्रथम दो भेद––गौणी तथा शुद्धा

गौणी के दो भेद––(१) गौणी सारोपा
(२) गौणी साध्यवसाना

शुद्धा के चार भेद––

(१) शुद्धा सारोपा उपादानलक्षणा
(२) शुद्धा साध्यवसाना उपादान लक्षणा
(३) शुद्धा सारोपा लक्षणलक्षणा
(४) शुद्धा साध्यवसाना लक्षणलक्षणा

कुल भेद––२+४=६

मम्मट के "लक्षणा तेन षड्विधाः" की संगति 'प्रदीप' इत्यादि टीकाओं में इसी प्रकार बिठायी गई है । तथापि, अनेक विद्वानों ने 'काव्यप्रकाश' के इस विभाजन को त्रुटिपूर्ण बताया है । उनकी तर्कनाओं के व्यूह में हम पाठकों को उलझाना उचित नहीं समझते । समालोचकों का विचार है कि विश्वनाथ का लक्षणा-विभाजन अधिक व्यवस्थित है । उन्होंने लक्षणा के अस्सी भेद किये हैं—"एवमशीतिप्रकारा लक्षणा" (साहित्यदर्पण) ।

किन्तु, जैसा गजेन्द्रगडकर ने कहा है, ये भेदोपभेद सैद्धान्तिक अधिक और व्यावहारिक कम है । अतएव, हमने रूढ़ि लक्षणा के संक्षिप्त कथन के बाद, 'कामायनी', में लक्षणा के उपर्युक्त छः भेदों का ही प्रतिफलन दरसाया है ।

ख. 'कामायनी' में लक्षणा-लक्ष्यार्थ

'कामायनी का कवि लाक्षणिक एवं ध्वन्यात्मक पद-विन्यास का समर्थक है । संस्कृत आचार्यों में मम्मटाचार्य के किंचित् पूर्ववर्ती मुकुलभट्ट ने अपने 'अभिधावृत्तिमातृका' नामक ग्रंथ में अभिधा के दस प्रकारों का शास्त्रीय विवेचन किया है और लक्षणा तथा व्यंजना के यावत् रूपों का उनमें ही अन्तर्भाव कर दिया है । उनके अनुसार, अभिधा के अतिरिक्त किसी अन्य शब्द-शक्ति को मानने का सम्यक् आधार नहीं है । आधुनिक समालोचकों में आचार्य शुक्ल भी अभिधावादी आचार्य हैं जो कविता की सत्ता अभिधा में ही मानते हैं । 'कामायनी' में अभिधा के प्रयोग के सफल उदाहरण उपलब्ध है, तथापि, प्रसाद लाक्षणिक उपचार-वक्रता के अनुरागी हैं । अतएव, उपरि-विवेचित लक्षणा के संदर्भ में 'कामायनी' के लाक्षणिक सौन्दर्य का परीक्षण करना उचित होगा ।

रूढ़ि लक्षणा के अन्तर्गत मुहावरे आते हैं, यह कहा जा चुका है । 'कामायनी' में कतिपय मुहावरे उपलब्ध है जिनमें प्रसाद ने अपनी रुचि के अनुकूल कहीं-कहीं शब्द-परिवर्तन भी किये हैं । "लग गया रक्त था उस मुख में;" "लहरें व्योम चूमती"; "सृष्टि हँसने लगी"; "पवन पी रहा था शब्दों को" इत्यादि मुहावरों में रूढ़ि लक्षणा हुई है । किन्तु, 'कामायनी' का सौष्ठव उसके उन लाक्षणिक प्रयोगों में सन्निहित है जहाँ प्रयोजनवती लक्षणा हुई है ।

१. प्रयोजनवती गौणी सारोपा

"आह ! घिरेगी हृदय-लहलहे—
खेतों पर करका-घन-सी ।" (चिन्ता)

—यहाँ 'हृदय' विषय अथवा उपमेय है तथा 'लहलहे खेत' विषयी अथवा उपमान है । सादृश्य (समान धर्म) के कारण 'हृदय' विषय पर 'लहलहाते खेत' का अभेद आरोप किया गया है । हृदय का स्वाभाविक हर्ष दिखाना प्रयोजन है और यहाँ लक्षणा गुण के आधार पर हुई है । अतः यह गौणी सरोपा है ।

"इस नियति-नटी के अति भीषण अभिनय की छाया नाच रही ।" (इड़ा)

"जीवन-निशीथ के अंधकार !" (वही)

—'नियति-नटी' तथा 'जीवन-निशीथ' मे गौणी सारोपा है । नियति का क्षणे-क्षणे परिवर्तन तथा जीवन की निराशामयता का द्योतन करना प्रयोजन है और नियति एवं नटी मे, तथा जीवन एवं निशीथ में गुण वा स्वभाव का सादृश्य है । अतः उक्त पंक्तियों में गौणी सारोपा हुई है । "विश्व-कमल की मृदुल मधुकरी" में भी यही गौणी सारोपा है ।

२. प्रयोजनवती गौणी साध्यवसाना

"इन्द्रनीलमणि-महाचषक था
सोम-रहित उलटा लटका ।" (आशा)

—इन्द्रनीलमणि का बना बड़ा प्याला (महाचषक) जिसमें सोमरस नहीं है और जो उलटा लटका दिया गया है, ऐसे बड़े प्याले के कथन से नीले आकाश का आक्षेप किया गया है, अर्थात्, आरोप के विषय (उपमेय) का शब्दतः कथन न कर, आरोप्यमाण (उपमान) के निर्देश से ही लक्ष्यार्थ का बोध कराया गया है । विवक्षित लक्ष्यार्थ है नीला आकाश । नीलम-घटित महाचषक तथा नीले आकाश में रंग तथा गोली आकृति का सादृश्य है । अतएव, यहाँ गौणी साध्यवसाना हुई है ।

"उषा सुनहले तीर बरसती" की प्रसिद्ध पंक्ति में गौणी साध्यवसाना है

क्योंकि 'सुनहले तीर' (उपमान) के कथन से प्रातःकालीन किरणों (उपमेय) का बोध कराया गया है। किरणों तथा तीरों में स्पष्ट गुण-साम्य है। किरणों का चमकीलापन तथा तीरों का झड़ी के समान भू-पटल पर फैल जाना, यही बताना प्रयोजन है। अतः यहाँ प्रयोजनवती गौणी साध्यवसाना है।

"नवनील कुंज हैं झीम रहे,
कुसुमों की कथा न बन्द हुई।" (काम)
"इस इन्दीवर से गंधभरी
बुनती जाली मधु की धारा।" (वही)

--'नवनील कुंज' नीले आकाश के उन भागों का बोध कराता है जिनमें तारे सघनभाव से उगे हुए हैं और 'कुसुम' चमकीले नक्षत्रों का द्योतक है। यहाँ उपमान का ही कथन है और उपमेय का स्पष्ट उल्लेख नहीं हुआ है। दोनों पक्षों में गुण-सादृश्य है। नक्षत्रों की कोमल चमक तथा आकाश में तारों का सघन उदय एवं उनका प्रतिक्षण टिमटिमाना-इसी उपपन्न वा अभीष्ट अर्थ का बोध कराना प्रयोजन है।

दूसरे उद्धरण में, 'इन्दीवर' (कमल) उपमान से 'चन्द्रमा' का आक्षेप है जो उपमेय है। 'गंधभरी मधु की धारा' (उपमान) के कथन से, चन्द्रमा से निकलकर फैलने वाली सुकुमार किरणों के जाल (उपमेय) की व्यंजना करायी गयी है। दोनों पक्षों में सादृश्य स्पष्ट है और लक्षणा का प्रयोजन भी साफ दीखता है।

अतएव, इन दोनों उद्धरणों में गौणी साध्यवसाना हुई है।

३. शुद्धा सारोपा उपादानलक्षणा

ऊपर कहा गया है कि सादृश्य से अतिरिक्त सम्बन्ध के कारण जहाँ लक्षणा होती है, वह शुद्धा है। शुद्धा के दोनों भेदों, उपादानलक्षणा एवं लक्षणलक्षणा, के प्रत्येक के दो भेद होते हैं—सारोपा उपादानलक्षणा तथा साध्यवसाना उपादानलक्षणा और सारोपा लक्षणलक्षणा तथा साध्यवसाना लक्षणलक्षणा। अब, पहले सारोपा उपादानलक्षणा के उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं।

"वासना की मधुर छाया! स्वास्थ्य, बल, विश्राम!
हृदय की सौन्दर्य-प्रतिमा! कौन तुम छवि-धाम?"
(वासना)

काम-लोल मनु चन्द्रिका के धवल प्रसार में श्रद्धा को "वासना की मधुर छाया", "हृदय की सौन्दर्य-प्रतिमा" इत्यादि सम्बोधनों से सम्बोधित करते हैं। यहाँ 'तुम' अर्थात् श्रद्धा उपमेय पर 'छाया', 'प्रतिमा' इत्यादि उपमानों का

आरोप किया गया है। अतः सारोपा लक्षणा है। 'वासना की छाया', 'हृदय की सौन्दर्य-प्रतिमा' इत्यादि उपमान, अन्यार्थ (श्रद्धा) का प्रत्यायन वा आक्षेप करते हुए भी, अपने प्रकृत अर्थ अथवा भाव का पूर्णतः परित्याग नहीं करते, अपितु उसका उपादान अथवा ग्रहण किसी-न-किसी रूप में किये हुए हैं क्योंकि 'वासना' एवं 'सौन्दर्य' श्रद्धा के मादन रूप के साथ लिपटे हुए हैं। अतः यह उपादानलक्षणा है। श्रद्धा का प्रगाढ़ रूपाकर्षण व्यक्त करना प्रयोजन है। इस प्रकार, उक्त पंक्तियों में 'शुद्धा सारोपा उपादानलक्षणा' उपपन्न हुई है। इसी संदर्भ में आगे वाली पंक्ति, "विश्व-रानी ! सुन्दरी नारी ! जगत की मान !" में भी ऐसे ही कारणों से सारोपा उपादानलक्षणा हुई है।

एक अन्य उदाहरण और लीजिये—

"स्मिति मधुराका थी, श्वासों से
पारिजात-कानन खिलता;
गति मरन्द-मंथर मलयज-सी
स्वर में वेणु कहाँ मिलता !" **(निर्वेद)**

निर्वेद-ग्रस्त मनु परितापपूर्ण भंगी में श्रद्धा के प्रति अपना उद्‌गार व्यक्त कर रहे हैं—"तुम्हारी मुसकान वसंतर्तु की पूर्णिमा थी; तुम्हारे श्वासों से नन्दनवन में उगने वाले सुगंधित पारिजात के फूल खिल जाते थे; × × × तुम्हारे स्वरों में वंशी बजती थी जबकि ऐसा अन्यत्र नही मिलता।" यहाँ मुसकान में मधुराका का प्रत्यक्ष आरोप है और 'मधुराका' अपना अर्थ रखते हुए अन्यार्थ, अर्थात्, मद-विह्वल बना देने वाली मुसकान का आक्षेप करती है। अतः यह सारोपा उपादानलक्षणा है। 'श्वासों से परिजात-कानन के खिलने' में प्रौढ़ोक्ति के आश्रय से श्वासों में परिजात-कुसुमों का परोक्ष आरोप किया गया है जो स्वार्थ का पूर्ण परित्याग नही करते। अतः यहाँ भी सारोपा उपादानलक्षणा है। इसी प्रकार, स्वर में वेणु (वंशी) का आरोप है और 'वेणु' अपना अर्थ ग्रहण किये हुए है। फलतः यहाँ भी सारोपा उपादानलक्षणा उपपन्न हुई है। इन सबमें प्रयोजन स्पष्ट है, श्रद्धा की सौन्दर्य-माधुरी को प्रकट करना।

४. शुद्धा साध्यवसान उपादानलक्षणा

साध्यवसाना में उपमान के निर्देश से ही उपमेय (विषय) का बोध कराया जाता है। निम्न सुपरिचित पंक्तियों में साध्यवसाना उपादानलक्षणा हुई है—

"हे अभाव की चपल बालिके !
री ललाट की खल लेखा !

हरी-भरी-सी दौड़-धूप, ओ
जल-माया की चल रेखा !" **(चिन्ता)**

'अभाव की चपल बालिके', 'ललाट की खल लेखा' इत्यादि उपमानों से उपमेय चिन्ता का प्रत्यायन होता है। लक्षणा गुण (सादृश्य) के आधार पर नहीं हुई है, अर्थात्, शुद्धा है। ये उपमान अपने अर्थ का पूर्ण परित्याग भी नहीं करते। चिन्ता की दारुणता व्यक्त करना प्रयोजन है। सुतराम्, यहाँ शुद्धा साध्यवसाना उपादानलक्षणा प्रतिपन्न हुई है।

'लज्जा' सर्ग के निम्न छन्द देखें—

"हिल्लोल भरा हो ऋतुपति का,
गोधूली की-सी ममता हो;
जागरण प्रात-सा हँसता हो
जिसमें मध्याह्न निखरता हो;
हो चकित निकल आई सहसा
जो प्राची के घर से,
उस नवल चन्द्रिका के बिछले
जो मानस की लहरों पर से;
फूलों की कोमल पंखड़ियाँ
बिखरें जिसके अभिनन्दन में;
मकरन्द मिलाती हों अपना
स्वागत के कुंकुम-चन्दन में;"

इन पंक्तियों में 'ऋतुपति का हिल्लोल', 'जागरण', 'मध्याह्न', 'नवल चन्द्रिका', 'फूलों की कोमल पंखुड़ियाँ'—ये समस्त आरोप्यमाण वस्तुएँ अथवा उपमान हैं और विषय अथवा उपमेय हैं, यौवन-सुलभ नारी-सौन्दर्य का सह-चरण करने वाली मस्ती, उत्फुल्लता, मसृणता, सुकुमारता, स्निग्धता इत्यादि गुण किंवा धर्म। इन उपमेयों अर्थात् उपपन्न लक्ष्यार्थ के बोधक तत्त्वों का कथन नहीं होकर, केवल उपमान के निर्देश से असली अर्थ (उपमेय) का आक्षेप हुआ है। अतः यह साध्यवसाना हुई है। ये उपमान अन्यार्थ का बोध कराते हुए भी अपने मूलार्थ का एकान्त परित्याग नहीं करते। अतः उपादानलक्षणा है। इन उपमानों तथा विवक्षित उपमेयों में गुणाश्रित सादृश्य नहीं है, अतः शुद्धालक्षणा है। इस प्रकार, उक्त छन्दों में 'शुद्धा साध्यवसाना उपादानलक्षणा घटित हुई है।

५. शुद्धा सारोपा लक्षणलक्षणा

लक्षणलक्षणा में मुख्यार्थ का पूर्ण परित्याग होता है और शब्द अथवा लक्षक

पद, इस प्रकार, अन्यार्थ की उपपत्ति के निमित्त अपना समर्पण कर देते हैं। इसी कारण, ऐसी लक्षणा को 'जहत्स्वार्था' कहा गया है। सारोपा में, जैसा अभी दिखाया गया है, विषयी तथा विषय, अर्थात्, उपमान एवं उपमेय, दोनों का शब्दतः कथन रहता है। निम्न पंक्तियों में शुद्धा सारोपा लक्षणलक्षणा हुई है।

"मैं था, सुन्दर कुसुमों की वह
सघन सुनहली छाया थी,
मलयानिल की लहर उठ रही
उल्लासों की माया थी!" **(निर्वेद)**

इस छन्द की प्रथम तीन पंक्तियों में वाच्यार्थ का स्पष्ट बाध है क्योंकि 'कुसुम', 'मलयानिल' इत्यादि शब्दों का मुख्यार्थ ग्रहण करने से अभीष्ट अर्थ की उपपत्ति नही होती। अतः लक्षणा है। 'कुसुम', 'मलयानिल' इत्यादि पदों से बोधित लक्ष्यार्थ है, जीवन की सुखदता एवं आनन्दमयता। लक्षणा यहाँ सादृश्य के आधार पर नही हुई है। अतः शुद्धा है। 'कुसुम' 'मलयानिल' इत्यादि आरोप्यमाण या उपमान है और विषय अथवा उपमेय (जीवन की सुखदता) पर इनका स्पष्ट आरोप हुआ है। अतः सारोपा है। ये उपमान अपने मूलार्थ (मुख्यार्थ) का पूर्ण परित्याग किये हुए है। अत. लक्षणलक्षणा है। इस प्रकार, यहाँ 'शुद्धा सारोपा लक्षणलक्षणा' हुई है।

"एक जीवन-सिन्धु था, तो वह लहर लघु-लोल,
एक नवल प्रभात था, तो वह स्वर्ण-किरण अमोल।
एक था आकाश वर्षा का सजल उद्दाम,
दूसरा रंजित किरण से श्री-कलित घनश्याम!"
(वासना)

यहाँ कवि ने मनु तथा श्रद्धा को एक-दूसरे के संदर्भ मे परखने के लिए कतिपय उपमानों का नियोजन किया है, यथा—'जीवन-सिन्धु', 'लघु-लोल लहर', 'नवल प्रभात', 'स्वर्ण-किरण' इत्यादि। 'एक' और 'वह' पर इनका स्पष्ट आरोप है। अतः सारोपा लक्षणा है (क्योंकि मुख्यार्थ या वाच्यार्थ प्रत्यक्षतः बाधित है)। उपमान-उपमेय में गुण-साम्य (सादृश्य) नही है। अतः शुद्धा है। इन उपमानों ने लक्ष्यार्थ के प्रत्यायन (बोध) के हेतु अपते वाच्यार्थ का समर्पण अथवा परित्याग किया है। अतः लक्षणलक्षणा है। इस प्रकार, यहाँ 'शुद्धा सारोपा लक्षणलक्षणा' प्रतिपन्न हुई है।

६. शुद्धा साध्यवसाना लक्षणलक्षणा

साध्यवसाना में उपमान द्वारा उपमेय का निगरण हो जाता है, इसी से

उपमेय का शब्दतः कथन नहीं होता और उपमान के निर्देश से ही विवक्ष्यार्थ का बोध कराया जाता है। निम्नांकित उदाहरण दिये जा रहे हैं।

"मेरे सपनों में कलरव का
संसार आँख जब खोल रहा।" (लज्जा)

'कलरव का संसार' उपमान है जिसने प्रकृत अर्थ, उल्लास, का निगरण (निगलना) कर लिया है, अर्थात्, उपमेय का स्पष्ट कथन नही हुआ है। अतः साध्यवसाना है। कलरव के संसार तथा उल्लास में सादृश्य-सम्बन्ध नही है। अतः शुद्धा है। उपमान ('कलरव का संसार') अपने अर्थ (मुख्यार्थ) का परित्याग कर रहा है। अतः लक्षणलक्षणा है। इस प्रकार, यहाँ 'शुद्धा साध्यवसाना लक्षणलक्षणा' उपपन्न हुई है।

"तुमने इस सूखे पतझड़ में
भर दी हरियाली कितनी।" (निर्वेद)

'सूखा-पतझड़' तथा 'हरियाली' उपमानों के कथन से जीवन की 'नीरसता' एवं 'प्रसन्नता' का क्रमशः बोध होता है। अतः साध्यवसाना है। इन उपमानों तथा उपलक्ष्य उपमेयों में सादृश्य-सम्बन्ध नही है। अतः शुद्धा है। 'पतझड़' तथा 'हरियाली' अपना मुख्यार्थ-समर्पण कर रहे हैं। अतः लक्षणलक्षणा है। इस प्रकार, यहाँ शुद्धा साध्यवसाना लक्षणलक्षणा हुई है।

"पगली ! हाँ सम्हाल ले, कैसे
छूट पड़ा तेरा अंचल ?
देख, बिखरती है मणिराजी,
अरी, उठा बेसुध अंचल !" (आशा)

'पगली', 'चंचल' तथा 'मणिराजी' क्रमशः 'रात्रि', 'आकाश' तथा 'नक्षत्रों' के उपमान हैं। इन उपमेयों का कथन नहीं हुआ है। अतः साध्यवसाना है। 'पगली' इत्यादि उपमानों तथा तत्सम्बन्धी उपमेयों में सादृश्य-सम्बन्ध नहीं है। अतः शुद्धा है। ये उपमान अपने मूल अर्थ का परित्याग कर रहे हैं। अतः लक्षणलक्षणा है। इस प्रकार, यहाँ 'शुद्धा साध्यवसाना लक्षणलक्षणा' घटित हुई है।

जैसा ऊपर कहा गया है, मम्मट ने लक्षणा के दो हेतुओं (कारणों) का निर्देश किया है, रूढ़ि तथा प्रयोजन। वास्तव में, रूढ़िगत प्रयोगों के मूल में भी प्रयोजन छिपा रहता है, किन्तु अत्यधिक व्यवहार अथवा प्रचलन के कारण यह प्रयोजन प्रतीत नहीं होता। प्रयोजनवती लक्षणा में प्रयोजन झलकता रहता है। यह प्रयोजन सर्वदा व्यंजना से ही प्रतिफलित होता है, अर्थात्, प्रयोजन की अभिव्यक्ति व्यंजना द्वारा ही होती है। ऊपर जितने उदाहरण दिये गये हैं,

उनमें कोई-न-कोई प्रयोजन अवश्य ही व्यंग्य है। रूढ़ि लक्षणा 'अव्यंग्या' (व्यंग्यरहित) तथा प्रयोजनवती लक्षणा 'सव्यंग्या' (व्यंग्यसहित) कही गयी है।[1] सव्यंग्या (प्रयोजनवती) लक्षणा भी दो प्रकार की होती है : प्रथम, 'गूढ़व्यंग्या' जिसमें व्यंग्यार्थ गूढ़ हो और जिसे पंडित-जन ही समझ सकते हैं तथा द्वितीय, 'अगूढ़व्यंग्या' जिसमें व्यंग्यार्थ सामान्य-जन के लिए भी बोध्य हो। 'कामायनी' में गूढ़व्यंग्या तथा अगूढ़व्यंग्या, दोनों प्रकार की लक्षणाएँ उपलब्ध होती हैं। 'लज्जा', 'काम', 'वासना' इत्यादि सर्गों में गूढ़व्यंग्या लक्षणाएँ अधिक संख्या में प्राप्य हैं। अगूढ़व्यंग्या लक्षणाएँ भी सम्पूर्ण काव्य में बिखरी हुई हैं। इनके उदाहरण देना आवश्यक नहीं।

---

१. "व्यङ्ग्येन रहिता रूढौ सहितातु प्रयोजने।
प्रयोजनं हि व्यञ्जनाव्यापारगम्यमेव ॥"

(काव्यप्रकाश, सूत्र १८)

२. मम्मट ने इस प्रकार व्यंग्यार्थ की दृष्टि से लक्षणा के पुनः तीन भेद कर दिये हैं—अव्यंग्या, गूढ़व्यंग्या तथा अगूढ़व्यंग्या।

(का० प्र०, २।१३)

१९ प्रसाद की अन्य रचनाएँ और कामायनी

प्रसाद के निबन्ध

क.

प्रसाद की समस्त मान्यताओं तथा आस्थाओं का प्रतिफलन 'कामायनी' में दृष्टिगोचर होता है। वह मूलतः भारतीय संस्कृति की उस प्राण-धारा के नवीन व्याख्याता के रूप में उपस्थित हुए हैं जो संपूर्ण आर्ष वाङ्मय में, नाना रूपों की छटाएँ धारण करती हुई, निरंतर प्रवहमान रही है। साहित्य के दो रूप पाश्चात्य समालोचकों ने बताये हैं, 'ज्ञान का साहित्य' तथा 'शक्ति का साहित्य'। ज्ञान का साहित्य 'शास्त्र' कहलाता है और शक्ति का साहित्य 'काव्य'।[1] 'कामायनी' में शास्त्र तथा काव्य, दोनों की समन्वित सान्द्र छायाएँ एक साथ रसमान होकर अवतीर्ण हुई हैं। ज्ञान तथा सौन्दर्य-बोध को विश्व-व्यापी वस्तु मानते हुए भी, प्रसाद मानते है कि "वही (एक) आलोक शुक्र की उज्ज्वलता और शनि की नीलिमा में सौन्दर्य-बोध के लिए अपनी अलग-अलग सत्ता बना लेता है।" सुदीर्घ काल के अन्तराल में, भौगोलिक परिस्थितियों के प्रभाव से सौन्दर्यानुभूति का एक निश्चित स्वरूप प्रत्येक जाति निर्मित कर लेती है। सौन्दर्य-बोध का विकसित रूप ही संस्कृति बनता है। इस प्रकार, सौन्दर्य-बोध की भिन्नता से संस्कृतियों के भिन्न-भिन्न रूप प्रतिफलित होते हैं, यद्यपि उनमें मौलिक एकत्व विद्यमान होता है। प्रसाद भारतीय संस्कृति तथा भारतीय सौन्दर्य-बोध के चित्रकार हैं और उनकी यह निष्ठा 'विश्ववाद" की

१. आंग्ल समीक्षक डीक्विसी ने Literature of Knowledge तथा Literature of power नाम से साहित्य के दो भेद किये हैं। प्रसाद भी सत्य को विराट बताते हुए, उसके दो लक्षण, श्रेय और प्रेम, बताते हैं जिनकी अभिव्यक्ति क्रमशः शास्त्र तथा काव्य में होती है। (द्रष्टव्य : 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध', छठवीं आवृत्ति, पृष्ठ ३७)

विरोधिनी नहीं है ।[1]

बृहदारण्यकोपनिषद् में आत्मा को मनोमय, वाङ्मय तथा प्राणमय बताया गया है । मनने-शक्ति (मनोमयता), मनन से उत्पन्न निर्वचन करने वाली वाक्-शक्ति (वाङ्मयता) तथा मनन एवं निर्वचन के सामंजस्य को स्थिर करने वाली सजीवता-मूलक प्राणशक्ति (प्राणमयता), इन तीनों को प्रसाद "आत्मा की मौलिक क्रियाएँ" मानते हैं । मन (आत्मा) में संकल्प तथा विकल्प की क्षमता होती है । विकल्प तर्क-वितर्क के आधार पर विचार की परीक्षा करता है जब-कि संकल्प मूलत: रूपात्मक होता है । प्रसाद मानते हैं कि संकल्प-विकल्प की क्रियाएँ प्राय: युगपत् चलती हैं और सिद्धांन्त-निर्माण भी, जो शास्त्रीय व्या-पार है, तर्क-वितर्क के बाद भी, संकल्पीय प्रेरणा से परिणमित होता है । अनु-भूतियों अथवा विचारों का चारुत्व शास्त्र में, विश्लेषणात्मक होते-होते, घट जाता है जिससे उनका प्रेयस्तत्त्व प्राय: पर्याच्छन्न हो जाता है । काव्य, इसके विपरीत, "आत्मा (मन) की संकल्पात्मक अनुभूति" है जिसका मौलिक सम्बन्ध विकल्प अथवा विश्लेषण से नही होता । प्रसाद मानते हैं कि "वह (काव्य) एक श्रेयमयी, प्रेय रचनात्मक ज्ञानधारा है । विश्लेषणात्मक तर्कों से और विकल्प के आरोप से मिलन न होने के कारण, आत्मा की मनन-क्रिया जो वाङ्मय रूप में अभिव्यक्त होती है, वह नि:संदेह प्राणमयी और सत्य के उभय लक्षण प्रेय और श्रेय दोनों से परिपूर्ण होती ।"[2] संकल्पात्मक मूल अनु-भूति का तात्पर्य समझाते हुए, प्रसाद कहते है, "आत्मा की मनन-शक्ति की वह असाधारण अवस्था, जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व मे सहसा ग्रहण कर लेती है, काव्य में संकल्पात्मक मूल अनुभूति कही जा सकती है ।"[3] उनकी यह मान्यता प्रसिद्ध सौन्दर्यशास्त्री क्रोचे की स्थापना से मेल खाती है । संकल्पात्मक मन की अनुभूतियाँ श्रेय तथा प्रेय दोनों से परिपूर्ण होती है, इसके प्रमाण मे प्रसाद मनन की 'असाधारण अवस्था' की ओर हमारा ध्यानाकर्षण करते है और असाधारणत्व को सनातनत्व के साथ जोड़ देते हैं—"असाधारण अवस्था युगों की समष्टि अनुभूतियों में अन्तर्निहित रहती है, क्योकि सत्य अथवा श्रेय ज्ञान कोई व्यक्तिगत सत्ता नही, वह एक शाश्वत चेतनता है, या चिन्मयी ज्ञान-धारा है, जो व्यक्तिगत स्थानीय केन्द्रों के नष्ट हो जाने पर भी निर्विशेष रूप

---

१. द्रष्टव्य 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध', छठवीं आवृत्ति, पृष्ठ २८ ।
२. वही, पृ० ३८ ।
३. वही, पृ० ३८ ।

से विद्यमान रहती है । प्रकाश की किरणों के समान भिन्न-भिन्न संस्कृतियों के दर्पण में प्रतिफलित होकर वह आलोक को सुन्दर और ऊर्ज्जस्वित बनाती है ।"[1] इस प्रकार, काव्य-चित्रित अनुभूतियाँ व्यष्टि एवं समष्टि दोनों छोरों को मिलाती हैं और इसी से उनमें श्रेयस् तथा प्रेयस् का एक साथ समावेश रहता है । मनन की असाधारणता का यही तात्पर्य एवं परिणाम है और 'कामायनी' में इसी असाधारण मनन का प्रतिफलन संमूर्तित हुआ है जिसमें कवि की व्यक्तिगत अनुभूतियाँ जाति की समूहगत अनुभूतियों के संकलित अधिकोष का अंग बन गयी हैं । कवि समझता है, उसकी यही चेष्टा तथा कामना है कि विवेच्य काव्य जीवन के श्रेय तथा प्रेय दोनों पक्षों का यौगपदिक सम्पादन करेगा ।

"काव्य में आत्मा की संकल्पात्मक मूल अनुभूति की मुख्य धारा रहस्यवाद है"—ऐसी प्रसाद की मान्यता है । रहस्यवाद का मूल उद्गम सेमेटिक धर्म-भावना में मानने के मत का अपलाप करते हुए, उन्होंने हमारा ध्यान वैदिक काम की ओर आकर्षित किया है और उसे प्रेम का प्राचीन वैदिक रूप बताया है ।[2] आगम शास्त्रों में यही काम 'कामकला' के रूप में प्रतिष्ठित किया गया और उसकी (काम की) उपासना भारत में की जाने लगी । "यह उपासना सौन्दर्य, आनन्द और उन्मद भाव की साधना-प्रणाली" थी—प्रसाद ऐसा मानते हैं । वैष्णवों के माधुर्य-भाव तथा शैवों की अद्वैतवादी उपासना-पद्धति दोनों का उद्गम वेदों तथा उपनिषदों में उपलब्ध है । रहस्यवाद में भगवान् वा परमेश्वर के साथ जो प्रेममूलक रागात्मक सम्बन्ध स्थापित किया जाता है, उसमें आनन्द-तत्त्व का प्राधान्य होता है । प्रसाद आनन्द को जीवन में "यथार्थ वस्तु" मानते है और विवेक-निष्ठ आदर्शवाद को उसका विरोधी बताते है । प्राचीन भारतीय आर्य-सघों में "आनन्द-भावना, प्रिय-कल्पना और प्रमोद" के तत्त्वों का प्राचुर्य था और उन्होंने "आत्मा में आनन्द-भोग" का बहुत आदर किया था । सगुणोपासना वाली भक्ति-धारा के अतिरिक्त जिसमें भी आनन्द-तत्त्व अन्तर्निहित है, आनन्दवाद वाली मुख्यधारा का विकास प्रसाद अद्वैतवाद में मानते है । उपनिषदों में प्रेम, प्रमोद एवं आनन्द को जो परमतत्त्व अथवा ब्रह्म के साथ जोड़ा गया था, उसी का विकास परवर्ती काल में आगमों में हुआ और वैदिक ऋषियों के ये उत्तराधिकारी "आत्मवादी आनन्दमय कोष"

---

१. (द्रष्टव्य 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध', छठवीं आवृत्ति, पृष्ठ ३८ ।)

२. "कामस्तदग्रे समवर्ततताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।" (ऋग्वेद)

की खोज में संलग्न रहे । आगमों के ये अनुयायी निगम (वेद) के आनन्दवाद की धारा को सम्पुष्ट करते रहे और कालान्तर में श्रुतियों के अनुकरण पर अद्वैतवादी उपासना-पद्धति विकसित की जिसमें मैत्री एवं प्रणय-भाव के तत्त्व भी जोड़ दिये गये । अद्वैतवाद के इस नवीन विकास में प्रेम-भक्ति तथा सौन्दर्य-भावना की भी योजना हो गयी । प्रसाद का कथन है कि आगम के इन अनुयायी सिद्धों ने प्राचीन आनन्द मार्ग को अद्वैत की प्रतिष्ठा के साथ अपनी साधना-पद्धति में प्रचलित रखा और इसे वे "रहस्य-सम्प्रदाय" कहने लगे थे ।[1] छान्दोग्य इत्यादि श्रुतियों में 'आत्मरति', 'आत्मक्रीड़ा', 'आत्ममिथुन' इत्यादि के कथन से इस अद्वैतवादी रहस्य सम्प्रदाय में काम की उपासना-प्रणाली को अधिकाधिक महत्त्व मिलता गया । जैसे सम्पूर्ण विश्व को शिवमय माना गया, वैसे-ही साधकजन के लिए जिस "ब्राह्मी कामिनी" की भावना आवश्यक बतायी गयी, उसे नवयौवना, शशिमुखी, ताम्बूलगर्भानना इत्यादि बताते हुए, त्रैलोक्य का उन्मीलन करने वाली भी बताया गया ।[2] प्रसाद पौराणिक युग की सबसे बड़ी कल्पना, जो विवेकवाद की विरोधिनी है, षोडशकलाओं से समन्वित लीला पुरुषोत्तम श्री कृष्ण के पूर्णावतार को मानते है, परन्तु द्वैत-भावना के फलस्वरूप इस "प्रेम-मूलक रहस्यवाद" में विरह-कल्पना का आतिशय्य होने के कारण, वह आगमानुयायी सिद्धों के अद्वैतमूलक रहस्यवाद को ही श्रेष्ठ समझते हैं क्योंकि उसमें अद्वयतामूलक विशुद्ध एवं अमिश्रित आनन्द की सहज धारा सातत्य के साथ प्रवाहित हुई है । संस्कृत साहित्य में "विश्वसुन्दरी प्रकृति में चेतनता का आरोप" प्रचुरता से हुआ है और इसे प्रसाद "प्रकृति अथवा शक्ति का रहस्यवाद" कहते है तथा 'सौन्दर्यलहरी' के "शरीरं त्वं शम्भो" का अनुकरण-मात्र बताते है । छायावादी काव्य में इसी अद्वैतमूलक "रहस्यवाद की सौन्दर्यमयी व्यंजना" हुई है जिसमें "अपरोक्ष अनुभूति, समरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के द्वारा अहं का इदम् से समन्वय करने का सुन्दर प्रयत्न" हुआ है—यद्यपि "युग की वेदना के अनुकूल" विरह भी "मिलन का साधन

१. "द्वैतदर्शनाधिवासितप्राये जोवलोके रहस्यसम्प्रदायो मा विच्छेदि ।"
(शिवसूत्रविमर्शिनी)

२. "गौराङ्गीं नवयौवनां शशिमुखीं ताम्बूलगर्भाननां
मुक्तामण्डनशुभ्रमाल्यवसनां श्रीखण्डचर्चाङ्किताम् ।
दृष्ट्वा कामिनीं स्वयमिमां ब्राह्मीं पुरो भावये –
दन्तश्चिन्तयतो जनस्य मनसि त्रैलोक्यमुन्मीलिनीम् ॥"
(नरपतिजयचर्या)

बनकर" इसमें अनुस्यूत हो गया ।[1]

'कामायनी' में अद्वैतमूलक, समरसता-निष्ठ, प्रेमप्रमोदमय इसी आनन्द-वादी रहस्यवाद की पार्यन्तिक प्रतिष्ठा का प्रयत्न हुआ है। साथ-ही, वैष्णवों के माधुर्य-महाभाव की उन्मद धाराएँ भी इसके प्रतिफलन में सहायक सिद्ध हुई हैं। श्रद्धा के मादक सौन्दर्य तथा उस सौन्दर्य के परिष्कारपूर्ण अन्तिम चिर-आकर्षण अथच उस इन्द्रजाली माधुर्य (मुसकान) के करुण "पाषाणी प्रकृति" के मांसल बन जाने का जो रहस्यमय चित्र अंकित हुआ है, वह इसी आनन्द-धर्मा रहस्यवाद का अंगभूत समझा जायेगा। 'आशा' सर्ग में प्रकृति अथवा शक्ति का जो रहस्यवाद चित्रित हुआ है, वह इसी प्रधान रहस्यवाद का पोषक है और अन्ततः इसी में विलीन हो गया है।

प्रसाद आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति (काव्य) को रसमयी मानते हैं। रस की स्थापना तथा व्याख्या में वह माहेश्वराचार्य अभिनवगुप्त की मान्यताओं के प्रति आस्थावान् हैं। वह समझते हैं कि श्रुतियों की आनन्दवादी परम्परा आगमों में सुरक्षित रहकर काव्य में ब्रह्मास्वाद-कल्प रसानन्द के रूप में परिणत हुई है जबकि भामह, दण्डी, वामन इत्यादि अलंकारवादी आचार्यों के द्वारा प्रस्थापित आलोचना-शास्त्र पर "विकल्पात्मक मनन-धारा" का प्रभाव पड़ा है।[2] आनन्द-परम्परा वाले शैवागमों की भावना में ही "प्रकृत रस की सजीव सृष्टि" हो सकती है जिसमें "अभेद-मय आनन्द" का चर्वण सम्भव होता है। प्रसाद रस की विवेचना में बराबर 'बुद्धिवाद' का अपलाप करते हैं क्योंकि वह काव्यानन्द की अखण्ड अनुभूति में बाधा पहुँचाता है। टिप्पणी है कि "बुद्धिवाद के अनन्य समर्थक व्यास की कृति महाभारत शान्तरस के अनुकूल होने पर भी दुःखान्त है। रामायण भी दुःखान्त ही है।[3] प्रसाद सगुणोपासना वाली भक्ति-धारा को बुद्धिवाद से अनुप्राणित मानते है क्योंकि वह द्वैतमूलक है। इसके विपरीत, शैवागम के आनन्दवाद में "विगलितभेद" वाले आनन्दरस का प्रवाह अप्रतिहत बना रहता है। प्रसाद शैवों की रसवादी परम्परा में प्रतिष्ठित शान्तरस को अत्यधिक महत्त्व देते हैं और उसे "निस्तरग महोदधि-कल्प समरसता" का ही पर्याय मानते है।[4]

---

१. इस पूरे संदर्भ के लिए 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' पुस्तक का "रहस्यवाद" शीर्षक निबन्ध अवलोक्य है।

२. 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध', छठवीं आवृत्ति, पृ० ७२।

३. वही, पृ० ७७।

४. वही, पृ० ७७।

अतएव, यह समझा जा सकता है कि 'कामायनी' के प्रणयन में, साहित्यिक दृष्टि से प्रसाद शैवागमों की विशुद्ध आनंदवादी रस-भावना से प्रेरणा ग्रहण कर रहे थे और शान्तरस की अभेदमय सामरस्यमूलक निष्पत्ति की कामना से अनुप्राणित थे। और, यदि वह इस आनंदरस की निर्विघ्न प्रतिष्ठा नहीं कर सके, तो इसका कारण उनका बुद्धिवाद से समझौता करने का प्रयत्न ही है जिसका विरोध उन्होंने अपने निबंधों में निरन्तर किया है। आत्मा की मूल संकल्पात्मक अनुभूति में जब विकल्पमयी बुद्धि का अनुप्रवेश हो जायेगा तब "अखण्ड आनंद" का समरस प्रवाह क्योंकर संभव हो सकेगा? वस्तुतः,'कामायनी' में प्रसाद ने अपनी सहज आस्था (जो इन निबंधों में प्रकट हुई है) के विरुद्ध विवेकवाद का ही प्रश्रय लिया है और यही कारण है कि उनका आनन्दवाद अथवा आनन्दरस, उनके लाख चाहने पर भी, पूरी प्रभविष्णुता के साथ प्रतिफलित नही हो सका है।

प्रसाद रसवाद को अपने में पूर्ण मानते हैं और चरित्र तथा व्यक्तिवैचित्र्य को रस का ही साधन समझते हैं (जो भारतीय दृष्टि है)। "रसवाद में वासनात्मकतया स्थिति मनोवृत्तियाँ, जिनके द्वारा चरित्र की सृष्टि होती है, साधारणीकरण के द्वारा आनंदमय बना दी जाती है; इसलिए वह वासना का संशोधन करके उनका साधारणीकरण करता है। इस समीकरण के द्वारा जिस अभिन्नता की रससृष्टि वह करता है, उसमें व्यक्ति की विभिन्नता, विशिष्टता हट जाती है, और साथ ही सब तरह की भावनाओं को एक धरातल पर हम एक मानवीय वस्तु कह सकते हैं। सब प्रकार के भाव एक-दूसरे के पूरक बन कर, चरित्र और वैचित्र्य के आधार पर रूपक बनाकर, रस की सृष्टि करते है। रसवाद की यही पूर्णता है।"[२] अपनी इसी विलक्षण पूर्णता के सहारे इसमें "लोकमंगल की कल्पना" परोक्षरूप से अन्तर्निहित है, "सामाजिक स्थूल रूप से नहीं, किन्तु दार्शनिक सूक्ष्मता के आधार पर।"

उपर्युक्त उद्धरण से प्रतीत होता है कि प्रसाद की रसाश्रयी काव्यदृष्टि में चरित्र तथा वैचित्र्य किसी-न-किसी प्रकार के भाव के मूर्त्तीकरणरूप में आते हैं और वे सभी मिलकर अभीष्ट रस की सृष्टि करते हैं। रसवाद में "मिलन, अभेद-सुख की सृष्टि" की मुख्यता मानने से, प्रसाद रस को लोकमंगल का विधायक मानते हैं, किन्तु वह सतर्क भाव से कहते हैं कि यह मंगल-सिद्धि स्थूल रीत्या नहीं होती, अपितु सूक्ष्म वैचारिक धरातल पर सम्पन्न होती है। 'कामा-

---

१. 'काव्य और कला तथा अन्य निबंध', छठवीं आवृत्ति, पृ० ८५.

२. वही, पृ० ८५

यनी' में चरित-नायक मनु का शील-वैचित्र्य उभार में आकर भी, कवि के मनोवांछित आनंद रस अथवा शान्त रस में विलीयमान बन गया है—कवि का प्रयत्न ऐसा ही है। रस की शैवदर्शनवादी व्याख्या मे रस की वासनात्मक एकता वा अभेदता, प्रत्यभिज्ञा के अद्वैतमूलक अभेदवाद के साथ मिलकर प्रसाद की दृष्टि में एक अपूर्व 'मिलन-सुख' की सृष्टि करती है और दर्शन किंवा चिन्तन के स्तर पर यही लोकमंगल की सिद्धि है। 'कामायनी' में इसी प्रकार की मंगल-सिद्धि की अवतारणा की गयी है। सामान्य रससिद्धि मूलतः मनोवैज्ञानिक अथवा मानसिक धरातल पर घटित होती है, किन्तु प्रसाद ने यहाँ रस के मानसिक सुख को दर्शन के आध्यात्मिक सुख से शृंखलित कर, शैवागम के साम्प्रदायिक रहस्यवाद की मृदुल-मसृण छाया में मानव-मंगल का विधान करने का अभिनव प्रयोग किया है। यथार्थवादिनी इड़ा तथा आदर्शवादिनी श्रद्धा, दोनों ही किन्हीं विशिष्ट भावों अथवा प्रवृत्तियों के रूपक बनकर, इसी दार्शनिक आनंदरस की सिद्धि में सहायक बनी हैं, दोनों की चारित्रिक विलक्षणताएँ इसी रस-परिपाक के प्रयत्न-प्रवाह में उपरितः विलीन हो गयी हैं।

भारतीय साहित्यशास्त्र तथा काव्य-पद्धति में महाकाव्यों को सविशेष महत्त्व मिला है, तथा उनमें "महानों की ही चर्चा" आवश्यक ठहरायी गयी है—इस तथ्य को उल्लिखित करते हुए, प्रसाद महाकाव्यों को विवेक-परम्परा के आश्रयी बताते हैं—"घटनात्मक विवेचनाओं की प्रभावशालिनी परम्परा में उत्थान और पतन की कड़ियाँ जोड़कर महाकाव्यों की सृष्टि हुई थी, विवेकवाद को पुष्ट करने के लिए।" हिन्दी में—प्रसाद का कथन है—वीर-गाथाओं से प्रारंभ कर हजारों वर्षों तक "बुद्धिवाद की ही तूती बोलती रही" और रामचरितमानस ही नही, अपितु प्रेम एवं विरह को प्रधानता देने वाला कृष्ण-काव्य भी, अंतिम विश्लेषण में, द्वैतभावमूलक होने के कारण बुद्धिवादी ही बना रहा। "मानव ईश्वर से भिन्न नही है, यह बोध, यह रसानुभूति विवृत नहीं हो सकी।"[१] अतएव, प्रसाद, जैसे काव्य में सामान्यतः वैसे-ही महाकाव्य में भी, बुद्धिवाद एवं विवेकवाद के समावेश को बहुत उपादेय नही समझते हैं क्योंकि उनकी प्रकृति मूलतः अभेदमय आनंदवाद की विरोधिनी सिद्ध होती है। "महत्ता" को महाकाव्य का 'प्राणभूत' मानना भी उन्हें शायद स्वीकार्य नहीं है।[२] इन्ही कारणों से 'कामायनी' का कोई चरित्र पूर्णतः महान् नहीं

---

१. 'काव्य और कला तथा अन्य निबंध', छठवीं आवृत्ति, पृ० ११२-१६.

२. वही, पृ० ११२.

बन सका है और बहु-कदर्थित बुद्धिवाद से युगीय प्रेरणाजन्य समझौते की विवशता के फलस्वरूप उसका आनंदवाद भी विश्वसनीय नही बन पाया है ।

यथार्थवाद का मूल भाव प्रसाद वेदना को तथा उसकी एक प्रधान विशेषता "लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात" को मानते हैं । 'लघुता' से उनका तात्पर्य है, "साहित्य के माने हुए सिद्धान्त के अनुसार महत्ता के काल्पनिक चित्रण से अतिरिक्त व्यक्तिगत जोवन के दु.ख और अभावों का वास्तविक उल्लेख ।"[१] इस प्रकार, "यथार्थवाद क्षुद्रों का ही नही, अपितु महानों का भी" होता है, यह उनकी मान्यता है ।[२]

छायावाद में सूक्ष्म आभ्यन्तर भावों की निराली अभिव्यक्ति को रेखांकित करते हुए, प्रसाद मानते है कि यह अभिव्यक्ति मोती के भीतर झलकने वाली तरल छाया के समान लावण्यमयी होती है । कुन्तक को उद्धृत करते हुए, वह शब्द एवं अर्थ के चारुत्वपूर्ण संमिलन को महत्त्व देते हैं और "वैदग्ध्य-भंगी-भणिति में शब्द की वक्रता और अर्थ की वक्रता" के "लोकोत्तीर्ण रूप" में अवस्थित होने का कथन करते है ।[३] इस लोकोत्तरता से काव्य में तरल छाया की सृष्टि होती है जो नवयुवतियों के भूषण-रूप लज्जा की समानधर्मिणी होती है ।[४] छायावाद का स्पष्ट लक्षण-निर्देश उन्होंने इस प्रकार किया है--"छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर करती है । ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक-विधान तथा उपचार वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृति छायावाद की विशेषताएँ है । अपने भीतर से मोती के पानी की तरह आन्तर स्पर्श करके भाव समर्पण करनेवाली अभिव्यक्ति-छाया कान्तिमयी होती है ।"[५]

प्रसाद का छायावाद 'कामायनी' में पूर्ण सौरभ के साथ अवतीर्ण हुआ है, यह स्मरण दिलाने की आवश्यकता नही है । अभिव्यक्ति की "छाया और विच्छित्ति", अर्थात् "लावण्य", का मधुर स्वरूप उसमें इतनी सान्द्रता से प्रस्फुटित हुआ है कि कही-कही उसकी ध्वन्यात्मकता एवं उपचार-वक्रता को सही-सही पकड़ना कठिन हो जाता है । प्रतीकों की सौन्दर्यमयता पाठक को हठात् आकर्षित कर लेती है । आनंदवर्धन को उद्धृत करते हुए प्रसाद ने कहा है कि

---

१. 'काव्य और कला तथा अन्य निबंध' छठवीं आवृत्ति, पृ० ११८
२. वही, पृ० १२१
३. वही, पृ० १२२-२३
४. वही, पृ० १२५
५. वही, पृ० १२६

कवि की वाणी में उपलब्ध प्रतीयमान छाया युवती को भूषित करने वाली वह 'लज्जा' है जो घूंघट में नही छिपती, अपितु वह "यौवन के भीतर रमणी-सुलभ श्री की बहन ही है।"[1] 'श्री' प्रभामय सौन्दर्य का वाचक है। रमणी के सहज सौन्दर्य में एक प्रकार का सहज संकोच रहता है जो उसकी सौन्दर्य-सम्पत्ति को पूर्णरूपेण खुलने अथवा अनावृत होने से रोकता है। वह संकोच ही 'ह्री', अर्थात्, असली लज्जा है जो युवतियों का भूषण बनती है। 'कामायनी' के 'लज्जा' सर्ग में नवयुवती श्रद्धा की ऐसी ही 'ह्री' अथवा व्रीड़ा का परम-सौन्दर्यमय प्रतीकों की योजना से चित्रण हुआ है जिसकी अनुपम विच्छित्ति एवं मौक्तिक-सुलभ कान्ति-तरलता भावक के मनोराज्य को चपला-कान्ति की लुका-छिपी की भाँति चमत्कृत करती है—यथार्थवाद की वेदना शायद श्रद्धा के विरह-वर्णन में प्रतिबिम्बित हुई है--यद्यपि 'कामायनी' की मूल ध्वनि यथार्थ-वादी नही है।

प्रसाद के विवेचनात्मक निबंधों के आधार पर हमने उन प्रमुख प्रेरणाओं का उद्योतन किया है जिनका प्रतिफलन 'कामायनी' मे स्पष्टरूप से परिलक्षित होता है। अब उनकी साहित्यिक चेतना के विकास के आलोक में भी यह परीक्ष्य है कि वे कौन-सी प्रेरणाएँ हैं जो क्रमिक रूप से विकसित होती हुई विवेच्य कृति के प्रणयन में प्रकर्ष को प्राप्त हुई है।

ख. प्रसाद की कविताएँ

'चित्राधार' (कविता-संकलन) से 'कामायनी' तक प्रसाद-साहित्य; मे कतिपय प्रेरणाओं एवं प्रवृत्तियों का क्रमिक विकास अवलोकनीय है। 'चित्राधार' यद्यपि ब्रजभाषा में लिखी गयी प्रारंभिक कविताओं का संकलन है और इसकी प्रायः समस्त रचनाएँ परम्परागत प्रभावों तथा न्यूनाधिक परिणाम में द्विवेदीकालीन इतिवृत्तात्मकता से अधिग्रस्त है, तथापि उनके अवलोकन से प्रसाद-काव्य को मौलिक प्रवृत्तियों का परिज्ञान हो जाता है। 'उर्वशी' शीर्षक कथा-कविता में उर्वशी को, सामान्य नर्तकी के शील-स्तर से ऊपर उठाकर, तर्कप्रवण स्वच्छन्द मनोवृत्ति वाली, स्वातंत्र्य की कामना से अनुप्राणित, परम-सौन्दर्यशालिनी अप्सरा के रूप में चित्रित किया गया है जो अतीव प्रेम-परायणा होने के साथ करुणा की मूर्ति, सेवा-भावना से अनुप्रेरित स्वाभिमानिनी नारी है जो उसके प्रणय के हेतु द्वन्द्व-युद्ध करने वालों वैभवशाली नरपति पुरूरवा तथा गंधर्व-युवक केयूरक में से पराजित केयूरक का ही वरण करती है। उर्वशी के चरित्र में स्वच्छन्दता की ललक, पर्यटन की प्रवृत्ति, प्रकृति एवं

---

१. 'काव्य और कला तथा अन्य निबंध' छठवीं आवृत्ति, पृ० १२४

संगीत से अनुराग, करुणा, जीवदया इत्यादि के गुण गुंफित हुए हैं और वह 'कामायनी' की श्रद्धा की पूर्वजा कही जा सकती है।

'उर्वशी' की तुलना में अधिक मार्मिक तथा परिमार्जित रचना 'बभ्रुवाहन' है जिसमें गायक-वेश में भ्रमण करने वाले अर्जुन तथा मणिपुर-नरेश की सौंदर्य-शालिनी राजकुमारी चित्रांगदा के विवाह और कुमार बभ्रुवाहन द्वारा अपने पिता अर्जुन के युद्ध में मूच्छित किये जाने का वर्णन हुआ है। चित्रांगदा अपने मुमूर्षु पति को राजभवन में ले आती है जहाँ अर्जुन की चेतना लौटती है और वह बभ्रुवाहन को हृदय से आशीर्वाद प्रदान करते हैं। इस रचना में भी, 'उर्वशी' की भाँति, कवि का प्राकृतिक एवं मानवीय सौन्दर्य-प्रेम तथा सूक्ष्म मनोभावों के चित्रण की प्रवृत्ति प्रतिफलित हुई है। गायक-वेश में अर्जुन ने शिवालय के सामने शिव-विषयक जो विनयगीत प्रस्तुत किया है, उससे कवि की शैवागमों की ओर रुझान का प्रतिभास मिलता है। मूच्छित अर्जुन का चित्रांगदा द्वारा राजभवन में लाया जाना तथा चेतना ग्रहण करना 'कामायनी' के मुमूर्षु मनु के प्रकरण का स्मरण दिलाता है।[१]

'अयोध्या का उद्धार' तथा 'वनमिलन' नामक कविताओं की प्रेरणा कालिदास के 'रघुवंश' तथा 'शाकुन्तलम्' से क्रमशः ग्रहण की गयी है। 'प्रेमराज्य' इन दोनों से श्रेष्ठ रचना है जिसमें इतिहास एवं कल्पना का मंजुल सामंजस्य सम्पन्न हुआ है। कविता के उत्तरार्द्ध मे राजकुमार चन्द्रकेतु तथा सेनापति की इकलौती कन्या ललिता के प्रेम तथा परिणय का वर्णन हुआ है जिसमें कवि की सौन्दर्य-लिप्सा अधिक प्रस्फुट हुई है। इस भाग में शैवदर्शन का निरूपण भी उपलब्ध है। भक्ति-परक रचनाओं में परम्परा का घनिष्ठ प्रभाव लक्षित होता है। 'शारदीय महापूजन' शीर्षक कविता में शैवदर्शन का स्पष्ट प्रभाव है।

'चित्राधार' में संकलित "प्रकृति-सौन्दर्य" शीर्षक निबंध में प्रसाद ने अपना प्रकृति-विषयक दृष्टिकोण विज्ञापित किया है। वह प्रकृति के सौन्दर्य को महान शिल्पकार ईश्वर की अद्भुत रचना बताते हैं जिससे अद्भुतरस की सृष्टि होती है। प्रकृति के परम्पराग्रस्त उद्दीपन-रूप के विपरीत वह उसकी रमणीयता को आलंबन-रूप में महत्त्व देते हैं। प्राकृतिक उपादानों एवं ऋतुओं के प्रति वह रति एवं जिज्ञासा के युगल भावों से आकर्षित है जिसके फलस्वरूप, वह क्रमशः प्रकृति की रमणीयता से मुग्ध और उसमें प्रतीयमान मानवीय चेतना की छाया से रहस्याभिभूत हो जाते हैं। "उद्यान-लता" तथा "संध्या-तारा"

---

१. 'उर्वशी' और 'बभ्रुवाहन' दोनों (गद्य-पद्य-मिश्रित) चम्पू हैं।

जैसी कविताएँ उनकी रहस्योन्मुखी प्रवृत्ति का उन्मीलन करती हैं।

'कानन-कुसुम' खड़ी बोली में लिखी कविताओं का संकलन है। प्रकृति-निष्ठ रचनाओं में प्रसाद ने प्रकृति को आलंबन, उद्दीपन, प्रतीक, रहस्यादि कई रूपों मे चित्रित किया है। "दलित कुमुदिनी" शीर्षक रचना उनका जीवन के विषय में नियतिवादी दृष्टिकोण विज्ञप्त करती है। "निशीथ-नदी" में जिज्ञासामूलक प्राकृतिक रहस्यवाद दृष्टिगोचर होता है। पूर्वापेक्षा, इन कविताओं में कवि ने प्रकृति के अन्तर्जीवन में प्रविष्ट होने का सुन्दर प्रयत्न किया है।

'प्रेमपथिक' शायद पहली प्रबन्धात्मक रचना है जिसमें छायावादी काव्य की स्वच्छन्द, मानवीय ध्वनि सुनायी पड़ती है। इसमें किशोर तथा चमेली नामक दो पुराने प्रेमियों की मर्मस्पर्शी कथा कही गयी है जिसमें आंग्ल कवि गोल्डस्मिथ की 'दी हरमिट' शीर्षक प्रसिद्ध कविता की प्रेरणा स्पष्ट दिखायी पड़ती है। इस रचना में कवि ने निस्स्वार्थ प्रेम का निरूपण किया है जो "तलवार की धार" पर दौड़ने के समान कठिन है। प्रेम को पवित्र वस्तु बताकर उसे व्यक्तिबद्ध नही अपितु विश्वव्यापी तथा प्रभु का स्वरूप बताया गया है। रूपजन्य प्रेम के ऊपर सच्चे उदार प्रेम की प्रतिष्ठा की गयी है। प्रसाद का प्रसिद्ध कथन कि प्रेम-पथ का उद्देश्य श्रान्त भवन में टिक रहना नही, अपितु उस सीमा तक पहुँचना है जिसके आगे कोई राह नही है, इसी रचना में उपलब्ध है। जीवन-विषयक नियतिवादी दृष्टिकोण यहाँ भी दृष्टिगोचर होता है। जीवन में सुख-दुःख की अनिवार्यता तथा उन्हें लीलामय परमात्मा की लीलाएँ बताया गया है जिनसे समष्टि का शिव ही सम्पन्न होता है। इस कृति का कला-पक्ष पहली रचनाओं की अपेक्षा अधिक व्यवस्थित एवं काव्योचित बन पड़ा है।

'झरना' को "छायावाद की प्रयोगशाला का प्रथम आविष्कार" कहा गया है। वस्तुतः इसकी कविताओं में कवि की प्रणयानुभूतियों का अजस्र प्रवाह ही फूट पड़ा है। ये अधिकांशतः कवि की उठती यौवनावस्था के समय की रचनाएँ हैं। "प्रेम की पवित्र परछाही में ही उसका झरना प्रवाहित हुआ है।" अनेक रचनाओं में मिलन-सुख का तथा कतिपय में विरह-वेदना एवं प्रवंचना का मधुर चित्रण हुआ है। प्रकृति-विषयक कविताएँ आलंबन, उद्दीपन, मानवीकरण, रहस्यानुभूति इत्यादि धरातलों पर लिखी गयी हैं। रस-योजना की दृष्टि से 'झरना' में शृंगार एवं शान्त रसों का प्राचुर्य है। 'कामायनी' के 'आशा' सर्ग में जिस प्राकृतिक रहस्यवाद का स्वरूप दृष्टिगोचर होता है, उसके बीज "किरण" तथा "वसंत" जैसी रचनाओं में उपलब्ध हैं। यह भी

उल्लेखनीय है कि 'कामायनी' की रचना भी 'झरना' के अन्तिम रचनाकाल के आसपास आरम्भ हो गयी थी क्योंकि 'काम' सर्ग का कुछ अंश 'हंस' नामक पत्रिका के १९३० ई० के अप्रैल वाले अंक में "कुछ खोजने" शीर्षक से प्रकाशित हुआ था ।

'आँसू' प्रिय-विश्लेष की गहन वेदना की "करुणार्द्र कथा" है जो कवि के आँसुओं तथा सिसकनों से गीली बन गयी है । "प्रिय" के संयोग-काल की मादक, मोहमयी क्रीड़ाएँ उसके हृदय को हिला देती हैं जिसमें "स्मृतियों की एक बस्ती" बस गयी है और असीम वेदना हा-हाकार स्वरों में गरज रही है । कवि इस कातर मनःस्थिति में प्रेमास्पद के मादन रूप-सौन्दर्य का स्मरण करता है और इस ब्याज से शिखनख-सुषमा का अतीव मोहक चित्र उपस्थित करता है । चिर-विरह में संचित प्रणय-कोष कवि के "दुदिन" में खुल पड़ा है, और और वह चाहता है कि उसकी वेदना-ज्वाला व्यक्तिगत न रहकर, विश्व-वेदना के अनल का अग बन जाये । कवि का यह वेदनावाद विश्वव्यापी है; इसी कारण, वह ज्वाला "सदा सुहागिन" तथा मानवता के "सिर की रोली" कही गयी है । उसकी निजी वेदना-ज्वाला, तथापि, जीवन के कल्मष को जलाने वाली है और विश्व की "किरणों के केसर-रज" से भरने की क्षमता रखती है। कवि ने इस प्रकार वेदना का एक 'दर्शन-सा' तैयार किया है जो "जगती का अपावन कलुष" विनष्ट कर 'निर्मलता का निखार' उत्पन्न करेगा । इस "विश्व-सदन" में "प्रभात का हिमकण" बरसाने के लिए ही कवि ने अपने व्यथा-विगलित आँसुओं की धारासार वर्षा करायी है ।[१]

सौन्दर्य की मादकता, प्रणय की विह्वलता, विरह की कातरता, वेदना की विश्वव्यापकता एवं उसकी परिष्कारिणी में मानव-मंगल के निखरने का अनुपम विश्वास—ये विन्दु प्रस्तुत रचना में परस्पर अनुस्यूत हुए हैं । वेदना के प्रति कवि का गहरा प्रेम उसकी विलक्षण मनःस्थिति को उद्भासित करता है । वह यहाँ मूलतः व्यक्तिवादी है और व्यक्तिगत वेदना के संकीर्ण पथ से ही विश्व-वेदना को हृदयंगम करना चाहता है । तथापि, प्रेम की अमोघ शक्तिमत्ता में उसे अखण्ड विश्वास है और वह यह समझता है कि "नभ की खाली प्याली" में जब प्रेम-मधु की कुछ बूँदें पड़ेंगी, तब उसकी अभिलषित "लाली" लौट आयेगी और मानव-मंगल की "नवज्योति विजयिनी" हो जायेगी ।[२]

'आँसू' के भाव-राज्य के समग्र तत्त्व 'कामायनी' में अधिक प्रांजलता के

---

१. 'आँसू', दशम संस्करण, अन्तिम छन्द

२. वही, पृ० ६६-६७

साथ प्रतिफलित हुए हैं। कवि की विरह-वेदना श्रद्धा की विरह-वेदना में और भी घनीभूत बन गयी है। 'आँसू' की छलनामयी प्रेयसी का मादन सौन्दर्य श्रद्धा के इन्द्रजाली सौन्दर्य में अधिक परिष्कृत बन गया है। 'आँसू' के कवि को "जीवन की गोधूली" में जैसे यह नव्यांगना उपस्थित हुई थी, वैसे-ही मनु के निराशापूर्ण जीवन में यौवन के "कुसुम-वैभव" से संयुक्त श्रद्धा भी प्रविष्ट हुई है। 'आँसू' की प्रेयसी "अंचल में दीप छिपाये" हुए आई थी और श्रद्धा "बिजली का फूल" छिपाये आयी है। 'आँसू' की प्रेयसी की 'बिखरी अलकें' कवि के "जीवन की उलझन" बनी थी[1] और इड़ा की बिखरी अलकों ने मनु के जीवन में भयंकर उलझनें उत्पन्न कर दी हैं। 'आँसू' के कवि के हीरे-जैसे कठोर हृदय को उसकी प्रेयसी-जैसे कोमल शिरीष ने कुचल दिया था[2] और 'कामायनी' में "फूलों की डाली" जैसी सुकुमार श्रद्धा के हृदय को मनु ने गहरा आघात पहुँचाया है। "प्राची के अरुण मुकुर" में तथा "अलस उषा" में 'आँसू' का कवि अपने प्रिय की माधुरी देखता है[3] और मनु भी "ऊषा की लाली" के "कोमल कौशल" में अपने अज्ञात प्रिय (वा प्रेम) की प्रतिच्छाया देखते हैं। 'आँसू' में "रजनी के पिछले पहरों मे" "कुसुमाकर" (वसंत) के खिलने का कथन हुआ है और 'कामायनी' के नायक के जीवन में भी "रजनी के पिछले पहरों में" श्रद्धा-रूपी "मधुमय-वसंत" का आविर्भाव हुआ है। 'आँसू' की प्रेयसी का रूप केवल 'रूप' था तथा उसमें 'हृदय' का शायद अभाव था और इड़ा भी अपनी सम्पूर्ण रूप-सम्पदा में हृदय-हीना बतायी गयी है। 'आँसू' के छन्द ८० से छन्द ८५-९० तक के भाव-तन्तु 'काम' सर्ग के आरम्भिक छन्दों के भाव-तन्तुओं से मिलते हैं। 'आँसू' की वेदना, करुणा तथा नियतिवाद 'कामायनी' में अधिक प्रस्फुट हुए हैं। 'आँसू' में मानव-मंगल की नवज्योति के विजयिनी हो जाने की जो कामना व्यक्त की गयी है वही 'कामायनी' में भी अधिक स्पष्टता से दुहरायी गयी है—"विजयिनी मानवता हो जाय।" 'आँसू' में मानव-जीवन की वेदी पर विरह-मिलन के "परिणय" की कामना की गयी है[4] तथा कवि की अन्तर्ज्वाला में "जगद्वन्द्वों के परिणय" की "जयमाला" की स्थिति बतायी गयी है[5] और 'कामायनी' में इन्हीं द्वन्द्वों एवं संघर्षों का समा-

---

१. 'आँसू' दशम संस्करण, पृ० २५
२. वही, पृ० ३०
३. वही, पृ० ६७, ४७
४. वही, पृ० ४६
५. वही, पृ० ६२

धान "पूर्ण प्रेम" के विश्वव्यापी आलोक में दिखाया गया है। 'आँसू' में कवि ने कामना व्यक्त की है कि इस निर्मम जगती को प्रेम (वेदना) की कल्याणी ज्वाला का मंगलमय उजाला मिले[1] और 'कामायनी' में उसी "विमला प्रेम-ज्योति" के आलोक से सभी समरस आनन्द के सागर में ओतप्रोत हो गये हैं। 'आँसू' का वेदनावाद 'कामायनी' के आनन्दवाद में परिणत हो गया है। 'आँसू' कामना तथा विश्वास है तो 'कामायनी' उपलब्धि तथा प्रतिफलन है--कम-से-कम कवि ने ऐसा ही प्रयास किया है।

'लहर' के प्रगीतों में कवि ने प्रेम-रस, प्रकृति-रस, प्रबोध-रस तथा आत्म-रस की जो मिश्रित मन्दाकिनी बहाई है वह अतिशय मधुर एवं कोमल है। प्रेम की मांसलता एवं कातरता, यौवन की उन्मत्त अधीरता, भोगे हुए मधुमय अतीत की स्मृतियाँ, प्यार की दुर्लभ्यता इत्यादि तत्त्व उस प्रेम-रस के मोहक उपादान है। प्रकृति की निजी रमणीयता में मानवीय भावना का सम्मिश्रण तथा उससे उदात्त आशय की उपलब्धि उस प्रकृति-रस के संघटक तत्त्व है। 'लहर' शीर्षक कविता मे ही सरोवर मे उठने-गिरने वाली लघु-लोल ऊर्म्मियों के चपल-कोमल सौन्दर्य के उन्मीलन के साथ, कवि ने यह कामना व्यक्त की है कि वे जीवन-पुलिन के "विरस अधरो" को अपने चुम्बन से रससिक्त बनायें क्योंकि उनमे वह करुणा की अँगड़ाई, मलयानिल की परछाँई तथा प्यार-पुलक की सुकुमार सम्भावनाएँ देखता है : अन्य शब्दों में, करुणा, स्निग्धता, कोमलता और प्यार को कवि जीवन की विरसता एवं शुष्कता के अनुमोदन-हेतु आवश्यक समझता है।[2] प्रबोध-रस का उपादान नवजागर्ति का उद्‌बोधन है जो करुणा, प्रेम तथा विषम परिस्थितियों में भी "हँस लेने" की मनोवृत्ति से उपपन्न हो सकती है।[3] आत्मरस वाली रचनाओं में कवि ने निजी सुख-दुःख

---

१. 'आँसू', दशम संस्करण, पृ० ६३

२. "करुणा की नव अँगराई-सी,
मलयानिल की परछाई-सी,
इस सूखे तट पर छिटक छहर !
+ + +
ओ प्यार-पुलक से भरी ढलक !
आ चूम पुलिन के विरस अधर।"

३. देखें : "अब जागो जीवन के प्रभात", "वसुधा के अंचल पर" तथा "ओ री मानस की गहराई" शीर्षक कविताएँ। (लहर)

का मनःस्पर्शी चित्रण किया है, और कोलाहलपूर्ण अवनी को छोड़कर किसी ऐसे "निर्जन" में पलायन की कामना व्यक्त की है जहाँ निश्छल प्रेम की अनवरत कथा कही जाती हो तथा ताराओं की कोमल छाया में एवं उषा की घनी ज्योति में संसार की दुःखसुख-मय सत्ता "विभु" (ईश्वर, शिव) के समान "सत्य" बनी रहे।[1] "अशोक की चिन्ता" शीर्षक कविता में बौद्धधर्म की करुणा एवं अहिंसा की अभिव्यक्ति हुई है। "प्रलय की छाया" में गुजरात की "रूपरानी" कमला ने, जो "भारतेश्वरी" बनने की कामना से अनुप्रणित थी, अपनी रूप-सम्पदा को "जीवित अभिशाप" कहकर भर्त्सनीय बताया है।

'लहर' की करुणा, स्नेह, स्निग्धता, "हँस लेने" की मनोवृत्ति तथा निश्छल प्रेम एवं सुख-दुःखमय विश्व की परमेश्वर के साथ अभेदता की कामना—ये सभी तत्त्व 'कामायनी' में अधिक स्पष्टता-पूर्वक संग्रथित हुए हैं। कमला ने अपने मादक रूप-सौन्दर्य तथा "कामना के कमनीय मृदुल प्रमोद" में अभिलाषाओं से भरी "जीवन-सुरा" की "पहली ही प्याली" की भर्त्सना की है : 'कामायनी' मे काम ने श्रद्धा के "सौन्दर्य-जलधि" से केवल "अपना गरल-पात्र" भर लेने के लिए मनु को डाँट बतायी है।

ग. प्रसाद की काव्येतर रचनाएँ

इसी प्रसंग में प्रसाद के काव्येतर साहित्य पर भी संक्षिप्त दृष्टिपात कर लेना उपयोगी होगा। **'करुणालय'** (नाटक) मे पौराणिक आख्यान के पात्र शुनःशेप की प्रस्तावित बलि (वध) से रक्षा की गयी है और नरबलि को अनार्य पथ एवं "दुस्तर अपराध" बताया गया है। पुत्र-वत्सलता, पति-परायणता, त्याग, ममता, क्षमा, सेवा, परोपकार प्रभृति अनेक अन्य भावों के सूत्र भी इस रचना मे ग्रथित हुए हैं जो 'कामायनी' मे पुष्ट रूप में गुंफित है। **'अजातशत्रु'** में स्त्री पुरुष की समानता, नारी-स्वातंत्र्य तथा नारी-विद्रोह के भाव अंकित है और उसे स्नेह, सेवा तथा करुणा की मूर्ति और विश्व-शासन की एकमात्र अधिकारिणी बताकर पुरुष की तुलना में अधिक महान् ठहराया गया है। **'स्कन्दगुप्त'** का पर्णदत्त तथा देवसेना दोनों ही दीन-दुःखियों की सेवा करने में तत्पर दिखाये गये है। **'अजातशत्रु'** मे मल्लिका अपने पति की हत्या करने वालों की भी तन्मयता से सेवा-सुश्रूषा करती है। **'तितली'** (उपन्यास) की शैला तथा तितली दोनों ही समाज-सेवा का सुन्दर दृष्टान्त उपस्थित करती हैं। 'अजातशत्रु' मे प्रथम विश्वयुद्ध में घटित भयानक संघर्ष, विप्लव,

---

१. देखें : **"मधुप गुनगुना कर···" तथा "ले चल वहाँ भुलावा देकर" शीर्षक कविताएँ।**

विद्रोह इत्यादि के सांकेतिक कथन उपलब्ध होते हैं । **'ध्रुवस्वामिनी'** तथा **'जनमेजय का नागयज्ञ'** नाटकों में राजनीति को धर्म तथा नैतिकता के साथ जोड़ने की गाँधीवादी विचार-धारा के कथन भी गुंफित हुए है । प्रसाद के नाटकों, उपन्यासों इत्यादि में बाह्य द्वन्द्व ही नही अपितु अन्तर्द्वन्द्व भी प्रचुरता से अंकित हुआ है । अन्तर्द्वन्द्व के इन चित्रो मे दार्शनिक चिन्तन की गम्भीरता विद्यमान है । **'कंकाल'** (उपन्यास) की प्रमुख समस्या एक प्रकार से काम की समस्या है । काम जब विकृत एवं अनियंत्रित बन जाता है, तब वह अनिष्ट-कारी हो जाता है, अन्यथा काम जीवन की मगलकारिणी अन्तर्वृत्ति है, जीवन का देवता है जिसे कुचला नही जा सकता—**'कंकाल'** इसी तथ्य को उभारता है । ऐसे प्रसंगों मे प्रसाद ने सर्वदा बौद्धभिक्षुओ के विडम्बनापूर्ण जीवन पर आक्रोश व्यक्त किया है । "देवरथ" कहानी मे, बौद्ध धर्मरथ के चक्र के नीचे सुजाता नारी के जीवन-देवता के निष्प्राण हो जाने तथा ऊपर धर्म-देवता के विग्रह के मुसकारने का बिम्ब चित्रित कर, प्रसाद ने काम के स्वस्थ एव सयमित स्वरूप के ग्रहण पर बल दिया है । नाटको तथा कतिपय कविताओ मे प्रसाद का अतीत-प्रेम, भारतीय सस्कृति एव इतिहास के स्मृति-विस्मृत प्रकरणो को नवीन ढंग से पुनराख्यात करने की लालसा प्रत्यक्षतः दृष्टिगोचर हुई है । इन सबमे युगीय समस्याओ को सनातन समस्याओ के साथ जोड़ कर, व्यापक मानव-समस्या को उभारने तथा समाधानित करने की चेष्टा परोक्षरूप से कार्यशील दिखाई पड़ती है । 'कामायनी' मे इस काव्येतर साहित्य का सम्पूर्ण तन्तु-समुदाय अधिक प्राजल एव परिपुष्ट रूप मे चित्रित हुआ है । जीव-दया, अहिसा, सेवा, ममता, नारी की महत्ता, धर्म एव नैतिकता का राष्ट्र-नीति से समन्वय, काम के उच्छृखल स्वरूप की भर्त्सना एव सयमित स्वरूप का अधि-ग्रहण और युग तथा युग-युग की मौलिक समस्याओ के सनातन समाधान की खोज—ये समस्त तत्त्व, पूर्वाभ्यास से परिष्कृत होकर, 'कामायनी' मे एकत्र अनूस्यूत हो गये है ।

इस प्रसंग को समाप्त करने के पूर्व, दो अन्य नाट्य-कृतियों, **'कामना'** तथा **'एकघूँट'**, का अवेक्षण आवश्यक प्रतीत होता है । **'कामना'** नाटिका कृष्णमिश्र के 'प्रबन्ध-चन्द्रोदय' की परम्परा मे प्रणीत हुई है, किन्तु इसके उपा-दान कवि-कल्पना की ही प्रसूति है । पाश्चात्य सस्कृति के समिश्रण से भार-तीय संस्कृति में उत्पन्न विकृतियो, धर्मप्राण भारतीय समाज के स्वर्ण एवं मदिरा के प्रभाव में ग्रसित होने तथा सौन्दर्यशालिनी नव्यागनाओ के व्यभिचार-कर्दम में फँसने और तज्जन्य प्राकृतिक कोप की विभीषिका के अवतरण का चित्रण कर, प्रसाद ने विदेशी संस्कृति के अपनयन एवं स्वदेशी संस्कृति के अगीकरण

की प्रेरणा प्रदान की है। इस विचार-धारा के लिए आर्ष वाङ्मय से ही नाटककार को प्रेरणा मिली समझनी चाहिए : नाटिका के प्रारम्भ में ही उद्धृत श्लोक इसके प्रमाणभूत हैं।[१] कामना, सन्तोष, लीला, विनोद, विवेक, शान्ति इत्यादि उस नाटिका के पात्र हैं जो उस फूलों के द्वीप के मूल निवासी हैं। विलास कामना के माध्यम से उस सांस्कृतिक बस्ती में पहुँचता है और लालसा के सहयोग से आधुनिक सभ्यता का प्रवेश कराता है जिससे सुन्दरी, स्वर्ण एवं सुरा का प्रचलन हो जाता है। उस चरम पतन की अवस्था में विवेक ललकारता है—"आत्मप्रतारको ! उस दिन की प्रतीक्षा में कठोर तपस्या करनी होगी जिस दिन ईश्वर और मनुष्य, राजा और प्रजा, शासित और शासकों का भेद विलीन होकर विराट् विश्व जाति और देश के वर्णों से स्वच्छ होकर एक मधुर मिलन-क्रीड़ा का अभिनय करेगा।"[२] इस भयानक अवस्था में संतोष की अवमानना होती है, करुणा अपमानित होती है और शान्ति-देव का वध हो जाता है। ये सभी पात्र प्रतीक हैं और तत्तत् मनोवृत्तियों के प्रतिनिधि हैं। 'कामना' नाटिका में 'कामायनी' की समग्र छाया अवतीर्ण हो गयी है। 'कामना' का संघर्ष सारस्वत प्रदेश के संघर्ष में परिणत हो गया है। कामना और श्रद्धा, विलास और मनु एक-दूसरे के प्रतिरूप हैं। मन्त्री विलास तथा रानी कामना के परस्पर व्यवहार में प्रभुत्वकामी मनु तथा सारस्वत देश की राष्ट्रस्वामिनी इड़ा के व्यवहार का प्रतिबिम्ब दिखायी देता है। 'कामना' की अनेक पंक्तियों में 'कामायनी' की अनेक पंक्तियों के साथ बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव उपलब्ध होता है। 'कामना' की समस्या का 'कामायनी' में प्रसाद ने पूर्ण समाधान प्रस्तुत किया है जहाँ समस्त भेदभाव—मनुष्य तथा ईश्वर की भी—एक मधुर मिलन-में पर्यवसित हो गये हैं।

'कामायनी' के सात वर्षों तक फैले प्रणयन-काल में ही प्रसाद ने **'एक घूँट'** शीर्षक एक छोटा एकांकी भी लिखा है जिसमें आनन्द (पात्र) से दुःखवाद का विरोध कराया गया है। आरम्भ में आनन्द स्वच्छन्द प्रेम का प्रचारक है और अन्त में, प्रेम का एक घूँट पी लेने पर, वह उच्छृंखल प्रेम का नियामक बन गया है। रसाल (पात्र) के द्वारा आनन्द के तीन तत्त्व–स्वास्थ्य, सरलता एवं सौन्दर्य बताये गये हैं। इस त्रिकोण को मिलाने वाली प्रेम की

---

१. "हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।" (ईशावास्य)
"नैव राज्यं न राजन्यो न च दण्डो न दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वारक्षन्तिस्म परस्परम्॥" (महाभारत)

२. 'कामना', पृ० ९८

एक घूँट (प्रेमलता से एक घूँट का पान) बनी है । 'कामना' में आनन्द कोई पात्र नही है जबकि इस एकांकी में आनन्द प्रमुख पात्र बना है । 'कामना' में विवेक की विजय प्रदर्शित की गयी है जबकि 'एक घूँट' में विवेक के स्थान पर आनन्द की प्रतिष्ठा हुई है आनन्द (पात्र) दुःख का अस्तित्व नही मानता; विश्व की कामना का मूल रहस्य आनन्द को ही मानता है और सौन्दर्य को "जीवन का लक्ष्य" समझता है । जैसे यहाँ स्वास्थ्य, सरलता तथा सौन्दर्य के त्रिकोण को परस्पर मिलाने वाली प्रेम की एक घूँट बतायी गयी है, वैसे-ही 'कामायनी' में इच्छा, क्रिया एवं ज्ञान के त्रिकोण को श्रद्धा की मुसकान ने मिला दिया है । इस प्रकार, एकांकी का प्रेम-दर्शन काव्य में शैवाद्वैतवादी समरमतामूलक रहस्यवादो आनन्द मे परिणत हो गया है जिसकी साधिका सृष्टि की मूलशक्ति "प्रेमकला" का सन्देश सुनाने वाली "प्रेमज्योति" श्रद्धा बनी है ।

निष्कर्ष रूप मे यह कहा जा सकता है कि प्रसाद की सैद्धान्तिक मान्यताओं तथा साहित्यगत चेतना के विकास के विवेचन में जो प्रेरणाएँ कार्यशील दृष्टिगोचर हुई हैं, उनका एकत्र प्रतिफलन प्रायेण 'कामायनी' में हुआ है । अतएव, 'कामायनी' को प्रसाद की प्रेरणाओं का पुञ्जीभूत परिभोग कहा जा सकता है ।

२० | कामायनी का मूल्यांकन

क. प्रसाद की काव्य-विषयक मान्यता और कामायनी

'कामायनी' के मूल्यांकन की समस्या तनिक उलझावपूर्ण प्रतीत होती है। अभी पिछले परिच्छेद में कहा है कि वह प्रसाद की प्रेरणाओं का पुंजीभूत परिभोग है। वास्तव में, प्रसाद ऐसा ही समझते हैं, ऐसा ही अधिकांश समालोचक समझते हैं और उनकी काव्यचेतना की विकास-सरणी भी इसी परिणति की ओर इंगित करती है। आपाततः इस धारणा से वैमत्य का कोई अवकाश नहीं प्रतीत होता। किन्तु, मैं प्रसाद की काव्य-विषयक मौलिक मान्यता के ही आलोक में प्रस्तुत कृति का पहला परीक्षण प्रस्तावित करता हूँ।

प्रसाद काव्य को आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति मानते है जिसका संबंध विकल्प या विश्लेषण से नही होता। संकल्पात्मक मूल अनुभूति, काव्य में, आत्मा की मनन-शक्ति की वह "असाधारण अवस्था" है जो "श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व" में सहसा ग्रहण करती है। प्रसाद इस असाधारण अवस्था को "युगों की समष्टि-अनुभूतियों" के साथ जोड़ते है क्योंकि "सत्य अथवा श्रेय ज्ञान" की व्यक्तिगत सत्ता न मान कर, उसे वह एक "शाश्वत चेतना" या "चिन्मयी ज्ञान-धारा" के रूप में ग्रहण करते हैं जो निर्विशेष रूप से विद्यमान रहती है। अतएव, प्रसाद की दृष्टि में काव्य "श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञान-धारा" है। अर्थात्, श्रेयस् तथा प्रेयस् दोनों की युगपत् सिद्धि काव्य का फल होना चाहिए। शास्त्रीय दृष्टि से यह काव्य-सिद्धि रसात्मक अथवा आनन्दमूलक होनी चाहिए। शैवागमों का विशुद्ध अद्वैतवादी आनन्द, जिसकी प्रकृति समरसतामयी मनोविश्रान्ति की होती है, प्रसाद की मान्यता में काव्य का रसानन्द होना चाहिए।[१]

इस मान्यता के आलोक में 'कामायनी' की मूल कल्पना गठित हुई है, इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता। उस कल्पना में श्रेय सत्य को प्रेय-रूप

---

१. 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध', छठवीं आवृत्ति, पृ० ३७–३८

में ग्रहण करने का सजग प्रयास सहज-ही परिलक्षित होता है । चिन्ता, आशा, लज्जा, वासना इत्यादि मनोवृत्तियों का सौन्दर्य-रूप में ग्रहण 'कामायनी' में हुआ है । उनके चित्रण में मानव-मन के सत्य को उसके पूर्ण चारुत्व में उभारने का प्रयत्न निश्चित ही श्लाघ्य है । प्रसाद की इस सौन्दर्य-कल्पना की मूल भूमि 'काम' है । जो रमणमूलक होने के साथ मंगल-विधायक भी होता है । वह "भूमा" का सत्य है और मानव में अवतीर्ण होकर विश्व-मंगल की सृष्टि करता है । 'कामायनी' में यही काम के केन्द्रीय तत्त्व हैं जो मानव-मन की अन्य वृत्तियों से लिपट एवं परिपुष्ट होकर अखिल मानव-सत्य को उसके सम्पूर्ण सौन्दर्य में रूपायित करता है । उस काम की शक्ति एवं सौन्दर्य की प्रतिनिधि श्रद्धा बनी है । आत्मा की वास्तविक "मनन-शक्ति" का प्रतिनिधित्व वही करती है, यद्यपि मनु को मनन का पर्याय मानने का निमन्त्रण स्वयं कवि ने आमुख में पाठकों को प्रदान किया है । कवि की मनन-क्रिया का प्रतीक भी श्रद्धा ही है । साधारण प्रेय:कल्पना से कवि की प्रेयो-भावना ऊपर की वस्तु रही है क्योंकि वह अपनी रचना की मूल सौन्दर्य-कल्पना में श्रेयस् को उभारना चाहता है । मानव मंगल का विधान भी वह व्यावहारिक नहीं, दार्शनिक अथवा वैचारिक धरातल पर उपपन्न करने का अभिलाषी रहा है । मानव-मंगल का श्रेयस् जब लोक-जीवन से शृंखलित होता है, तब उसकी प्रेयता अथवा चारुता सहज भाव से आस्वादन की वस्तु बन जाती है । 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में जिस रीति से प्रेय श्रेय में पर्यवसित हो गया है, वह अधिक सहज एवं स्वाभाविक है । रामचरित-मानस में भी, प्रेय-श्रेय का सम्मिश्रण सहज है और शायद कालिदास की अपेक्षा अधिक लोकसुलभ है । इन पुण्यश्लोक कवियों ने भी अपनी काव्य-कल्पना में रचनात्मक मनन-शक्ति के अभ्यास से जो संकल्पात्मक अनुभूति उपलब्ध की, उसमें सत्य के दोनों रूप, श्रेयस् तथा प्रेयस्, एक "ज्ञान-धारा" के स्वरूप में ही हमें आकर्षित करते हैं । 'कामायनी' की यह "रचनात्मक ज्ञान-धारा" हमें उतनी सहजता से आवर्जित नहीं करती । शैवागमों का साम्प्रदायिक रहस्यवाद व्यष्टि-साधना की वस्तु अधिक है और इसी कारण, उसका आनन्दवाद भी वैयक्तिक है । काव्य-रस की शैवाद्वैतवादी अभेदमयी, समरमतामयी आनन्द-परिणति लोक-मंगल का व्यावहारिक विधान करेगी, इसे सहजरीत्या स्वीकार नहीं किया जा सकता । प्रसाद को इस बात की चेतना अवश्य रही है कि व्यष्टि का चारुत्वपूर्ण सत्य-दर्शन समष्टि की सत्यानुभूति से विच्छिन्न नहीं होने पावे । इसी कारण, उन्होंने 'कामायनी' में बुद्धिवादिनी इड़ा के नेतृत्व में सारस्वतप्रदेश-वासियों की शोभायात्रा का भी विधान किया है और अन्त में, "प्रेम-ज्योति" के विमल आलोक से सबको, जड़ तथा चेतन, दोनों को सुन्दर, समरस

एवं आनन्दमय बना दिया है ।

लेकिन, 'मंगल' तथा 'आनन्द' को पूर्णतः पर्याय मानना उचित नही होगा। मंगल में समष्टि-चेतना अधिक है जबकि आनन्द में व्यष्टि-चेतना अधिक है। काव्यगत अनुभूति जब श्रेयोमूलक होगी, तब उसमें आनन्दांश ही अधिक होगा। यह अन्य बात है कि तुलसी जैसे कवियों की रचना में उनका व्यष्टिगत 'आनंद' समष्टिगत 'मंगल' का आयाम ग्रहण कर लेता है। मनन की "असाधारण अवस्था" में व्यक्ति की अनुभूतियाँ समूह अथवा जाति की अनुभूतियों का ही एक अंश अथवा आयाम होती हैं, इस कथन से प्रसाद ने एक सैद्धान्तिक आधार खोज लिया है, और यहाँ वह प्रसिद्ध मनःशास्त्री जुंग तथा सुप्रसिद्ध कवि-चिन्तक टी० एस० ईलियट की पंक्ति में सम्मिलित हो जाते हैं। वतुतः उनकी यही चिन्ता कि मनु अथवा श्रद्धा का व्यक्तिगत आनन्द समूह अथवा जाति का समष्टिगत आनन्द बन जाय और यह 'आनन्द' मानव के 'मंगल' का भी पर्याय हो जाय, विवेच्य कृति के काव्यास्वाद को खंडित कर गयी है।

शैवों के साम्प्रदायिक आनन्द को मनुष्य के लौकिक मंगल से जोड़ने के निमित्त ही, प्रसाद ने सारस्वत-सभ्यता का प्रकरण संन्निविष्ट किया है। किन्तु, मनु तथा श्रद्धा की तात्त्विक एकात्मक आनन्द-साधना के अन्तःस्वर की, सम्पूर्ण रचना में, अन्तःसलिला सरस्वती की भाँति प्रवाहशीलता के कारण यह समष्टि-आयाम एक सर्ग में ही सिमट कर मनु-श्रद्धा के व्यक्तिगत रहस्यात्मक आनन्द में ही विलीन हो गया है। "लोकतन्त्र" तथा "प्रजासृष्टि" को भरपूर कोसना भी पड़ा है क्योंकि वे इस अभीष्ट आनन्द-सिद्धि में बाधक होंगे। समष्टि-जीवन के इन तथ्यों की भर्त्सना काम के मुख से करायी गयी है जो स्वय शिव का स्वरूप है। पार्यन्तिक "श्रेय-सत्य", वास्तव में, प्रसाद शिव या परमशिव को ही समझते हैं और इस परमतत्त्व की प्रेयोमयी अनुभूति का तात्पर्य शिव के साथ पूर्ण अभेदमय सामरस्य ही है। इसी प्रकार की अद्वैतवादी आनन्द-सिद्धि 'कामायनी' का उद्देश्य रही है जो वैयक्तिक ही है, किन्तु जिसे कवि ने कृत्रिम रीति से समष्टि के साथ शृंखलित करने का असफल प्रयत्न किया है।

एक और तथ्य विचारणीय है। प्रसाद की काव्य-दृष्टि, क्रोचे के समान, मुख्यतः सौन्दर्यवादी है। आत्मा की रचनात्मक मनन-क्रिया, जिसे ही क्रोचे ने कल्पना की सक्रिय अवस्था कहा है, सत्य को सुन्दर रूप में ग्रहण करती है। सत्य एवं सुन्दर के परस्पर विलीयमान हो जाने पर भी जो चरम निष्पत्ति होती है, वह मूलतः सुन्दर होगी। यह सुन्दर कवि अथवा कलाकार के मानस में 'साकार', किसी निश्चित रूप से समन्वित होगा। 'सुन्दर साकार बना था।" क्रोचे भी यही मानता है। प्रश्न यह है कि इस सौन्दर्य को व्यक्तिगत

अनुषंगों से मुक्त कर समष्टि की वस्तु कैसे बनाया जाय । इसी प्रश्न के समाधान-हेतु पुराने आचार्यों ने 'साधारणीकरण' की व्यवस्था की थी । 'कामायनी' के सौन्दर्य, अभेदमय सौन्दर्य, का साधारणीकरण रचना में क्योंकर सम्पन्न हुआ है ? इस सौन्दर्य की साधना मूलतः मनु की वैयक्तिक सम्पत्ति रही है और जब उसके चरम फलभोग में सारस्वतवासियो का भी सम्मिलन हो जाता है, तब उसका साधारणीकरण प्रकृत अर्थ मे सम्पन्न नही होता । मनु ने "विश्व" के "नीड़" बन जाने का जो फार्मूला सुझाया है, वह केवल उपदेश रह गया है । यदि उसकी कोई प्रतिक्रिया श्रोतृसमूह में प्रदर्शित की गयी होती, तो कदाचित् साधारणीकरण की अवस्था का अवसर उपपन्न हो गया होता । ऐसा न कर, प्रसाद ने श्रद्धा की इन्द्रजाली मुसकान का प्रश्रय लिया है और अपने अभीप्सित सौन्दर्य का 'बैकडोर', से, कृत्रिम रीति से, साधारणीकरण सम्पन्न करा दिया है । श्रद्धा को "पुलकित विश्व-चेतना" तक बताना तो आपत्तिजनक नही था, किन्तु उसे "जगत की मंगल-कामना अकेली" बताना और उस "मगल-कामना" की मुसकान से सौन्दर्य सत्य एवं शिव (मंगल) का एकीकरण करा देना कवि के नैसर्गिक 'प्रजापतित्व' के अधिकार का अनुचित प्रयोग है । शायद, "अकेली" पद का प्रयोग भी इस तथ्य का उद्योतक है कि कवि स्वय भी भीतर-भीतर यह अनुभव कर रहा था कि उसकी सौन्दर्य-मूर्ति उसकी निजी अकेली है, मानवता की सम्पत्ति नही बन पायी है । मनन की असाधारण अवस्था मे व्यष्टि-अनुभूतियो के समष्टि-अनुभूतियों में विलीन हो जाने की जो कवि की सैद्धान्तिक मान्यता है, उसका सम्यक् निर्वाह रचना-तन्त्र में सम्पन्न नही हो सका है । प्रसाद ने सगुण भक्ति-सम्प्रदाय के अन्तर्गत पल्लवित हिन्दी साहित्य का अवमूल्यन-सा किया है क्योकि उसमें विवेकवाद की गन्ध उन्हे मिलती है । किन्तु, 'कामायनी' मे परोक्ष रूप से विवेक का प्रश्रय लेते हुए भी, उन्होने विवेक अथवा बुद्धि का जो एकान्त परित्याग अन्ततोगत्वा किया है, उससे भी उनके अभिलषित मंगलमय सौन्दर्य का साधारणीकरण नही हो पाया है ।

अतएव, प्रसाद की काव्य-विषयक एक मौलिक मान्यता अथवा प्रेरणा, व्यष्टि-सौन्दर्य तथा समष्टि-सौन्दर्य के एकीकरण, का परिपाक नही हो सका है।

ख. प्रसाद-साहित्य की मौलिक प्रेरणा और कामायनी

प्रसाद-साहित्य मे प्रस्फुटित एक प्रधान प्रेरणा दृष्टिगोचर होती है, युगीय अथवा जीवन की समस्याओं का शाश्वत रीति से समाधान खोजने की स्पष्टतया यह दार्शनिक दृष्टिभंगी है और इसके मौलिक महत्त्व का प्रत्याख्यान आसानी से नही किया जा सकता । मनुष्य तथा उसकी पर्यावरण-लभ्य प्रतिक्रियाएँ समान ही होती हैं, चाहे भौगोलिक अन्तर से उनके स्वरूप में न्यूनाधिक अन्तर भले

ही पड़ जाय । अतएव, युग की समस्याएँ युग-युग की सनातन समस्याएँ बन जाती हैं और इस प्रकार, इनके समाधान के लिए कोई सामान्य पद्धति अथवा नियम खोजा जा सकता है । इस दृष्टि से प्रसाद के उपर्युक्त प्रयास की श्लाघा होनी चाहिए । श्रद्धालु समालोचक यही समझते है कि 'कामायनी' में यह समाधान अन्वेषित हो चुका है । इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया की समरसता अथवा परस्परानुकूलता ही वह शाश्वत समाधान है—"एक दूसरे से न मिल सके, यह विडम्बना है जीवन की ।"

जिस जीवन की बात यहाँ कही गयी है, वह व्यक्ति का जीवन है, समष्टि का नही, शैवसाधक का जीवन है, समग्र विश्व का नही । जब तक इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया अलग अलग है, तभी तक तो यह सोपाधिक संसार है और जब ये परस्पर श्रद्धा (भाव) के सहयोग से मिल जाते है, तब तंत्रों मे वर्णित "निरंजनावस्था" उत्पन्न हो जाती है और समस्त उपाधियों से शून्य आनन्दवस्था का उदय होता है । अतएव, प्रस्तुत त्रिकोण के समन्वय को स्वीकार कर लेने के बाद तो सोपाधिक ससार का प्रश्न ही समाप्त हो जायेगा । स्पष्टतः, इच्छा, क्रिया एवं ज्ञान के सामंजस्य का यह विधान व्यक्ति के, साधक के जीवन के लिए प्रयोज्य है, समष्टि या विश्व के कोलाहलपूर्ण जीवन के लिए नही । प्रसाद ने शैवागमो की साधन व्यवस्था का काव्य-सुलभ चित्रण किया है और व्यक्ति-मानव की समस्याओं के समाधान रूप में निश्चित ही एक ऐसे स्वप्नलोक की तलाश की है जहाँ 'लहर' मे प्रस्तावित "निर्जन" की "गंभीर मधुर छाया" मे विश्व की "दुख-सुख वाली" सत्ता "विभु" (शिव) की सत्ता से समरस हो गयी है और, उषा तो नही, किन्तु रागारुण संध्या की रश्मियों के नर्त्तन के नीचे "अमर जागरण" वाली "घनी ज्योति" ही[1] "आनन्द अखण्ड घना" के रूप में बिखर रही है ।

---

१. "जिस गंभीर मधुर छाया में—
विश्व-चित्रपट चल माया में—
विभुता विभु-सी पड़े दिखाई,
दुख-सुख वाली सत्य बनी रे !
श्रम-विश्राम क्षितिज-वेला से—
जहाँ सृजन करते मेला से—
अमर जागरण उषा नयन से—
बिखराती हो ज्योति घनी रे !"

—'लहर', अष्टमावृत्ति, पृष्ठ चौवह

जिस तथ्य को रेखांकित करना हमारा प्रयोजन है, वह यह है कि इच्छा, क्रिया तथा ज्ञान के सामंजस्य से जो चरम फलागम उपपन्न हुआ है, उसमें ऐसे अखण्ड आनन्द का प्रवाह फूट पड़ा है जिसमें जड़ तथा चेतन का भेद बिलकुल विलीन हो गया । तब, क्या प्रसाद इस "कोलाहल की अवनी" को ऐसा–ही स्वरूप प्रदान करना चाहते है ? क्या मानवता की सनातन समस्याओ के समाधान-हेतु सचमुच इच्छा, ज्ञान एव क्रिया के समन्वय से ऐसे-ही परिणाम की सम्भावना में विश्वास करते है ? ये प्रश्न रचना के भीतर से ही उठते हैं ।

यदि उपर्युक्त प्रश्नों का स्वीकारात्मक उत्तर ग्रहण किया जाय, तो पूरी स्थिति हास्यास्पद बन जाती है । शैवों के साम्प्रदायिक रहस्यवाद का, जो मूलत: व्यक्तिगत साधना का विषय है, प्रस्तुत समष्टीकरण आज के विचारक को मान्य नही होगा । कवि की 'अघटनघटनापटीयसी' कल्पना की हो यह असंभाव्य परिणति है ।

मूल प्रश्न है इच्छा, क्रिया तथा ज्ञान के सामंजस्य मे कारणभूत तत्त्व 'श्रद्धा' का । यह श्रद्धा किसमे रहेगी ? श्रद्धा का विषय अथवा आस्पद क्या होगा ? विभु वा परात्पर सत्ता मे सम्प्रति आस्था घटती जा रही है, कम-से-कम उन व्यक्तियों अथवा संस्थाओ मे जिनके हाथो मे मानव-समष्टि के सामूहिक भाग्य-निर्माण का दायित्व ऐतिहासिक घटना-क्रम के परिणामस्वरूप आ पड़ा है । विज्ञानवादी मानवतावाद आज मनुष्य को ही परमात्मा अथवा ईश्वर का स्थानापन्न मानने लगा है । तब, इस श्रद्धा अथवा आस्था का विषय मनुष्य तथा मनुष्य का भविष्य ही बन गया है । दूसरे शब्दो मे, यह मानना आवश्यक है कि मनुष्य का भविष्य निश्चिततया उज्ज्वल है और इसी उज्ज्वल भविष्य में विश्वास के कारण हमारे इच्छा-ज्ञान-क्रिया वाले 'त्रिकोण' मे सामंजस्य स्थापित हो सकता है । ऐसी अवस्था में, हमारी इच्छा होगी कि मानव-मंगल सम्पन्न हो, हमारा ज्ञान उस इच्छा की पूर्ति मे सहायक होगा तथा हमारी क्रिया भी उसके अनुरूप गठित होगी । इस प्रकार, यदि इस निश्चित पद्धति पर विश्व की यावत् शासन-संस्थाएँ, आर्थिक संस्थाएँ प्रभृति गतिशील होने का अनवरत प्रयास करें, तो मानव-मंगल का स्वप्न पूर्ण हो सकता है । लेकिन, क्या इस समष्टिगत पैमाने पर ऐसा समन्वित प्रयास व्यवहार्य होगा ? 'चेतना-केन्द्र' आज बिखरे हुए है और उन चेतना-खण्डों को समन्वित किये बिना आलोच्य त्रिकोण में सामंजस्य क्योंकर स्थापित हो सकेगा ?

आप कहेगे, यही तो प्रसाद चाहते है, जटिल समस्या का समाधान जटिल ही होगा । मेरा उत्तर होगा, प्रसाद चाहने पर भी रचना-तन्त्र में यह उपलब्धि नही अर्जित कर सके है । त्रिदिक् विश्व वाला पूरा संदर्भ दार्शनिक एवं

साधनात्मक तथ्यों से परिपूर्ण है । प्रसाद आनन्द को ही "यथार्थ वस्तु" मानते हैं और इस आनन्द की चरितार्थता में विवेक को बाधक ठहराते हैं ।[1] किन्तु, इच्छादिमूलक त्रिकोण में समरसता उत्पन्न करने के लिए विवेक की आवश्यकता पड़ेगी जो तत्त्वतः आनन्द-भावना का विरोधी है । ऐसी अवस्था में, विवेकमूलक इच्छादि-सामंजस्य आस्थामलक "आत्मवादी" आनन्द की सिद्धि में सहायक नहीं होगा ।

जैसा ऊपर कहा है, मनु-श्रद्धा की एकात्मक जीवन-साधना में सारस्वत-सभ्यता का सन्निवेश कर, प्रसाद ने व्यक्ति एवं विश्व को एकत्र लाने तथा एक में अनुस्यूत करने का प्रयास किया है । मनु तो इस सभ्यता की स्थापना के पहले त्रिकोण का रहस्य नही समझते थे, लेकिन इड़ा तथा मनु-पुत्र मानव के इस त्रिकोण की सही समरसता में दीक्षित होने के पूर्व ही, मनु ने उन्हें अभेद-दर्शन का उपदेश दिया और जड़-चेतन सभी समरस आनन्द के सहयोगी बन गये । 'दर्शन' सर्ग में तर्क, श्रद्धा एवं मनन से समन्वित कर्म करने का उपदेश अवश्य श्रद्धा ने मानव को दिया है जब वह उसे इड़ा के साथ छोड़ चली गयी है । लेकिन, विवेच्य त्रिकोण की 'दर्शन' सर्ग वाले पहले त्रिकोण के साथ पूर्ण संगति नही बैठती जैसा हमने द्वितीय परिच्छेद में दिखाया है । तात्पर्य यह है कि इच्छादि वाले त्रिकोण के सामंजस्य में इड़ा, मानव तथा सारस्वत-निवासी कभी दीक्षित नही हुए, इस दीक्षा के व्यावहारिक कार्यान्वयन की बात ही क्या, और वे सभी जड़ प्रकृति के साथ अखण्ड, सघन आनन्द के स्निग्ध, उच्छल प्रवाह में सराबोर हो गये !

असलियत यह है कि प्रसाद स्वयं यह समझते थे कि जिस आनन्द की स्थापना वह 'कामायनी' मे कर रहे है, वह पूर्णतया ऐकान्तिक एवं व्यक्तिगत है तथा उसे समष्टि के धरातल पर अवतीर्ण करना कम-से-कम वैसे कवि के लिए सम्भव नही है जो शैवों की सौन्दर्य और "उन्मद भाव" की साधना-प्रणाली में विश्वास रखता है । प्रसाद आनन्दवाद के इस उपस्थापन की दुर्बलता का पीछे अनुभव करने लगे थे । तभी, उन्होंने अपने अधूरे उपन्यास 'इरावती' में ब्रह्मचारी के मुख से कहलाया था, "मुझे आनन्दवाद की व्याख्या फिर से करनी पड़ेगी ।"

निष्कर्ष यह है कि 'कामायनी' में जीवन की समस्याओं का सनातन समाधान स्थापित करने की प्रेरणा का समुचित परिपाक नही हो सका है ।

---

१. **'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध', छठवीं आवृत्ति, में "रहस्यवाद" शीर्षक निबन्ध ।**

ग. आमुख की प्रेरणाएँ और कामायनी

ऊपर हमने 'कामायनी' के मूल्यांकन की चेष्टा इस आधार पर की है कि कवि काव्य को कैसा समझता है और इस कृति के प्रणयन के पूर्व उसकी रचनाओं में कौन-सी महत्त्वमयी प्रेरणा कार्यशील रही है। इन दोनों स्तरों पर इस कारण इसे परखने की कोशिश की गयी है कि 'कामायनी' के कवि के साथ समुचित न्याय हो सके। यह ध्यातव्य है कि किसी रचना-विशेष के प्रति न्याय तथा स्वतः रचना के प्रति न्याय में कोई मौलिक भेद नहीं होता। मनु की समस्या को प्रसाद की निजी समस्या मान लेना और उन्हें टूटती सामन्तीय विलास-व्यवस्था का प्रतिनिधि समझना (जैसा मुक्तिबोध ने किया है) उतना ही गलत एवं अनुचित है जितना मनु को पाशव स्थिति से शांभव स्थिति तक की क्रमपूर्ण विकास-यात्रा सम्पन्न करने वाला जीव मान लेना। आवश्यकता इस परीक्षा की है कि कवि अपनी रचना को क्या-कैसा स्वरूप देना चाहता है और वैसा करने मे उसे कितनी-कैसी सफलता मिली है। आमुख में प्रसाद ने जो सूत्र सन्निविष्ट किये हैं, उनसे इतनी बातें स्पष्ट है कि—

(क) मनु मानवों के आदि पुरुष है;

(ख) मनु मानवता के नवयुग के प्रवर्त्तक है।

(ग) श्रद्धा और मनु के सहयोग से मानवता का विकास रूपक भी हो सकता है।

(घ) यह मनुष्यता का मनोवैज्ञानिक इतिहास बन सकता है।

("यह आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहास मे रूपक का भी अद्‌भुत मिश्रण हो गया है। इसीलिए मनु, श्रद्धा और इड़ा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए, साकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें, तो मुझे कोई आपत्ति नही। मनु अर्थात् मन के दोनों पक्ष, हृदय और मस्तिष्क का संबंध क्रमशः श्रद्धा और इड़ा से भी सरलता से लग जाता है।")

(ङ) कथा-शृखला को मिलाने के लिए कही-कही थोड़ी-बहुत कल्पना का भी उपयोग कवि ने किया है।

पिछले प्रकरणों में जगह-जगह यह दिखाया गया है कि इतिहास, रूपक तथा मनुष्यता का मनोवैज्ञानिक इतिहास, इन तीन प्रेरणाओं को परस्पर अनुस्यूत करना कवि के लिए कठिन सिद्ध हुआ है। मनु को "आदिम" मानव बनाने की प्रेरणा भी काम करती रही है। साथ-ही, शैवदर्शन की साधना में जीव के ऊर्ध्वग विकास का चित्रण भी भीतर-भीतर कवि को प्रेरणा प्रदान करता रहा है। यद्यपि प्रसाद ने शायद कही स्पष्ट नहीं कहा है, तोभी मनोविज्ञान की अवचेतनवादी धारा भी उन्हें प्रभावित करती रही है। इन समस्त

प्रेरणाओं की परस्पर संवादी-विसंवादी 'रेल-पेल', "मधु मुकुल नवल रस-गागरी" भर कर "युग-युग की नव मानवता" की "मंगलमयी उषा" के अभिलाषी "करुणा"— कामी कवि के कोमल वर्चस्व को चुनौती देकर निकल गयी और 'कामायनी' के वस्तु-तत्त्व को विचित्र रीति से उलझा गयी। परिणाम यह हुआ है कि जो आलोचक विवेच्य रचना के सौष्ठव को उसके भीतर से समझना तथा मूल्याकित करना चाहता है एक समग्र सम्पूर्ण कृति के रूप में, उसे पूरी सद्भावना के बावजूद निराश होना पड़ता है। "अर्थ और अनुभव की अद्वैत प्रक्रिया का बेजोड़ उदाहरण"[1] विवेच्य कृति को बताना वास्तविकता के विपरीत है। 'कामायनी' के कतिपय खण्ड, 'लज्जा', 'काम' इत्यादि सर्गों में तो अनुभूति एवं अभिव्यक्ति का मनोरम संश्लेष अवश्य दृष्टिगोचर होता है, किन्तु सम्पूर्ण कृति मे जो 'अनुभव' गुफित हुआ है, वह विशृंखल है, शायद वह 'अनुभव' है ही नही, अधिकांशतया 'विचार' है जो छायावादी पद्धति की विशिष्ट अभिव्यंजना में मोहक प्रतीत होकर श्रद्धालु आलोचक को दिग्भ्रमित कर देता है।

'कामायनी' के "व्यक्तित्व" की बात कही गयी है।[2] सचाई यह है कि यह व्यक्तित्व ही उलझा हुआ है, उसमें कोई स्वाभाविक अन्विति, स्वाभाविक 'इण्टीग्रेशन' नही है। व्यक्तित्व में भावना तथा आचरण के अनेक धागे परस्पर मिश्रितरूप मे अनुस्यूत होकर एक निराली अन्विति का बोध कराते है जिसमें वैचित्र्य के साथ सहजता भी साफ झलकती है। 'कामायनी' में वैचित्र्य तो है, पर सहजता नही। रूपक, इतिहास, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र इत्यादि के रूप मे उसे अनुवचित करने की प्रेरणा इसी कारण उत्पन्न होती है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की यह टिप्पणी कि 'कामायनी' का कवि उस प्रकार का दर्जी है जो "कम परिश्रम और ज्यादा कल्पना करके एक लम्बा-चौड़ा झूल तैयार कर देता है जो प्रत्येक आदमी को ढँक सकता है,"[3] किंचित् कठोर होती हुई भी वस्तु-स्थिति को ही प्रकारान्तरेण व्यंजित करती है—संशोधन केवल इतना अपेक्षित है कि प्रसाद ने 'कम' नही, बहुत-ही अधिक परिश्रम किया है।

जिस प्रकाम्य नवीन संस्कृति के निर्माण की बात कही जाती है, उसका स्वरूप 'कामायनी' के 'भीतर' नही उभर सका है। देव-विलक्षण मानवीय संस्कृति की यह विशेषता कि (जिसे आलोचकों ने संकेतिक किया है) वह मृत्यु

---

१. 'कामायनी का पुनर्मूल्यांकन' (रामस्वरूप चतुर्वेदी), पृ० ५८।
२. वही, पृ० १८।
३. 'कामायनी का पुनर्मूल्यांकन' में पृ० १४ पर उद्धृत।

को चुनौती देकर "प्रेम और सर्जनात्मकता" के सहारे जीवन को सार्थक बनाती है,[1] काव्य के भीतरी रचना-तंत्र में बिलकुल ही नहीं रूपायित हो सकी है। यह सफाई दे कर श्रद्धा-प्रेरित आलोचक स्वयं अपने विचारों का ही प्रस्तुत रचना के ऊपर आरोप करते हैं। "शैवागम के जाल" से छुड़ाने की तर्कना निहायत निरर्थक है क्योंकि पूरे काव्य में शैवागम की भावना, भाषा, विचार, मान्यता इत्यादि घनरूप से उलझे हुए हैं। अवचेतनवादी असाधारण मनोविज्ञान ('ऐबनॉर्मल साइकॉलोजी') के प्रकाश में गठित मनु का शील प्रत्यभिज्ञा की साधन-प्रणाली में भी संसिक्त हुआ है। अर्थ तथा अनुभव के कितने ऐसे स्तर रचना में उपलब्ध हैं जिनकी सही संगति तब तक नहीं बिठाई जा सकती है जब तक शैवागम का संश्रय नही लिया जाय।

घ. बृहत्तर बिम्ब और कामायनी

बिम्बविधान के आधार पर 'कामायनी' अथवा किसी भी काव्यकृति का वास्तविक मूल्यांकन नही किया जा सकता। यह सही है कि कवि की समग्र भावना वा कल्पना एक बृहद् बिम्ब के रूप में गठित होती है और उसके भीतर के लघु बिम्ब उसी बृहत्तर बिम्ब के परिपोष में सहयोग करते है। 'लज्जा', 'आशा' इत्यादि सर्गों में नितान्त मनोरम बिम्बमालिकाएँ सजायी गयी हैं जिनका संस्तवन संबद्ध परिच्छेद में पहले किया जा चुका है। लेकिन, 'कामायनी' का मनोवांछित बृहद् बिम्ब इसीलिए सुगठित एवं सुडौल रूप में अवतीर्ण नहीं हो सका है कि कवि का अनुभव उसके संघटन में साथ नहीं दे पाया है। अनुभव अपनी 'टोटैलिटी' या समग्रता में जब रचना में सम्मूर्तित होता है, तभी संश्लिष्ट बिम्ब उभरता है। इसके लिए अनुभव का समरस, 'इण्टीग्रेटेड', होना आवश्यक होता है। 'कामायनी' मे चित्रित अनुभव कुछ तो प्रकृत अर्थ में अनुभव है ही नही और बहुत-कुछ विचार के तन्तुओं से बोझिल है। सुतराम, किसी संश्लिष्ट, सुघटित बृहद् बिम्ब की अवतारणा उसमें नही हो सकी है।

ङ. मूल्य की खोज और कामायनी

कवि यदि आपाततः किसी दार्शनिक, साम्प्रदायिक अथवा सामाजिक मान्यता से प्रतिबद्ध नही है, तो भी वह अपनी जीवन-दृष्टि के पोषणार्थ अपने काव्य में किसी मूल्य की खोज एवं स्थापना कर सकता है। तभी उसकी समर्थ प्रतिभा की पहचान होती है। प्रसिद्ध आंग्ल कवि कीट्स ने कहा है कि कविता अपने भाग्य को स्वयं उत्कीर्ण करती है। उसका मतलब यह है कि कवि, बिना किसी प्रतिबद्धता के भी अपनी रचना में मनोवांछित मूल्य की स्थापना करता

१. 'कामायनी का पुनर्मूल्यांकन' में पृ० २९।

है। कीट्स "विचारों के जीवन" से घबड़ाता था और "संवेदनों के जीवन" का अभिलाषी था। इसी कारण, वह "तथ्य और तर्क" से चिढ़ जाता था तथा "हृदय के संवेदनों की पवित्रता" में विश्वास रखता था। अपनी इसी मानसिक संघटना के अनुरूप उसने अपनी कविताओं में सौन्दर्य को सर्वातिशायी महत्त्व दिया है और एक प्रसिद्ध प्रेम-रचना मे उसे दर्शन की समीपता में मुरझाता चित्रित किया है। तात्पर्य यह है कि चिन्तन एवं तर्कण की आँच में सौन्दर्य, जो मूलतः अनुभव का विषय है, अपनी सत्ता खो बैठता है। इसी कारण, कोमलमना कीट्स सौन्दर्य का सत्य से समीकरण करता है और यह टिप्पणी करता है कि ससार में सौन्दर्य ही एक मात्र अभिज्ञेयवस्तु है। इस प्रकार, उसने अपनी कविता में सौन्दर्य को एक मूल्य के रूप में प्रतिस्थापित किया है। हिन्दी के भक्त कवियों ने सगुण के प्रति अनुराग को एक जीवन-मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित किया है।

छायावादियों में महादेवी ने वेदना की "नीर-भरी गगरी" ढरकाते हुए भी, अलक्ष्य प्रियतम के प्रति प्रेम को एक मूल्य का गौरव प्रदान किया हे। ये मूल्य कवियों की रचनाओं में से निकलते है और उन्हें खोजने तथा पहचानने के लिए किसी विराट् वैपश्चिती प्रज्ञा की आवश्यकता नही पड़ती। और यदि कोई कवि किसी ऐसे जीवन-मूल्य की स्थापना में सफल हो जाता है, तो यही उसकी उपलब्धि है और यही पाठकों के लिए उसकी महत्त्वमयी देन है। तब, क्या 'कामायनी' मे किसी मूल्य की स्थापना हो सकी है ?

वास्तव में, कवि का अनुभव-संश्लेप, अनुभव की समग्रता ही मूल्य बनती है जो काव्य के अनुशीलन से पाठक को तृप्ति प्रदान करती है। 'कामायनी' में ऐसा कोई मूल्य निष्पन्न नही हो सका है। न श्रद्धा कोई मूल्य बन सकी है और न इड़ा ही। मनु तो अन्ततः दुर्बल व्यक्तित्व रहे है और उनसे किसी मूल्य की निष्पत्ति की आशा करना ही व्यर्थ है। श्रद्धा पात्र-रूप में ममता-मयी एकान्त मानवी भी नही रह पायी है और रहस्यमयी एकान्त वेददूती भी नही बन पायी है। भाव-रूप में भी उसकी शक्ति खंडित हो गयी है। इड़ा तथा मनु दोनो ही श्रद्धा-सवलित तभी हो सके है जब श्रद्धा (पात्र) ने अपना रहस्यमय इन्द्रजाली प्रभाव प्रदर्शित किया है। जीवन के आरोह-अवरोह में जब नैसर्गिक रूप से श्रद्धा-भाव का आविर्भाव होगा, तभी वह मूल्य बन सकेगा। 'कामायनी' में श्रद्धा (भाव) किसी मूल्य-रूप मे निखर नही सकी है। इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया का त्रिपुर उपस्थित होकर श्रद्धा के एकान्त महत्त्व का अपलाप कर देता है।

इच्छादि का सामंजस्य भी मूल्य के रूप में नहीं उभर सका है। स्मरण

रहे कि विचार अथवा उपदेश की बात भिन्न है । मैं काव्य की रचना-भूमि के अन्तरग की बात कर रहा हूँ । मनु की जीवन-यात्रा ही काव्य का प्रतिपाद्य है । यदि उनके भीतर वस्तुत. इस समन्वय का आविर्भाव हुआ होता तो स्थिति दूसरी होती । लेकिन, कवि ने ज्ञान, क्रिया तथा इच्छा की परस्पर भिन्नता का कथन श्रद्धा के मुख से कराया है और फिर इन तीनों को एक मे विलीन कर, मनु को "दिव्य अनाहत निनाद" मे श्रद्धा-समेत "तन्मय" बना दिया है। ध्यान रहना चाहिए कि यहाँ श्रद्धा (पात्र एवं भाव) को महत्त्व मिला है, इच्छादि वाले त्रिपुर के सामंज्य को नही । इतना ही नही, आगे 'आनंद' सर्ग मे पुनः कही इस समन्वय का कथन नही किया गया है । मनु को जो उपलब्धि मिली है, वह, कृत्रिम अथवा अकृत्रिम, अभेदमय आनंद की है जिसका उपदेश उन्होंने जुलूस मे आये सारस्वतवासियों को दिया है ।

आनन्द की प्रतिष्ठा मूल्य-रूप मे प्रतिपादित समझी जा सकती है । लेकिन 'कामायनी' का कोई भी पात्र आनदवादी नही रहा है । श्रद्धा भी नही रही है, इड़ा तो रही ही नही । श्रद्धा आनंद-भाव की प्रतीक भी नही, जीवन में आनंद का अनुभव नही किया और किसी को आनंद का अनुभव कराया भी नही । इड़ा को डाँटती ही रही, कुमार को गहन-गभीर उपदेश देकर अपने ममत्व का उत्सर्ग ही कर दिया । जहाँ तक मनु का सवाल है, वह तो "पर-प्रत्ययनेयबुद्धि." बन कर, आनद का कृत्रिम आस्वाद ले रहे है । अतएव, आनंद भी मूल्य-रूप में पूर्णतया स्थापित नही हो सका है । मूल्य वह बनता है—जिसकी छाप नैसर्गिक रीति से, तुष्टिदायिनी उपलब्धि के रूप में, पाठक के मानस में अकित हो जाती है । विवेच्य कृति मे आनंद की ऐसी छाप हमारे मनस्पटल पर अंकित नही होती ।

तब, साक्ष्य की तुला काम के पक्ष में झुकती है । काम कवि का अभीप्सित मूल्य हो सकता है । प्रसाद ने निबधों मे काम अथवा वैदिक काम के महत्त्व को रेखाकित भी किया है । मैन स्वय रचना को "कवित्वमयी काम-गीता" कहा है । वास्तव में, प्रसाद ने काम के ही प्रशस्य स्वरूप का उपस्थापन किया है जिस पर शैवागम का स्पष्ट प्रभाव है । श्रद्धा काम की पुत्री है और काम दो बार मनु को उपदेश या अभिशाप देता है जिसका परोक्ष प्रभाव मनु पर पड़ता भी है । लेकिन, यह काम भी मूल्य का आयाम नही ग्रहण कर सका है । मनु की जिजीविषा काम (कामना, आनद-भोग) का प्रतिरूप है, लेकिन इसे असाधारण मनोविज्ञान की पेचीदगियो से श्रृखलित कर तथा प्रत्यभिज्ञा के साधना-क्रम से जोड़कर, किसी प्रभावशालिनी मनोवृत्ति के रूप में पल्लवित एवं प्रतिफलित होने का अवसर इसे नही दिया गया है । यदि काम

को मनोविश्लेषण के 'ईरॉस' (Eros) का प्रतीक मान लें, तो भी वह मूल्य नहीं बन पाया है । 'ईरॉस' जीवन में सुख की प्राप्ति का सिद्धान्त है जो दुःख के विरोध में उभरता है । यह सुख-सिद्धान्त भी 'कामायनी' में अप्रतिहत भाव से स्थापित नहीं हो पाया है । मनु शायद इस 'ईरॉस' के अभिलाषी हैं, किन्तु व्यवहार में श्रद्धा तथा इड़ा, दोनों ही अपने-अपने ढंग से इस जीवन-रस को खंडित कर देती हैं ।

काव्यगत मूल्य, असलियत यह है कि, एक सौन्दर्य के रूप में उपपन्न होता है । वह सौन्दर्य एक ऐसे पूर्ण-विकसित गुलाब के फूल का सौन्दर्य है जिसकी पंखुड़ियाँ चारो ओर से सटी-सिमटी होती हैं तथा उसे सुडौल वर्तुल आकार प्रदान करती है । यदि दो-चार पंखुड़ियाँ भी केन्द्र से बिखर गयी, तो आकार की वर्तुलता नष्ट हो जाती है और सौन्दर्य खंडित हो जाता है । 'कामायनी' में कोई मूल्य इसी कारण निष्पन्न नही हो पाया है कि उसकी रचना-योजना में उचित "संश्लिष्ट सन्धिबन्ध" नही है जो सौन्दर्य का आविर्भाव करता है । उसमें बिखराव है जो पाठक के आकर्षण को सातत्य के साथ स्थिर नही रख पाता । 'काम', 'लज्जा' तथा 'वासना' सर्गों को छोड़कर वह "अविचारित-रमणीय" की रक्षा अन्य परिच्छेदों मे नही कर सका है । उसकी मान्यता के विपरीत, कवि का "विचारितसुस्थ" ही अन्ततोगत्वा विजयी बना है, चाहे श्रद्धा की मुसकान से विस्मय-लोक की सृष्टि भले ही हुई हो । मैं नहीं कहता कि विचारितसुस्थ से सौन्दर्य नही उपपन्न होता । कालिदास के 'शाकुन्तल' अथवा तुलसी के 'मानस' में ही विचार एवं विवेक का स्पष्ट अवदान है, लेकिन अन्त में जो छाप हमारे मानस में अंकित होती है, वह एक प्रांजल, तृप्तिदायक एवं संश्लिष्ट बिम्ब के रूप में होती है और हम उस उपलब्धि को एक निश्चित अभिधा, एक निश्चित परिभाषा में बाँध सकते हैं । 'कामायनी' के अनुशीलन से ऐसी सौन्दर्य-प्रतिमा नही उभरती, इसी कारण कोई मूल्य-भावना भी नही । "काव्य में अर्थ का निश्चित रूप इसीलिए काम्य" 'है' कि उससे उपर्युक्त पाटल-प्रसून का प्रतिस्पर्धी कोई सौन्दर्य अपनी सम्पूर्णता में खिल आये । ऐसे सौन्दर्य की प्रकृति प्रसाद की निम्नोद्धृत पंक्तियों में अनायास परिभाषित हो उठी है—

"एक झिटका-सा लगा सहर्ष,
निरखने लगे लुटे-से, कौन--
गा रहा यह सुन्दर संगीत ?
कुतूहल रह न सका फिर मौन ।" (श्रद्धा)

काव्य से निष्पन्न सौन्दर्य पाठक को एक झटका-सा ही देता है जिस पर वह लुट-सा जाता है । 'कामायनी' में इस जाति का सौन्दर्य अपने समन्वित

समग्र रूप में नहीं खुल पाया है । श्रद्धा के "खुल रहा मृदुल अधखुला अंग" और इड़ा के "बिखरी अलकें तर्क-जाल" में सामंजस्य स्थापित करने के प्रयास में सौन्दर्य का अधखुला स्वरूप प्रस्फुटित नहीं हो पाया है ।

अतएव, मूल्य की खोज की दृष्टि से भी 'कामायनी' सफल कला-कृति नहीं बन सकी है ।

च. जीवन-बोध और कामायनी

तब प्रश्न उठता है कि क्या कोई ऐसी कसौटी निर्धारित की जा सकती है जिस पर किसी काव्य-कृति का मूल्य-मापन किया जा सके । इस संबंध में प्रचुर मतभेद का अवकाश है । आलोचक को अपना निकष कला-कृति के ऊपर थोपने का अधिकार दिया जाय अथवा आलोच्य कृति में प्रतिपाद्य वस्तु को ही सम्यग्रूपेण उभार कर पूर्ण प्रेषणीय बनाया जाय ? कवि के साथ, प्रतीत होता है, वास्तविक न्याय तभी हो सकता है जब मूल्यांकन की दूसरी विधि ही अपनायी जाय । इस पद्धति के आधार पर अब तक हमने 'कामायनी' के मूल्याकन का प्रयत्न किया है और देखा है कि उसका प्रतिपाद्य समग्ररूप में ऐसा सुलझा एवं सुपरिभाषित नही रहा है जिसको प्रेषणीय बनाया जाय, जिसके प्रति प्रबुद्ध पाठक की चेतना को उद्‌बुद्ध एवं उपलालित किया जाय । स्मरण रहे, मैं खण्ड-रूपों की बात नही कहता । खण्ड-रूप मे तो यह रचना शैवागम की पुष्कल छापें भी समेटे हुए है, मनोविज्ञान एवं मनोविश्लेषण की छायाओं को भी समेटे हुए है और लौकिक रस तथा अतिलौकिक रस की मिश्रित मन्दाकिनी भी अपने अन्तस्तल में प्रवाहित किये हुए है । मैंने पिछले परिच्छेदों में इन सबकी उचित परीक्षा एवं परिशंसा की है । मेरी विवक्षा यह है कि प्रस्तुत रचना की सम्पूर्णता मे कोई ऐसा सुपरिभाषित प्रतिपाद्य नही निखरता जिसे संप्रेषणीय बनाकर कृतकृत्यता का अनुभव किया जा सके । टॉल्-स्टॉय प्रेषणीयता को ही कला की सार्थकता मानता है । किन्तु, 'कामायनी' में संप्रेष्य तत्त्व ही सुघड़, सुडौल नही बन सका है जिसे पकड़कर निश्चित रूप से कहा जा सके, "यह देखो, वह मूल्यवान् वस्तु यही है !" 'अभिज्ञानशाकुंतल' के अनुवाद को पढ़कर सुप्रसिद्ध कवि-समीक्षक गेटे को एक झटका-सा लगा था और प्रस-न्नता में उसका यह उद्‌गार निकल पड़ा था--"यदि तुम स्वर्ग तथा धरती का परस्पर परिणय देखना चाहते हो, तो शाकुंतल देखो ।" 'कामायनी' में चिन्ता से आनंद तक की यात्रा करायी गयी है, किन्तु आनंद-तत्त्व भी नैसर्गिक सौन्दर्य के साथ नही प्रस्फुटित हो सका है ।

ऐसी अवस्था में हमें अपनी ओर से ही कोई निकष निरूपित करना पड़ेगा जिस पर प्रस्तुत रचना का मूल्य-मापन किया जा सके । वह निकष अभीप्सित

रस-व्यंजना का हो सकता है, प्रबंध-काव्य के अंतर्गत महाकाव्यत्व का हो सकता है। इन दृष्टियो से पिछले प्रकरणों में परीक्षा की जा चुकी है और आलोच्य कृति इन कसौटियों पर पूर्ण संतोषदायिनी नही सिद्ध हो सकी है। अतएव, मूल्यांकन की सनातन कसौटी होनी चाहिए रचना में संग्रथित जीवन-बोध। प्रत्येक काव्यकार विभिन्न सरणियों से अपना जीवन-बोध ही सम्प्रेष्यमाण बनाता है। जीवन की प्रतीति जितनी गहरी वा जितनी व्यापक होगी, उतनी ही संतृप्ति भावक को उस कला-कृति के अनुशीलन से प्राप्त हो सकेगी। और इसी तृप्ति की गहराई के अनुपात मे उस कृति का महत्त्व निर्धारित होगा। इस जीवन-बोध को ही मैथ्यू अर्नाल्ड ने 'जीवन की आलोचना' कहा था—वैसी आलोचना जो काव्यगत सत्य एवं काव्यगत सौन्दर्य के नियमों से रूपायित हुई हो।

जीवन-बोध मे यदि युगीय जीवन-मात्र ही अपनी संकीर्ण परिधि में चित्रित होता है, तो निश्चिततया उस रचना से उपलब्ध संतोष का आयाम छोटा होगा। युग के संदर्भ में मूल्य उसका भी होगा, किन्तु जब 'सारस्वत-राज्य के प्रजापतियो' की सृष्टियो के बीच रखकर उसका मूल्याकन करने का अवसर उपपन्न होगा, तब वह रचना प्रथम पक्ति मे स्थान नही पा सकेगी। टी० एस० ईलियट का कथन है कि कवि की वैयक्तिक अनुभूति अतीत की काव्यगत अनुभूतियों की सकलित राशि से सर्वथा विच्छिन्न नही हो सकती। इन्ही अनुभूतियों के माध्यम से जीवन का निर्वचन काव्य मे सम्पन्न होता है जिसे रूपायित करने के सदर्भ मे काव्य-सुलभ रस, अलंकार इत्यादि सहयोगी बनते है। जब जीवन-बोध व्यापकता एवं गहराई के साथ काव्य-सुलभ लालित्य के संयोग से रचना मे प्रतिफलित होगा, तब उससे उपलब्ध हमारा जीवन-बोध भी व्यापक एवं गहरा होगा तथा तज्जन्य संतृप्ति भी गहरी होगी। 'कामायनी' में जीवन-बोध के आयाम को विस्तीर्ण करने का उद्योग प्रसाद ने स्पष्ट ही किया है और खण्ड-सदर्भों मे काव्य-सुलभ ललित पद्धति का विनियोग भी किया है। तब, विचारणीय यह है कि उस जीवन-बोध का स्वरूप क्या है ?[१]

"भारत की आधुनिक सभ्यता।" का प्रमेय उपस्थित करना तथा 'कामायनी' को उसका "प्रतिनिधि महाकाव्य"[२] बताना नितान्त अनर्गल है। वास्तव में

---

१ लेखक की पुस्तक 'काव्य चिन्ता' में "काव्य का मूल्य-मापन" शीर्षक परिच्छेद में जीवन-बोध की विस्तृत विवेचना की गयी है।

२. नामवर सिंह ने 'कामायनी' में नये प्रतीकों की खोज की है। देव-सभ्यता का ध्वंस हिन्दू राजाओं, तथा मुसलमान शासकों के विध्वंस

भारतीय जीवन के परिवर्तित संदर्भों की छाया से अन्वित होते हुए भी, 'कामायनी' में मनुष्य की सनातन समस्या को उभारने तथा उसका समाधान खोजने का प्रयास किया गया है—प्रयास में सफलता कितनी मिली है, यह भिन्न वस्तु है। प्रसाद का सम्प्रेष्यमाण जीवन-बोध, अन्तिम विश्लेषण में, उलझ गया है। आधुनिक जीवन-बोध के घटक तत्त्व बन गये है अतिभौतिकता, अतिबौद्धिकता, आस्थाहीनता इत्यादि जिसे आग्ल रोमांटिक काव्य-क्रान्ति के अग्रदूत विलियम वर्ड्सवर्थ ने इस कथन में व्यजित किया था, "The world is too much with us"।

वर्तमान शताब्दी के एक प्रसिद्ध जर्मन विचारक रहे हैं औसवाल्ड स्पैंगलर। उनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'पश्चिम का पतन' (Declive of the west) की पहली जिल्द सन् १९१८ ई० में और दूसरी जिल्द सन् १९२२ ई० में प्रकाशित हुई थी जिसने दुनिया के विचारकों तथा मनीषियो मे विलक्षण चिन्ता एव बौखलाहट उत्पन्न कर दी थी। आधुनिक भाव-बोध मे सम्प्रति जिस निराशा, अलगाव तथा मानसिक निस्सहायता के स्वर सुनायी पड़ते है, वह यूरोप में औद्योगिक क्रान्ति के आविर्भाव (१८०० ई० के आस-पास) का संकलित परिणाम है। शोपेनहर ने जिस निराशा एवं सन्देह का दर्शन प्रचारित किया, वही आज की सभ्यता का परिभाषक दर्शन बन गया है। स्पैंगलर का

का प्रतीक है। प्रकृति का प्रकोप अंग्रेजों की मार का प्रतीक है। जलप्लावन के बाद की हिम-संसृति प्राचीन जड़ता की तथा उषा नव-जागरण की प्रतीक है। अलसायी जागती हुई वनस्पतियाँ समाज की नयी शक्तियों की प्रतीक हैं। मनु की आरभिक चिन्ता-मिश्रित आशा पचास-साठ साल पहले के भारतीय शिक्षित युवक का चित्र है। मनु द्वारा सारस्वत-सभ्यता का निर्माण औद्योगिक क्रान्ति तथा आधुनिक प्रजातंत्र की स्थापना का प्रतीक है। जिस तरह मनु देव-सभ्यता के ध्वंसावशेष थे, उसी प्रकार बालक मानव मनु की प्रजातांत्रिक सभ्यता का अवशेष है। "पलायनवादी अन्ध-श्रद्धावादी" मनु के विपरीत, मानव "बुद्धिवादी नयी पीढ़ी का प्रतीक" है। नामवर सिंह मनु-पुत्र मानव को "मानव-विकास की तीसरी मंजिल" पर उपस्थित हुआ बताते हैं। 'कामायनी' की प्रस्तुत प्रतीकात्मक व्याख्या अनर्गल, निराधार, हास्यास्पद तथा 'फैण्टेस्टिक' है।

—दृष्टव्य. 'कामायनी : मूल्यांकन और मूल्यांकन' (सम्पादक, इन्द्र नाथ मदान), में संग्रहीत "कामायनी के प्रतीक" शीर्षक निबन्ध।

कथन है कि संस्कृति का आत्यंतिक विकास सभ्यता को जन्म देता है और आ संस्कृति मरती जा रही है तथा सभ्यता बढ़ती जा रही है जो यांत्रिक एवं व्यावसायिक है और ईश्वर के निषेध तथा कंचन-कामिनी के महत्त्व पर आधारित है। विलक्षण सूझ के साथ स्पैंगलर ने युवकों से चिल्ला-चिल्ला कर कहा था, "अपना समय नष्ट मत करो। सब छोड़कर इंजीनियर बनने का प्रयास करो। भूल जाओ कि आत्मा का कोई अंश तुममें अब भी शेष है। यह युग आत्मा का नहीं है। अगर तुम चित्रकार, संगीतज्ञ या कवि बनकर जीना चाहते हो, तो निराशा तुम्हारी इंतजारी करेगी। आध्यात्मिक धन्धों का यह समय नहीं है। मेरी आशा एक-मात्र यह है कि नयी पीढ़ी के लोग मेरी पुस्तक से प्रेरणा ग्रहण करेंगे और कविता के बदले इंजीनियरी की ओर जायेंगे, कला-स्कूलों की बजाय नौसैनिक स्कूलों की ओर बढ़ेंगे और दार्शनिक बनने के बदले राजनीतिज्ञ बनना पसन्द करेंगे।" वह राजनीति को पतनशीलता का अंतिम सोपान मानते हैं और अतिशय बुद्धिवादिता से वर्तमान सभ्यता को अधिक्रान्त समझते हैं। उनके अनुसार, संस्कृति का विकास उसकी आध्यात्मिक शक्ति के कारण होता है। जब संस्कृतिपूर्ण विकाप को प्राप्त होती है, तब उसकी आध्यात्मिक प्रगति बन्द हो जाती है और वह बहिर्मुखी होकर नगरी सभ्यता में परिणत हो जाती है। संस्कृति, इस प्रकार, "जीवन की धारा" है और सभ्यता "मृत्यु का घाट" है। पेड़-पौधे तथा मनुष्य के समान संस्कृति भी जैवी नियमों से बँधकर, बचपन, यौवन, प्रौढ़ता एवं बुढ़ापा की सरणियों को पार कर एक-दिन मृत्यु को प्राप्त हो जाती है। संस्कृति की वसंत ऋतु तब होती है जब समाज में कृषि एवं ग्रामीण अर्थव्यवस्था की प्रधानता होती है। उसका ग्रीष्मकाल तब प्रारंभ होता है जब नगरों का आविर्भाव होता है, किन्तु उनपर ग्रामीण जीवन का भी प्रभाव रहता है। संस्कृति की शरद् ऋतु तब उत्पन्न होती है जब राज्य की केन्द्रीय सत्ता सुदृढ़ होने लगती है और नगरों की जगह महानगर उत्पन्न होने लगते हैं तथा बुद्धिवाद नास्तिकता एवं क्रान्ति के बीज वपन करने लगता है। संस्कृति की शीतर्तु में प्राचीन परम्परा, धर्म तथा श्रद्धा का विघटन प्रारम्भ होता है और नैतिकता इत्यादि मूल्य विनष्ट होने लगते हैं। तदुपरान्त, वह मर जाती है। भारतवर्ष की चर्चा करते हुए, स्पैंगलर ने वैदिक काल को भारतीय संस्कृति का वसन्त, मनुस्मृति इत्यादि धर्मशास्त्रों के आविर्भाव-काल को ग्रीष्म, गौतम-बुद्ध के जन्म तथा सूत्र, योग एवं वेदान्त के काल को शरद् और बौद्धमत के प्राबल्य वाले काल को शीतर्तु कहा है। अतएव, उनके अनुसार, वर्तमान युग भारत में भी संस्कृति की मृत्यु का समय है। वह प्रजातंत्र एवं समाजवाद को भी अवनति के सोपान मानते हैं।